प्रसाद
के
ऐतिहासिक नाटक

[राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वीकृति पी-एच० डी० उपाधि के लिए शोध-ग्रन्थ]

लेखक—
डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी,
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा
आगरा

मूल्य १२ रु० ५० नए पैसे

प्रकाशक—
प्रतापचन्द जैसवाल,
संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा



प्रथम संस्करण



एक हजार प्रतियाँ



रामनौमी संवत् २०१६ वि०



मुद्रक—
आगरा अखबार प्रेस,
आगरा।

विषय-सूची

अध्याय १५ पृ० सं०

राज्य शासन और रणनीति

प्रस्तावना

प्रसाद हिन्दी के ऐसे सवप्रथम ऐतिहासिक नाटककार है जिन्होने इतिहास और नाटक दोनो का सही सही समन्वय किया है। प्रसाद के पूव बहुत कम ऐतिहासिक नाटक लिखे गये थे और जो लिखे भी गये वे ऐतिहासिक नाटको के रचना तत्र की दृष्टि प्रौढ नही थे। चरित्र, घटना और वातावरण की मूल ऐतिहासिकता की ओर उन नाटककारो का ध्यान नही था। इसका कारण यह है कि प्रसाद से पूर्व किसी भी नाटककार में इतिहासकार और नाटककार की प्रतिभाओ का समन्वय नही पाया जाता। हिन्दी के आलोचको का ध्यान प्रसाद की इस महत्वपूर्ण देन की ओर नही गया। इस प्रबन्ध से पहले केवल एक ही अन्य प्रबध प्रसाद के नाटको पर लिखा गया है, जिसमें डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। उक्त अध्ययन का मुख्य उद्देश्य प्रसाद के नाटको को भारतीय नाट्य शास्त्र की कसौटी पर कसना भर था। इसमे सन्देह नही कि डा० शर्मा ने प्रत्येक नाटक के कथानक को स्पष्ट करने के लिये उसकी थोडी-सी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की है। किन्तु डा० शर्मा ने जिस आधार पर प्रसाद के नाटको का विवेचन किया है वह आधार सब प्रकार के नाटको के लिये सामान्य है। साथ ही इतिहास उसमे गोण होकर आया है। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि प्रसाद के नाटक भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा मे नही लिखे गये। पाश्चात्य नाट्य-कला के विकास के साथ-साथ नवीन नाट्य-कला को जो स्वरूप हिन्दी मे आया, प्रसाद ने भी उसी को स्वीकार किया। अतः प्रसाद के नाटको के लिये यदि कोई सामान्य तुला हो सकती थी तो, वह भारतीय नाट्य शास्त्र पर न होकर पाश्चात्य नाट्य-रचना तत्र पर आधारित होनी चाहिए थी।

कुछ भी हो, प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको पर जिस दिशा मे विचार होना चाहिये था वह सामान्य नाटको से भिन्न ऐतिहासिक नाटको के विशेष रचनातत्र को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए था। किन्तु इस सम्बध में सबसे बडी कठिनाई यह थी कि हिन्दी मे नाटको के सामान्य स्वरूप पर तो पर्याप्त विचार किया जा चुका था, पर ऐतिहासिक नाटको की विशेषताओ को ध्यान मे रखकर उनके स्वतत्र स्वरूप पर अनुसन्धान नही हुए थे। प्रस्तुत प्रबध मे यही दृष्टिकोण सामने रखा गया है। सम्पूर्ण प्रबध दो खण्डो में बाटा गया है। प्रथम खण्ड मे इतिहास, का स्वरूप, इतिहास के उत्स, ऐतिहासिक नाटक, उसके कथानक के स्रोत, इतिहास और किंवदती, ऐतिहासिक नाटक और कल्पना इत्यादि पर पूर्ण विचार करने के उपरान्त ऐतिहासिक नाटको के रचनातत्र, उनके वर्गीकरण के आधार इत्यादि को निर्धारित किया गया है। दूसरे खण्ड में प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको का पूर्व निर्धारित कसौटी के आधार पर सप्रमाण विवेचन किया गया है। इस प्रकार न केवल प्रसाद के नाटको के लिये वरन् हिन्दी के सम्पूर्ण ऐतिहासिक नाटको के लिये रचना-विधान की कसौटियो का निर्माण

एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति करता है। इतिहासकार प्रसाद और ऐतिहासिक नाटककार प्रसाद का सम्पूर्ण स्वरूप इस अध्ययन से स्पष्ट झलक उठता है, और प्रसाद के नाटको को हम सही दृष्टिकोण से देखकर उनका ठीक ठीक मूल्यांकन कर सकते है।

सैद्धातिक विवेचन मे अधिकतर पाश्चात्य विचारको की मान्यताओ पर ही तर्क किया गया हे। भरत, आनन्दवर्द्धन और कन्हैयालाल मु शी के अतिरिक्त अन्य भारतीय विचारको के सिद्धान्त इसम नही लिये गये है। कारण स्पष्ट है। प्रसाद से पूर्ववर्ती नाटककारो मे भारते दु तक तो हिन्दी नाटक भारतीय नाट्य शास्त्र के नियमो का यथाशक्ति पालन करता रहा, किन्तु स्वय भारते दु ने तथा उनके परवर्ती नाटककारो ने बंगला के माध्यम से अथवा सीधे अ ग्रेजी से नाटक के पाश्चात्य स्वरूप को स्वीकार कर लिया था। स्वय प्रसाद ने नान्दी, सूत्रधार भरतवाक्य इत्यादि का बहिष्कार कर पाश्चात्य ढग के चरित्र-प्रधान नाटको की रचना की। अत. हिन्दी की नवीन नाट्य पद्धति के स्वरूप को समझने के लिये पाश्चात्य नाटको की सैद्धान्तिक पद्धति को समझना और उसको आधार मानकर चलना आवश्यक था। जहाँ कही पाश्चात्य विचारधारा, भारतीय सिद्धान्तो के अनुकूल हे, वही दोनो को एक साथ रखकर विचार करना समीचीन था, अन्यत्र नही। इस दृष्टिकोण से भरत और आनन्दवर्द्धन भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तो के जनक तथा पोषक हे। आधुनिक सैद्धान्तिक विचारको मे से मु शी को ही मान्यता देना विचित्र अवश्य लगता है। किन्तु आज मु शी ही ऐसे व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिन्होने न केवल (गुजराती मे) ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे हैं, वरन् उनके रचना-विधान पर सैद्धातिक दृष्टि से अत्यन्त सारगर्भ विचार भी प्रस्तुत किये हैं। साथ ही प्रसाद की ही तरह मु शी भारतीय इतिहास के आवृत-अनावृत शरीर से ही नही वरन् उसकी आत्मा से भी परिचित है। बगला के नाटककारो में द्विजेन्द्रलाल राय में एक सफल नाटककार की शक्तियाँ तो थी पर वे न तो इतिहास के विद्वान थे और न उन्होने इस सबध में कोई विवेचन ही प्रस्तुत किया। राखलदास बनर्जी मे अवश्य दोनो गुणो का समन्वय पाया जाता है। किन्तु एक तो वे नाटककार न थे और दूसरे नाट्य कला पर उन्होने कोई सिद्धान्त नही रखे। प्रस्तुत प्रबध मे अरस्तू से लेकर लैसिंग तक जिन पाश्चात्य विचारको के सिद्धात रखे गये हे उन सबने आधुनिक नाट्य कला के पाश्चात्य स्वरूप को निर्धारित करने में अपना अपना योग दिया है। साथ ही उन्होने इतिहास और नाटक इन दोनो के सबधो पर पर्याप्त विचार भी प्रस्तुत किये हैं, जो प्रस्तुत अनुसन्धान के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न यह था कि प्रबध के लिये प्रसाद के नाटको का क्या क्रम रखा जाय। सामान्य अध्ययन के लिये तो उनका क्रम नाटको की रचना-तिथि अथवा प्रकाशन तिथि के आधार पर रखा जा सकता था। किन्तु इस प्रबध का उद्देश्य यह था कि प्रसाद के नाटको मे इतिहास स्वरूप क्या है, उनमें कल्पना का तत्व किन किन रूपो में आया है और सास्कृतिक तत्वो की प्रसाद ने कहा तक रक्षा की है। यह शुद्ध ऐतिहासिक-सास्कृतिक दृष्टिकोण नाटको के उक्त क्रम का स्वीकार नही कर सकता था क्योकि उक्त क्रम के अनुसार 'राज्यश्री' प्रथम नाटक होता और 'ध्रुवस्वामिनी' अ तिम। ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार 'राज्यश्री' हर्षकालीन

युग का चित्रण प्रस्तुत करता है, और ध्रुवस्वामिनी गुप्त-कालीन। अत. 'ध्रुवस्वामिनी' का काल 'राज्यश्री' के काल से प्राचीन है। यह मानते हुए भी कि ऐतिहासिक नाटक प्रामाणिक इतिहास नही हो सकते, हमें यह देखना अभीष्ट था कि सफल ऐतिहासिक नाटक में कला की दृष्टि से इतिहास एव सस्कृति का जो स्वरूप होना चाहिए वह प्रसाद के नाटको मे है अथवा नही। अतः यही उचित समझा गया कि भारतीय इतिहास के जिन विभिन्न युगो पर प्रसाद ने नाटक लिखे हैं वे युग जिस क्रम से आते हैं उसी क्रम के अनुसार इन नाटको को रखा जाय। अतः नाटको का क्रम इस प्रकार रखा गया।

(१) अजातशत्रु
(२) चन्द्रगुप्त मौर्य
(३) ध्रुवस्वामिनी
(४) स्कदगुप्त
(५) राज्यश्री

राज्यश्री की अप्रौढता और ध्रुवस्वामिनी की विकसित नाटकीय कला की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया, क्योकि यह इस प्रबध के विषय से बाहर की बात थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिये जो पाँच ऐतिहासिक नाटक लिये गये हैं उनमे 'विशाख' का नाम नही है। 'विशाख' को प्रसाद अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानते है। इसमें कोई सन्देह नही कि विशाख एक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथावस्तु का आधार कल्हण की 'राजतरगिणी' है। यदि इस प्रबध मे आए हुए ऐतिहासिक नाटको के वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए विचार करें और कल्हण की राजतरगिणी को इतिहासकारो के अनुरूप प्रामाणिक इतिहास मान लें तो विशाख' भी शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी मे बैठने का अधिकारी बन जाता है। किन्तु इस प्रबध के लिये 'विशाख' को न लेने के दो कारण है। प्रथम कारण यह है कि विशाख की कथावस्तु प्रसाद के अन्य नाटको की कथावस्तु की तरह प्रख्यात नही है। प्रख्यात से यहाँ हमारा अभिप्राय यह है कि काश्मीर के इतिहास मे विशाख की कथावस्तु का जो कुछ भी महत्व हो, सम्पूर्ण भारत के इतिहास में उनका कोई भी महत्व नही। ऐतिहासिक नाटक के रचना विधान और वर्गीकरण के पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि किसी भी प्रकार के सफल ऐतिहासिक नाटक की रचना करते समय नाटककार के लिये यह आवश्यक है कि वह अज्ञात, अल्प ज्ञात, अथवा काल्पनिक कथावस्तु का सबध किसी प्रख्यात ऐतिहासिक पात्र से जोड दें ताकि उसमें अधिक से अधिक ऐतिहासिक सभाव्यता आ सके जिससे दशक या पाठक उस कथावस्तु को विश्वसनीय मान ले। यह ठीक है कि प्रत्येक दर्शक या पाठक को प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का ज्ञान नही होता, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को लेकर स्वतत्र रूप से ऐतिहासिक नाटक की रचना करने बैठ जाय। दर्शको या पाठको के ऐतिहासिक अल्प ज्ञान को ध्यान मे रखते हुए तो नाटक की कथावस्तु का उनके लिये विश्वसनीय बनाया जाना और भी आवश्यक है। सामान्य पाठक विशाख की ऐतिहासिक कथावस्तु को ऐतिहासिक समझता ही नही, क्योकि 'विशाख' के नायक का सबध काश्मीर के किसी ऐसे राजा से है जिसका नाम अल्पश्रुत हैं और साथ ही जो रच मात्र भी राष्ट्रीय महत्व नही रखता।

इतना होते हुए भी 'ऐतिहासिक नाटक' होने के कारण प्रस्तुत प्रबध म 'विशाख' को स्थान मिल सकता था। किन्तु काश्मीर के इतिहास और सस्कृति के स्वरूप की जो कुछ भी झाकिया उक्त नाटक में मिलती है वे एक तो नहा के बराबर है और दूसरे भारतीय इतिहास की जो शृखला अजातशत्रु से लेकर हर्ष के काल तक जुडती चली गई है उसमे काश्मीर के उक्त इतिहास को बिठाना कठिन काम था। अत प्रबध की दृष्टि से भी 'विशाख' का अध्ययन इन नाटको के साथ प्रस्तुत करना सभव न था। परिशिष्ट के रूप मे विशाख पर विचार किया जा सकता था, किन्तु प्रबन्ध के आकार के बढ जाने के भय से उसे छोड ही देना पडा।

ऐतिहासिक नाटको के अध्ययन का जो स्वरूप इस प्रबध मे प्रस्तुत किया गया है, सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार का कोई अध्ययन नही है। यही कारण है कि प्रारभिक स्थिति म इस प्रकार के अनुसधान को शुद्ध ऐतिहासिक मानकर इस महत्व नही दिया गया। किन्तु अ ग्रेजी साहित्य मे शेक्सपियर के नाटको पर मरियट इत्यादि ने जो ग्रन्थ लिखे ह— अध्ययन की दृष्टि से उनका मूल्य बहुत अधिक है। सस्कृत साहित्य मे कालिदास के नाटको पर भगवतशरण उपाध्याय का ग्रन्थ 'कालिदास का भारत' एक इसी प्रकार की खोज है। उक्त ग्रन्थ में कालिदास के युग की विशेषताओ पर अनुसन्धान किया गया है, अतः वह शुद्ध ऐतिहासिक सास्कृतिक अध्ययन की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु शेक्सपीयर के नाटको पर किये गये अध्ययनो में चाहे इतिहास कितना ही प्रधान क्यो न हो गया हो, ह तो वे साहित्यिक ग्रन्थ ही। इसमे भी सन्देह नही कि इस प्रकार के अध्ययनो ने शेक्सपीयर के नाटको के प्रच्छन्न सौन्दर्य को प्रगट करने मे अमूल्य योग दिया है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत अध्ययन अपना एक विशेष महत्व रखता है। प्रसाद के नाटको मे भारतीय इतिहास और भारतीय सस्कृति का समावेश अनायास ही नही हो गया है। उनके एक एक शब्द के पीछे प्रसाद का गहरा अध्ययन है। इस अध्ययन द्वारा सवप्रथम यह बात सिद्ध होती है कि प्रसाद ने नाट्य-रचना करते समय इतिहास के साधारण तथ्यो, चरित्र की सामान्य विशेषताओ और वातावरण के छोटे से छोटे स्वरूपो को भी नही भुलाया है। उनका नाटककार इतिहासकार के प्रति पूर्ण सजग रहा है, और इतिहासकार ने सवत्र नाटककार के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखी है।

साहित्य के किसी भी प्रकार के विवेचन का शब्द-शब्द अपना नही कहा जा सकता। इस प्रबध के सबध मे भी यही बात सत्य है। किन्तु प्रसाद के नाटको को मैंने सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयास अवश्य किया है। यह नवीनता इस प्रबध मे सर्वत्र उपलब्ध होगी। इतिहास का ध्रुव और चल स्वरूपो मे वर्गीकरण मेरा अपना है। कवि या नाटककार की कल्पना के समकक्ष इतिहासकार की 'सश्लिष्ट सभाव्यता' का नामकरण भी मैंने ही किया है।

नाटक के इतिहास और कल्पना के सबध में प्रथम बार भारतीय और पाश्चात्य विचारको के सिद्धान्तों को पास पास लाकर देखने का प्रयास भी नवीन है। यही कारण है कि सभी प्रकार के विरोधाभास अन्त में अच्छी तरह सुलझाये जा सके है, और उनके आधार पर कुछ सामान्य सिद्धान्त खोजे जा सके है।

रचना तत्र के सबध मे ऐतिहासिक नाटक को 'ऐतिहासिक नाटकायता' और उसके स्वरूप पर जिस तरह विचार किया हे, वह सवथा मौलिक हे। यही 'इतिहास-रस' की नई व्याख्या की गई है। इस सबध मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सर्व प्रथम इस प्रबन्ध मे ही 'ऐनिहासिक वातावरण' को ऐतिहासिक नाटक का सबसे प्रधान अ ग सिद्ध किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक के वर्गीकरण का आधार मैंने उपन्यासो के वर्गीकरण से लिया है किन्तु इससे पूर्व ऐतिहासिक नाटको का इस प्रकार मे वर्गीकरण नही किया गया।

ऐतिहासिक नाटको में सत्य के विभिन्न स्वरूपो की चर्चा इस रूप में प्रथम बार हुई है। इस प्रबन्ध मे ही प्रथम बार इस पर विचार किया गया है कि क्यो एक ऐतिहासिक नाटककार इतिहास में जान-बूझकर परिवर्तन करता है।

काल-क्रम दोप के सबध मे पाश्चात्य साहित्य मे पर्याप्त विचार किया जा चुका है, पर हिन्दी मे मनोवैज्ञानिक काल क्रम दोप पर अधिक विचार नही किया गया हे, और बिना इस पर विचार किये कोई भी आलोचक ऐतिहासिक नाटको मे उपस्थित काल-क्रम दोप पर सहानुभूतिपूर्वक अनुसन्धान नही कर सकता।

किन विभिन्न उद्देश्यो से प्रेरित होकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखे, इसका प्रथम तर्कपूर्ण विवेचन इसी प्रबन्ध मे हुआ हे।

प्रसाद के कथानको की पृष्ठभूमि पर स्वयं प्रसाद ने ही नही वरन् हिन्दी के अन्य विद्वानो ने भी पर्याप्त विचार किया है। किन्तु केवल पृष्ठभूमि लिख देने से नाटको के वास्तविक कथानक को समझने मे अधिक सहायता नही मिलती। इस प्रबन्ध में मौलिक रूप से इस बात पर विचार किया गया है कि वस्तुतः नाटको मे आई हुई घटनाओ मे इतिहास का स्वरूप क्या है और उसमे कल्पना का कितना सम्मिश्रण हुआ है। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला गया है कि प्रसाद की भूमिकाओ का इतिहास की दृष्टि से चाहे जो भी महत्व रहा हो, नाटको मे उसका उपयोग एक सीमा तक ही किया गया है। इसीलिये नाटको में आई हुई घटनाओ को ही इतिहास की कसौटी पर कसा गया है और उनके मूल आधारो की खोज की गई हे। उदाहरण के लिये ध्रुवस्वामिनी के कथानक की तुलना मे उसकी भूमिका को लिया जा सकता है। प्रसाद ने उक्त नाटक की भूमिका मे कथानक के मूल स्त्रोतो की चर्चा भर कर दी है किन्तु वास्तविक नाटक मे उन्होने कितना अ श किस मूल-स्त्रोत से लिया, इसको निर्धारित करना कठिन है। भूमिका म अबुलहसन अली का नामोल्लेख मात्र करके प्रसाद मौन हो गये हैं, पर इस प्रबन्ध मे सिद्ध किया गया है कि ध्रुवस्वामिनी के कथानक का एक बडा भाग अबुलहसन अली की कथा पर भी आधारित है। कथानको का इस रूप मे विवेचन पूर्णतया नवीन और मौलिक है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में काल की सुदीर्घ अवधि पर आक्षेप करने पर भी किसी ने प्रसाद के सब नाटको की कालावधि पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार नही किया। नाटको मे सकलन-त्रय का महत्व स्वीकार न करते हुए भी प्रभावान्विति का महत्व सभी ने स्वीकार किया है फिर ऐतिहासिक नाटको मे तो ऐतिहासिक घटनाओ के तिथि-क्रम के आधार पर सम्पूर्ण नाटको की कालावधि का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। इससे सब से बडा लाभ यह है कि नाटककार के अ क और दृश्य-विभाजन को अच्छी तरह से परख कर प्रभावान्विति के उद्देश्य से उनके गुण-दोषो की सही सही विवेचना की जा सकती है। प्रसाद के नाटको में कालावधि का इस प्रकार का विवेचन पूर्णतया मौलिक है।

चरित्रो के संबंध मे विस्तृत विवेचन नही किया गया है, किन्तु प्रचलित चरित्र चित्रण की प्रणाली को छोडकर नाटक के ऐतिहासिक चरित्रो की मूल चरित्रो से तुलना की गई है और उनमें किये गये परिवर्तनो के आधार ढूँढे गये है। प्रसाद के चरित्रो का इस प्रकार का अध्ययन इस प्रबन्ध से पूर्व नही किया गया है।

सवप्रथम इसी अध्ययन मे ऐतिहासिक नाटको मे देश काल अथवा वातावरण के महत्व का प्रतिपादन हुआ है। इस कारण प्रसाद के नाटको मे उपलब्ध देश-काल (वातावरण) पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया गया है। वस्तुत. प्रबन्ध का दूसरा भाग भी दो भागो में बाँटा जा सकता है जिनको पूर्वार्द्ध प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको के कथानक और पात्रो से सबन्धित्व है और उत्तरार्द्ध वातावरण और देश काल से। प्रसाद के नाटको मे भूगोल, समाज, शिक्षा और कला, धर्म, शासन-प्रबन्ध, सेना इत्यादि पर ऐतिहासिक सास्कृतिक दृष्टि से इससे पूर्व कभी विचार नही किया गया था। प्रसाद के नाटको की इस वास्तविक पृष्ठभूमि को पहली बार प्रामाणिक स्वरूप दिया गया है।

प्रसाद के नाटको में काल-क्रम दोष पर भी प्रस्तुत प्रबन्ध मे ही मौलिक रूप से विचार किया गया है।

यह प्रबन्ध मेरे चार वर्षो के अध्ययन का परिणाम है। अपने इस रूप में आने से पूर्व इसकी रूपरेखा में कई बार परिवर्तन किये गये। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वानो के परामर्शों से ज्यो ज्यो मेरी धारणाओ म परिवर्तन होता गया त्यो त्यो प्रबन्ध की रूप रेखा भी बदलती गई और अन्त मे चार वर्ष बाद यह अपने प्रस्तुत स्वरूप म आई है। आदरणीय प्रो० मोहनवल्लभ पन्त के चरणो में बैठकर मैने अनुसन्धान के अज्ञात रहस्यमय प्रदेशो के सबन्ध में जो कुछ जाना, उसी का प्रभाव है कि मैंने इस ओर बढने का साहस किया। उन्होने मेरा सर्वत्र मार्ग-प्रदर्शन किया है और इस प्रबन्ध को सुधारने मे अत्यन्त उदारता मे अपने अमूल्य समय का एक बडा भाग दिया है। उन्होने प्रबन्ध का एक एक अक्षर पढकर उसको सुधारा है। मैं उनके ऋण से उऋण नही होना चहता। डा० कन्हैयालाल सहल की कृपाओ के सम्मुख भी मैं नतमस्तक हूँ। उन्होने मुझे न जाने कितनी बार साहस दिलाया। वे सदा ही नवीन मार्गो की ओर अ गुलि निर्देश करते रहे और मैं उन ऋजु कु चित मार्गों पर बढता रहा। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० दशरथ शर्मा, हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० रामकुमार वर्मा तथा श्री सीताराम चतुर्वेदी का भी मैं आभारी हू। इन सभी ने मुझे प्रोत्साहन दिया और नये नये सुझाव दिये। प्रसाद के नाटको के सर्वप्रथम गवेषक डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने मुझे प्रबन्ध की रूप रेखा के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण से विचार करने के लिये बाध्य कर दिया क्योकि वे सदा अपनी गवेषणा की ओर जाने के मुझे रोकते रहे। अतः उनका आभार मुझ पर कम नही है। नई दिशा के लिये नया पथ अवश्य चाहिये। लखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति (अब उत्तरप्रदेश के मन्त्री) आचार्य जुगल किशोर और प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा का भी मैं आभारी हूँ जिन्होने अपने अपने विश्वविद्यालयो के पुस्तकालयो में काम करने की अनुमति दी। अन्त में बिडला सेन्ट्रल लाइब्रेरी-पिलानी, टगोर पुस्तकालय लखनऊ, अमीनुद्दोला पुस्तकालय लखलऊ, विश्वविद्यालय पुस्तकालय प्रयाग, हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय काशी तथा महाराणा भूपाल कालेज पुस्तकालय उदयपुर के सभी पुस्तकाध्यक्षो के प्रति आभार प्रदर्शन करना मैं एक आवश्यक कर्त्तव्य समझता हूँ। यदि उनकी सहायता मुझे न मिली होती तो यह प्रबन्ध शायद ही लिखा जाता।

जगदीश चन्द्र जोशी

'इतिहास का स्वरूप और उसके मूल उत्स'

इतिहास का सामान्य अर्थ भूत काल की घटनाओं का और उन घटनाओं से सम्बन्धित स्त्री पुरुषो के चरित्रो का लिपिबद्ध स्वरूप है, इसलिये सदा ही इतिहास का सम्बन्ध नाम, घटना और तिथियो से जोडा जाता है । अत्यन्त प्राचीन काल से 'इतिहास' शब्द अपने इसी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है, किन्तु मूल रूप मे उक्त अर्थ देने पर भी, इतिहास रचना के स्वरूपो और उनकी व्याख्या मे समय समय पर परिवर्तन होते रहे है, युगो-युगो की विचारधाराएं अपने बहुमुखी स्त्रोतो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रवाहित होती रहती है । उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूपो और उसकी प्रणालियो में भी अन्तर होता रहता है । प्राचीन इतिहासकार के सम्मुख इतिहास प्रधानतः व्यक्तिपरक होता था, वह महत्वपूर्ण व्यक्तियो, सम्राटो और साम्राज्ञियो, सेनापतियो तथा राजनीतिज्ञो एव तेजस्वी राजपुरुषो तथा धार्मिक मठाधीशो के अच्छे अथवा बुरे क्रिया-कलापो का लेखा जोखा मात्र था । उसमे युद्धो, राजनीतिक षडयन्त्रो, धार्मिक विद्रोहो इत्यादि की सूचना भर होती थी । यही कारण है कि जान रिचार्ड ने इसको 'ढोल और तूर्य का इतिहास''[1] कहा है, उक्त इतिहास ठोस तथ्यो का इतिहास था, उसमें व्यक्तिगत उद्देश्यो की चर्चा के साथ प्रेम और घृणा, असफलता, महत्वाकाँक्षा और अधः पतन एव मैत्री और विरोध की कहानी होती थी ।

परन्तु कालान्तर मे इतिहास के दृष्टि कोण मे भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया, आधुनिक इतिहासकार के लिये इतिहास का सम्बन्ध केवल व्यक्तियो से नही है, नये इतिहास का भी एक दर्शन है जो एक ओर तो विश्लेषणात्मक एव तर्क पूर्ण विवेचना के छोरो को स्पर्श करता है और दूसरी ओर सश्लिष्ट प्रभाव की व्यजना को, मानव समाज के असख्य घात प्रतिघात मे आधुनिक इतिहासकार ऐसे चिरन्तन नियमो का अन्वेषण करता है जिसका सम्बन्ध व्यक्तिविशेष और काल विशेष से न होकर मानव सभ्यता के चिरतन एव शाश्वत सत्यो से है । आज का इतिहासकार इतिहास को काल खडो में विभाजित करके ही सतुष्ट नही हो जाता, उसका दृष्टि कोण उस दार्शनिक का सा होता है जो मानव जीवन के इतिहास के आदि मध्य और अन्त को स्वतत्र न मान कर काल की अविच्छिन्न धारा के रूप में देखता है, वह इस तथ्य को स्वीकार नही कर सकता कि किसी भी ऐतिहासिक युग में घटित महत्वपूर्ण परिवर्तन अथवा क्रातियाँ एकाएक हो जाती हैं, उसकी दृष्टि में ऐसे किसी भी परिवर्तन का कारण उस युग से पूर्व के युगो मे अवश्य निहित होता है, इसीलिये आज का इतिहासकार एक सच्चे वैज्ञानिक एव दार्शनिक की तरह कार्य कारण परम्परा के सूक्ष्म विवेचनो द्वारा प्रत्येक देश और काल के ऐतिहासिक स्वरूपो और परिवर्तनो पर विचार करता है।

---

१. 'हिस्ट्री आफ ड्रम एड ट्रम्पेट' इगलिश हिस्ट्री इन शेक्सपीयर : मेरियट . पृ० १३ १४ ।

इतिहास के इन दोनो दृष्टकोणो पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूलत. इन दोनो में विरोध नही है, प्रथम प्रकार का इतिहासिक विवेचन व्यक्ति और काल सापेक्ष्य है और द्वितीय प्रकार का व्यक्ति और काल निरपेक्ष, इसमे सन्देह नही कि विशेष काल में विशेष प्रकार के व्यक्ति अनायास ही जन्म नही लेते, मूलतः वे युगो के अजस्त्र प्रवाह की एक लहर की तरह होते हैं जो काल की अखड धारा मे एक बार ऊचे उठकर पुनः विलीन हो जाते हैं, वास्तव मे उक्त दोनो पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हे, इतिहासकार एक के आधार पर दूसरे को समझने का प्रयत्न करता है, मोटे रूप से इतिहास के इन दोनो स्वरूपो में से एक को इतिवृतात्मक इतिहास कह सकते हे और दूसरे को सास्कृतिक इतिहास, इतिवृत का सम्बन्ध विशेष व्यक्तियो एव काल विशेष से होता है, परन्तु सस्कृति किसी भी सभ्यता का अविच्छिन्न प्रवाह है जो समष्टिपरक और व्यक्ति निरपेक्ष है।

दो प्रकार
१ व्यक्तिकाल सापेक्ष
२ व्यक्तिकाल निरपेक्ष

उक्त विवेचन के आधार पर किसी इतिहासकार के पास दो प्रकार की सामग्री होती है, किसी भी काल के महत्वपूर्ण व्यक्तियो एव उनके क्रियाकलापो के आधार उस काल के इतिहासकारो के ग्रन्थ, मुद्रायें, शिलालेख, ताम्रपत्र, अभिलेख, मूर्तियाँ स्तम्भ, इत्यादि ही हो सकते हैं, परन्तु किसी भी काल की सभ्यता के इतिहास के लिये ये प्रमाण पर्याप्त नही होते, इतिहास जिसे सतथ्य प्रमाण कहता है, वह इतना कम है, कि केवल उसके आधार पर इतिहास की रूप रेखाए भी नही बन सकती, विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओ में से भारत मिश्र, यूनान, रोम और चीन के इतिहास का आधार केवल शिलालेख इत्यादि नही है, वरन् प्राचीन साहित्य और पौराणिक कथाएं और किंवदंतियाँ, लोक विश्वास एव रीतिरिवाज भी है, यदि इसी कथन को और स्पष्ट शब्दो में कहा जाय तो 'सिन्धु की घाटी की सभ्यता' के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीनतम सभ्यताओ का ऐतिहासिक आधार प्राचीन अप्रामाणिक ग्रथ और ऐसी लोक-कथाएँ ही है, जिनको कालान्तर में लिपिबद्ध कर ऐतिहासिक मान लिया गया।

उपकरण उत्स

कोई भी इतिहासकार अपने इतिहास के लिए सर्वप्रथम "ज्ञात इतिहास" का आश्रय लेता है। ज्ञात इतिहास का सम्बन्ध उन घटनाओ एव व्यक्तियो से है जो एक विशेष वातावरण और देश काल की सीमा में रहते हुए, भविष्य के लिए अपने जीवन एव युग के कुछ न कुछ चिन्ह छोड जाते है। उनके वे स्मारक ही ज्ञात इतिहास के उपकरण होते है। ये चिन्ह कभी तो प्रामाणिक होते हैं कभी केवल अनुमानिक। इस "ज्ञात इतिहास" को भी हम "ध्रुव" और "चल" इतिहास नाम के दो भागो मे बाँट सकते है। ध्रुव इतिहास तो ज्ञात इतिहास का वह भाग कहा जा सकता है जिसमें कालान्तर में कभी भी किसी प्रकार का महत्वपूर्ण अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योकि प्राचीन युग के स्मारक उनके लिए मूर्त प्रमाण हैं। वस्तुतः इसे ही प्रामाणिक इतिहास भी कहा जा सकता है। "चल इतिहास" का सम्बन्ध ज्ञात इतिहास के उस स्वरूप से है जिसके लिए भूतकालीन प्रामाणिक स्मारक उपलब्ध नही हैं, किन्तु आनुमानिक होते हुए भी उसमें इतिहास की पर्याप्त सम्भावनाएं है। साथ ही

उसके अभाव में ज्ञात इतिहास की सारी कड़ियाँ जुड भी नही पाती । कालान्तर में कभी भी अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने पर "चल इतिहास" मे पर्याप्त परिवर्तन किया जा सकता है ।

ध्रुव इतिहास चल इतिहास ध्रुव इतिहास के आधार सब कालो के लिये सत्य है क्योंकि उसके सम्बन्ध मे निश्चित प्रमाणों का अभाव नही होता । "चल इतिहास" के आधार प्राचीन प्रथाएँ, लोक विश्वास और रीति रिवाज होते है जिनको समाज शास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टियो से विचार करने के उपरान्त अनुसन्धान द्वारा इतिहास के समक्ष मान लिया जाता है । यही इसी 'चल इतिहास' को कभी सुधारने और कभी भ्रष्ट करने मे दत-कथाओ (लीजन्डस्) का बहुत बडा हाथ होता है, प्राचीन यूनान के सम्बन्ध में जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री आज प्राप्त होती है वह कितनी ऐतिहासिक है और कितनी नही यह कहना असम्भव है । होमर ने "ट्राजन इतिहास" पर जो काव्य लिखे उनमे तत्कालीन नायको के असम्भव क्रिया कलापो की कमी नही है । परन्तु प्राचीन लेखको ने काल्पनिक से काल्पनिक वृत्तों को भी थोडा सा सतुलित कर इतिहास का स्वरूप दे दिया ।[1] एक्युसिलस (५०० ई० पू०) ने ग्रीस के राजकुलो के इतिहास के लिए हेजियड की कविताओ को प्रमाण मान लिया । हेले-निकस (४०० ई० पू०) ने होमर की मूल कथाओ किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण मानकर मानव वीरो और उनके विलक्षण क्रियाकलापो को मानवोचित स्तर पर उतार कर इतिहास का स्वरूप दे दिया । हेरोडोटस और थ्यूसीडाइटस ने अपनी पुस्तको में इतिहास और किस्से कहा-नियो का ऐसा सम्मिश्रण किया कि बाद के इतिहासकारो के सम्मुख इतिहास का कोई निश्चित स्वरूप नही रह सका । कुछ इतिहासकारो ने कल्पना और कहानी मे परिपूर्ण उन लेखको के वृत्तान्तो को प्रामाणिक इतिहास मान लिया और कुछ इसके विरोध मे उठ खडे हुए । परन्तु इसमें सन्देह नही कि समस्त ससार प्राचीनतम इतिहास अधिकांश दतकथाओ में ही है । सिकन्दर के सम्बन्ध मे प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने वाले डायोडोरस साइक्यूलस, ट्रोकस पापीयारा तथा क्विटस कर्टियस सभी ने जिन प्रमाणो के आधार पर अपना इतिहास प्रस्तुत किया वे प्रमाण वस्तुत. कल्पना प्रसूत और अस्वाभाविक कथानको पर आधारित है ।[1] उप-र्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मूल इतिहास पर जन कल्पनाओ के आरोप से नये आख्यानो की सृष्टि होती है, वही जन कल्पनाओ पर इतिहास का आरोपण कर नया इतिहास भी बन सकता है और बनता आ रहा है । लोक-कथाएँ वास्तव मे साधारण जनता की चीजें है । भारतवर्ष मे भी लोक कथाओ का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है और इसमे सन्देह नही कि जिस प्रकार सिकन्दर के इतिहास के निर्माण मे भारतीय लोक कथाओ (इस्टर्न फैबलस[2] का हाथ रहा है उसी प्रकार सम्भव है यूनान के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी हेलेन और ट्राय के विवरणो के निर्माण मे भी रामायण महाभारत जैसे आख्यान काव्यो (एपिक्स। से उद्भूत जन कथाओ का हाथ रहा हो । स्वय रामायण और महाभारत ग्रन्थो में यह अनु-मान लगाना कठिन है कि उनमें इतिहास और कल्पना का क्या अनुपात है । दोनों को लोक

---

१ हिस्ट्री आफ दि इगलिश नौवल : बेकर : पृष्ट २५

१. हिस्ट्री आफ दी इगलिश नौवल : बेकर : पृष्ठ २६

२ वही पृष्ठ २४-२१

विश्वासो और लोक कथाओ से इतना प्रभावित किया है कि उनमे असम्भव से असम्भव घटनाओ को सत्य के रूप मे चित्रित किया गया है । उक्त कथन से इस मान्यता पर कोई बाधा नही पडती कि सभी असम्भव प्रतीत होने वाली घटनाए' प्रतीकात्मक हे । सम्भव है ऐसी ही हो परन्तु ये घटनाएँ आई कहाँ से ? इनके स्वरूप का ऐसा निर्माण किस प्रकार हुआ ? स्पष्ट है कि मूल इतिहास कुछ भी रहा हो उस पर क्रम क्रम से लोक कथाओ और लोक विश्वासो ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ किया और कल्पनाओ से आधारित नया इतिहास बनता रहा । राम और युधिष्ठिर ऐतिहासिक व्यक्ति है या नही इस प्रश्न को छोडे बिना भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनका ऐतिहासिक होना सम्भव अवश्य है । यद्यपि उनके अलौकिक क्रिया कलापो की बौद्धिक व्याख्या कर उनको ऐतिहासिक सिद्ध करने के प्रयत्न अभी भी चल रहे है तथापि उस अलौकिकता को इतिहास की सीमा के भीतर लाना कठिन है । इतिहास में कल्पना के सयोग का यह कार्य एक व्यक्ति का नही होता । सहस्रो वर्षो तक लोक मानस की बहुमुखी प्रतिभा अनजाने इस कार्य को करती रहती है और वैयक्तिक इतिहास की धारा को शत शत धाराओ मे बाँटकर समग्र जनता की वस्तु बना देती है ।[1] भारतवर्ष के राम, कृष्ण और युधिष्ठिर, यूनान के हेलेन और सिकन्दर, और मिश्र की क्लिओपेट्रा इसी क्रिया से इतिहास से किवदती और किंवदतियो से पुनः इतिहास बन गये । इस क्रिया-प्रक्रिया के स्पष्ट स्वरूप से कथाओ के जिस विस्तृत भडार की प्राप्ति हुई है, उसके सबध मे यह तो कहना ही पडेगा कि वह निश्चय ही लोकमानस से उद्भूत किवदतियो और कथाओ का एक व्यक्ति अथवा कई व्यक्तियो द्वारा किया हुआ सपादन मात्र है । परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस प्रकार की लोक कथाओ का भी कुछ न कुछ ऐतिहासिक आधार अवश्य होता है चाहे वह आधार कथा के आवरण मे पूर्णतया प्रच्छन्न क्यो न हो गया हो । लोक मानस मौखिक पर ज्ञात इतिहास पर ही कल्पनाओ की नई नई पर्तें जमाता चलता है । यही कारण है कि आज का इतिहासकार उक्त कथाओ की वाह्य पर्तों को अनावृत कर उनमे से ऐतिहासिक सत्य ढूँढने का प्रयास करता है । लोक कथाओ के आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास के लुप्त एव अज्ञात स्थालों की गवेषणा का कार्य नया नही है । लोक कथाओ और किंवदतियो का इतिहास से कितना गहरा सबध है इसका अनुमान भारतीय इतिहास की विक्रमादित्य और कालिदास सबधी समस्या से भी लगाया जा सकता है । उज्जयनी के शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नो मे कालिदास थे, इस जनश्रुति ने ५७ ई० पू० के मालव गणपति विक्रमादित्य की गवेषणा के लिये इतिहास को बाध्य कर दिया । उक्त लोक कथा का लिखित रूप 'सिंहासन बत्तीसी' और 'वेताल पचीसी' की कथाओ मे स्पष्ट है और आज इतिहास की इतनी गवेषणाओ के उपरान्त भी कालिदास और विक्रम के संबंध में इतिहासकारो की मान्यताओ का एक बहुत बडा भाग किंवदतियो, जनश्रुतियो और लोक कथाओ पर ही आधारित है ।[2]

---

१. "लीजेंड इज ए फलुइड थिंग इन ए कन्टिन्युअल स्टेट आफ इक्सपेंशन । क्रिएटिव इमेजिनेशन वर्क्ड अपौन दिस मास ऐज ए फर्टिलाइजिंग लीवेन"

हिस्ट्री आफ इगलिश नौवुल :बेकर:

२. कालिदास एँड हिज टाइम्स : डे :

इतिहास से लोक कथा का और लोक कथा से पुनः इतिहास का सृजन पौराणिक उपाख्यानो मे भी देखा जा सकता है। इतिहासकार के पास ऐतिहासिक तथ्यो को सिद्ध करने की सामग्री जो कुछ भी हो इतिहास के रिक्त और अधकारपूर्ण स्थलो की पूर्ति वह अपनी स्वय की कल्पना से नही करता। ध्रुव इतिहास के एक ओर जन-जीवन मे प्रचलित किंवदतियाँ एव दन्त कथायें है और दूसरी ओर विभिन्न काल में लिखे गये धार्मिक और पौराणिक उपाख्यान। मूलतः देखा जाय तो पुराण (माइथोलोजी) और दत कथा (लीजड) में महत्वपूर्ण अन्तर नही है, क्योकि अपने मूल रूप मे दोनो का उद्भव लोक मानस से होता है। इनमें अन्तर केवल विषय का है। पुराणो का सबध अतिमानवीय या देवी चरित्रो से जोडा जाता है। उनका प्रधान क्षेत्र धर्म है। दत कथाओ के नायको का कोई सीमित क्षेत्र नही होता। वह लोक मानस की स्वतत्र कल्पना शक्ति पर निर्भर रहता है। दत कथाए मानवो को अतिमानवी सीमाओ तक ले जाकर भी मानव ही बनाए रखती है परन्तु पौराणिक कथाएँ अतिमानवो से मानवो के कार्य करवा कर भी उन्हे अतिमानवी स्तर पर ही रखती हैं। इतना होते हुए भी दोनो के बीच कोई लक्ष्मण रेखा नही खीची जा सकती। पुराणों की कथाओ का आधार दत कथाएँ होती हैं और दत कथाओ का आधार पुराण। इतना अवश्य है कि दत कथाओ में जहाँ प्रत्येक युग मे नये नये रग चढते रहते हैं और उनके बाह्य स्वरूपो में अन्तर होता जाता है, वहाँ पुराणो के ग्रन्थ रूप मे आ जाने के कारण यह अन्तर नही आ पाता। दोनो के लिखित रूपो में भी धार्मिक और साधारण दो दृष्टिकोणो के होने से अन्तर आ जाता है। होमर इत्यादि के सबध मे प्राचीन यूनान की जिन घटनाओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है वे अपने पूर्व रूप में तो दत कथाएँ ही रही होंगी परन्तु जब उनके उपलब्ध और लिखित रूपो में एक ओर जुपिटर नेप्चून, ऐपोलो, डायोनिसस हरक्यूलीज और बेक्कस जैसे दिव्य पुरुष और दूसरी ओर ड्रेगन, हाइड्रा और निम्फ जैसे अमानवीय पात्र एक ही स्थल पर एक ही घटना में एकत्र हो गये तब वीर देवो के समान उनका पूजन होने लगा और वे निश्चय ही पुराणो की कोटि में आ गये। ट्राजन युद्ध सम्भवतः एक ऐतिहासिक घटना थी, परन्तु उस पर कल्पना के आवरण ने सैंकडो दत कथाओ को जन्म दिया और कालान्तर में उन कथाओ में भी देवी आसुरी शक्तियो और वृत्तियों का आरोप कर उसे भी पुराणों के समीप ला दिया गया। भारतवर्ष में पुराणों का विस्तृत इतिहास है। उनमें धार्मिक परि-कल्पनाओ की सीमा के भीतर अतिमानवी शक्तियो और चरित्रो की सृष्टि ही नही वरन् इतिहास के ज्ञात सम्राटो और महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सबध रखने वाले स्पष्ट प्रसगो एव सकेतों का भी अभाव नही है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तो हैं ही, मार्कण्डेय, शुकदेव और व्यास भी है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि नन्द, चन्द्रगुप्त और चाणक्य भी उसी में हैं। अतः ये पुराण एक ओर तो ध्रुव इतिहास की लुप्त घटनाओ और तिथिक्रमो की शृ खलाओं को जोडने में सहायक होते हैं और दूसरी ओर उस इतिहास के प्रामाणिक वातावरण को नैस-र्गिक रूप-रग देने का काम करते हैं।

इतिहासकार के पास इतिहास के निर्माण के लिये सतथ्य प्रमाण, दतकथाएँ और

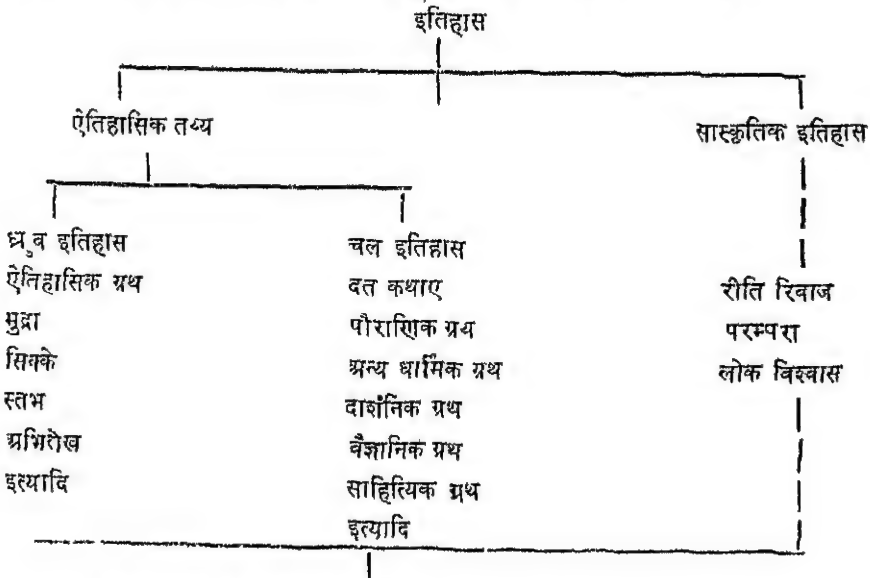
पुराणो के अतिरिक्त कुछ और भी उपकरण होते है। ये उपकरण महापुरुषो के धार्मिक एव दार्शनिक प्रवचन, समाज के नियामको के आदेश दक्ष एव प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञो के राजनीति सबधी विचार तथा प्राचीन कवियो एव नाटककारो की रचनाओ के रूप मे उपलब्ध है। साहित्यिक कृतियो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का सबध व्यक्ति और घटनाओ स प्रत्यक्ष नही होता। उनके द्वारा इतिहासकार तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो से अपने इतिहास को आवश्यक वातावरण देता है। वस्तुतः ये उपकरण सास्कृतिक इतिहास के आधार है। कभी कभी धार्मिक ग्रन्थो द्वारा 'जातको' की भाँति, काल विशेष के व्यक्तियो से सबद्ध ध्रुव इतिहास की सामग्री भी मिल जाती है, अन्यथा उस काल विशेष की महत्वपूर्ण झाकियाँ तो ये दे ही देते है, भारत के सुदूर ऐतिहासिक काल को सास्कृतिक पृष्ठभूमि के लिये वेदो, उपनिषदो एव ब्राह्मण ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही। कालान्तर मे समाज और राजनीति के आदर्शों को जानने के लिये सब से महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्मृतियाँ है अर्थ शास्त्र और कामसूत्र जैसे ग्रन्थो के आधार पर ही प्राचीन अर्थ व्यवस्था और नागरिक जीवन के सबध मे इतिहासकार कुछ कह सकने की सामर्थ्य रखता है। यूनान के प्लेटो, अरस्तू और सुकरात ने अपने ग्रन्थो मे जो राजनीतिक सिद्धान्त, धर्म सबधी तर्क और वैज्ञानिक विचार दिये है उनके द्वारा ही इतिहासकार को यूनान की सास्कृतिक महत्ता का आभास मिलता है। साहित्यिक ग्रन्थो का अपना स्वतत्र मूल्य है। होमर इत्यादि के साहित्य के सबध मे कहा जा चुका है कि प्राचीन साहित्यकारो ने इतिहास और दन्त कथाओ के सहारे अपने स्वतत्र इतिहासो का निर्माण किया था। इससे ध्रुव इतिहास को चाहे कितनी ही क्षति क्यो न पहुँची हो और चाहे उनसे पूर्व घटित इतिहास के कितने ही भ्रष्ट सकेत क्यो न मिले हो, इस मे सन्देह नही कि उनकी कृतियो द्वारा उनके स्वय के युग के वातावरण एव सास्कृतिक इतिहास की जानकारी इतिहासकारो को अवश्य हुई है। प्राचीन भारत की सस्कृति का स्वरूप जितना नाट्य शास्त्र, अष्टाध्यायी और महाभाष्य से मिलता है उतना ही भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष, भवभूति और विशाखदत्त जैसे कवियो और नाटककारो के काव्य और नाटको से भी। इन सब कवियो और नाटककारो के ग्रन्थ अपने अपने युगो की सास्कृतिक परम्पराओ और लोक जीवन के स्वरूपो की ओर तो स्पष्ट सकेत करते ही है, कभी कभी ध्रुव इतिहास को पूर्ण ऐतिहासिक बनाने अथवा उसे सभाव्य ऐतिहासिक सामग्री देने में भी सहायक होते है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' एव 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कथानको क आधार पर ही इतिहासकारो ने मौर्य काल एव गुप्त काल विषय मे विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की एव गुप्त कालीन ध्रुव इतिहास म रामगुप्त एव ध्रुवस्वामिनी सबधी नया परिच्छेद जोडा।

अन्य सहायक उपकरण।

इतिहासकार के उपकरणो को सक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। इतिहास के दो स्वरूप है ऐतिहासिक तथ्य और सास्कृतिक इतिहास। ऐतिहासिक तथ्यो को भी हम दो कोटियो में विभक्त कर सकते है। इन मे प्रथम को 'ध्रुव इतिहास' एव द्वितीय को 'चल इतिहास' कहा जा सकता है। इतिहासकार के पास ध्रुव इतिहास के लिये ऐतिहा-

सिक ग्रन्थ, मुद्रा, सिक्के, स्तभ एव अभिलेख इत्यादि उपकरण होते है। चल इतिहास के लिये उसे दत कथा, पौराणिक, धार्मिक, दार्शनिक , वैज्ञानिक एव साहित्य ग्रन्थो से सामग्री लेनी पडती है। प्राचीन मूर्तियो तथा अन्य कलाकृतियो से दोनो को अपनी अपनी सामग्री मिल सकती है। सास्कृतिक इतिहास एक ओर तो चल इतिहास के उपकरणो से यथेष्ट सामग्री ग्रहण करता है और दूसरी ओर प्राचीन रीति रिवाज, परम्पराएँ और लोक-विश्वास उसके निर्माण मे सहायक होते है।

इतिहास की इन सब सामग्रियो पर इतिहासकार अपनी 'सश्लिष्ट सम्भाव्यता' का प्रयोग करता है और तभी ये उपकरण इतिहास का रूप धारण कर पाते हैं।



इतिहासकार की सश्लिष्ट सभाव्यता

संश्लिष्ट सभाव्यता

उपर्युक्त रेखा चित्र मे सबसे अन्तिम निर्देश इतिहासकार की सश्लिष्ट सभाव्यता का हुआ है, सश्लिष्ट सभाव्यता इतिहासकार की मौलिक प्रतिभा है जिसका उपयोग वह दो ज्ञात तथ्यो के बीच की अज्ञात कडियो को जोडने मे करता है, इस उदभावना मे इतिहासकार को उक्त दोनो ज्ञात तथ्यो द्वारा निश्चित 'सभाव्यता' को आधार मान कर चलना पडता हैं, वास्तव में इतिहासकार केवल तथ्य सग्रहकर्ता मात्र नही है जैसा हम पहले कह चुके है, काल की कार्यकारण परम्परा को खोजना भी उसका ही काम है और इसके लिये उसे अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग करना पडता है। थोडे से ज्ञात तथ्यो से सपूर्ण इतिहास का सृजन करना सश्लेषण शक्ति द्वारा सभव है और यह सश्लेषण बिना विश्लेषण के सभव नही विश्लेषण-सश्लेषण की यह क्रिया अज्ञात तथ्यो मे सभाव्य निष्कर्षो का आरोप करती है। इतिहासकार की यही सश्लिष्ट सभाव्यता साहित्यकार की 'कल्पना शक्ति' के अत्यन्त समीप है, परन्तु हम इसे कल्पना शक्ति' नही कह सकते क्योकि इतिहासकार की सभाव्यता ज्ञात तथ्यो तथा

नवीन गवेषणाओ की सीमा में इतनी कसी रहती है कि उसे मौलिक उद्भावनायें करने का अधिकार ही नही होता, उसे अपनी प्रत्येक उद्भावना के लिये प्रमाण देने होते है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह सश्लिष्ट सभाव्यता ही इतिहासकारो के दृष्टिकोणो मे विभिन्नता का कारण होती है। यही इतिहास मे भिन्न भिन्न मान्यताओ को जन्म देती है।

ऐतिहासिक नाटककार और इतिहास

यहाँ तक इतिहासकार के उपकरणो का विवेचन हुआ। अब देखना यह है कि ऐतिहासिक नाटककार के पास अपने नाटको के लिये कौन कौन से उपकरण होते है। ऐतिहासिक नाटक के दो मूल तत्व 'इतिहास' और 'नाटक' स्पष्ट हैं। जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, उसके ज्ञान के लिये नाटककार के सम्मुख भी वे ही मूल उपकरण होते है जो इतिहासकार के पास होते है। नाटककार का सबध इतिहास की सम्पूर्णता से न होकर इतिहास के काल विशेष, घटना विशेष और पात्र विशेष से ही होता है। परन्तु काल, घटना और पात्र का अन्तर होते हुए भी दोनो के ऐतिहासिक उपकरणो मे कोई अन्तर नही होता। नाटककार इतिहास के मूल उत्सो से सीधा ही अपनी सामग्री ले सकता है और यदि वह चाहे तो समकालीन इतिहासकारो के ग्रन्थो से भी ले सकता है। प्रथम स्थिति मे नाटक-कार इतिहासकार का सम्पूर्ण कार्य स्वय ही करता है। दूसरी स्थिति मे ऐतिहासिक उपकरण इतिहासकार की सश्लिष्ट सभाव्यता द्वारा अपना पूर्ण स्वरूप पा चुके होते है। अतः उसके लिये केवल नाटककार का ही कार्य अवशिष्ट रह जाता है। इतिहासकार का कार्य करते हुए भी नाटककार और इतिहासकार में अन्तर है। इतिहासकार अपने सभी उपकरणो के द्वारा जो सृष्टि करता है वह देश के काल, घटना और सस्कृति के उत्तरोत्तर एव क्रमिक परिवर्तनो की यथार्थ सूची "अर्थात् इतिहास" होता है। नाटककार उस सूची के अ श विशेष को ग्रहण कर उसे नाटक के सूक्ष्म शरीर मे इस प्रकार सुसज्जित कर देता है कि वह साहित्य का रस पूर्ण अ ग बन जाता है।

ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य

इतिहासकार और ऐतिहासिक नाटककार के मूल अन्तर को समझने के लिये दोनो के उद्देश्यो को और भी स्पष्ट करना होगा। प्रश्न यह है कि कोई भी नाटककार अपने कथानको के लिये वर्तमान को छोडकर इतिहास की सीमा मे क्यो जाना चाहता है ? इसमें दो मत नही हो सकते कि किसी भी प्रकार नाटक का चरम उद्देश्य दर्शक या पाठक के हृदयो को स्पर्श कर उनके मनोविकारो को निर्मल करना, अथवा उनमे रस का सचार करना है। नाटककार इसी चरम उद्देश्य के लिये अपने समस्त कौशल का प्रयोग करता है। इस कौशल का एक महत्वपूर्ण रूप नये नये प्रभाव पूर्ण कथानको की खोज है और इस प्रकार के कथानको का खोज के लिये नाटककार स्वतः ही प्राचीन इतिहास की ओर प्रेरित होता है। शेक्सपीयर ने अन्य नाटको से भिन्न ऐतिहासिक नाटक क्यो लिखे इसका कारण मैरियट यह बतलाते हैं कि उन दिनो जनता यथासम्भव नये नये नाटको को देखने को उत्सुक रहती थी। इसलिये (नाटककार) तब तक इतिहास के पन्ने पलटते जाते थे

जब तक उन्हे कोई उपयुक्त कथानक नही मिल जाता था[1]। ससार के प्राय सभी देशो के प्राचीन नाटक इस कथन की पुष्टि करते है। भारतवर्ष के नाटककारो का तो आदर्श ही 'ख्यात वृत्त' रहा है। यूनान, रोम प्रभृत्ति देशो के प्राचीन नाटककारो ने भी अपने युग मे पूर्व घटित इतिहास का ही आधार ग्रहण किया है। कथानको की विभिन्नता के अतिरिक्त सभवत. इससे एक और भी लाभ होता है। नाटककार को इतिहास में कथानको की रूप रेखाए बनी बनाई मिल जाती है।

परन्तु केवल नये नये कथानको की खोज के लिये नाटककार इतिहास का अवलोकन करता हो ऐसी बात नही, इसके चार महत्वपूर्ण उद्देश्य हो सकते है।

१. राष्ट्रीय महत्व के उद्देश्य से राष्ट्र के महापुरुषो और उनके क्रियाकलापो का चित्रण,
२ प्राचीन जीवन, सस्कृति एव समाज का यथातथ्य चित्रण,
३ ऐतिहासिक युगो मे अपने युग की समस्याए खोजकर सदृश परिस्थितियो मे उनके समाधान का प्रयत्न एव अप्रत्यक्ष रूप से अपने युग की समस्याओं का चित्रण, और
४ महान् व्यक्तियो के महत्वपूर्ण क्रियाकलापो एव आदर्शो द्वारा चारित्रिक शिक्षण।

भरत, विश्वनाथ, मम्मट प्रभृति सभी आचार्यो ने काव्य के अनेक उद्देश्य गिनाये है। उनमे यशप्राप्ति, धन प्राप्ति, अमगल से रक्षा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति, ब्रह्मानंद सहोदर 'रस' की प्राप्ति, एव कातासमित उपदेश इत्यादि मुख्य है। वस्तुत. यश, धन, अमगल परिहार एव धर्म अर्थ काम मोक्ष तो ऐसे उद्देश्य है जो काव्य के अतिरिक्त और उपायो से भी सिद्ध किये जा सकते है। यदि उन्हे उद्देश्य मान भी लिया जाय तो ये कवि के लिये हो सकते है। पाठक, श्रोता या दर्शक को तो यश, धन आदि की प्राप्ति हो नही सकती[2]। रस द्वारा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति एव साहित्य द्वारा 'कातासमित उपदेश' साहित्य के प्रधान उद्देश्य माने जा सकते है। किन्तु ये उद्देश्य साहित्य के सभी प्रकारो के लिये समान है। जहाँ तक नाटको का प्रश्न है, भरत ने उनके उद्देश्यो की विस्तृत चर्चा की है। नाट्य वेद की उत्पत्ति ही ईर्ष्या क्रोधादि की भावना से विकल मनुष्यो को सान्त्वना के लिये हुई है। वेदो के रूखे उपदेश के स्थान पर नाट्य वेद मे हृदयस्पर्शी उपदेश को स्थान मिला और तत्वज्ञ ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ यश देने वाले इतिहास के साथ साथ उपदेश से युक्त, लोगो को लोक व्यवहार का आदर्श सिखाने वाले और सभी वर्गो के लिये समान रूप से उपयोगी 'नाट्य' नामक पचम वेद की रचना की[3]। स्पष्ट है कि भारतीय मत से नाटक का उद्देश्य मनोरजन, उपदेश और लोक व्यवहार के साथ साथ धर्म, अर्थ और यश प्राप्ति भी है।

---

१. इंगलिश हिस्ट्री इन शेक्सपीयर : जे डबल्यू मेरियट पृ० ८
२. आलोचना शास्त्र पृष्ठ २४
३. नाट्य शास्त्र १,८,९,११,१२,१४,१५,१६,१७.

जैसे पूर्व कहा जा चुका है सभी नाटको मे 'ख्यात वृत्त' का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। 'ख्यात वृत्त' की परिभाषा 'इतिहास पुराणाभ्याय् है। मूलत इतिहास और पुराण दोनो ही इतिहास के लिये सामग्री हैं, अतः ऐतिहासिक वृत्तो से संबध रखने वाले नाटकों का साधारण उद्देश्य मनोरजन और विशेष उद्देश्य मनुष्य का सार्वभौम विकास है[1]। ऐतिहासिक नाटक के उपरिलिखित चार उद्देश्यो के अतिरिक्त यह सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य प्रतीत होता है। यद्यपि यह उद्देश्य अन्य प्रकार के नाटको के सबध मे भी ठीक है तथापि ऐतिहासिक नाटको के सबध मे यह वस्तुतः सर्वाधिक ठीक है। पाश्चात्य विचारकों ने भी ऐतिहासिक नाटको के इस महत्व का ठीक इसी प्रकार के शब्दो म उल्लेख किया है। मेकमीलन के अनुसार 'ऐतिहासिक नाटककार का एक मात्र उद्देश्य नायक के जीवन और उसके देश काल को चुनी हुई घटनाओ एव परिस्थितियो की ठीक ठीक एव कलात्मक अभिव्यक्ति है, जो एक दूसरे से इस प्रकार सबद्ध है कि मानवता और उसके भविष्य पर नया प्रकाश पड सके[2]। मानवता का वर्तमान और उसका सघर्ष धर्म, अर्थ और काम मे निहित है। मोक्ष में उसकी परम मुक्ति स्पष्ट है। यदि मोक्ष को धार्मिक अर्थ से थोडा हटाकर देखें तो उसे मानवता के चरम विकास की सभावना माना जा सकता है।

अब ऊपर निर्दिष्ट चार उद्देश्यो का विवेचन करना प्रसग प्राप्त है ऐतिहासिक नाटककार के प्रथम उद्देश्य को मान्यता देने वालो मे कालरिज का स्थान महत्वपूर्ण है। कालरिज के अनुसार सफल ऐतिहासिक नाटक वही है जो सचमुच उस मानव समाज का इतिहास हो जिसके लिये वह लिखा गया है[3]। हमारे प्राचीन सम्राटो और उनके राज्य काल की घटनाए आकाश के नक्षत्रो की तरह है। चाहे उनके बीच कितना ही अधिक अन्तर क्यो न हो वे एक दूसरे के अत्यन्त समीप दिखाई देते है। वे नक्षत्र रूपी घटनाए काल की सीमाओ से ऊपर उठकर हमें प्रभावित करती है और उनका प्रकाश हमारी आँखो मे निरन्तर झिलमिलाता रहता है[4]। कालरिज ऐतिहासिक नाटको का लिखना और खेलना इसीलिये आवश्यक मानते है कि उनके प्रभाव से राष्ट्रीय भावना और राष्ट्र तथा व्यक्तिगत भावना और व्यक्ति के मध्य एक सामजस्य स्थापित हो सके।

ऐतिहासिक नाटकों का दूसरा उद्देश्य प्राचीन जीवन, सस्कृति एव समाज का यथातथ्य चित्रण इतना अधिक माननीय नही जितना पहिला है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उक्त कार्य इतिहास और सस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ भी कर लेते है। ऊपरी दृष्टि

---

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति। नाट्य शास्त्र ११२,११३.

२ शेक्सपियर्स रोमन प्लेज पृष्ठ ८६, ६०

३ लिटररी रिमेन्स, वोल्यूम २

४. वही वोल्यूम २

मे प्रथम और द्वितीय उद्देश्यो में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही है, यदि अन्तर है तो केवल दृष्टि-कोण का। प्रथम उद्देश्य को लेकर चलने वाले नाटककार को राष्ट्रीय महत्व की झाँकी दिखाना अभीष्ट है, क्योकि दर्शको की राष्ट्रीय और देश भक्ति की भावना ऐसे नाटको की वाछा रखती है। शेक्सपियर के नाटको के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उन दिनो इगलैण्ड का यह ज्ञान हो गया था कि वह एक महान राष्ट्र है। उनकी देशभक्ति जाग रही थी। अग्रेजो को अपने देश का अभिमान हो गया था। वे अपने राष्ट्र के इतिहास और अपने देश को महान् बनाने वाली घटनाओ को जानने के लिए विकल थे। सामाजिको की इसी तीव्र इच्छा की पूर्ति करने के लिए शेक्सपीयर और उनके समकालीन नाटककारो ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। परन्तु दूसरे उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर नाटक रचना करने वाले के लिए इतिहास का कलापूर्ण एव नाटकीय चित्रण ही अभीष्ट है। नाटककार राष्ट्रीय भावनाओ के लिए नही वरन् ऐतिहासिक विशेपता और कौतूहल के लिए इस प्रकार की रचना करत है। यूनान के सिकन्दर महान् की घटनाओ को नाटक का रूप देते समय पौल डेमेजी[१] अथवा ऐलिजाबिथ कालीन इगलेड पर लिखते समय "वेलनियन हरमन बलौनन"[२] के हृदय में राष्ट्रीय भावनाओ की उमिलता सम्भव नही है क्योकि दोनो फ्रास की साहित्यिक प्रतिभाएँ है। किन्तु इसके ठीक विपरीत नेपोलियन के चरित्र पर नाटक लिखने हुए 'पौल रेनल"[३] पर सोद्देश्य राष्ट्रीयता का आरोप अवश्य किया जा सकता है। अँग्रेजी साहित्य मे भी दो महत्वपूर्ण नाटक उदाहरणाथ लिये जा सकते है जो केवल इतिहास के चित्रण के उद्देश्य से ही लिखे गये है। उनमें से एक है "रेजिनाल्ड बकले" का 'दी लेडी विद ए लैम्प' और दूसरा है "विलफर्ड बौक्स" का "सोक्रिटीज"। अँग्रेजी ऐतिहासिक नाटककारो के सबध मे लिखते हुए "निकल" स्वय यह स्वीकार करते है कि समग्र रूप में अँग्रेजी नाटककारो ने ऐतिहासिक भूत द्वारा वर्तमान को प्रभावित करने का प्रयास नही किया। उन्होने या तो भूत का पुनर्जीवित करने के लिए अथवा वर्तमान के यथार्थ से त्राण पाने के लिए ऐतिहासिक नाटको की रचना की।[४]

उपर्युक्त वाक्य से ऐतिहासिक नाटको की रचना की दो बाते स्पष्ट हैं। यदि कोई नाटककार देश मे राष्ट्रीय भावना का विकास करने के लिए अतीत का चित्रण करना चाहे तो बात दूसरी है। परन्तु यदि वह एक ओर तो कलाकार का आत्मगत आनन्द प्राप्त करने के लिए और दूसरी ओर जीवन के सघर्ष से पलायन करने के लिए ऐतिहासिक अतीत को नाटकीय रूप दे तो निश्चय ही उसके सामने राष्ट्रीयता या देश प्रेम का उद्देश्य नही रह सकता। वह तो इतिहास और सस्कृति का चित्रण उस चित्रण के आनन्द के लिए ही करेगा।

---

१. ला बेनेदी द ऐलेक्जेंडर दी ट्रेजीडी आफ एलेक्जेंडर :
२. शेक्सपीयर उ ला कमेटी दी ले वेचतर : शेक्सपीयर और दी कमेडी आफ एडवेंचर :
३. नेपोलियो यूनीक : दी वन एन्ड दी ओनली नेपोलियन :
४. वर्ल्डड्रामा : निकल : पृष्ठ ८६२।

बहुत सम्भव है कि पात्रो की दूरी के साथ जो सम्मान की भावना रहती है वह भी इसमें महत्व-पूर्ण प्रभाव डालती हो।[५] इस प्रकार के नाटको में नाटककार का प्रधान उद्देश्य किसी काल विशेष की आत्मा को ही अभिव्यक्त करना होता है और जब वह आधुनिक काल के विपरीत बातचीत, रहन सहन खान-पान आदि के निराले ही वातावरण मे अपने को पाता है तब उसे विशेष आनन्द होता है।

ऊपर अँग्रेजी नाटको के सम्बन्ध में निकल ने जो कुछ कहा है उससे ऐतिहासिक नाटको के तीसरे उद्देश्य की चर्चा अनायास ही आ गई है। ऐतिहासिक युगो मे अपने युग की समस्याओ का चित्रण ऐतिहासिक नाटककार का अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य है। महत्वपूर्ण इसलिए कि प्रत्येक साहित्य-कार अपने युग का ही शिशु होता है।[१] पोल स्टेफर का कथन है "प्रत्येक महान् कलाकृति अपने युग से इतनी अधिक और इतने स्पष्ट रूप से प्रभावित होती है कि कला व साहित्य की वह कृति उस युग के सबसे महत्वपूर्ण और सच्चे इतिहास की सज्ञा पा सकती है।[२] साहित्य को यदि अनुकरण कहा जाय तो कलाकार केवल उसी वस्तु का अनुकरण कर सकता है, जिसे वह प्रत्यक्ष देख सकता है दूरस्थ अथवा ऐतिहासिक दृष्टि उसे काव्य और तथ्यो के बीच उचित अनुपात बनाने मे सहायता करती है।[३] उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐतिहासिक नाटककार जो कुछ कलाकृति प्रस्तुत करता है, वह वास्तव मे वर्तमान की ही अनुकृति होती है, उसका यह दृष्टिकोण भले ही ऐतिहासिक हो। मूलत. उपर्युक्त दृष्टिकोण ऐतिहासिक यथार्थ का है। इसमें इतिहास को इतिहास के लिए नही वरन् आधुनिक समस्याओ के लिए ग्रहण किया जाता है। "राष्ट्रीयता' को यदि पहला उपयोगितावादी दृष्टिकोण माना जाय तो "युग की समस्याओ का चित्रण" इसी प्रकार का दूसरा दृष्टि कोण होगा।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को सर्वाधिक महत्व देने वालो मे हीगल का स्थान प्रमुख है। "सौन्दर्य शास्त्र" पर दिये गये अपने भाषण मे वह कहता है 'एक महान् साहित्यकार न केवल अदृष्टपूर्व सौन्दर्य का अनावरण करता है, वरन् वह मानवता का वक्ता भी होता है। वह अपने चारो ओर के लोगों के अस्पष्ट स्वरो को सुनता है, उन्हे एकत्र करता है ठोस साकार देता है और अन्त मे लोगो के मौन आवेगो को ऊँची और स्पष्ट वाणी देता है।[४] यहाँ हीगल का स्वर एक ओर तो मानवतावादी है और दूसरी ओर उपयोगितावादी। "भूत के गायक" कवि के लिए भी उपर्युक्त सीमाएँ निर्धारित कर उसने ऐतिहासिक नाटककार के उद्देश्य को भी स्पष्ट कर दिया है।

इसमें सन्देह नही कि ऐतिहासिक नाटककार के सम्मुख भी अपने युग के जीते-जागते प्रश्न बराबर उठते रहते हैं। यह सम्भव है उन प्रश्नो का समाधान उसे वर्तमान में न मिल

---

५. "मजर इ लौंजिन क्वा रेवरेशिया" शेक्सपीयर एन्ड क्लासिक ऐंटिक्विटी।

१ दी पोयट इज दी ट्रू चाइल्ड आफ हिज एज : पौल स्टेफर : पृ० ११७

२. वही पृ० ११७

३. वही

४. लेक्चर्स ओन ईस्थेटिक : हीगल : पृ० ११६

सके। यह भी सम्भव है कि वर्तमान उसके इतने समीप है कि आँखो के बिलकुल पास रखी हुई वस्तु की तरह उसके ठीक-ठीक स्वरूप का अनुमान वह न लगा सके और ऐतिहासिक भूत को दूर से सही-सतुलित रूप में देख सकने के कारण वह उसकी प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके कारण-कार्यो के साथ देख पाने में सफल हो और इसी कारण से आज की समस्याओ से मिलती-जुलती भूतकाल की समस्याओ को उनके सही हलो के साथ लोगो के सम्मुख रखने मे ऐतिहासिक नाटक को अपना माध्यम बनाये। वस्तुतः काल और प्रकृति की सनातन गतिशीलता और सचेतना में मनुष्य के मूल स्वभाव मे महत्वपूर्ण अन्तर नही होता। फलतः उसकी मूल समस्याएँ भी प्रायः एक-सी ही रहती हैं, यद्यपि उनके बाह्य स्वरूपो में अन्तर होता ही रहता है। ऐतिहासिक नाटककार उस मूल को प्राचीन मे खोजकर उसे आधुनिक से जोड देता है, अथवा आधुनिक के प्रमाण के लिए इतिहास की चिरन्तन रूढियो को काम में लाने का मोह सवरण न कर सकने के कारण वतमान को भूत के साँचे में ढाल देता है। ऐतिहासिक नाटक लिखने वाला नाटककार दो प्रकार से इस उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है वह या तो वर्तमान को भूत के क्रोड मे रख कर देखे, अथवा भूत को वर्तमान के साँचे में ढाल दे।

इसी तीसरे उद्देश्य को लेकर आधुनिक युग में कई ऐतिहासिक नाटक लिखे गये। इँगलैंड में "ड्रिंकवाटर"[1] और "बर्नर्ड शा"[2] के कुछ नाटक इस श्रेणी मे रखे जा सकते हैं। अमेरिका में अधिकाश ऐतिहासिक नाटक "निकल"[3] के कथनानुसार इसी उद्देश्य को लेकर चले है। शेक्सपीयर के नाटको के सम्बन्ध मे कहा गया है कि "उसने प्राचीन का पुनरुद्धार किया, मानव हृदय के शाश्वत तत्वो की ओर निर्देश किया और उनको आधुनिक जीवन की विशेषताओ के माध्यम से साभिप्राय बनाया, जो प्राचीन आदर्श की ओर अभिमुख थी। यहाँ तक कि कभी-कभी अनजाने ही अत्यन्त नवीन को भी उसने ग्रहण किया।[4] फ्रास में रोमा रोला, साका गित्री, एडबर्व बुर्वे, जूलिस सुपरवील ने प्रत्यक्ष ही उक्त उद्देश्यो को लेकर अपने ऐतिहासिक नाटको का सृजन किया। इसी उद्देश्य को लेकर "जी गिरोदो" ने लोक-कथाओ दन्त कथाओ से अपने कथानक लिये।



१ अब्राहम लिंकन . ड्रिंकवाटर :

२. सेन्ट जोन · शा :

३. "वेहर ऐज इन जनरल दि इगलिश राइटर्स टेंडेड टु एवोइड यूजिंग मैटीरियल फौम पास्ट ऐज कमैन्ट्री ग्रौन दि प्रेजेंट, अमेरिकन आथर्स हैव टैन्डेड टु पर्स्यू ए पाथ डाइमैट्रिकली ओपोज्ड टु दिस, एण्ड टु सीक फोर थीम्ज व्हिच माइट एड दैम इन इक्सप्रैसिंग सोथियन जजमैंटस् ग्रौन दि टैव्नटियथ सैन्चुरी"

बर्ल्ड ड्रामा : निकल : पृ० ८६४

४. शेक्सपीयस रोमन प्लेज : मक कैलम : पृ० ८५

ऐतिहासिक नाटक लिखने का अन्तिम उद्देश्य नैतिक और शिक्षात्मक है। १५ वी शती के इगलैंड मे जिन "मौरेलिटी प्लेज" का जन्म हुआ था उनमे १६ वी शती तक आते-आते ऐतिहासिकता का समावेश भी हो गया था। बूल्जे के नाटको मे नैतिक नाटको और ऐति सिक नाटको का सम्मिलन देखा जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि इन नाटककारो का उद्देश्य शिक्षा देना या ऐतिहासिक नाटक लिखना नही वस्तुत: ये नैतिक नाटक राजनीति और इतिहास के छोर ही स्पर्श कर सके थे। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि कोई भी नाटककार इतिहास को अनावृत कर केवल शिक्षा देने के उद्देश्य से किसी कलाकृति का सृजन क्यो करे। "कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे" की बात दूसरी है क्योकि यह सम्भव है कि अनजाने ही किसी कलाकृति से पाठक या दर्शक कुछ महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण करले। इसमे भी सन्देह नही कि इतिहास के प्रभावशाली माध्यम से इस प्रकार का कार्य सरल भी हो सकता है। जहाँ आदर्शो के निर्माण का प्रश्न है और वह कार्य ऐतिहासिक नाटक कर सकता है, परन्तु यदि शिक्षा देने का अर्थ सीधी नैतिक और चारित्रिक शिक्षा से हो, तब यह कहना पडेगा कि सामान्यतया नाटककारो ने इस उद्देश्य से ऐतिहासिक नही लिखे। भारतवर्ष में तो "मनोरजन के साथ-साथ सुधार करने के उद्देश्य से ही नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई अन्यथा वेदो और पुराणो के होते हुए इसकी कोई आवश्यकता न थी।[1] इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य लेखको मे स्कालिजर के विचार दृष्टव्य है। उनका कथन है कि ऐतिहासिक नाटको का उद्देश्य दर्शको को आश्चर्य से भरकर प्रभावित कर देना मात्र न होकर दर्शको का प्रभावित करना, प्रसन्न करना और शिक्षा देना भी है।[2] इसमे सन्देह नही कि नाटको से नैतिक शिक्षा होती है और नैतिक मान्यताओ के लिए नाटककारों ने इतिहास तक में परिवर्तन कर दिया है। मेरियट ने भी शेक्सपीयर के नाटको मे चारित्रिक और नैतिक तत्त्वो की खोज की है।[3] सत् और असत् चरित्रो के सघर्ष मे एव नाटककार के काव्य न्याय में उपर्युक्त दोनो का चित्रण अनायास ही हो जाता है। इस सघर्ष में पौर्वात्य नाटको में सदा ही सत् की विजय दिखाई गई है। पाश्चात्य ऐतिहासिको मे भी नाटककारो ने इस बात का ध्यान रखा है कि जहाँ कही भी ऐसे राजाओ का वर्णन हो जिन्होने छल बल से राज्य प्राप्त किया, उनका शासन अशान्ति और सघर्षो के अयाचित द्वन्द्वो से परिपूर्ण चित्रित किया जाय।[4]

ऊपर हम उन चार उद्देश्यो पर विचार कर चुके है, जिनको सामने रखकर कोई भी नाटककार अपने कथानक के लिए इतिहास की धुन्धली-धुन्धली झिलमिलाती हुई यवनिका के

---

१ रस विमर्श पृ० १ २

२ फौर दि प्ले इज नोट ऐक्टेड सोलली टु स्ट्राइक दि स्पेक्टेटर विद एडमिरेशन और कौस्टर-नेशन ए फौरट व्हिच ऐकोर्डिंग टु, क्रिटिक्स ऐस्काइलस वज औफन गिल्टी, बट शुड औल्सो टीच, मूव एण्ड प्लीज।

८ यूरोपियन थ्योरीज आफ ड्रामा पृ० ६२

३. इङ्गलिश हिस्ट्री इन शेक्सपियर : मेरियट : पृ० १४

४ "सो शेकन वी आर, सो वैन विद केअर",

हेनरी फोर्थ : १ : शेक्सपीयर।

पीछे झाँकने का प्रयत्न करता है । परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ऐतिहासिक नाटकों के शायद ही ऐसे उदाहरण मिल सके जहाँ नाटककार एक अकेले उद्देश्य को रखकर नाटक रचना करने बैठता हो । शेक्सपियर के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उसके ऐतिहासिक नाटकों मे प्राय. सभी उद्देश्य दिखाई देते हैं । भारतीय दृष्टिकोण से भी "धर्मार्थकाममोक्ष" मे सभी उद्देश्यों की ओर सकेत मिल जाता है । नाटककार किसी भी उद्देश्य से नाटक लिखे उसकी "ऐतिहासिक नाटकीयता मे इतिहास व सस्कृति का चित्रण उतना ही महत्व-पूर्ण बन जाता है जितना देश प्रेम । राष्ट्र प्रेम अथवा नैतिक आदर्शों का । यह सम्भव है कि किसी विशेष नाटक मे एक उद्देश्य प्रधान हो जाय और किसी मे दूसरा, परन्तु इसमे सन्देह नही कि एक से दूसरा स्वत' ही ध्वनित हो जाता है । अतः इन उद्देश्यो की प्रधानता अप्रधानता पर विचार किया जा सकता है , परन्तु इसके बीच किसी प्रकार की लक्ष्मण रेखा नही खींची जा सकती है । सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समस्त साहित्य का कार्य मानवता के विकास मे योग देना है, उसी प्रकार उसके एक अग ऐतिहासिक नाटक का कार्य मानव के अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान की आलोचना करना और भविष्य की रूप रेखा प्रस्तुत करना है ।

ऐतिहासिक नाटक, इतिहास और कल्पना

इतिहासकार के मूल उत्सो की चर्चा हम कर चुके है, इसमे सन्देह नहीं कि इतिहास में पुरातत्त्व, दत कथा, लोक कथा, ज्ञात ऐतिहासिक घटनाएँ और पौराणिक उपाख्यान सभी का समाहार हो जाता है, और इसमें भी सन्देह नही कि उक्त समाहार इतिहासकार की 'संश्लिष्ट सभाव्यता' के माध्यम से ही होता है, परन्तु यहाँ अतिम रूप से यह निश्चय कर लेना होगा कि इतिहासकार किस सीमा तक पुराणो और लोक कथाओ के क्षेत्र में प्रवेश कर इतिहास की सामग्री खोज सकता है, पहले कहा जा चुका है इतिहास भूतकाल के तथ्यो का सग्रह मात्र नही है,[1] मुन्शी इतिहास को साहित्य की एक कलात्मक कृति कहते है और इतिहासकार की 'स्वानुभव' से प्रेरित सरसता को इसका कारण मानते हैं,[2] हैरोडोटेस, थुसिडाइटिस, गिबन, मेकोले, कार्लाइला के इतिहास उनके अनुसार आदर्श है और इन सबमें कथन की रसिकता और 'भावनात्मक अपूर्वता' का आनन्द होने के कारण वे इनको 'कलात्मक कृति' मानते हैं,[3] जिसे मुशी इतिहासकार का 'स्वानुभव' कहते है उसे हमने 'संश्लिष्ट सभाव्यता' कहा है। इतिहास को विज्ञान माना जाय या नही इसमें मतभेद हो सकता है, परन्तु इतिहासकार की दृष्टि वैज्ञानिक होती है यह निर्विवाद है। कल्पना के सहारे अज्ञात युगो के कथानको को लेकर उपन्यास भले ही लिखा जाय, पर उसे इतिहास तो नही कहा जा सकता। इतिहासकार केवल मात्र दतकथा और पुराणो से कहानियाँ लेकर ऐतिहासिक पात्रो और घटनाओ की सृष्टि नही कर सकता, न केवल स्वानुभव के आधार पर इतिहास की घटनाओ और पात्रो की स्पष्ट शब्दो में आलोचना ही कर सकता है, न उनके कर्तव्याकर्तव्यो पर मनमानी टिप्पणियाँ ही दे सकता है और न इतिहास को एक काल्पनिक कथा का ही स्वरूप दे सकता है, दूसरे शब्दो में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इतिहासकार निर्माण नही कर सकता खोज भले ही कर ले,[1] अन्वेषक होने के कारण ही इतिहास-

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक

---

१ 'बट दे आर नौ मोर हिस्ट्री देन बटर एग्ज सोल्ट एन्ड हर्ब्ज आर ऐन ओमलेट'।
पोर्ट्रेट्स इन मिनिएचर : लिटन स्ट्रेची : पृ० १६०।

२ आदि वचनो पृ० १६० 'ऐतिहासिक पात्रो अने तेम नु निरूपण'।

३. वही पृ० १६०।

१ बाई इन्वेशन आइ बिलीभ, इज जनरली अन्डरस्टुड ए क्रिएटिव फेकल्टी, व्हिच उड इन्डीड प्रूव मोस्ट रोमास राइटर्स टु हेवे दि हायेस्ट प्रिटेन्शन्स टु इट : व्हेर ऐज बाइ एन्वेंशन इज रिअली मेंट नौ मोर (ऐंड सो दि वर्ड सिग्निफाईज) दैन डिस्कवरी, और फाइंडिंग आउट और टु इक्सप्लेन इट ऐट लार्ज, एविवक ऐंड सेगेसश पेनिट्रेशन इन्टु दि टु ऐसेंस ओफ ऑल ओबजक्टस ओफ अवर कन्टेंलेशन। टोम जोन्स १२१

कार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक कहा जाता है, अपने इतिहास के लिए पुराणो और लोक कथाओ से वह उतना ही ग्रहण कर सकता है जितना अन्य उत्सो से प्रमाणित इतिहास के अनुकूल हो अथवा कम से कम जिसकी रूप रेखा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यो से प्राप्त हो सके, वह उन पुराणो और कथाओ की व्याख्या किस रूप मे करे इसका निश्चय उसकी संश्लिष्ट सभाव्यता करती है। इतिहास को कलाकृति मानते हुए भी स्वय मुन्शी का इतिहास मे कल्पना तत्त्व को सीमा स्वीकार करनी पडी है, इतिहासकार बिना किसी आधार के किसी पात्र के कृत्यो का सृजन नही करता और न काल्पनिक वार्तालाप द्वारा चरित्र का निरूपण ही कर सकता है, • इतिहासकार की कल्पना और सर्जकता को अतीत ऐतिहासिक प्रमाणो का कठिन बन्धन स्वीकार करना पडता है।[२] यदि ऐसा न होता तो लोक कथा और पुराण इतिहास ही माने जाते, [मुन्शी इतिहास को भी साहित्य की एक कलाकृति मानते हैं, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य की एक कलाकृति 'इतिहास' तथा अन्य कलाकृति 'ऐतिहासिक नाटक' में मूल अन्तर कहाँ पर है, 'कलाकृति' विशेषण के प्रयोग मे तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो के कार्यों में कोई अन्तर नही, परन्तु कलाकार की सर्जक कल्पना अतीत को प्रत्यक्ष और पुनर्जीवित कर सकती है जब कि इतिहासकार अपनी सीमा के भीतर कल्पना का उपयोग करने पर भी अतीत को पुनिर्जीवित नही कर सकता, बुद्धिगम्य बनाने पर भी प्रत्यक्ष नही कर सकता, क्योकि इतिहास का अतीत मृत अतीत है। इसी प्रकार यदि कोई नाटककार केवल इतिहासकार के चरणचिन्हो पर चले, उसमे कलात्मक प्रतिभा का प्रयोग न करे तो उसके नाटक निष्प्राण होगे इसमें सन्देह नही,[३] इतिहासकार छोटे छोटे और बिखरे हुए रग बिरगे टुकडो को बडी सतर्कता और सावधानी से जोडकर एक ऐसा आकार दे देता है जिसका स्वरूप उन छोटे-छोटे अवयवो में निहित रहता है, बस, इतनी ही इतिहासकार की कला है। परन्तु उन रग बिरगे टुकडो को देखने मात्र से ही ऐतिहासिक नाटककार के मनश्चक्षुओ के सामने एक सपूर्ण कलात्मक दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है। वे बिखरे हुए टुकडे उसकी प्रेरणा के लिए बाह्य उपकरण मात्र हैं, इसीलिए जहाँ इतिहासकार अपनी 'संश्लिष्ट सभाव्यता' का प्रयोग करता है वहाँ नाटककार अपनी 'सर्जक कल्पना' का| ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के किसी एक मेघ खण्ड पर अपनी सर्जक कल्पना की विद्युत् से कितनी ही नई-नई आडी तिरछी रेखाएँ खीच सकता है। मेघ खण्ड इतिहास का है, रेखाओ से बने सारे चित्र नाटककार के अपने हैं, चित्रफलक इतिहास का है, और रग नाटककार के अपने हैं। इस प्रकार नाटककार की कला के लिए इतिहास आधार मात्र रह जाता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि कोई भी ऐतिहासिक नाटककार किस सीमा तक वस्तु, पात्र और वातावरण के चुनावो मे इतिहास का अनुगमन करे और कहाँ तक

---

२. 'आदि बचनो अने बीजा व्याख्यानो'।

कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी : पृ० १६५

३. फिजिड लाइक टेनीसन्स ड्रामाज : शेक्सपीयर्स रोमनप्लेज •

मेक कैलम पृ० ६०

अपनी स्वतन्त्र कल्पना का उपयोग। विचारक इस विषय मे एक मत नही, भारतीयो के अनुसार कथा सहित पूर्व वृत्तान्त को ही इतिहास कहते है।[1] नाटककार इतिहासकार नहीं, बल्कि कवि है, आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि और ऐतिहासिक का अन्तर इन शब्दो मे स्पष्ट कर दिया है, परन्तु अन्यत्र नाटक और इतिहास मे अन्तर भी बताया गया है। कवि का काम कथा कहना नही यह तो पौराणिक[2] का कार्य है, कवि कथावस्तु को सजीव करता है और ऐसा करना भावो और रसो की यथोचित व्यंजना से संभव है।[3]

कल्पना की योजना

भारतीय मत

'न हि कविरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन' मे 'मात्र' शब्द अत्यन्त महत्त्व का है, कवि का कार्य इतिवृत्त का निर्वाह करना तो है ही, उसके अतिरिक्त और भी है, इस इतिवृत्त का निर्वाह कहाँ तक वह करे इसका संकेत 'किंचित् प्रयोजनम' मे ढूँढा जा सकता है। इतिवृत्त का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है परन्तु उतना ही जितना उसके उद्देश्य के लिए आवश्यक हो, इस प्रश्न का समाधान दशरूपककार में दिया है, उसके अनुसार नाटक की कथावस्तु 'प्रख्यात,' 'उत्पाद्य' अथवा 'मिश्र' तीन प्रकार की हो सकती है,[1] इसमे सन्देह नही कि प्रख्यात कथावस्तु का सम्बन्ध एक ओर तो इतिहास से जोड़ा जा सकता है और दूसरी ओर उसके ही सहायक पुराण अथवा लोक कथाओ से। फलतः प्रख्यात और मिश्र कथावस्तुओ में अपेक्षित ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग आवश्यक है ही, 'दशरूपककार' ने प्रख्यात और मिश्र वस्तुओ को लेकर नाटक रचना करने वाले 'कवि' की सीमाओ का भी संकेत कर दिया है, यदि नाटककार ख्यात वृत्त लेकर रचना कर रहा हो तो यह आवश्यक है कि वह असम्बद्ध कल्पना द्वारा उसके प्रभाव को नष्ट न होने दे। उसे अपनी मौलिकता केवल गौण कथानको तक ही सीमित करनी पड़ेगी, अन्यथा परम्परा के प्रतिकूल हो जाने से दर्शको पर बुरा प्रभाव पडेगा। परन्तु इसके साथ ही यह उचित ही नही आवश्यक भी है कि यदि नाटककार के नायक के सामान्य चरित्र के विरोध मे कोई परम्परा भी हो, तो वह उसका अतिक्रमण कर अपने नायक के चरित्र की उदात्तता स्थापित करे',[2] उपर्युक्त विवरण से पाँच बातें स्पष्ट है :

आनन्दवर्द्धन

धनंजय

१ नाटककार ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर नाट्य रचना करते हैं।

२. ऐसी नाट्य रचना मे मुख्य घटना मे कल्पना का समावेश नहीं किया जा सकता।

---

१ 'पूर्ववृत्त कथायुक्त इतिहास प्रचक्षते' "आदि वचनो" : मुन्शी : पृ० १६२।

२. वस्तुतः 'इतिहासकार'।

३. 'न हि कविरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम्' इतिहासादेव तत्सिद्धे'

आनन्दवर्द्धन पृ० ८

१. दशरूपक १.१५ : धनंजय :

२. वही ३.२०,२२

३ कल्पना का समावेश केवल गौण कथानक ('इपिसोड'—कीथ) में ही किया जा सकता है।

४ ऐसे नाटककार के लिए इतिवृत्त केवल माध्यम मात्र है, उसका मुख्य कार्य भावो और रसो की यथोचित व्यजना द्वारा कथावस्तु को सजीव और सप्राण बनाना है।

५. नाटककार इतिहास अथवा परम्परा से प्राप्त कथावस्तु मे प्रसग से भिन्न वस्तु को अपने नाटक मे स्थान न दे और कथा सबद्ध होने पर भी ऐसे प्रसगो को स्थान न दे जो मूल कथा के नायक तथा अन्य पात्रो, के चरित्र के अनुकूल न हो।

उक्त सभी बातो से यह स्पष्ट है कि नाटककार को घटना और पात्र दोनो मे परिवर्तन करने अथवा नाटक के नियमो का निर्वाह करने के लिये कथा वस्तु में यदि हेर फेर करना ही पडे तो ज्ञात इतिहास की घटनाओ की परिणित मे नही किन्तु उसके क्रम अथवा कार्य-कारण सभावनाओ में परिवर्तन किया ही जा सकता है।

नाटक मे इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण के सबध मे अरस्तू 'सभाव्यता' पर विशेष बल देते हे और उनका मत भी बहुत कुछ आनन्दवर्द्धनाचार्य के मत से मिलता जुलता है उसके अनुसार, इतिहासकार गद्य लिखता है और कवि (नाटककार) पद्य, इन दोनो मे केवल इतना ही अतर नही है। इतिहासकार बीती हुई घटनाओ का वर्णन करता है और कवि (नाटककार) ऐसी ही घटनाओ का वर्णन करता है जो किसी-भी काल मे सभव हो। इतिहास का सबध व्यष्टि से है और कवि का समष्टि से। अरस्तू के उक्त कथन से यह भ्रम हो सकता है कि कवि (नाटककार) इतिहास के स्थान पर केवल सभाव्य कल्पना को ही अपने नाटक का विषय बना सकता है। वस्तुतः बात ऐसी नही है। त्रासक (ट्रेजिडी) नाटको और सुखान्त नाटको मे अन्तर करते हुए अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि त्रासक नाटककार 'ऐतिहासिक नामो' को छोड नही पाता। यहाँ सभवतः 'ऐतिहासिक नामो' से अरस्तू का अभिप्राय 'ऐतिहासिक घटना व पात्र' दोनो से है। जो कार्य अब तक नही हुए उनको हम घटनीय नही मान सकते और जो कार्य पहले कभी हो चुके हैं वे अवश्य घटनीय है। अतः जो घटनीय है वे अवश्य विश्वनीय भी हैं। यही कारण है कि त्रासककार अपने नाटक मे इतिहास का पल्ला नही छोड सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू केवल उसी ऐतिहासिक घटना को नाटक में स्थान देना स्वीकार करता है जो ऐतिहासिक सत्य होने के साथ साथ सभाव्य और घटनीय भी हो। यह स्पष्ट है कि अरस्तू नाटककार और इतिहासकार के बीच अत्यन्त ही झीने सबधो की सृष्टि करता है। उसके नाटककार को पूरी स्वतत्रता है कि वह 'एक दो ऐतिहासिक पात्रो' के अतिरिक्त अन्य सभी का 'सभाव्यता' की सीमा मे सृजन कर ले अथवा परम्परा से प्रचलित त्रासक

पाश्चात्य मत
संभाव्यता

१. अरस्तू

---

१. 'इन सम ट्रेजैडीज देय आर वन और टू नेम्स ऐंड दि रैस्ट आर फेन्ड'
योरोपियन थेरीज औफ ड्रामा पृ० १२

नाटको की आधारभूत लोक कथाओ मे भी वह सर्वथा परिवर्तन कर ले। उसकी मान्यता है कि 'ज्ञात विषय भी बहुत कम व्यक्तियो के लिए ज्ञात होते है'[1]। त्रासद और इतिहास म इतना सबध बतलाने पर भी अरस्तू ने 'दी फ्लावर औफ अगाथा' नाम एक पूर्णतया कल्पित त्रासद की भी अत्यन्त प्रशसा की है। स्पष्ट है कि अरस्तू के नाटककार का घटनाए, एव पात्र और सभवत. वातावरण मे भी, मनोनुकूल परिवर्तन कर सकने का अधिकार है। [illegible] मात्र घटनीय सभाव्यता को ध्यान मे रखकर वह कितना ही परिवर्तन कर सकता है।

होरेस ने नाटक मे इतिहास और कल्पना के प्रयोग मे 'सभाव्यता' के स्थान पर 'सबद्धता' को आवश्यक माना है। लोक प्रचलित कथा को अपना बना लेना ही कवि, या (नाटककार) का कार्य है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह घटनाओ के सम्पूर्ण इतिवृत्त को ग्रहण न करे और न मूल कथा का शब्द अनुवाद ही प्रस्तुत करे।

२ होरेस

ऐतिहासिक कथा को ग्रहण करने वाले कवि का कार्य, अग्नि से धुआ उत्पन्न करना नही, धुए से अग्नि निकाल लेना है। जिससे वह अद्भुत के साथ साथ सुन्दर का सृजन कर सके। इतिहास की घटनाए, नाम और तिथियाँ उसके लिए महत्व की नही होती, वह तो तीव्रता से घटनाओ की ओर बढ़ता है और अपने पाठको को मनोरंजक स्थलो की ओर इस प्रकार ले जाता है, जैसे उनका उन घटनाओ से पूर्व परिचय हो। जिस परिस्थिति को वह अपने रग मे रगने मे असमर्थ होता है, उसको छोड देता है और इस प्रकार कल्पना और सत्य का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करता है जिसमे कथा का मध्य उसके प्रारम्भ और अन्त दोनो से सबद्ध रहता है।[4]

होरेस के उद्धरण से ज्ञात होता है कि वह भी इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण मे इतिहास के क्रम, घटना अथवा पात्रो के यथातथ्य चित्रण का अधिक महत्व नही देता। ज्ञात घटनाओ को शब्द शब्द ग्रहण करना वह आवश्यक नही मानता। उसकी कलाकृति की कसौटी कथानक और पात्रो की सम्बद्धता मात्र है। होरेस भी ऐतिहासिक इतिवृत्त लेकर रचना करने की कठिनाइयो को स्वीकार करता है।[5] परन्तु वह इतिहास के मोड़ से ज्ञात

---

१. ईवन नौन सबजैक्टम् आर नोन बट टु ए फ्यू।

यूरोपियन थेरीज औफ ड्रामा पृ. १२

२ पौसिबिल सोट औफ प्रोबैबिलिटी।

टवाइनिंग वही पृ १२

३. ए पब्लिक स्टोरी विल बिकम युअर औन प्रौपर्टी इफ यू डोंट ड्वैल अप ऑर दि हार्ट सर्किल औफ ईवेंट्स, व्हिच इज पैल्ट्री एड ओपन टु एवरीवन, नोर मस्ट यू बी सो फेथफुल ए ट्रासलेटर और टु टेक दि पेन्स औफ रैंडरिंग दि ओरिजिनल वर्ड फोर वर्ड। दि आर्ट ओफ पोइट्री।

होरेस वही पृ. ३१

४. दि आर्ट ओफ पोइट्री।

होरेस वही पृ. ३१

५.

अवशेषो से (धूम्र से) सम्पूर्ण और सुन्दर चरित्रो को (अग्नि को) निकालने में विश्वास करना है। उन चरित्रो के निर्माण के लिए उसने काल्पनिकता की सीमा भी बाँधी है। नाटककार का कार्य यह है कि अपने नाटक मे किसी भी ऐतिहासिक पात्र के ज्ञात चरित्र की विशेषताओं को अतिरंजित कर चित्रित करे। यदि किसी पात्र मे कुछ उद्दंडता हो तो उसे अत्यन्त क्रोधी और साहसी प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी चरित्र के प्रति किसी कुमारी की थोडी सी उदासीनता को उसकी अनैतिकता के रूप में बदल देना चाहिए।[२] होरेस ऐतिहासिक पात्रो के ज्ञात स्वरूपो मे एक निश्चित प्रकार की अतिरंजना की आवश्यकता तो मानता है, किन्तु वह अन्य किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझता। जहाँ तक ऐतिहासिक घटना के परिवर्तन किए जाने का प्रश्न है, वह 'नाटकीय सबद्धता के साथ साथ, लोक विश्वासो के अनुकूल किए गए परिवर्तनों को ही उचित समझता है।[3]

'स्कैलिगर' का मत है कि इतिहास से कथानक को ग्रहण करते समय नाटककार को इतिहास के ज्ञात तथ्यो से बहुत दूर नही भटक जाना चाहिए।[४] यूनानी नाटककार 'एस्काइलस' ने ज्ञात ग्रीक इतिहास की अवहेलना कर प्रोमैथ्यूज के कथानक मे परिवर्तन कर दिया। स्केलिगर इस प्रकार के परिवर्तनो को अवांछनीय समझता हे। इसी प्रकार 'यूरिपाइडीज' ने हेलेन[१] के संबन्ध मे ग्रीक इतिहास के विरुद्ध जिन उपाख्यानो का गढा है, वह उनकी भी आलोचना करता है। स्केलिगर की मान्यता है कि घटनाओं का नाटकीय स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सत्य के अधिक से अधिक समीप हो।[२]

२. स्केलिगर

---

२ इफ ऐज ए पोयट यू हैस टु रिप्रजेन्ट दि रिजाउन्ड ऐचिलीज, लैट हिम बी एन्डीफैटीगेबल रैथफुल, इनइक्जोरेबल, करेजस, लैट हिम डिनाइ दैट लौज वैर मेड फोर हिम, लैट हिम ऐरोगेट एव्रीथिंग टु फोर्स आफ आर्म्स, लैट मीडिया बी फियर्स ऐंड इन्ट्रैक्टेबल, ईनो ऐन ओवजक्ट औफ पिटी, आइक्जिअन परफीडियस, आयो वान्डरिंग, ओरेस्टीज इन डिस्ट्रैस'

दि आर्ट ओफ पोयट्री : होरेस :

३. 'ही औट इन स्टोरी टु फौलो दि कौमन रिसीव्ड ओपीनियन और ऐट लीस्ट टु इन्वैंट थिंग्ज दैट मे बी ऐज कन्फरमेबुल टु इट ऐज पौसीबुल'

वही : होरेस :

४. 'व्हैन आथर्स टेक देयर प्लौट्स फ्रौम हिस्ट्री, दे मस्ट बी केयरफुल नोट टु डिपार्ट टु वाइडली फ्रौम दि रेकर्ड्स'

ओन पोयटिक्स . जूलियस सीजर स्कैलिगर '

१. 'यूरिपाइडीज इन्वेंटेड स्टोरीज ऐवाउट हैलेन व्हिच वैर अटर्ली कौन्ट्रेरी टु वैल नोन हिस्ट्री'। जे० सी० स्केलिगर पोयटिक्स, यूरोपियन थ्योरीज औफ ड्रामा पृ० ६२

२. 'दि ईवेन्टस वैयसैल्व्ज शुड बी मेड टु हैव सच सीक्वेंस ऐंड ऐरेंजमेन्ट ऐज टु ऐप्रोच ऐज नियर ऐज पौसिबुल टु ट्रूथ।' वही पृ० ६२

अभी तक हमने जितने मतो का उल्लेख किया है, स्केलिगर का मत उनसे भिन्न है। उसने यह कही भी स्पष्ट नही किया है कि कल्पना और ऐतिहासिक सत्य का मिश्रण किस मात्रा तक होना चाहिए। परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह ऐतिहासिकता को अत्यन्त महत्व देता है। एस्काइलस और यूरिपाइडीज दोनो के नाटको के सम्बन्ध मे जो मत उसने प्रगट किया है, उससे यह भी ज्ञात होता है कि वह कथानक एव चरित्र दोनो में किए गए परिवर्तनो को अनुकरणीय नही मानता। स्केलिगर के अनुसार नाटक केवल इतिहास का अनुकरण नही है। उसमे दर्शको को प्रभावित करने एव उनका मनोरजन करने की भी क्षमता होनी चाहिए।[३] वस्तुत. दर्शको को प्रभावित करने एव उनका मनोरजन करने की यह शक्ति इतिहास से भिन्न है और नाटककार की कल्पना एव उसकी अभिव्यक्ति पर ही निर्भर है। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि स्केलिगर की दृष्टि मे कल्पना का कोई मूल्य ही न हो।

फ्रास का सुविज्ञ आलोचक 'हैडेलिन एब' प्रासगिक कथावस्तु मे ही नही आधिकारिक वस्तु में तक परिवर्तन करने का अधिकार नाटककार को देता है,[४] नाटककार और महाकाव्यकार दोनो को ही कहानी की सत्यता की अपेक्षा नही होती,

४ हैडेलिन एब

क्योकि वे इतिहासकार नही, वे दोनो कथा के आवश्यक भाग को ज्यो का त्यो ग्रहण कर शेष कथा मे परिवर्तन कर लेते है, नाटककार का उद्देश्य दर्शको को इतिहास के तथ्यो का ज्ञान करना नही है। अतः नाटककार नाटक के नियमो के अनुकूल कथा मे वाछित परिवर्तन कर सकता है।[१] एब ने इतिहासकार, और महाकाव्यकार और नाटककार की रचना पद्धतियो के अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है, इतिहासकार के लिए इतिवृत्त मात्र ही पर्याप्त है, उसे उस पर निर्णय देने की आवश्यकता नही। महाकाव्यकार का इतिवृत्त लोक-कथाओ में निहित चिरन्तन सत्य की अतिरंजित अभिव्यक्ति है। ऐतिहासिक नाटककार उसी के इतिवृत्ति को उचित, सम्भाव्य और मनोरजक रूप में रखता है।[२] परन्तु यदि कोई ऐसा कथानक मिल जाय जिसमे ऐतिहासिकता के साथ साथ नाटकीयता भी हो तो नाटककार को अवश्य ही ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करनी चाहिए।[३] अन्यथा वह ऐतिहासिक कथावस्तु में यथेष्ठ परिवर्तन कर सकता है। किन्तु ख्यात चरित्रो के

---

३ 'दि प्ले शुड औलसो टीच, मूव ऐंड प्लीज।' वही पृ० ६२

४. 'बट माई ओपीनियन इज दैट ही मे टू इट नोट ओनली इन दि सरकम्स्टैन्सीज बट इन दि प्रिन्सिपल ऐक्शन इटसैल्फ।' वही पृ० ६२

१. 'दे टेक आउट औफ दि स्टोरी सो मच ऐज सर्व्स देयर टर्न ऐंड चेंज दि रैस्ट, नोट इन्सपैक्टिंग दैट ऐवीबोडी शुड बी सो रैडिक्युलस ऐंज टु कम टु दि थिएटर टु बी इस्ट्रक्टैड इन दि ट्रूथ औफ हिस्ट्री।

फ्रैंकोइज हैडेलिन : एब औफ अमौबिग्नैक ;
यूरोपियन थ्योरीज औफ ड्रामा

२. 'दि होल आर्ट औफ स्टेज : फ्रैंकोइज हैडेलिन : वही पृ० ६३

३. वही पृष्ट ६३

चित्रण एव ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि मे मनमाना परिवतन करने का उसे अधिकार नही। उदाहरण के लिये कोई भी नाटककार 'सीजर' को कायर एव 'मेसालिना' को साध्वी के रूप मे, चित्रित नही करेगा।[४]

इतना सब कुछ लिखते हुए भी एबे उप ज्ञात ऐतिहासिक कथा मे अधिक परिवर्तन करने की सम्मति नही देता जो जन मानस में जीवित हो गया हो।[५] इसलिए जिन कथानको मे किए हुए परिवर्तन जन साधारण के विश्वासो मे आघात पहुचाते हैं, उन्हे वह अग्राह्य मानता है। यही मान्यता अरस्तू की भी थी। प्राचीन कवियो और नाटककारो ने कथानक के सबंध मे सदा ही स्वच्छदता से काम लिया है, यूरीपाइडीज, सोफोक्लीज इत्यादि यूनान के प्रसिद्ध नाटककारो ने एक ही कथानक मे इच्छानुकूल परिवतन किया है। एबे का अनुमान है कि इतिहासकारो ने कालान्तर में उनके नाटको के आधार पर प्राचीन यूनान के इतिहास का अन्वेषण करना चाहा, तो इतिहास मे भी विकृति आ गई और उसके भी भिन्न-भिन्न स्वरूप बन गए[१]।

उर्पयुक्त विचारो से उसकी कुछ मान्यताए स्पष्ट हो जाती है, उसकी दृष्टि मे इतिहासकार, महाकाव्यकार एव नाटककार का अन्तर स्पष्ट है, परन्तु महाकाव्यकार एवं नाटककार के बीच कोई विशेष अन्तर उसने नही किया है। कल्पना का समावेश दोनो में हो सकता है। यदि इन दोनो मे अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक मे अतिरजना को महत्व दिया गया है अन्य मे नही। नाटक तीन गुण औचित्य सभाव्यता और मनोरजन महाकाव्यकार के लिए भी उतने ही आवश्यक है। ऐतिहासिक इतिवृत्त की दृष्टि से एबे ने महाकाव्य और नाटक मे जो अन्तर किया है वह महत्वपूर्ण और समुचित है।

साराश यह है कि एबे नाट्य कला को महत्व देता है इतिहास को नही, इतिवृत्त के सबध मे वह नाटककार को मनचाहे अधिकार दे देता है।[२] किन्तु उसके नाटककार की कल्पना ऐतिहासिक चरित्रो और वातावरण मे सीमित हो जाती है। नाटको मे सास्कृतिक पृष्ठिभूमि का सही स्थान एबे ने ही निर्धारित किया है।

जमन आलोचक लैसिग ऐतिहासिक तथ्य को नाटककार का उद्देश्य न मानकर उसकी पूर्ति का साधन मानता है। उसके अनुसार नाटककार एक 'छल' की सृष्टि करता है और उस 'छल' के द्वारा हमारे हृदयो को स्पर्श करता है।[४] लैसिग

---

४ वही पृष्ठ ६२, ६३

५ वही पृष्ठ ६३

१. दि होल आर्ट ऑफ दि स्टेज : फ्रैंकोइज हैडेलिन : वही पृ० ६३, ६४।

२. वही पृ० ६४।

३. वही पृ० ६४।

४. 'हिस्टोरिकलऐक्यूरेसी इज नोट हिज एम, बट ओन्ली दि मीन्स बाइ व्हिच ही पोप्स टु ऐटेन हिज एम, ही विशेज टु डिल्यूड अस ऐड टच अवर हार्ट्स थ्रू दिस डिल्यूजन'।
हैम्बर्गीश ड्रामाटर्जी . गौटहोल्ड ऐफ्रैम लैसिग : वही पृ० २५६।

५. लैसिंग अरस्तू का समर्थन करते हुए 'सम्भाव्यता' को ही महत्व देता है। घटनाओं की आंतरिक 'सम्भाव्यता' ही इतिहास को इतिहास बनाती है। अतः सम्भाव्यता का मूल तत्व चाहे ज्ञात कथावस्तु से ग्रहण किया जाय अथवा उत्पाद्य से, इनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।[1] महान जीवन चरित्रों के प्रदर्शन के लिए नाटक नहीं लिखे जाते। नाटक का उद्देश्य यह नहीं कि अमुक अमुक व्यक्ति ने क्या किया वरन् यह है कि कुछ विशेष ज्ञात परिस्थितियों में एक विशेष चरित्र का प्रत्येक व्यक्ति क्या करेगा। लैसिंग सभवत इसे ही नाटक की आन्तरिक सँभाव्यता' मानता है, अत. स्पष्ट ही उसकी दृष्टि में नाटककार के लिए कथानक की ऐतिहासिकता का कोई महत्व नहीं। परन्तु एब की तरह वह भी यह स्वीकार कर लेता है कि यदि इतिहास में उसके विषय का वैयक्तिकता एव सजावट की सभावनाओं से युक्त कथानक मिल जाय तो नाटककार उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसका अपराध नहीं और न ऐसा कर लेना कोई विशेष महत्व की ही बात है।[2]

इतिहास की अपूर्ण और असभाव्य घटनाओं को नाटककार किस प्रकार परिवर्तित एव परिवर्द्धित करके पूर्ण और सभाव्य बनाता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण[3] लेसिंग ने दिया है, नाटककार को इतिहास मे एक घटना मिलती है कि एक स्त्री ने अपने पति और पुत्रों की हत्या कर दी, घटना करुणापूर्ण और हृदय को दहलाने वाली है, अत' नाटककार इस कथानक पर 'त्रासद' लिखने का विचार करता है, परन्तु इतिहास इतनी भयकर और अप्रत्याशित घटना की रूपरेखा के अतिरिक्त और कुछ भी दे सकने मे असमर्थ है। नाटककार के लिए उक्त घटना की असभाव्यता सबसे बड़ा दोष है अतः वह सबसे पहले ऐसी कार्य कारण स्वरूप परिस्थितियों का सृजन करता है जिनसे ऐसा असम्भाव्य अपराध भी स्वाभाविक लगने लगे। इतिहास उसे चरित्रों के सम्बन्ध में सन्तोष नहीं दे सकता, अतः वह अपने व्यक्तियों के चरित्र गढ़ना प्रारम्भ कर देता है, इन चरित्रों को वह एक के बाद एक ऐसी परिस्थितियों और घटनाओं के बीच रखता जाता है कि वे गतिशील हो जाते हैं। इस प्रकार नाटककार प्रत्येक चरित्र मे आवेगों के क्रमिक विकास को योजना करता है, ये आवेग घटनाओं को स्वाभाविक और साधारण विकास की ओर स्वतः ही ले जाते हैं। तब हम समझने लगते हैं कि जिन परिस्थितियों से उत्पन्न आवेगों के उद्दाम प्रवाह में उक्त चरित्र इतना भयकर अपराध कर गया, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में हम में से

---

१. इज इट नॉट ए मेटर ओफ इन्डिफरेन्स वेदर दिस प्रोबेबिल्टी बी कम्पराइज्ड बाइ सा विटनेस और ट्रेडीशन्स और बाइ सच ऐज हैव नेवर कम विदिन अवर नोलेज, हैम्बर्गीश ड्रेमाटर्जी : गोटहोल्ड ऐफ्रेम लेसिंग . वही पृ २६० ।

२. इफ दि पोयट फाइन्ड्स इन हिस्ट्री सरकम्स्टान्सेज देट आर कानबीनिएंट फौर दि ऐडोर्नमेण्ट और सब्‌इ डिविड्युऐलाइजिंग ऑफ हिज सबजेक्ट वेल लेट हिम यूज देम, औन्ली दिस शुड बी काउन्टेड ऐज लिटिल ए मेरिट ऐज दि कोन्ट्ररी इज ए क्राइम,

—वही पृ०, २६०

३ वही पृ० २६३

किसी के लिए भी ऐसा अपराध कर बैठना सम्भव हो सकता है, लेसिंग जिसे 'प्रच्छन्न व्यवस्था' कहता है वह वस्तुत: ऐतिहासिक कथानक की नाटकीय सम्भाव्यता है जिसे पकड़ पाने पर नाटककार संक्षिप्त कथानक का भी यथेच्छ विकास कर सकता है ।

लेसिंग न तो चरित्र के विकास के लिए इतिहास को ग्रहण करता है न वातावरण के लिए ही, वह कथानक के लिए भी इतिहास का विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं करता । उसके नाटककार के लिए ऐतिहासिक कथानक की नाम रहित, काल रहित, चरित्र रहित और वातावरण रहित रूपरेखा ही पर्याप्त है, सवत्र ही कल्पना अपना जयजयकार कर सकती है, वह नाम चरित्र, देश, काल और यहाँ तक कि मूल घटना तक गढ़ सकती है, केवल उसमें आतरिक सम्भाव्यता का होना आवश्यक है ।[1]

शिलर त्रासद अनुकरण और ऐतिहासिक अनुकरण में स्पष्ट अन्तर स्वीकार करता है, घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से जो अनुकरण किया जाता है उसे वह ऐतिहासिक अनुकरण कहता है और घटनाओं द्वारा लोगों को प्रभावित करने और उनके प्राणों में आनन्द का सिंचन करने के उद्देश्य से जो अनुकरण किया जाता है उसे काव्यात्मक (या त्रासद) अनुकरण है ।[3] ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए इतिहासकार ऐतिहासिक सत्य से विमुख नहीं हो सकता , परन्तु त्रासद का उद्देश्य कलात्मक होने के कारण नाटककार को अनुकरण की स्वतन्त्रता है । नाटककार को स्वतन्त्र कल्पना का अधिकार तो है ही साथ ही वह काव्य के नियमों के अनुसार ऐतिहासिक सत्य में परिवर्तन करने के लिए भी बाध्य है । काव्य का चरम लक्ष्य भावावेग है, अत. वह केवल प्रकृति के नियमों से बाध्य है, इतिहास के नियमों से नहीं । [1] कलाकार को यह अधिकार है कि वह इतिहासकार को अपने न्यायलय में बुला सके और उसके इतिहास पर काव्य का अन्तिम निर्णय दे सके । नाटककार को इतिहास की कसौटी पर कसना अनुचित है ।[2]

६. शिलर

---

१ 'नाउ दैट ही हैज डिस्कवर्ड इट्स हिडन औरगेनाइजेशन'
हैम्बर्गीश ड्रामाटर्जी : गोटहोल्ड ऐफ्रेम लेसिंग : वही पृ० २६४ ।

२ हारमनी, फोर नथिंग इन दि कैरेक्टर मस्ट बी कोन्ट्रेडिक्ट्री' वही पृ० २६४

३ इट वुड औनली बी ए हिस्टोरिक इमिटेशन इफ इट प्रोपोज्ड ए हिस्टौरिक एन्ड, इफ इटस प्रिंसिपल ओजैक्टस वैर टु टीच अस दैट थिंग हैज टेकन प्लेस ऐंड हाउ इट टुक प्लेस , बट ट्रेजेडी हैज ए पौयटिक ऐंड, दैट इज टु से, इट रिप्रैजन्ट्स ऐन ऐक्शन टु मूव अस ऐंड टु चार्म अवर सोल्स बाइ दि मीडियम औफ दिस इमोसन । —ऐसेज एस्थैटिकल ऐंड फिलौसोफिकल . शिलर :

१ ऐसेज एस्थैटिकल ऐंड फिलौसोफिकल : शिलर .

२. 'इट इज देयर फोर बिट्वीन दि वेरी नैरो आइडियाज औन ट्रेजिक आर्ट और रादर औन पोइट्री इन जनरल, टु ब्रेंज दि ट्रेजिक पोयट बिफोर दि ट्रिब्यूनल औफ हिस्ट्री ऐंड टु रिक्वायर इन्स्ट्रक्शन औफ दि मैन हू बाइ हिज वेरी टाइटिल इज औनली बाउंड टु मूव ऐंड चार्म यू । वही : शिलर '

शिलर ने नाटककार पर इतिहास का कोई बंधन नहीं रखा। नाटककार कथानक और पात्रों में जैसा भी चाहे वैसा परिवर्तन कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिलर नाटकीय नियमों के साथ साथ नाटक के प्रभाव को ही अधिक महत्त्व देता है। भारतीय दृष्टिकोण काव्य का लक्ष्य ही 'रस' मानता है और शिलर 'भावावेग'। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाहे जिस प्रकार का भी परिवर्तन वांछनीय हो किया जा सकता है। भरत ने 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' कहकर नाटक के मूल तत्त्व की ओर संकेत करके अन्य सब तत्त्वों को उसके आश्रित बना दिया है। शिलर का दृष्टिकोण इससे मिलता जुलता है। कथानक और पात्रों में ऐतिहासिक सत्य को उसने विशेष महत्त्व दिया ही नहीं और न वह वातावरण की ऐतिहासिकता को ही महत्व देता है। वह उस नाटक को अत्यन्त साधारण कोटि का गिनता है, जिसमें देशकाल का ऐतिहासिक चित्रण होने पर भी नाटकीय प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती।[3] परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह निर्णय तो प्रत्येक नाटक के लिए समान है 'ऐतिहासिक नाटक की अपनी विशेषता की दृष्टि से शिलर के इस मत का क्या अभिप्राय है। शिलर के स्वयं के विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक इतिहास रस प्राप्ति (आवेग) में नाटक का सहायक बन सकता है, वहीं तक उसका यथा तथ्य स्वीकार्य है अन्यथा उसमें परिवर्तन करना आवश्यक है और वह परिवर्तन काव्य के भावाश्रित सत्य के अनुकूल किया जाना चाहिए। शिलर नाटक के समग्र प्रभाव को ही नाटककार के इतिहास सम्बन्धी निर्णय का मूल सूत्र मानता है, ऐतिहासिक चरित्र, कथानक, वातावरण या देश काल उसके लिए महत्त्वहीन हैं।

इस सम्बन्ध में अंग्रेजी आलोचक कालरिज के विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। कालरिज नाटक में इतिहास, नाटकीय सम्भाव्यता और काव्यात्मकता तीनों का होना आवश्यक मानता है। जिन लोगों के लिये नाटककार नाटक प्रस्तुत कर रहा

७. **कालरिज**

हो उन्हीं के इतिहास से कथावस्तु ग्रहण करनी चाहिए;[1] नाटककार के यथार्थ को लोग बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए सम्भाव्यता भी आवश्यक है।[2] काव्यात्मकता से उसका तात्पर्य मानव स्वभाव के उन शाश्वत तत्त्वों की अभिव्यक्ति से है जो तत्त्व सब को सब कालों में एक समान ही प्रभावित कर सके।[3] कालरिज के लिए भी विशिष्ट घटनाओं का अधिक महत्त्व नहीं[4] उनमें परिवर्तन

---

३. वही : शिलर :

१. इन ओडर दैट ए ड्रामा बी प्रौपर्ली हिस्टौरिकल इट इज नैसेसरी दैट इट शुड बी दि हिस्ट्री ऑफ दि पीपुल टु हूम इट इज ऐड्रस्ड'

शेक्सपीयर्स इंगलिश हिस्टौरिकल प्लेज 'लिटररी रिमेंज वौल्युम'

—सेमुअल टेल : कालरिज

२. वही : कालरिज :

३ इट मस्ट लाइकवाइज बी पोयटिकल ''' ''व्हिच इज दि पर मेनेन्ट इन नेचर, व्हिच इज कौमन ऐंड देयर फोर डीपली इन्टरैस्टिंग टु औल ऐजेज' —वही : कालरिज :

४. 'दि ईवेंट्स इमसेल्वज आर इममैटीरियल'

किया जा सकता है। कथानक और चरित्रो के वाह्य परिवर्तनो से नाटक के वाह्य क्रम में तो कुछ अव्यवस्था उपस्थित हो सकती है परन्तु समस्त नाटक मे एक आन्तरिक और महान् व्यवस्था आ जाती है जो घटनाओ को जोडकर एक स्पष्ट कार्यकारण शृ खला बना देती है, साथ ही चरित्रो को भी स्पष्ट करती चली जाती है।[५] परन्तु इसके लिए नाटककार को केवल ऐसे कथानक लेने चाहिए जिनके मूल ऐतिहासिक रूप का ज्ञान अधिक लोगो को न हो। इसी प्रकार के इतिहास के नग्न कलेवर में नाटककार प्राणप्रतिष्ठा कर सकता है।[१]

कालरिज ने ऐतिहासिक नाटक की व्याख्या भी की है। उसका कहना है कि 'ऐतिहासिक नाटक इतिहास से ग्रहण की हुई घटनाओ का एक ऐसा सकल है, जिसमें घटनाओ के काल कारण सबध की अन्विति नाटकीय कल्पना द्वारा काव्यात्मक ढग मे जोड़ी जाती है।'[२]

ऐतिहासिक नाटको के सबध मे कालरिज के विचारो को हम त्रिकोण रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं जिसकी भुजाएँ क्रमशः इतिहास, नाटकीय संभाव्यता और काव्यात्मकता हैं। इतिहास को हम कलेवर माने तो नाटकीय सभाव्यता को मन और काव्यात्मकता को नाटक की आत्मा कह सकते है। इन तीनो को सम्यक् निर्वाह को ही कालरिज नाटककार के लिए वाछनीय समझता है। घटनाओ को अधिक महत्व न देते हुए भी अज्ञात ऐतिहासिक कथानको को स्वीकाय मानना ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि वह इतिहास में अधिक परिवर्तनो को उचित नही समझता। उसका यह तर्क चरित्र और वातावरण के सबध में भी उतना ही सही है, जितना कथानक के सबध में। कालरिज ने नाटककार की कल्पना को स्वच्छन्द नही बनने दिया हे अपितु उसे एक सुन्दर सामजस्य के निर्माण मे सहायक वनाने का प्रयत्न किया हैं। उसने ऐतिहासिक नाटकों के राष्ट्रीय महत्व को भी स्वीकार किया है।

आधुनिक भारतीय विचारको मे ऐतिहासिक पात्रो का निरूपण करते हुए कन्हैया लाल मुशी सबसे अधिक महत्व कवि, नाटककार या उपन्यास के स्वानुभव को देते है। वे इतिहास के चार प्रकार मानते है (१) लोककथा (२) कथा (३) नवल कथा और (४) इतिहास। इनमें से इतिहास को वे विज्ञान न मानकर एक साहित्यिक कलाकृति मानते हैं। इतिहास सबधी उपर्युक्त चार प्रकार के साहित्य

कन्हैयालाल मुंशी

५. वही : कालरिज :

१. इट टेक्स देयरफोर, देट पार्ट ऑफ रियल हिस्ट्री ह्विच इज दि लीस्ट नोन ऐंड इन्फजेज ए प्रिंसिपल ऑफ लाइफ ऐंड ऑरगैनाइजेशन इन्टु दि नैकेड फैक्ट्स ऐंड मेक्स देम ऑल दि फ्रेमवर्क ऑफ ऐन ऐनीमेटेड होल।

लिटररी रिमैन्स: वोल्यूम २ : कालरिज :

२ ऐन हिस्टौरिक ड्रामा इज देयरफोर, ए कलक्शन ऑफ ईवैन्ट्स बोरोड फ्रोम हिस्ट्री, बट कनेक्टेड टुगैदर इन रेस्पेक्ट ऑफ कोज ऐंड टाइम पोयटिकली ऐंड बाइ ड्रामेटिक फिक्शन।'

वही : कालरिज :

में उन्होने कलाकृति मे इतिहास की सीमा निर्धारित कर दी है। कलाकार इतिहास से उप-लब्ध चरित्रो की रूप रेखा को पूर्णतया छोड नही सकता, उनके स्नायुओं मे प्राण भर कर उन्हे जीवन्त अवश्य कर सकता है। परन्तु इन पात्रो मे भी मनुष्य स्वभाव के मौलिक धर्मो का पूर्ण समावेश होना चाहिए ।[1] वह कलाकार भूतकालीन पात्रो, उनके कृत्यो और प्रसगो मे स्वानुभवसिद्ध एकतानता द्वारा अपूर्वता की सृष्टि करता है। मुशी उसे नवीन पात्रो, कृत्यो और प्रसगो की स्वतन्त्र उद्भावना करने का पूर्ण अधिकार प्रदान करते है। वह ऐतिहासिक कृत्यो के प्रसगो के काल्पनिक हेतु की सकलना कर सकने के लिए भी स्वतन्त्र है और यदि चाहे तो वह साधनो के निरूपण मे भी परिवर्तन कर सकता है।[2] यदि कलाकार अपनी कलाकृति में स्वानुभव की सरस अभिव्यक्ति में समर्थ हो सके तो मुशी उसे इतिहास मे स्वतन्त्र कल्पना के उपयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता देते है।

---

१. आदि वचनो : मुशी : पृ० १६४
२ वही : मुशी : पृ० १६५

ऐतिहासिक नाटकों का रचना तंत्र (टेक्नीक)

इतिहास, ऐतिहासिक नाटक और कल्पना तत्व के सबध मे भिन्न भिन्न काल और भिन्न देशो के विचारको के तर्कों पर विचार किया जा चुका हे । इसमें सन्देह नही कि भरत से लेकर मुशी तक सभी प्राच्य अथवा पाश्चात्य विचारको मे पर्याप्त मतभेद है । परन्तु वस्तुत. यह मतभेद केवल बाहरी है और इस मतभेद मे भी आन्तरिक समानता है । साधारण दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विचारक इतिहास को महत्व देते है और कुछ कल्पना को । परन्तु एक बात सब स्वीकार करते है कि मूलत ऐतिहासिक नाटक इतिहास न होकर साहित्य है । एक बार इस मौलिक एकता को स्वीकार कर लेने पर मतभेद में विशेष शक्ति नही रह पाती । इतिहास को स्वीकार ही न किया जाय, ऐसा किसी विचारक ने नही कहा, क्योकि इतिहास को ग्रहण किये बिना ऐतिहासिक नाटक का महत्व ही क्या रह जायगा । यह भी किसी ने नही कहा कि कल्पना का समावेश नही होना चाहिए, क्योकि कल्पना के बिना नाटक बन ही नही सकता । इतिहास मे अनावश्यक परिवर्तन किया जाय यह किसी की भी मान्यता नही रही, और आवश्यकता पडने पर बिलकुल ही परिवर्तन न किया जाय यह भी किसी ने नही माना हे, विश्रुत इतिहास के परिवर्तन को किसी ने भी उचित नही समझा । इन महत्वपूर्ण विषयो मे सभी एकमत है । मतभेद की सभावना केवल इस बात में है कि इतिहास मे कितना परिवर्तन किया जा सकता है । अरस्तू को मानने वाले विचारको ने इसकी भी सीमा बाँध दी हे जहाँ मूल ऐतिहासिक घटना की 'सभाव्यता' का प्रश्न उठता हे वही यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त परिवर्तनो मे इस सभाव्यता का स्थान रहेगा, अर्थात् सभाव्यता कल्पना की एक सीमा निर्धारित कर सकती हे । इसमें सन्देह नही किसी भी नाटककार के लिए कल्पना और इतिहास की नपी तुली सीमाएं नही बनाई जा सकती । वह तो किसी भी ऐतिहासिक घटना, परिस्थिति और पात्रो के प्रति नाटककार की प्रतिक्रिया और तज्जन्य कलात्मक सवेदना पर निर्भर करता है । यहाँ कला अपने नियम स्वय बनाती है । यह नियम कलाकृति विशेष के लिए ही बनता है, और फिर बदल जाता है । सामान्य विशेपताओ के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि ऐतिहासिक नाटक के रचनातंत्र का क्या है । इस अन्य प्रकार के नाटक रचनातन्त्र से क्या विभेद है ।

जिस प्रकार घटना और तिथियो की एक स्थान पर एकत्रित कर देने मात्र से इतिहास नही बन जाता उसी प्रकार इतिहास से कुछ पात्रो और कुछ घटनाओ को लेकर एक स्थान पर रख देने से ऐतिहासिक नाटक नही बन सकता। इतिहास को वास्तविक इतिहास बनाने के लिए ऐतिहासिकता की आवश्यकता है । काल की धारा अनादि और अनन्त है । इस मे जीवन की क्रिया प्रतिक्रिया होती रहती है । इतिहासकार को जिन घटनाओ और तिथियो का इतिहास लिखना होता है उन्हे वह उस काल की पृष्ठ भूमि मे रखकर उनमे कार्य

कारण की स्थापना करता है। यही ऐतिहासिकता है। इसी ऐतिहासिकता में इतिहासकार का दृष्टिकोण भी प्रतिलक्षित होता है। यही इतिहास के मूल्यो को बनाती है। इतिहास को इतिहास बनाने के लिए जिस प्रकार ऐतिहासिकता अनिवार्य होती है ठीक उसी प्रकार ऐति हासिक नाटक को बनाने के लिए जिस गुण की आवश्यकता होती है उसे हम ऐतिहासिक नाटक 'ऐतिहासिक नाटकीयता' कह सकते हैं। नाटक के इतिहास और नाटक इन दोनो अ गो के कलात्मक समन्वय की जो अभिव्यक्ति दर्शको के हृदय में भावोद्रेक करने मे समर्थ होती है उसे ही 'ऐतिहासिक नाटकीयता' कह सकते है। यह वास्तव मे नाटककार के मानस चक्षुओ द्वारा दृष्ट निर्जीव एव अर्द्धस्पष्ट अतीत की एक मनोरम झाकी है, जाता नाटक के माध्यम से दर्शको के सम्मुख मूर्तिमान हो जाती है। इस नाटकीयता की क्रिया के तीन स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख आ जाते हैं। (१) निर्जीव, अशरीर और अमासल अतीत (२) उस निर्जीव और अमासल का नाटककार के मानस चक्षुओ मे जीवित, शरीर और मासल दर्शन (३) नाटककार द्वारा नाटक की रेखाओ मे आबद्ध इस अतीत का रगमच मे पुनर्दर्शन। अतीत के प्रत्यक्षीकरण की उक्त क्रिया वस्तुतः नाटककार की भावन करने की शक्ति पर आधारित है, जो कल्पना के द्वारा सुन्दर और अभिनव रूपो में प्रकट होती है। भावन करके बिम्ब ग्रहण करना, कल्पना द्वारा उसे नवीन रूपो में गढ़ना और अ त मे उसकी सरस अभिव्यक्ति करना प्रत्येक प्रकार की कला का कार्य है। अतः इसमे सन्देह नही कि कलात्मक होना ही ऐतिहासिक नाटक का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। अन्य तत्व उसके कला स्वरूप के सम्मुख गौण हो जाते है। ऐतिहासिक नाटक सर्व प्रथम साहित्य का एक स्वरूप है और बाद मे कुछ और।

ऐतिहासिक नाटक एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृति है, वह नाटक तो है परन्तु 'ऐतिहासिक' विशेषण उसको एक विशेष स्वरूप की ओर सकेत करता है, अत. यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक नाटक मे उसके विशिष्ठ स्वरूप की समस्त विशेषताए प्रतिलक्षित होनी चाहिए, अन्यथा नाटक के साधारण स्वरूप के साथ उसका अन्तर स्पष्ट नही हो सकता और सामान्य से उसे विभिन्न करने के लिए उक्त अन्तर का होना अनिवार्य है।

इतिहास, ऐतिहासिक नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है और इतिहास से हमारा तात्पर्य प्रमाणिक इतिहास से है, किवदन्तियो अथवा पुराणो से नही, इतिहास के मूल उत्सो पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि इतिहास अपनी सहायता के लिए पुराणो एव लोक कथाओ से प्रमाणिक इतिहास के सग्रह का प्रयास करता है। हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि इतिहासकारो ने पुराणो तथा लोक कथाओ के अमानवी कृत्यो तथा प्रतीको का आवरण चीरकर उनके अन्तर मे समाये हुए मूल इतिहास को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है। हैरोडोठस से पूर्व का यूनानी इतिहास प्रामाणिक नही है, यहाँ तक कि स्वय हैरोडोठस ने भी पौराणिक उपाख्यानो से प्रमाण हीन और अनैतिहासिक सामग्री को ग्रहण किया है। पाश्चात्य नाटककारो ने यूनान के ज्यूस, हरक्युलीज, मर्क्यूरी, अपोलो, ईनो, इलेक्ट्रा आदि पौराणिक पात्रो को अपने नाटको में स्थान दिया है। पीछे के समीक्षको ने उनकी ऐतिहासिकता प्रतिपादित करने की चेष्टा की यद्यपि वे ऐतिहासिक नहीं थे, भारतवर्ष का इतिहास साधारणतया वैदिक काल से प्रारम्भ होता है परन्तु वैदिक सभ्यता के कुछ मुखर चित्रो के

अतिरिक्त जिनका स्वरूप वेदो में उपलब्ध है, हमें अधिक सामग्री नही मिलती। स्वय वेदो के काल निर्णय के सबध मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ भी हो वेद, ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि ग्रथो से भारत के प्राचीन सॉस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा भले ही प्राप्त की जा सके। प्रामाणिक इतिहास का उसमे भी अभाव है क्योकि मूलतः वे धार्मिक और दर्शन सबधी ग्रन्थ हैं। रामायण और महाभारत की घटिनाए ऐतिहासिक हो सकती है परन्तु वे महाकवि होने के कारण इलियड एव ओजेसी की तरह काव्य कल्पना मे आचूड डूबे हुए हैं। उनके प्रामाणिक मूल तथा प्रक्षिप्त अश को अलग-अलग कर सकना भी असभव है। पुराण किसी एक काल मे नही लिखे गए, इतिहासकारो का अनुमान है कि गुप्त काल तक ही नही उसके बाद तक भी पौराणिक ग्रन्थो की रचना होती रही, साथ ही पुराणो मे अमानवी कल्पनाओ के साथ धार्मिक विश्वासो का इतना विचित्र समन्वय हुआ है कि, मूल इतिहास का पता ही नही चलता, कही-कही इतिहास की छुटपुट सामग्री अवश्य ग्रहण की गई है परन्तु यह कार्य इतिहासकार का है, नाटककार का नही। यदि नाटककार स्वय ही इतिहासकार हो तो भी नाटको की वस्तु के रूप मे ग्रहण करने के पूव उसे पौराणिक उपाख्यानो एव लोक कथाओ का प्रमाणिक इतिहास सिद्ध करना पडेगा, केवल उसी की मान्यता से वह इतिहास नही बन सकता। पौराणिक उपाख्यान और किंवदतियाँ अपने आप मे ऐतिहासिक नाटक के लिए उपयुक्त इतिहास नही है इतिहास भले ही उनसे सहायता लेकर सामग्री ग्रहण कर ले।

कुछ आधुनिक नाटककारो ने इतिहास को नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया है और पौराणिक पात्रो एव कथानको को ज्ञात ऐतिहासिक वातावरण मे रखकर नाट्य रचना की है। इनमे और पौराणिक नाटको में कुछ अतर है। एक तो इसमे पौराणिक उपाख्यानो की की अतिमानवी शक्तियो का चित्रण नही हुआ है और दूसरे कथानक पुराणो के होते हुए भी वातावरण प्रामाणिक इतिहास से लिया गया है। साधारणतया इसे काल क्रम दोष कहा जा सकता है परन्तु इतिहास पौराणिक घटनाओ की पृष्ठभूमि को स्वीकार नही करता, अत यदि उन घटनाओ और पात्रो को ज्ञात इतिहास के फलक पर रखकर चित्रित किया जाय तो उक्त काल-क्रम दोष मुखरित नही होने पाता और उन अप्रामाणिक घटनाओ और पात्रो को एक आधार मिल जाता है। इस अतर के कारण ही यूनान के पौराणिक उपाख्यानो पर लिखे गए नाटको को 'निकल' ने[1] ऐतिहासिक नाटको मे स्थान दिया है परन्तु पौराणिक पात्रो, पौराणिक कथानको तथा पौराणिक वातावरण को लेकर लिखे गए नाटको को हमें पौराणिक नाटको की कोटि मे ही रखना पडेगा ऐतिहासिक नाटको की कोटि में नही।

ऐसा प्रतीत होता है कि निकल किंवदन्तियो तथा पुराणो में अन्तर नही करता परन्तु हम इस अन्तर को पहले स्पष्ट कर चुके है। किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओ और व्यक्तियो के साथ जुडती चली जाती है और प्रत्येक पीढी अपने ऐतिहासिक व्यक्तियो को महत्व देने के लिए अज्ञात रूप से ऐसा करती जाती है। कहानी कहने की

---

१. 'दि वोग औफ दि हिस्टोरिकल प्ले'
वर्ल्ड ड्रामा : ऐलर्डाइस निकल : पृ० ८५८

इच्छा भी किंवदन्ती के प्रसार में कार्य करती रहती है। यही क्रिया साधारण को असाधारण और विचित्र बना देती है। किंवदन्ती के ऐतिहासिक पात्रों को लेकर यदि नाटककार नाटक लिखे तो सभव है पात्रो की विश्रुत ऐतिहासिकता के कारण नाटक मे ऐतिहासिकता मान लो जाय। अतः इस प्रकार के नाटक पौराणिक मे भिन्न किंवदन्तियो के क्षेत्र के है। इतिहास चाहे उन किंवदन्तियो को स्वीकार करे अथवा न करे उनके पात्रो को अवश्य स्वीकार करता है। इस प्रकार के नाटको मे भी वातावरण पूर्णतया ऐतिहासिक होता है। सिकन्दर सम्बन्धी किंवदन्तियो को लेकर यूनान मे ही नही आधुनिक योरोप में और इगलैंड में जो नाटक लिखे गए उन्हे ऐतिहासिक स्वीकार किया गया।[1] इसके लिए उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नही ढूँढा जा सकता।

इतिहास और कल्पना सम्बन्धी विवेचन मे त्रासदो से भी उदाहरण दिए गए है। त्रासदो का ऐतिहासिक घटनाओ एव पात्रो मे सीधा सम्बन्ध है। अरस्तू ने त्रासदो और सुखान्त नाटको मे अन्तर यही बतलाया है कि त्रासद ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखे जाते हैं और सुखान्त सामान्य घटनाओ के आधार पर। त्रासदो द्वारा ऐतिहासिक घटनाओ एव पात्रो को ही ग्रहण करने की परम्परा शेक्सपीयर तथा उसके अनुवर्ती नाटककारो में भी परिलक्षित होती है। हैरोडोटस के इतिहास मे पूर्व के त्रासदो का आधार भी विश्रुत कथानक ही थे, चाहे उन्हे किंवदन्ती कहा जाय अथवा इतिहास। स्वय शेक्सपीयर ने जितने भी त्रासद लिखे है वे अधिकतर रोम के इतिहास पर आधारित कथानक हैं। कथानक ही नही पात्रो के नाम तक ऐतिहासिक है। जूलियस सीजर की समस्त कथा सीजर का वध और ब्रूटस तथा अन्य पात्रो के नाम सभी इतिहास मे उपलब्ध है। परन्तु आलोचको ने जहाँ शेक्सपीयर के 'हैनरी चतुर्थ', 'रिचार्ड तृतीय' इत्यादि को ऐतिहासिक नाटको की कोटि में रखा है, वहाँ 'जूलियस सीजर' को त्रासदो की कोटि में। इस अतर का कारण इन दोनो प्रकार के नाटको मे रचना तन्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। त्रासदो का उद्देश्य भय, दुःख और करुणाजनक प्रसगो की सद्भावना करके दर्शको के हृदय मे इन भावो को जागृत करना है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जिन घटनाओ को लिखा जाता है, उनके कर्ता पात्रो के चरित्रो का निर्माण त्रासदकार स्वय करते है किसी भी ऐसी घटना के दु.खान्त होने के कारण, वस्तुत. किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के चरित्र की दुर्बलता होती है।[2] अत. घटना के पीछे जिस मूल कारण का सृजन करना पडता है वह पात्र या पात्रो की चारित्रिक विशेषता है, जिसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नही। दूसरे शब्दो मे तो त्रासदो में घटना तथा वातावरण दोनो चरित्र के प्रभाव से आक्रान्त रहते हैं। ये चरित्र त्रासदकार की सर्जक शक्ति के आश्रित रहते हैं, और यह सर्जक शक्ति स्वय त्रासदो के 'चारित्रिक दुर्बलता' के सिद्धात से परिचालित होती है। पात्रो के ऐतिहासिक होने पर भी उनके ये पूर्णतया काल्पनिक चरित्र इतिहास की ओर ध्यान ही नही जाने देते और उसकी शक्तिहीन रेखाए सकुचित और श्रीहीन पडी रहती है। इसके विपरीत ऐतिहासिक नाटक में इतिहास

१. 'वर्ल्ड ड्रामा' : निकल : पृ ८५७

२. पोयटिक्स : ऐरिस्टोटल :

की रेखाए स्पष्ट होती है और काल्पनिक तत्व इतना प्रधान नही होने पाता कि ऐतिहासिक तत्व उभर ही न सके।

अभी तक हम ऐतिहासिक नाटक के जिन तीन प्रधान तत्वो को अनायास ही स्वीकार करते आए है वे है (१) इतिहास (२) ऐतिहासिक वातावरण और (३) इतिहास का नाटकीय स्वरूप घटना एव पात्र। इतिहास के स्वरूप के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ प्रसग प्राप्त दूसरे तत्व ऐतिहासिक वातावरण को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण

किसी विशेष ऐतिहासिक काल की सभ्यता, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, खान पान, वेश-भूषा, दैनिक जीवन, रहन सहन, उत्सव, आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक स्थिति तथा उस काल के जन जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप ही ऐतिहासिक वातावरण स्वरूप है। इतिहास के सम्बन्ध मे विचार करते हुए इसे ही हमने 'चल इतिहास'' अथवा ''सास्कृतिक इतिहास'' की सज्ञा दी है। इसमें सन्देह नही कि नाटक मे सास्कृतिक इतिहास के विशद् चित्रण की सम्भावनाएँ नही हो सकती, क्योकि नाटककार उपन्यासकार की तरह वातावरण का प्रत्यक्ष चित्रण नही कर सकता। यह भी सच है कि नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि केवल नाटककार ही नही करता। उपयुक्त वेश भूषा द्वारा पात्रो के मूर्त स्वरूप को रगमच में ऐतिहासिक बनाने का कार्य वस्तुत: निर्देशक करता है। परन्तु रगमच की सज्जा के अतिरिक्त भी, समस्त नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण सूत्र की तरह पिरोया होता है और सर्वत्र उसकी ध्वनि मिलती रहती है। ऐतिहासिक वातावरण की यह ध्वनि ही ऐतिहासिक नाटक के स्वरूप को बनाये रखती है, क्योकि यही वह धरातल है जिस पर ऐतिहासिक पात्र खडे रहते है। यदि फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा के शब्दो मे यह कहा जाय कि 'इतिहास वह खूटी है जिस पर वे अपने नाटको को लटकाता हैं''[1] तो यह कहना पडेगा कि ऐतिहासिक वातावरण वह दीवाल है जिस पर यह खूँटी गाढी गई है। ऐतिहासिक वातावरण को इतिहास से भिन्न मानने का कारण है प्रामाणिक इतिहास से नाटककार केवल घटना की रूपरेखा, पात्रो के नाम तथा चरित्र लेता है। वह घटनाओ और पात्रो को उनके ही युग मे तब तक जीवित नही कर सकता जब तक उस युग के जीवान्त सास्कृतिक तत्वो से उसका स्वतन्त्र परिचय न हो और इसके लिए नाटककार को ऐतिहासिक रूपरेखा से भिन्न उस युग के सास्कृतिक इतिहास की पूरी जानकारी होनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो इतिहास के पात्र जीवित होने पर भी अपने सारे कार्यों को अनजान और अनभ्यस्त व्यक्तियो की तरह करेंगे क्योकि जिस मूल वातावरण में उन्होने वे कार्य किये थे, वह वातावरण उन्हे उपलब्ध न होगा। यह दोष चरित्रो की स्वाभाविकता की जड मे कुठाराघात कर देगा और सम्पूर्ण नाटक निष्प्राण हो जायगा।

---

१. ''हिस्ट्री'', मेज ड्यूमाज विद पिक्चरस ऐबरप्टनैस, 'इज दि पेग ऑन व्हिच आइ हैंग माइ ड्रामाज''

शेक्सपियर एण्ड क्लासिकल एंटिक्विटी : पोल स्टैफर : पृ० १२४

ऐतिहासिक वातावरण का महत्व इसलिए भी है कि यह ऐतिहासिक नाटक का स्थायी अंग है। कोई भी नाटककार इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता और यदि असावधानी अथवा अज्ञान से परिवर्तन कर दिया जाय, तो तुरन्त काल क्रम दोष का सबसे विकृत स्वरूप नाटक के सौंदर्य को नष्ट कर देगा। इसी वातावरण के प्रभाव से हमें लगता है कि नाटककार ने हमें आज के युग से उठाकर सुदूर ऐतिहासिक काल में रख दिया है, जहाँ का प्रत्येक व्यक्ति, जहाँ की प्रत्येक वस्तु उन गहरे-गहरे प्राचीन रंगों में निमग्न है जो भव्य होने के साथ ही साथ अत्यन्त आकर्षक भी है। जिस प्रकार मरुस्थल को पार कर किसी पार्वत्य प्रदेश के समीप पहुँचते ही शीतल और सुमधुर समीर के झोंकों से यात्री को नवीन प्रदेश का आभास मिल जाता है उसी प्रकार ऐतिहासिक वातावरण द्वारा ही हमें आज से भिन्न देश और काल के नूतन वातावरण का आभास मिलता है। अतः इसे देश काल भी कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक वातावरण का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि पुराने रंगमंचों की तरह दुर्ग, प्रासाद, तोरण तथा नगर वीथियों से चित्रित पर्दे लगाकर वातावरण का सृजन कर दिया जाय। वस्तुतः ऐतिहासिक नाटक तो "प्रतीकात्मक रंगमंच" पर ही नहीं साधारण रंग-मंच पर भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः उनमें उपर्युक्त वाह्य उपकरणों के बिना भी ऐतिहासिक वातावरण को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती। ऐतिहासिक वातावरण का अस्तित्व ऐतिहासिक नाटक से भिन्न नहीं है। उसका सम्बन्ध रंगमंच से न होकर नाटक की कथावस्तु एवं पात्रों से है और यह वातावरण नाटक के प्रत्येक शब्द, प्रत्येक कार्य प्रत्येक मुद्रा, प्रत्येक पात्र प्रत्येक घटना तथा प्रत्येक वार्तालाप में समाया रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वातावरण से ही इतिहास के पात्रों और उनकी घटनाओं की पहिचान होती है। अतः ऐहिसासिक नाटक में उसका अन्यतम महत्व होता है। वह अपरिवर्तनीय और स्थायी है। यही कारण है कि एबे ने ऐतिहासिक नाटककार की असफलता का कारण मूलतः वातावरण एवं देशकाल में ढूंढा है। आज ऐतिहासिक साहित्यिक कृतियों के सम्बन्ध में प्रायः "इतिहास रस" की चर्चा की जा रही है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'इतिहास रस' की सृष्टि करना है।[२] डा० रामरतन भटनागर लिखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास और नाटकों में हम अतीत का चित्र देखना पसन्द करते हैं, उनसे हम एक प्रकार का रस लेना चाहते हैं, जिसे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "ऐतिहासिक रस" का नाम दिया है। प्रसाद के नाटकों में चाहे ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जहाँ तहाँ थोड़ा सन्देह भी हो, इस ऐतिहासिक रस की उपलब्धि के सम्बन्ध में जरा भी सन्देह नहीं है।[३] परन्तु यह इतिहासिक रस वस्तुतः है क्या, वस्तु इसके सम्बन्ध में सभी मौन हैं। वस्तुतः इतिहास रस का सम्बन्ध न कथानक से है न पात्रों से, क्योंकि इनमें कल्पना का पर्याप्त समावेश किया जा सकता है। नाटक से इतिहास की झाँकी दिखलाने वाला कोई अपरिवर्तनीय तत्व यदि कोई हो सकता है तो यह ऐतिहासिक वातावरण

---

१. वैशाली की नगरवधू : चतुरसेन शास्त्री : भूमिका

२. प्रसाद के नाटक . रामरतन भटनागर : पृ० ३५०

की चित्रमय सरसता है। इसे ही हम इतिहास रस कह सकते हे अन्यथा इतिहास रस जैसे किसी रस की कल्पना नही की जा सकती।

नाटक मे वातावरण का महत्व का जो कुछ भी है, वह ऐतिहासिकता से सम्बन्धित है। परन्तु नाटककार की कल्पना कथानक और चरित्रों से ही क्रीडा कर पाती है, यद्यपि इनका भी सम्बन्ध इतिहास से है। वातावरण जिस प्रकार ऐतिहासिक नाटक मे कथानक और चरित्रो की क्रीडा के लिए निश्चित पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है उसी प्रकार घटनाओ का भी चरित्र से एक निश्चित सम्बन्ध होता है। लेसिंग के द्वारा प्रस्तुत किये हुए उदाहरण से हम देख चुके हैं कि इतिहास से एक घटना और उस घटना मे सम्बन्ध रखने वाले दो तीन सामान्य पात्रो को लेकर नाटककार उन चरित्रो को अपनी कल्पना के सहारे जीवन्त कर घटना की चरम परिणति को सम्भाव्य बनाने के लिए कार्य कारण परम्परा की सयोजना करता है। एक स्त्री अपने पति और पुत्रो की हत्या कर देती हे। लेसिंग इतिहास से केवल इतनी घटना को लेना पर्याप्त मान लेता है। इस कथानक अन्य सम्भावनाओ पर भी उसने ऐतिहासिक नाटक के दृष्टिकोण से ही विचार किया हे। केवल सामान्य नाटको के रचनातन्त्र के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भले ही उक्त उदाहरण पर्याप्त मान लिया जाय, परन्तु ऐतिहासिक नाटक की विशेषताएँ इससे परिलक्षित नही होती। ससार की किसी भी भाषा के ऐतिहासिक नाटको पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी नाटककार इतिहास से विषय ग्रहण करते समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि इतिहास से "ख्यात वृत्तो" को ही नही "ख्यात पात्रो" और "ख्यात चरित्रो" को ही अधिकतर नाटक मे स्थान दिया जाय। सभी पात्र और चरित्र भले ही ख्यात न हो। कुछ तो अवश्य ही प्रसिद्ध होते हैं। इसका एक कारण यह है कि, ऐतिहासिक नाटक के अधिकाश उद्देश्यो की पूर्ति 'ख्यात वृत्त' और 'ख्यात चरित्र' ही कर सकते है और दूसरा कारण यह है कि नाटककार को चिर परिचित पात्रो के परिचय देने का प्रयत्न नही करना पडता और नाटक के प्रारम्भ से ही दर्शक का आकर्षण उनकी ओर स्वतः ही हो जाता है। अतः जितना समय दर्शको को पात्रो और घटनाओ द्वारा इतिहास के धुँधले अतीत में आँखो को अभ्यस्त करने मे लगता है, उतने समय में अतीत उनके मानस मे प्रतिबिम्बित होकर तन्मयता और अनन्य भावोद्रेक उत्पन्न करने में सफल हो जाता है। अतः रसोद्रेक के लिए नाटककार और दर्शक दोनो के बीच एक पूर्व तादात्म्य की सृष्टि हो जाती है। ज्ञात चरित्रो के साथ हमारी सहानुभूति एव घृणा तीव्र और प्रखर हो जाती है।

इतिहास का नाटकीय स्वरूप

यहाँ रेसाइन के मत पर भी विचार कर लेना अप्रासगिक न होगा। उसने त्रासक नाटको के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। किन्तु प्राय सभी आलोचको ने विषय साद्दश्य के कारण त्रासदो और ऐतिहासिक नाटको मे कोई अन्तर नही रखा है और इसीलिए ऐतिहासिक नाटको का विवेचन करते हुए त्रासदो के ही उदाहरण उपस्थित किए हैं। सूत्र रूप में रेसाइन का मत है "जितनी दूर श्रद्धा" अर्थात् उनके मत से त्रासदो का कथानक इतिहास के जितने ही सुदूर अतीत अल्प ज्ञात कालो से लिया जाय अन्यथा भिन्न देशीय इतिहास से

रेसाइन का मत

लिया जाय उतना ही अच्छा है। इसी नियम के कारण वह नवीनतम इतिहास से कथानक ग्रहण करने की सम्मति नही देता विशेषतः यदि वह घटना उसी देश की हो जहां के दर्शकों के लिए नाटक लिखा जा रहा हो। वह ऐसे चरित्रो को भी नाटक मे लाने की राय नही देता जिनमे अधिकाश दर्शक परिचित हो। साधारण दर्शक के लिए नाटक का कथानक या तो सहस्र वर्ष पूर्व का होना चाहिए अथवा एक सहस्र मील की दूर घटना होनी चाहिए।[1]

रेसाइन के 'जितनी दूर उतनी श्रद्धा'[2] के सिद्धान्त का सामान्यतः स्वीकार करते हुए भी उसके अन्य विचार विवादास्पद है। विश्व भर के ऐतिहासिक नाटको के साहित्य मे ऐसे सहस्रो उदाहरण खोजे जा सकते है जिनमे नाटककारो ने अपने काल से थोडे ही पूर्व के काल का इतिहास और उस इतिहास के सुपरिचित चरित्रो को लेकर अनेक सफल ऐतिहासिक नाटको की रचना की है। जिनमे से आधुनिक अ ग्रेजी नाटक अब्राहम लिंकन।[3] दा लैडी विद द लैप[4] (१६२६), तथा प्रसिद्ध साहित्यिक ब्रोने परिवार पर लिखा गया नाटक 'दी ब्रौतज'[5] (१६३३) केवल ये तीन उदाहरण स्वरूप गिनाए जा सकते है इसलिए रेसाइन के इस अनुमान का कुछ आधार नही मालूम पडता कि नवीन इतिहास नाटको के लिए उचित आधार नही हो सकता। रेसाइन का दूसरा तर्क है कि दर्शक सहस्र वर्षो तथा सहस्र मीलो में अन्तर नही करता। यह तर्क स्वय ही अस्पष्ट है। हम पहले कह चुके है कि किसी भी देश की कुछ सास्कृतिक परम्पराऍ होती है जो इतिहास के वर्तमान को उसके सामान्य भूत से ही नही प्राचीनतम भूत से भी मिलती है। यदि थोडी देर के लिए परम्पराओ की विच्छिन्न मान लें तब देश का अपरिचित अतीत भी भावनाओ मे एक स्वाभाविक सरलता ला सकने मे समर्थ होगा। इसके विपरीत एक सहस्र मील की अतर का चित्र सरलता से वैचित्र्य के द्वारा मनोरजन भर कर सकेगा। रेसाइन का सबसे गलत तर्क यह है कि ज्ञात चरित्रो मे अज्ञात चरित्र अधिक उपयुक्त होते है। इसके विरोध मे ऐतिहासिक नाटको का समूचा इतिहास ही रखा जा सकता है। शायद ही ऐसा कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हो जिसका कथानक पूर्णतया अपरिचित ऐतिहासिक घटना हो अथवा जिसके पात्र ऐतिहासिक चरित्रो से रहित महत्वहीन व्यक्ति हो। एक उदाहरण से इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। थोडी देर के लिए कल्पना कीजिए कि इतिहास किसी शिलालेख अथवा ताम्रपत्र अथवा किसी अन्य उद्गम से एक ऐसी घटना का उल्लेख करता है जिसमे किसी स्त्री ने अपने पति तथा अपने तीन पुत्रो की हत्या कर दी हो और इस अपराध मे ६०० ई० पू उसको मृत्युदण्ड दिया गया हो। इतिहास न तो उस

---

१. रेसाइन. इन दि प्रीफेस औफ 'बैजाजेट' .
शेक्सपीयर एड क्लासिकल ऐंटिक्विटी . पौरा स्टैफर पृ० ११७

२ 'मेजर ए लौगिन क्वा रैवरेंशिया'

३. जौन ड्रिंकवाटर

४. रैजीनाल्ड बकले

५. ऐल्फ्रेड सैम्स्टर

स्त्री के नाम का उल्लेख करता है और न उस स्त्री अथवा उसके पति या पुत्रो का सम्बन्ध किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा घटना से ही जोडता है। यदि नाटककार ६०० ई० पू० के वातावरण का सृजन कर उक्त घटना को इसी रूप मे अपने नाटक का कथानक स्वीकार कर ले तो वह उच्च कोटि के ऐतिहासिक नाटक की सृष्टि नही कर सकता। एक अत्यन्त साधारण ऐतिहासिक वातावरण प्रधान नाटक भले ही गढ ले। ऐतिहासिक नाटको का समस्त इतिहास तो इसी सत्य की ओर सकेत करता जाता पडता है कि ऐतिहासिक नाटक की रचना करने के लिए इस प्रकार के सामान्य चरित्रो से सम्बन्ध घटनाओ का सम्बन्ध विश्रुत ऐतिहासिक चरित्रो से अवश्य ही जोडना पडेगा। उक्त घटना के ऐतिहासिक होने पर भी नाटककार उसमे कल्पना के कितने ही रग क्यो न भर ले अथवा कितनी ही सफल मनोवैज्ञानिक कार्यकारण परम्परा ढूढ ले, वह उसे ऐतिहासिक मूल्य नही दे सकता, क्योकि नाटक का कल्पना तत्व महत्वहीन ऐतिहासिक तथ्य को दबा देता है और इससे या तो नाटक ऐतिहासिक हो नही पाता या अधिक रूमानी ऐतिहासिक'[१] की कोटि मे आ जाता है जिसको हम ऐतिहासिक नाटको की निकृष्ट कोटि मे स्वीकार करते है। परन्तु यह सम्भव है कि दर्शक ऐसे नाटको को 'इतिहास' की सीमा मे रखना ही अस्वीकार कर दे।

प्रश्न यह है कि ऐतिहासिक नाटक के रचना तन्त्र की यह कौन सी विशेषता है, जिसके कारण प्रमाणिक इतिहास से कथानक, वातावरण और चरित्र लेने पर भी प्रख्यात ऐतिहासिक नामो तथा चरित्रो के अभाव मे ऐतिहासिक नाटक वस्तुतः ऐतिहासिक नही बन पाता, ऐसे क्या कारण है, जिनसे प्रभावित होकर अधिकाश नाटककारो ने प्रख्यात ऐतिहासिक पात्रो एव चरित्रो से सम्बन्ध घटनाओ को ही अपने नाटक का विषय बनाया इतिहास की विस्तृत सीमा मे वस्तुतः उन्ही व्यक्तियो के नाम एव चरित्र का स्पष्ट उल्लेख होता है जिन्होने या तो इतिहास की घटनाओ को स्वय प्रभावित किया हो अथवा जो ऐतिहासिक परिस्थितियो की ठोकरो से अनायास ही नक्षत्रो की ऊँचाई पाकर इतिहास के जीवित व्यक्तियों मे गिने जाने लगे हो। जहाँ तक साधारण व्यक्ति एव उसके जीवन का प्रश्न है वह या तो सास्कृतिक इतिहास की व्यापकता मे खो जाता अथवा प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बन्ध परिस्थितियो एवं घटनाओ की कार्यकारण परम्परा की सामूहिक क्रिया प्रतिक्रियाओ मे अन्तर्हित हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की व्यापकता में सामान्य व्यक्ति एकान्त जीवि स्थिति मे स्वतन्त्र सत्ता बनाकर नही रह सकता और न रहता ही है। वह काल की अस्त्र धारा की एक ऐसी बूद रह जाता है जो धारा का आवश्यक अग तो है। परन्तु धारा के प्रवाह में जिसकी स्वतन्त्र सत्ता देखी नही जा सकती। धारा के प्रपात और उसके मोड गिने जा सकते हैं। पहाडो से टकराकर छलछलाती हुई उसकी लहरो को भी स्पष्ट देखा जा सकता है पर उसकी प्रत्येक बूद को गिन सकना असभव है। यही कारण है कि साधारण एव नाम रहित चरित्रो की विचित्र से विचित्र ऐतिहासिक घटनाएँ भी विश्रुत एव विख्यात नामो एव घटनाओ के सम्पर्क के अभाव मे बूंदो से अधिक अपने

---

१ देखिए 'ऐतिहासिक नाटको का वर्गीकरण पृ०

स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा नही कर पाती अतः ऐतिहासिक नाटक मे स्वतन्त्र रूप से उनको स्थान भी नही मिलता। ऐसा करने के लिए नाटककार को उन्हे उक्त सम्बन्धो से पुष्ट करना ही पडेगा। अतः विचारो मे हम ऐतिहासिक नाटककार को काल्पनिक नियोजनाओ के लिए चाहे कितनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करे। नाटक का रचना तन्त्र उसकी स्वतन्त्रताओ को अपहरण स्वतः ही कर लेता है। भारत के 'ख्याति वृत्त' का महत्व यही स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

इतिहास, जैसा मु शी ने कहा है। सही सही विज्ञान नही है। मनुष्य के ज्ञान के साथ साथ उसमें विकास ही नही होता वरन् उसके मूल्यो और मूल्याकन की पद्धतियो म भी परिवर्तन होता चला जाता है। नई नई गवेषणाए ऐतिहासिक तथ्यो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने में समर्थ होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इतिहासकार की मान्यताओं मे भी अन्तर होता है। एक ही व्यक्ति अथवा एक ही घटना के अथवा एक ही काल के सम्बन्ध म भिन्न भिन्न इतिहासकारो के भिन्न-भिन्न मत होते हैं। कालिदास की प्रमाणिक तिथि के अभाव मे इतिहासकारो में आज तक मतैक्य स्थापित नही हो सका। इतना ही नही प्रत्येक इतिहासकार एक विशेष दृष्टिकोण से इतिहास की रचना करता है और उक्त दृष्टिकोण अपनी समग्रता में इतिहास के अमूल्य तत्वो को महत्वहीन अथवा महत्वहीन तत्वो को बहुमूल्य बना सकने मे समर्थ होता है। जैसा हम पूर्व कह चुके है कि इन सब बहुमुखी स्रोतो का कारण इतिहासकार की 'सश्लिष्ट सभाव्यताए' होती है अथवा मु शी के शब्दो मे कहा जा सकता है कि दृष्टिकोणो की यह विभिन्नता इतिहासकार के 'स्वानुभूत सत्य' का परिणाम है। प्रश्न यह उठता है कि एक दूसरे से भिन्न दृष्टिकोणो मे नाटककार सत्य का कौन सा स्वरूप ग्रहण करे। किस सीमा तक करे और किन स्थलो पर अपनी मौलिक प्रतिभा का समाहार करे। नाटककार की स्वतन्त्रता इस क्षेत्र मे सबसे अधिक है। नाटककार को पूर्ण अधिकार है कि वह अपने युग के इतिहासकारो के किसी भी उचित व सभाव्य (नाटकीय दृष्टि से) मान्यता को अपने नाटक के लिए स्वीकार कर ले। वह चाहे तो सर्वाधिक मान्य दृष्टिकोण को ले सकता है और यदि वह दृष्टिकोण नाटकीय त्वरा तथा अन्य सभावनाओ की दृष्टि से अनुपयुक्त हो, अथवा उसके अपने उद्देश्य से मेल न खाता हो तो वह सबसे कम मान्य दृष्टिकोण को भी ले सकता है और उस प्रतिपादन के लिए शक्तिशाली कार्य कारण परिस्थितियो का नियोजन कर सकता है। नाटककार को यह भी अधिकार है कि वह किसी भी इतिहासकार की मान्यताओ को स्वीकार न कर ऐतिहासिक समस्याओ पर अपनी व्यक्तिगत सभावनाओ का निर्माण कर सके। इसमें सन्देह नही कि यहाँ पर वह स्वय इतिहासकार क्षेत्र मे अपना पाव बढाता है हम पहले कह चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह इतिहास की आत्मा मे प्रवेश कर उसके सत्य का साक्षात् दर्शन करे। अतः इतिहास के क्षेत्र में पैर रखना उसका अधिकार ही नही उसके लिए आवश्यक भी है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यक्तिगत सभावनाओ का महत्व नही होता है, जहाँ इतिहास अस्पष्ट हो। 'इतिहास के अंध युग' इस दृष्टि से नाटककार के लिए महत्वपूर्ण होते है। यदि इतिहास कोई ऐसा कथानक दे दे जो नाटक में भावोद्रेक उत्पन्न कर सके। जिसमे नाटकीय संभावनाएँ हो और

जिसमे ख्यात पात्रो की परिस्थितियो से ऐसी क्रिया प्रतिक्रिया हो कि घटना में आवश्यक कुतूहल, प्रभावोत्पादक और हृदय स्पर्श करने की शक्ति उत्पन्न हो सके, तो नाटककार की सृजनात्मक कल्पना का कार्य कम हो जाता है। वह हल्के रगो को और गहरा करने के लिए नए पात्र, गौण कथानक और शक्तिशाली काय कारण परम्पराओ की सृष्टि तक ही अपनी कल्पना को सीमित कर लेता है। अन्यथा नाटककार किसी भी सभाव्य ऐतिहासिक कथानक को लेकर उसमे कुछ ख्यात पात्रो के नाम और उनके चरित्रो की बाह्य रूप रेखाओ का समा वेश करता है, इतिहास के रिक्त स्थलो मे कल्पनाओ के आवरण चढाता है, कारण और परिणाम के बीच कुतूहलो के साथ साथ नाटकीय त्वरा की सयोजना करता है, काल्पनिक चरित्रो को ख्यात चरित्रो के समानान्तर खडा करता है। उनको काल्पनिक ऐतिहासिकता प्रदान करता है। ख्यात पात्रो मे नवीन चारित्रिक विशेषताओ का इस प्रकार सृजन करता है कि विशेषताओ के साथ उनका विरोध न हो। समस्त नाटक को ऐतिहासिक सभाव्यता प्रदान करता है और सबसे ऊपर नाटक के सम्पूर्ण प्रभाव में भावोद्रेक या रसोद्रेक की शक्ति भर कर उसे काव्य का अग बना देता है।

एक अतिम प्रश्न और रह जाता है नाटककार मूल एव ख्यात ऐतिहासिक कथानक में कब और कितना परिवर्तन कर सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि मूल कथानक में केवल थोडे से ऐसे मोड देने हो जो सरलता से लक्षित न हो सकें, अथवा नाटक के उद्देश्य से काल-क्रम मे थोडे से ऐसे परिवर्तन करने हो जिनसे इतिहास की मूल शृखला छिन्न भिन्न न हो तथा प्रख्यात सत्य को चोट न पहुँचे तो नाटककार जब चाहे उक्त परि-वर्तन करने का अधिकारी है। परन्तु यदि मूल कथानक के कल्पना के प्रभाव से आमूल परिवतन उपस्थित करना हो तो ऐसा केवल तभी किया जा सकता है जब प्रख्यात ऐतिहा-सिक चरित्रो मे नाटककार इतनी शक्ति का सृजन कर सके कि उसके प्रभाव से कथानक अभिभूत हो जाय और उक्त परिवर्तन न केवल स्वाभाविक लगने लगे वरन् पूर्ण सम्भाव्यता लिए हुये हो यदि ख्यात चरित्रो मे इस प्रकार का परिवतन करना हो तो ऐतिहासिक कथा-नक मे इतनी शक्ति होनी चाहिए कि कथानक की शक्ति पात्रो को अभिभूत कर अपने प्रवाह मे समेट ले जाय। ऐसे परिवर्तन उपस्थित करने मे जो कुछ भी ऐतिहासिक तत्व हो, उसकी प्रधानता होना आवश्यक है, तभी वह नाटक के इतिहास गुण (ऐतिहासिकता) को नष्ट किए बिना अन्य तत्वो को अपने आधीन कर सकता है। ऐतिहासिक नाटक के उपर्युक्त स्वरूप एव रचना तत्र की विशेषता को ध्यान मे रखते हुए यदि उसकी परिभाषा देनी हो तो यह कहा जा सकता है कि 'ऐतिहासिक नाटक, नाटक के शरीर में इतिहास के प्राणो का प्रहार है।

ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण

नाटक में ऐतिहासिक घटना, पात्र अथवा वातावरण की प्रधानता की दृष्टि से ऐतिहासिक नाटको का एक वर्गीकरण किया जा सकता है। कही नाटककार कथानक को महत्व देता है, कही चरित्र को और कही केवल ऐतिहासिक वातावरण को। एक दृष्टि से साधारण नाटको की तरह घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और वातावरण प्रधान, ये तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं। परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण सामान्य है और ऐतिहासिक नाटक के ऐतिहासिक और नाटकीय इन दो भिन्न तत्वों से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं जुड पाता। ऐतिहासिक युगो के आधार पर भी नाटको का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का सबसे बडा दोष यह है कि उसे सर्वदेशीय नही बनाया जा सकता। कई देशो के नही, एक ही देश की कई जातियो और वर्गो के इतिहास भिन्न भिन्न युगो और कालो मे बँटे होते है। अतः उक्त वर्गीकरण सार्वभौम नही हो सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार वर्गीकरण इतिहास की दृष्टि से ही हो सकता है नाटकीय दृष्टि से नही। अतः यह वर्गीकरण एकागी होकर रह जायगा। नाटको के उद्देश्यो को लेकर भी ऐतिहासिक नाटको का वर्गीकरण किया जा सकता है और उसमे राष्ट्रीय ऐतिहासिक, मनोरजक ऐतिहासिक, ज्ञानवर्द्धक ऐतिहासिक तथा विशुद्ध ऐतिहासिक जैसे भेद किए जा सकते है। परन्तु हम नाटक के सम्बन्ध मे विचार करते हुए कह चुके हैं कि किसी भी नाटक मे उक्त सभी उद्देश्यो को एक साथ ढूँढा जा सकता है। ये सभी उद्देश्य नाटक में इतिहास के प्रभाव पर निर्भर करते है और किसी भी नाटक मे ये सभी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अनुपस्थित रहते हैं।

ऐतिहासिक नाटको का सबसे अच्छा वर्गीकरण वह हो सकता है जिसमे इतिहास के साथ समस्त नाटक का सम्बन्ध प्रतिफलित हो। इस प्रकार का वर्गीकरण रचना तन्त्र पर ही आधारित होगा और इसकी सबसे बडी विशेषता यह होगी कि यह न केवल इतिहास के आधार पर होगा वरन् साहित्यिक गुणो, रचना-तन्त्र के सामान्य स्वरूपो, कथानक, पात्र और वातावरण के आपसी सम्बन्धो तथा काल्पनिक तत्वो के आयोजनो को भी अपने लक्षणो में समेटे चल सकेगा। अतः रचना तन्त्र के आधार पर हम ऐतिहासिक नाटको को स्थूल रूप मे चार भेद कर सकते हैं :—

१ शुद्ध ऐतिहासिक,

२. अर्द्ध ऐतिहासिक,

३. काल्पनिक ऐतिहासिक,

४ स्वच्छन्द ऐतिहासिक।

यदि नाटककार मूल कथानक प्रामाणिक इतिहास से ले, प्रायः सभी प्रधान पात्र भी इतिहास विश्रुत हों और उन सभी पात्रो के नामो को ही नही चरित्रो को भी ज्यो का त्यो

स्वीकार करे तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी मे रखा जा सकता है। वातावरण की अनैतिहासिकता का तो प्रश्न उठता ही नहीं। इसमे प्रासगिक रूप मे अप्रधान पात्र और गौण काल्पनिक कथानको की नियोजना अवश्य की जा सकती है, परन्तु उनका कार्य प्रधान पात्रो तथा मूल कथानक की विशेषताओ को प्रकाश मे लाना ही होता है। नाटककार का कार्य इस प्रकार के नाटक मे अतीत का पर्नदर्शन और पुनश्चित्रण है वह अतीत मे रग भरता है, उसके विरोध को स्पष्ट करता है और सामजस्य को समीप लाकर पात्रो को जीवित करता है। यहाँ नाटककार मृत अतीत मे कला के प्राण भरता है। शुद्ध ऐतिहासिक नाटक के सभी प्रधान तत्व ऐतिहासिक होते है अत. चरित्र और कथानक एक दूसरे से सतुलित और समानुपातिक रहते है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी आवश्यक है। कभी-कभी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक मे नाटककार प्रधान ऐतिहासिक पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उसके समानान्तर एक और प्रधान पात्र की सृष्टि करता है जो ऐतिहासिक तो नही होता, परन्तु पात्र और परिस्थिति जन्य पूर्ण ऐतिहासिक सभाव्यता लिये होता है। वह पात्र न केवल ऐतिहासिक पात्रो के चरित्र को ही निखारता है वरन् घटना क्रम में भी पूर्ण योग देता है। यदि इस प्रकार का प्रधान काल्पनिक चरित्र नाटक के ऐतिहासिक तत्वो को नष्ट न करे, तो उसकी अत्यन्त सभाव्यता उसे ऐतिहासिक बना देती है। बगला मे द्विजेन्द्रलाल राय के और हिन्दी मे प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक इसी कोटि म आते है। कन्हैयालाल मुन्शी का गुजराती नाटक "ध्रुवस्वामिनी देवी" भी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक है। उदयशकर भट्ट का "शक विजय" और लक्ष्मीनारायण मिश्र का "विनाश की लहरे" शुद्ध ऐतिहासिक है यद्यपि इनमे दोनो नाटककारो ने इतिहासकार बनने के प्रयास मे मूल इतिहास की मान्यताओ मे फेरफार करने का प्रयास भी किया है।

१ शुद्ध ऐतिहासिक

यदि नाटककार मूल कथानक इतिहास मे ले और कल्पना से प्रधान पात्रो का सृजन कर उनका इतिहास पर आरोप करे तो, ऐसे नाटक को अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी मे मे रख सकते है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि मूल कथानक का सम्बन्ध जिन ख्यात व्यक्तियो मे कही पर भी जुडा हो, वहाँ उन ख्यात व्यक्तियो का, गौण पात्रो के रूप मे ही सही, नाटक मे आना आवश्यक है। यदि उक्त कथानक का सम्बन्ध किसी ख्यात चरित्र से न हो तो नाटककार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ख्यात पात्रो का कथानक मे आरोप करे। अन्यथा जैसा हम कह चुके है ऐसे ऐतिहासिक वृत्तो को दर्शक ऐतिहासिक स्वीकार करने मैं सकोच करेंगे। अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक मे गौण रूप से ऐतिहासिक पात्रो का रहना अनिवार्य है। इस प्रकार के नाटक मे पूर्ण ऐतिहासिक तत्व कथानक है। अतः यह आवश्यक है कि कथानक से पात्रो का उद्भव हो, अन्यथा पात्र ऐतिहासिक सभाव्यता को न पा सकेंगे। इस प्रकार के नाटक मे कथानक की प्रधानता रहती है, ऐतिहासिक रचनातन्त्र की दृष्टि से वातावरण तो सवत्र ऐतिहासिक होता है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के "हस मयूर" नाटक को अर्द्ध ऐतिहासिक मानने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती। उन्होने विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक कथानक को लेकर इन्द्रसेन नामक कल्पित पात्र को उसका नायक बना दिया है।

अर्द्ध ऐतिहासिक

इस प्रकार के नाटको में नाटककार कथानक तो काल्पनिक या 'उत्पाद्य' ग्रहण करता है, किन्तु उसके पात्रो में ऐतिहासिक चरित्रा का आरोप करता है। प्रामाणिक इतिहास से भिन्न सभी कथानक काल्पनिक कहे जा सकते हैं। यह सम्भव है कि नाटककार एकदम मौलिक कथानक का निर्माण न कर दंत कथाओ अथवा पुराणों से ही अपनी समस्त सामग्री ले ले, ऐसी स्थिति में कथानक पात्रो से अपनी सभाव्यता ग्रहण करेगा और ऐतिहासिक तत्व पात्रो में होने के कारण चरित्र कथानक को प्रभावित करते रहे। वातावरण की ऐतिहासिकता तो अनिवार्य है ही। हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक एकांकियो की रचना पर्याप्त मात्रा में हुई है। मिलिन्द के नाटक 'गौतम नन्द' को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। 'गौतम नन्द' का कथानक कल्पित है किन्तु उसके पात्रो में गौतम बुद्ध और शुद्धोधन जैसे ऐतिहासिक पात्रो के उल्लेख से ऐतिहासिक सम्भाव्यता लाई गई है। उनके अभाव में नाटक स्वच्छन्द ऐतिहासिक की कोटि में आ जाता।

३ काल्पनिक ऐतिहासिक

ऐतिहासिक नाटको का अन्तिम प्रकार 'स्वच्छन्द ऐतिहासिक' है। इसमें नाटककार का कथानक ही नही होता पात्र और चरित्र भी काल्पनिक होते हैं। सारे पात्र अपने कार्य विश्रुत ऐतिहासिक काल एव वातावरण मे ही करते है, परन्तु वे ऐतिहासिक नही होते। पात्रो का जन्म नाटककार की कल्पना द्वारा ऐतिहासिक वातावरण में होता है और उनके चरित्रो का निर्माण भी उसी वातावरण में होता है। अतः इस प्रकार के नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण प्रधान रहता है और वह वातावरण, पात्र एव घटनाओ को प्रभावित करता है, स्वय उनसे प्रभावित नही होता। यहाँ भी पात्रो का सम्बन्ध किसी न किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से जुडना आवश्यक है चरित्र भले ही ऐतिहासिक न हो। यह सम्भव है कि ऐसे विश्रुत चरित्र से पात्रो के सम्बन्ध का कही न कही उल्लेख भरकर दिया जाय। जिसे लेसिंग ने इतिहास का छल कहा है।[२] उस 'छल' के लिए इस प्रकार के सम्बन्धो की सृष्टि आवश्यक है, अन्यथा वह ऐतिहासिक नाटको मे रखा ही न जा सकेगा। ऐतिहासिक वातावरण प्रधान ऐतिहासिक तत्त्व वही है। हिन्दी में इस प्रकार के नाटक अधिक नही लिखे गए। किन्तु हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक भारतेन्दु रचित 'नीलदेवी' इसी कोटि का है। इसमें ऐतिहासिक तत्त्व कथानक व पात्रो में अधिक नही है। सियारामशरण का 'पुण्य पर्व' नाटक भी इसी श्रेणी का है।

४ स्वच्छन्द ऐतिहासिक[१]

नाटक में कल्पना और इतिहास इन दोनो के सम्मिश्रण की मात्रा और उसके स्वरूप के आधार पर ऐतिहासिक नाटको के उतने ही भेद हो सकते हैं जितने नाटक। परन्तु सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण स्पष्ट एव अपने में परिपूर्ण है। यहाँ यह देना भी अनुचित न होगा कि निरन्तर विकासशील कला को वर्गों की सीमा में आबद्ध नही किया जा सकता। स्वतत्र रूप से कथानक एव पात्रो के कभी कभी कई स्वरूप ढूढे जा सकते हैं,

---

१ गौतमानन्द : स० २००६ वि० : जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'
२. हैम्बर्गीश ड्रामाटर्जी पृ० २५६

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक

हम इतिहास एव इतिहासकार, नाटक एव नाटककार तथा इन दोनो के पारस्परिक सबधो पर पर्याप्त विचार कर चुके हे। हिन्दी नाटक साहित्य में प्रसाद से पूर्व ऐसा एक भी नाटककार नही दिखाई देता जो हमारे विवेचन की कसोटी पर कसा जा सके। सच बात तो यह है कि प्रसाद की प्रतिभा के उदय होने के पूर्व अधिक ऐतिहासिक नाटक लिखे ही नहीं गये। ऐतिहासिक अनुसन्धान की दृष्टि से विचार करने पर प्रकाशित नाटको मे से बाबू हरिश्चन्द्र का 'नीलदेवी' नाटक ही सर्व प्रथम ऐतिहासिक नाटक प्रतीत होता है। यह नाटक भी शुद्ध ऐतिहासिक नही है। अपने वर्गीकरण के अनुसार हम इसे स्वच्छद ऐतिहासिक की कोटि में रख सकते ह, क्योकि इसमें मूल-कथा और प्रधान-पात्र में ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक हैं, स्वय नीलदेवी तक कल्पित पात्र है। इसके बाद नाटको म प्रताप नारायण मिश्र का 'हठी हमीर', लाला श्रीनिवासदास का 'सयोगता स्वयवर,' राधाचरण स्वामी का 'अमरसिंह राठौर', काशीनाथ खत्री के 'तीन ऐतिहासिक रूपको मे से प्रथम दो रूपक, राधाकृष्णदास के 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', प० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मीराबाई', इतने ही मुख्य ऐतिहासिक नाटक हमे प्राप्त होते है।

उपर्युक्त सभी नाटको पर विचार करने मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल के नाटककारो ने अपने नाटक के लिए पूर्णतया परिचित ऐतिहासिक कथानको का सहारा लिया है, वस्तुतः हम्मीर, सयोगता, अमरसिंह, पद्मावती प्रताप और मीराबाई ऐतिहासिकता से ऊपर उठकर व दन्तकथाओ के नायक बन चुके हैं। उपर्युक्त सभी व्यक्तियो में से कदाचित ही कोई ऐसा पात्र हो जिनके कार्यों से जोडे गए लौकिक-अलौकिक तत्व भारतीय जीवन के अग न बन चुके हो भले ही उनके जीवन से सबद्ध ज्ञात इतिहास से जन जीवन सर्वथा अपरिचित रहा हो। सभवत. इसी तत्व से प्रेरित होकर हिन्दी के पुराने नाटककारो ने इन महापुरुषो को अपने रूपको का पात्र बनाया है। जहाँ यह परिस्थिति नाटको की सवेदनशील और प्रेषणीयता की शक्ति वृद्धि करती है, वही इसके दोष भी स्पष्ट परिलक्षित हो जाते हैं। वस्तुतः हिन्दी के उपर्युक्त नाटककारो मे से एक भी नाटककार ऐसा नही था जो इतिहासकार भी हो अथवा जिसका गहन ऐतिहासिक अध्ययन हो। परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त प्रचलित ऐतिहासिक कथानको के लिए प्रकाशित-अप्रकाशित इतिहास के अध्ययन की ओर इनका ध्यान ही न जा सका। दन्त कथाओ मे मिश्रित ध्रुव इतिहास की जिस प्रकार की भी रूपरेखा उस समय मिली, उसी को इतिहास मानकर इन नाटककारो ने नाट्य-योजना करदी। उपर्युक्त स्थिति का फल यह हुआ कि नाटक नाटक तो बन गये। किन्तु उनमे न तो ऐतिहासिक घटना क्रम को स्थान मिला, न ऐतिहासिक पात्रो की समुचित योजना

ही हुई और न उनमें ऐतिहासिक वातावरण के रंग ही घोले जा सके। यह बात उपर्युक्त सभी ऐतिहासिक नाटको के सम्बन्ध मे सत्य है।

इतिहासकार प्रसाद।

प्रसाद नाटककार ही नही इतिहासकार भी हैं। नाटको की भूमिकाओ तथा प्रसाद के अन्य ऐतिहासिक लेखो को पढने से ज्ञात होता है कि प्रसाद के सामने इतिहास का एक निश्चित स्वरूप था। 'ढोल और सूर्य' का इतिहास प्रसाद कालीन युग के लिए एक पुरानी चीज हो गई थी। काल की कारण कार्य-परम्परा का इतिहास भी हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धांत के सम्मुख एक नवीन रूप में प्रकट हो चुका था। व्यक्ति काल-सापेक्ष और व्यक्ति काल-निरपेक्ष इतिहास एक दूसरे के पूरक बनकर क्रिया प्रतिक्रिया सिद्धान्तो को जन्म दे चुके थे। प्रसाद के सामने भारतीय इतिहास के कई आलोक स्तम्भ थे जिनकी ओर देखकर उन्हे वर्तमान मे भागने की प्रेरणा नही मिलती थी वरन् कारण-कार्य और क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्तो को स्पष्ट समझने में जिनसे उन्हे बराबर सहायता मिलती थी। प्रसाद के लिए इतिहास का संबध केवल व्यक्तियो से ही नहीं था—केवल सम्राटो के एतिहासिक क्रिया-कलाप उनको प्रेरणा नही देते थे, वरन् उन सबके पीछे मानव-जीवन के असख्य घात-प्रतिघातो मे चिरतन नियमो को ही ढूँढने का प्रयास छिपा हुआ था। ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यो से मानव सभ्यता के चिरतन और शाश्वत सत्यो को ढूढ़ निकालना प्रसाद को अभिप्रेत था। यही कारण है कि प्रसाद भारतीय इतिहास के उन युगो की ओर बढ़े हे जिनमे मानव सभ्यताएँ एक दूसरे से टकराई हे और उस सघर्ष के परिणाम-स्वरूप भले ही सभ्यताएँ नष्ट भी हो गई किन्तु उनके शाश्वत सत्य अपनी ध्वजाओ को चिरतन काल के लिए फहरा गये है। अजातशत्रु का काल प्राचीन और नूतन रूढिवाद और विकासवाद, ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के सघर्ष का काल था। समाज की आधारभूत शक्तियो में परस्पर सघर्ष हो रहा था और उसी मे नूतन और विकास की विजय निहित थी। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के युग मे भारत और यूनान की सभ्यताओ का सघर्ष हुआ और दोनो के सम्मिलन से जो निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई वह आज भी भारतीय सस्कृति, साहित्य एव कला में अपनी अमिट छाप छोड गई है। गुप्त-काल पुनरुत्थान का काल तो था ही, कला, साहित्य और सगीत के क्षेत्र मे एक नवीन अभ्युदय का सूचक भी था। नये सामाजिक नियम बन रहे थे और समाज का सस्कार हो रहा था। बर्बर हूणो से भारत की रक्षा कर स्कदगुप्त ने भारत के इतिहास और भूगोल को बदलने से बचा लिया। यह विशृ खल और प्रतिक्रियावादी तत्वो के विरुद्ध एकता की विजय थी। इसी प्रकार सम्राट हर्ष का काल भी विकासशील शक्तियो का काल था। प्रसाद ने इन सब ऐतिहासिक व्यक्तियो से एक प्रेरणा ली है, और वह है विकासशील तत्वो का प्रतिक्रियावादी तत्वो से चिरतन सघर्ष और उस में विकासशील तत्वो की विजय। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटको की परिणति इस विजय की सूचक है, भले ही फिर वह पूर्णतया इतिहास-सम्मत हो अथवा नही।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि प्रसाद ने अपने इस उद्देश्य के लिये इतिहास को किसी प्रकार अव्यवस्थित किया हो अथवा उसे तोड़ा मरोडा हो। अपने इतिहास के लिये प्रसाद के पास जो भी उत्स थे, उन सबका उपयोग उन्होने किया है। ज्ञात इतिहास के दोनो

खड—ध्रुव और चल, दोनो प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उनके नाटकों की घटनाओ के मूल में रही है, और एक सफल इतिहासकार की तरह उन्होने इन दोनो प्रकार के बीच सामजस्य स्थापित किया है। ध्रुव इतिहास के लिये जहाँ तक उन्होने ग्रीक इतिहास, बौद्ध इतिहास, शिलालेख, ताम्रपत्र, मूर्तियाँ, लोह स्तम्भ, इत्यादि का सहारा लिया है वही बुद्ध, कालिदास, विक्रम इत्यादि के सबध में किवदतियो, दन्तकथाओ तथा पौराणिक उपाख्यानो की भी पर्याप्त सहायता ली है। अजातशत्रु चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और स्कदगुप्त की भूमिकाओ में उन्होने स्पष्ट ही इनका स्थान स्थान पर उपयोग किया है। वस्तुतः इनका उपयोग इतिहासकार के लिये अज्ञात ऐतिहासिक अशो की पूर्ति के लिये सर्वदा आवश्यक रहा है। चल इतिहास का सर्वाधिक उपयोग अजातशत्रु और स्कदगुप्त मे किया गया है। किंतु बौद्ध-कालीन इतिहास के लिये उपकरण ही बौद्व कथाए है, और ये इतिहास को मान्य है। स्कदगुप्त में अवश्य इनके उपयोग से नवीन ऐतिहासिक समस्याए खडी हुई हैं किन्तु उनको प्रसाद ने इतिहास के साथ इस प्रकार पर्यवसित किया है कि कारण कार्य-परम्परा ही बराबर नही बन जाती वरन् कई ऐतिहासिक समस्याओ पर नवीन प्रकाश भी पडता है। उदाहरण के रूप मे 'राजतरगिणी के हर्ष-विक्रम और स्कद-विक्रम का एकीकरण लिया जा सकता है। कई पुष्ट प्रमाणो के आधार पर प्रसाद ने यहाँ ध्रुव और चल इतिहास की एक कडी को जोडने का प्रयास किया है। कालान्तर मे भले ही उनकी मान्यता स्वीकार न की गई हो, किन्तु उस समय उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हम इसे एक नवीन गवेषणा मे कम नही मान सकते। इसमे प्रसाद की इतिहास सबधी प्रतिभा के दर्शन होते है। लोक कथाओ के लिखित अलिखित रूपो तथा पुराणो का पूर्ण उपयोग प्रसाद ने किया। चन्द्रगुप्त नाटक मे केवल 'कथा सरित्सागर' की घटनाओ से ही सामग्री नही ली गई है, वश-वृक्ष तथा काल-क्रम की सही और सभाव्य योजना के लिये पुराणो का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। वस्तुतः 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका एक अत्यन्त चतुर इतिहासकार की कृति है जिसने इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री का प्रयोग कर ठोस मान्यताओ के रूप मे अपने निष्कर्ष निकाले है, चाहे फिर वह सामग्री ध्रुव इतिहास की हो, दन्त कथाओ अथवा पुराणो की हो, अथवा धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक वैज्ञानिक एव दार्शनिक ग्रन्थो की। यही हमें इतिहासकार प्रसाद की सश्लिष्ट-सभाव्यता के दर्शन होते है।

उपर्युक्त तथ्य को और स्पष्ट करने के लिये प्रसाद के नाटको के कथानक, पात्र एव वातावरण की विशेषताओ पर थोडा सा प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐतिहासिक नाटको के वर्गीकरण की दृष्टि से प्रसाद के ये सभी नाटक 'शुद्ध ऐतिहासिक' है।

नाटकों का वर्गीकरण।

शुद्ध ऐतिहासिक की परिभाषा देते समय हम लिख चुके है कि 'यदि नाटककार मूल कथानक प्रामाणिक इतिहास से ले, प्राय. सभी प्रधान पात्र भी इतिहास-विश्रुत हो और उन सभी पात्रो के नामो को ही नही चरित्रो को भी ज्यो का त्यो स्वीकार करे तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी मे रखा जा सकता है। इस दृष्टि से अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कदगुप्त और राज्यश्री सभी शुद्ध ऐतिहासिक है। इन सबके कथा-

नक प्रामाणिक इतिहास से लिये गये है। बौद्ध इतिहास मे अजातशत्रु की सत्ता और उसके क्रियाकलापो को कौन अस्वीकार कर सकता है, मौर्य-काल का सम्पूर्ण इतिहास ही चन्द्रगुप्त से प्रारम्भ होता है, ध्रुवस्वामिनी सबधी घटनाओ को इतिहास स्वीकार कर चुका है और राज्यश्री की घटनाओ के लिये पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है। इन पाचो नाटको के नायक इतिहास विश्रुत व्यक्ति है, अजातशत्रु के तो प्राय. सभी पात्र ऐतिहासिक है, चन्द्रगुप्त मे भी प्रधान पात्रो में से अलका और सिंहरण को छोडकर सभी पात्र ऐतिहासिक माने जा सकते है। राक्षस के सबध मे थोडा सा मतभेद सभव है किन्तु विशाखदत्त की साक्षी उसे भी ऐतिहासिक की कोटि मे बिठला सकने में समर्थ है। ध्रुवस्वामिनी में कोमा और मिहिरदेव के अतिरिक्त अन्य सभी प्रधान पात्र इतिहास से लिये गये है। स्कदगुप्त के प्रधान पात्रो मे से अधिकाश ऐतिहासिक है। यहाँ अवश्य एक प्रश्न उठ सकता है कि 'स्कदगुप्त' की नायिका 'देवसेना' और दो अन्य प्रधान पात्र विजया और देवकी ऐतिहासिक नही हैं। 'शुद्ध ऐतिहासिक' नाटको पर विचार करते समय हम लिख चुके है कि 'कभी कभी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक मे नाटककार प्रधान ऐतिहासिक पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिये उसके समानान्तर और प्रधान पात्र की सृष्टि करता है, जो ऐतिहासिक तो नही होता, परन्तु पात्र और परिस्थितिजन्य पूर्ण ऐतिहासिक सभाव्यता लिये होता है। वस्तुतः देवसेना और विजया के चरित्र इसी कोटि के हैं। देवसेना का चरित्र जहाँ स्कदगुप्त के वीरत्व, उसका ममत्व उसके त्याग और उसकी भाव-गरिमा को निखारता है, वहाँ विजया का चरित्र उसकी रूपासक्ति, भाव-विह्वलता, सहनशीलता और सयम एव विराग को प्रकट करता है। ये दोनो चरित्र नाटक के घटना क्रम मे बराबर योग देते है और ऐतिहासिकता को नष्ट न कर अपनी सभाव्यता बराबर बनाये रखते हैं। देवकी के चरित्र की सभावना तो स्कदगुप्त के भिटारी के शिलालेख में ही मिलती है, अतः उसे ऐतिहासिक मान लेना कठिन नही। राज्यश्री के दो पात्रो—विकटघोष और सुरमा—को छोडकर अन्य सभी पात्र ऐतिहासिक है, और ये दो पात्र नाटक की घटनाओ में महत्व पूर्ण होते हुए भी नाटक के सम्पूर्ण कथानक एव समग्र प्रभाव की दृष्टि से महत्व नही रखते, अतः इस दृष्टि से प्रधान नही, प्रधान पात्रो के हस्तामलक मात्र है। इतना होते हुए भी नाटक में इनके कारण सभाव्यता की कमी नही आती और ये ऐतिहासिक घटनाओ के बीच खप जाते है।

प्रसाद के कथानको पर विचार करते ही एक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान जाता है। नाटककार प्रसाद ने इतिहास से जो कुछ भी सामग्री ली है, वह सामान्यतया प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यो से ली है। उसके अतिरिक्त दन्तकथाओ अथवा पुराणो की सामग्री का उपयोग वही किया गया है जहाँ वे या तो इतिहास के अनुकूल है अथवा जहाँ प्रामाणिक इतिहास की सामग्री पर्याप्त नही है।

कथानकों की विशेषताएँ

उदाहरण के लिये चन्द्रगुप्त नाटक में शकटार के पुत्रो की हत्या और उसके द्वारा नन्द के बध का प्रसग लिया जा सकता है। स्वतत्र रूप से कथानको पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि यह कथानक कथासरित्सागर पर आधारित है। हम यह सकते है कि नाटक में शकटार की आवश्यकता ही न थी, किन्तु नन्द के चरित्र को गिराने और चाणक्य की कूटनीतिक प्रतिभा के विस्तार के लिए शकटार आवश्यक है। दूसरी

बात यह है कि कथासरित्सागर इतिहास भले ही न हो किन्तु इतिहास के अज्ञात अंशो की योजना के लिए एक आश्रय तो है ही। इतिहास शकटार के सम्बन्ध मे मौन है, पर प्रसाद ने उसके चरित्र का उपयोग प्रामाणिक इतिहास के विरोध में नही किया है। उसी प्रकार प्रसाद ने दन्त-कथाओ के विक्रम और कालिदास को दो विक्रम और दो कालिदासो में बाँट दिया है। स्कदगुप्त विक्रमादित्य का राजकवि कालिदास था या नही, यह प्रश्न सुलझाया नहीं गया है, किन्तु इस सम्भावना को कई इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि कालिदास गुप्त-काल मे हुआ और उसने अपनी आँखो से गुप्तकाल की सब महत्ता और उसका अवसान दोनो देखे हैं। दन्त-कथाओ के अनुसार विक्रम ने कालिदास को अपना आधा राज्य दे दिया था और राजतरगिणी के अनुसार उज्जयिनी के हर्ष विक्रमादित्य ने मातृगुप्ताचार्य को काश्मीर का राज्य दे दिया था—इन दोनो घटनाओ को प्रसाद ने सचमुच बडे कौशल से मिला दिया है। यह दूसरी बात है कि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे हम इसे अस्वीकार कर प्रामाणिक न मानें, किन्तु इससे उसकी सभाव्यता पर कोई गहरा असर नही पडता। कालिदास के सम्बन्ध मे वह अत्यन्त प्रचलित दन्त-कथा है कि वे एक मालिन से प्रेम करते थे। वह मालिन फूल की मालाएँ बनाया करती थी और कालिदास उसके रूप पर मुग्ध होकर काव्य-कुसुमो का सृजन किया करते थे। इस दन्त-कथा को प्रसाद ने मालिनी नामक वेश्या के रूप मे रख कर मातृगुप्त के कवि-हृदय की कोमलता को निखारा है। नाटक की एक अवान्तर घटना होने के कारण इससे ऐतिहासिक घटना में कोई बाधा नही पहुँचती। इसी प्रकार सिंहल के राजकुमार से कालिदास की मैत्री की घटना इतिहास सिद्ध नहीं हुई, पर उसका उपयोग कर नाटक की घटनाओ में महत्वपूर्ण मोड तो प्रसाद दे ही सके हैं—कम से कम सम्पूर्ण बौद्ध-धर्मानुयायियो को देश-द्रोह के पाप से तो वे बचा ही गये हैं।

प्रसाद ने इतिहास में कल्पना के भी प्रचुर प्रयोग किए हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटक, इतिहास नही है। उनकी रूप-रेखा तो ऐतिहासिक होती है किन्तु उसमें प्राण प्रतिष्ठा करने वाली शक्ति नाटककार की 'सर्जक कल्पना' है। ऐतिहासिक नाटक न होकर साहित्य है, साहित्य की एक विधा है। ऐसी दशा में केवल ऐतिहासिक घटनाओ का एकत्र रूप ऐतिहासिक नाटककार नही बनाता। नाटक कल्पना के प्रयोग से रसोद्रेक करने की क्षमता लाता है, उसे कला बनाता है, अन्यथा वह इतिहास मात्र अथवा घटनाओ की सूची भर रह जाए। प्रसाद के नाटककार की यह विशेषता उस समय तुरन्त परिलक्षित हो जाती है जब हम उनके नाटको की भूमिकाओ से नाटक मे प्रयुक्त सामिग्री की तुलना करते हैं। चन्द्रगुप्त, स्कदगुप्त और अजातशत्रु की भूमिकाएँ अत्यन्त विस्तृत हैं। वास्तव में वे इतिहासकार की गवेषणाएँ हैं जिनमे वश वृक्ष और तिथि कर्म से लेकर घटनाओ की कारण-काय-परम्पराओ एव ऐतिहासिक प्रमाणो की चर्चा की गई है। अब यदि प्रसाद इन भूमिकाओ पर ही नाटक की रूपरेखा खडो कर देते तो शायद नाटक, नाटक बन पाते। किन्तु अपने सभी नाटको में प्रसाद ने भूमिका में से कम से कम सामग्री का उपयोग किया है। चन्द्रगुप्त की भूमिका में मौर्यो के इतिहास, उनकी शासन-पद्धति, आर्थिक और व्यापारिक स्थिति, मेगास्थनीज के विस्तृत विवरण, सेनाओ की सख्या, पाटलिपुत्र नगर की विशेषताओ से लेकर उक्त नगर

की भौगोलिक स्थिति तक अत्यन्त विस्तार से विचार किया गया है। किन्तु नाटक में इन सभी का प्रयोग नही के बराबर हुआ है, और यदि कही थोडा बहुत हुआ भी है तो वह अत्यन्त महत्वपूर्ण नही प्रतीत होता। स्कदगुप्त की भूमिका मे मालव नरेश के वशवृक्ष पर विस्तार से विचार किया गया है, जिसकी नाटक मे आवश्यकता न पडती यदि प्रसाद जानबूझ कर स्थल पर उसका उपयोग न करते। इन सबके स्थान पर तो नाटको मे अजातशत्रु और वाजिरा का पूर्वराग, चन्द्रगुप्त कार्नेलिया का आकर्षण, सिंहरण अलका का प्रणय मालविका का प्रीति जन्य त्याग, चाणक्य-राक्षस सुवासिनी के प्रणय, का त्रिकोण कोमा शकराज का शोकान्त प्रणय, स्कगुप्त विजया, भटार्क विजया अनन्तदेवी भटार्क और सब से महत्वपूर्ण देवसेना-स्कन्द का अजीब आकर्षण और उनकी अश्रुपूर्ण परिणत ये सब घटनाए महत्वपूर्ण हैं। किन्तु ये इतिहास नही है। नाटक की ये सबसे महत्वपूर्ण घटनाए काल्पनिक है और ये ही नाटको को कला की कोटि में ले जाती हैं।

प्रसाद ने स्वच्छन्द कल्पनाओ का आश्रय नही लिया है। उनकी कल्पना ने सर्वत्र या तो कारण-कार्य-परम्परा से रहित इतिहास की किसी घटना मे उक्त परम्परा को भरने का प्रयत्न किया है, अथवा इतिहास के कठपुतलो मे प्राण फूकने का। इतिहास व्यक्ति को (महत्वपूर्ण व्यक्ति को) राजनीतिक घटनाओ या अधिक से अधिक सामाजिक-धार्मिक घटनाओ की पृष्ठभूमि में देखता है उसने क्या कार्य किये जिनके फलस्वरूप वह इतिहास बन गया, यही इतिहास का प्रधान दृष्टिकोण होता है। नाटक मे वही महत्वपूर्ण व्यक्ति मानवता के वैयक्तिक गुणो—ईर्ष्या, द्वेष, प्रणय, कलह इत्यादि--को लेकर आता है। नाटककार को इतिहास और नाटक का अन्तर भी देखना पड़ता है। नायक के हृदय को भी खोलना पडता है। प्रसाद ने यह कार्य बडी खूबी से किया है। इतिहास इस कार्य म सहायता नही कर सकता—यह कवि का कार्य है। प्रसाद के पात्रो मे और उनके नाटको की घटनाओ में जो जीवन धडकता हुआ प्रतीत होता है, उसका यही कारण है। कोई इतिहास यह नही बताता कि अजातशत्रु वाजिरा से, चन्द्रगुप्त ने कार्नेलिया से, अलका ने सिंहरण से, मालविका ने चन्द्रगुप्त से, चाणक्य और राक्षस ने सुवासिनी से, स्कद ने विजया से और देवसेना ने स्कद से प्रेम किया था। किन्तु ये मानव जीवन की वे शाश्वत घटनाए है जिनको कोई ऐतिहासिक नाटककार छोड नही सकता और कोई इतिहासकार सभाव्यता की बृहत् सीमा रेखा से वहिष्कृत नही कर सकता। इन उपर्युक्त घटनाओ में से कुछ के कार्य (फल) ऐतिहासिक हैं, पर कारण कल्पित और कुछ में कारण और कार्य दोनो ही कल्पित है। किन्तु इनसे कही भी इतिहास पर आँच नही आई है। चन्द्रगुप्त का इतिहास नही बदला, अजातशत्रु वही बना रहा, चाणक्य अतिमानव नही हुआ और स्कद पुराण नही बन गया। इतिहास के पात्र, उसकी घटनायें सब पूर्ववत् रही, पर इन कल्पनाओ से 'कैटेलिटिक एजेन्ट' की तरह इतिहास में एक नूतन रस उत्पन्न कर दिया और इतिहास नाटक बन गये। इसमे सन्देह नही कि प्रसाद ने इतिहास के तथ्यो को कल्पना से बखूबी अनुप्राणित किया है, वे उसकी विकृति के कारण कदापि नही बने है। उन्होने प्रधान कथानको को ऐतिहासिक रखा और कल्पना का प्रयोग अधिकतर गौण कथानको मे ही किया है, किन्तु 'स्कदगुप्त' की तरह जहा कथानक में कल्पना प्रधान बन गई, वहाँ उसे इतिहास से हटाकर व्यक्तिगत सीमाओ में

रख दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सभी नाटकों में काल्पनिक तत्व इतिहास पर हावी होकर नहीं आने पाया है। अजातशत्रु चन्द्रगुप्त और राज्यश्री में तो काल्पनिक तत्व अधिक हैं ही ध्रुवस्वामिनी और स्कंदगुप्त मे भी ऐतिहासिक घटनाएं कहीं प्रच्छन्न और कहीं स्पष्ट होकर सारे नाटक को साधे हुए हैं। ध्रुवस्वामिनी के कथानक मे तो ऐतिहासिक तथ्य कम होते हुए भी ऐतिहासिक सभाव्यता के इतने प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि वहाँ भी प्रसाद की कल्पना स्वच्छन्द क्रीडा नहीं करने पाई है। एकमात्र स्कंदगुप्त में प्रसाद ने प्रचुर कल्पना का प्रयोग किया है, किंतु यहाँ भी नाटक के प्रधान कार्य ऐतिहासिक हैं और उनके कारण कल्पित। नाटक मे हूणों पर विजय और आतरिक द्वन्द्वों का पराभव ये दोनों घटनाएं ऐतिहासिक हैं। अतः सर्वत्र इन घटनाओं को ध्यान मे रखते हुए अन्य ऐतिहासिक-काल्पनिक घटनाओं के सयोग से उनके द्वन्द्वों की सृष्टि की गई है। यहाँ ड्यूमा की वह परिभाषा याद आ जाती है जिसमे उसने कहा था कि 'इतिहास वह खूंटी है जिसमे मैं अपने नाटकों को लटकाता हूँ।' ध्यान रखने की बात है कि कल्पना की इतनी प्रचुरता के बीच भी प्रसाद इतिहास के विरोध मे नहीं गये हैं और उससे हटे ही हैं। फिर भी उन्होंने स्कंदगुप्त को 'शुद्ध ऐतिहासिक' ही बनाये रखा है।

नाटकों मे काल और स्थान की अन्विति के प्रश्न पर भी थोडा सा विचार कर लेना अपेक्षित है। इसमें संदेह नहीं कि काल-योजना को अधिकाँश नाटककारों ने स्वीकार नहीं किया है, और न आलोचक ही इसके महत्व को स्वीकार करते हैं। तथापि प्रभावान्विति को सभी ने एकमत से आवश्यक माना है। यदि नाटक की प्रभावान्विति पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ उक्त प्रकार की अन्विति के लिये पात्रों की अनुकूलता और कथानक का बचाव आवश्यक है वहाँ सी न कि किसी प्रकार के काल और स्थान की अन्वितियाँ भी यदि अनिवार्य नहीं तो भी अपेक्षित अवश्य हैं।

देश काल-योजना

संस्कृत नाटकों मे तो यह नियम ही पाया जाता है कि एक अक मे एक दिन से अधिक की घटना नहीं होती (नानेकदिनवर्ति)। हम यदि इस नियम को न भी मानें तब भी यह तो एक मनोविज्ञानिक सत्य है ही कि यदि नाटक के एक दृश्य मे वर्षों की घटनाएं हो और हजारों मीलों की दूरी हो, पुन दो दृश्यों के बीच कई वर्षों का अन्तर हो और इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में ४० या ५० वर्ष की घटनाएं आ जाएं, तो नाटक का प्रभाव अच्छा नहीं पडेगा। प्रथम प्रभाव तो यह होगा कि नाटक मे विशृंखलता प्रतीत होगी और दूसरी इतने वर्षों के व्यवधान मे नाटक के पात्रों का अपरिवर्तित आकृतियाँ विश्वसनीय नहीं होगी। साथ ही बार बार बदलते हुए दूर दूर के दृश्य रगमच की सीमाओं में या तो दिखाए ही न जा सकेंगे या फिर उन पर दर्शक विश्वास न कर सकेगा। वस्तुत प्रत्येक नाटक मे देश-काल की दूरी को दिखाने के लिये दृश्यों के विशेष व्यवधान की योजना आवश्यक प्रतीत होती है।

प्रसाद की काल योजना इस दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण है। ध्रुवस्वामिनी को छोडकर अन्य सभी नाटक सुदीर्घ कालों की अवधि अपने अकों में समेटे हुए हैं। अजातशत्रु मे सात वर्षों की, चन्द्रगुप्त में चौबीस वर्षों की, स्कंदगुप्त में दस वर्षों की और राज्यश्री में अडतीस वर्षों की घटनाएं हैं। एक-एक दृश्य के बीच मे काल का भयंकर अन्तर है। कहीं-कहीं तो वह अन्तर सत्रह माह तक है। चन्द्रगुप्त के पाँचवें और छठे दृश्य के बीच ११ मास का

अन्तर है, जो सामान्यतया विचित्र प्रतीत होता है। ऐसी दशा मे अको का काल-विभाजन भी ठीक नही रह सकता। चन्द्रगुप्त नाटक के २४ वर्ष और राज्यश्री नाटक के अडतीस वर्ष किस प्रकार उचित रूप से अको मे विभाजित किये जा सकते है। चन्द्रगुप्त के प्रथम अक की घटनाए एक वर्ष की है और चौथे अक में तो सोलह वर्ष के सुदीर्घ काल की घटनाए ठूस-ठूस कर भर दी गई है। इसी प्रकार राज्यश्री के प्रथम और द्वितीय अक एक ही वर्ष के अन्दर समाप्त हो जाते है पर तीसरे अक मे एक ऐतिहासिक मान्यता से ३१ वर्ष की और दूसरे से १६ वर्ष की घटनाए आती है। तीसरे और चौथे अक के बीच २३ वर्ष तक का अन्तर माना जा सकता है, अन्यथा ७ वर्ष का तो है ही। इस प्रकार के अनियमित अन्तर और अको की अनियमित काल योजना नाटक मे प्रभावान्विति ला सकने मे असमर्थ हो जाती हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के सघर्ष मे यह तो माना जा सकता है कि प्रसाद भारत के उस अप्रतिम स्वर्ण-युग का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लोभ का सवरण न कर सके, अत इन्होने 'चन्द्रगुप्त' के रूप भारतीय इतिहास का एक महाकाव्य भेंट किया है। उक्त तर्क मान्य होते हुए भी नाटक की नाटकीयता में वृद्धि नही कर पाता। किन्तु 'राज्यश्री' के सबध मे तो इस प्रकार का तर्क भी नही दिया जा सकता। वह तो निश्चय ही अप्रौढ़ नाटककार की अत्यन्त सामान्य कृति ही मानी जायगी। स्कदगुप्त और अजातशत्रु इस दृष्टि से इतने दोषपूर्ण नही, किन्तु स्कदगुप्त मे स्थान योजना बडी विचित्र है। प्रत्येक दृश्य के बाद का दृश्य सहस्रो मील के अन्तर पर घटित हुआ। अवन्ती, मगध, सौराष्ट्र, काश्मीर, गान्धार इन सब स्थानो के बीच दूरी का इतना अधिक व्यवधान है कि एक ही दृश्य के बाद एक पात्र का दूसरे का दूसरे दृश्य में अन्यत्र दिखाया जाना अत्यन्त असगत प्रतीत होता है। प्रसाद ने नाटक लिखते समय इस बात पर ध्यान किया ही नही है कि कोई घटना कितनी बडी है, उसकी कालावधि कम है या अधिक, इससे सयुक्त अन्य घटना के घटित होने के स्थान तथा अन्य स्थानो में कितना अन्तर है, और यह अन्तर पात्रो द्वारा कितने समय मे पार किया जा सकता है। सभव है कि यदि प्रसाद इस ओर थोडा भी ध्यान देते तो नाटको में घटनाए कुछ कम हो जाती और एक कसावट आ जाती, जो एक नाटक की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कथा के सबध सूत्रो को जोडने के लिये काल और स्थान ही सहायक होते हैं और उनकी विश्रृखलता कथा विश्रृखल बना ही देती है।

पात्र योजना और चरित्र।

पात्रो की योजना में प्रसाद को पर्याप्त सफलता मिली है। यदि प्रसाद के पात्रो का वर्गीकरण किया जाय तो उनके पात्र ऐतिहासिक और काल्पनिक इन दो प्रधान वर्गों मे बाँटे जा सकते है। ऐतिहासिक पात्रो को भी दो अन्य वर्गों मे बाँटा जा सकता है—

(१) वे पात्र जिनके नाम और चरित्र इतिहास मे उपलब्ध है और

(२) वे पात्र जिनके उल्लेख भर इतिहास में मिलते है, चरित्र नही।

इसी प्रकार काल्पनिक पात्रो के भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(१) पूर्णतया काल्पनिक और (२) साकेतिक।

ऐतिहासिक पात्रो की प्रथम कोटि में बिम्बसार, वासवी, वासवदत्ता, बुद्ध, अजातशत्रु, प्रसेनजित, विरुद्धक, बधुल, दीर्घकारायण, अम्बपाली, मल्लिका, मागधी, उदयन,

चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, सिकन्दर, सेल्यूकस, पर्वतेश्वर, आम्भीक, दाण्ड्यायन, राक्षस, वररुचि, शकटार, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, रामगुप्त, शिखरस्वामी, स्कदगुप्त, कुमारगुप्त, मातृगुप्त, पर्णदत्त, चक्रपालित, बधुवर्मा, राज्यश्री, हर्ष, सुएनच्वांग, राज्यवर्द्धन, ग्रहवर्मा मालवेश, नरेन्द्रगुप्त और दिवाकरमित्र लिये जा सकते हैं। दूसरी कोटि के ऐतिहासिक पात्रो मे वाजिरा, शक्तिमती (मूल नाम वासभरवत्तिया) पद्मावती, फिलिप्स, एनीसाक्रीटीज, साइर्बाटयस, गान्धार नरेश, कल्याणी, कार्नेलिया, भडि, भीमवर्मा, शर्वनाग, और पृथ्वीसेन है। प्रथम प्रकार के काल्पनिक पात्र सिंहरण, अलका, सुवासिनी, मालविका, शातिदेव, सुरमा, जयमाला है और दूसरी कोटि के देवसेना, विजयी और देवकी। चरित्रो का यह विभाजन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त वर्गीकरण मे प्रसाद के नाटको के सभी नायक ऐतिहासिक पात्रो की उस कोटि मे आते है जिनके नाम व चरित्र दोनो ही इतिहास मे उपलब्ध होते हैं और जिनमे अधिक परिवर्तन की सम्भावना नही होती। इसके अतिरिक्त ये चरित्र ऐसे व्यक्तियो के है जिन्होने या तो इतिहास को अपनी कमठता, सकल्प शक्ति अथवा जीवन्त-प्रतिभा स प्रभावित किया है अथवा जो ऐतिहासिक परिस्थितियो की ठोकर से अनायास ही नक्षत्रो की ऊचाई पर गये हैं।' अजातशत्रु बुद्ध, चन्द्रगुप्त-चाणक्य, ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त स्कदगुप्त और राज्यश्री-हर्ष ऐसे ही पात्र है। ये सब ऐसे व्यक्ति हैं जो इतिहास की व्यापकता मे एकान्त स्वतन्त्र सत्ता रखते है और काल की अजस्त्र धारा मे जिन्होने अपने स्वर्ण-ध्वज फहरा दिये है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटक वस्तुत. सही अर्थों मे ऐतिहासिक बन सके है। कथानको के सम्बन्ध मे तो नाटककार को इस बात की पर्याप्त स्वतन्त्रता है कि वह अपने युग में प्रचलित कई इतिहासकारो की मान्यताओ मे से किसी भी एक सम्भाव्य मान्यता को स्वीकार कर ले। किन्तु चरित्रो के सम्बन्ध में वह इतना स्वतन्त्र भी नही है। ज्ञात ऐतिहासिक चरित्रो मे नवीन चारित्रिक विशेपताओ की योजना तो वह कर सकता है, किन्तु उसी सीमा तक जिसमे उन विशेपताओ का ख्यात विशेपताओ से विरोध न हो। देखना यह है कि क्या प्रसाद के ख्यात ऐतिहासिक चरित्र इस कसौटी पर कसे जा सकते हैं अथवा नही।

ऐतिहासिक चरित्र।

जहाँ तक नाटको के नायको का प्रश्न है वे सभी ऐतिहासिक ही प्रतीत होते है। उनके कार्यों में पर्याप्त सभाव्यता है और उनकी निज की विशेपताओ मे कोई विशेप विकृति नही प्रतीत होती। अजातशत्रु और बुद्ध के सम्बन्ध मे तो बौद्ध और इतिहासकारो ने इतना लिखा है कि कुल मिलाकर अजातशत्रु के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण रेखाए बन जाती है। प्रसाद ने इस क्षेत्र मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किया है। बौद्ध इतिहास का अजातशत्रु कुछ अधिक क्रूरता लिये हुए है, पर जैन इतिहास उसके प्रति पर्याप्त सहृदय है। प्रसाद ने इन दोनो को मिलाकर अजातशत्रु मे कुछ मानवोचित गुणो की योजना कर दी है और अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण-लेखनी से उसके चरित्र की रेखाए उभार दी है। चद्रगुप्त और चाणक्य के कथानक के जो उत्स हैं, उनमें इन दोनो के चरित्रो को भी प्रचुर रूप-रेखाए मिल जाती हैं। ऐतिहासिक चद्रगुप्त से प्रसाद के चद्रगुप्त मे केवल दो गुण

अधिक है और वे है—चाणक्य से अलग उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं उसकी सौन्दर्य-प्रियता। किन्तु चद्रगुप्त का यह वीरत्वपूर्ण अह इतिहास विरोधी नही है। मुद्राराक्षस से अलग ऐतिहासिक चद्रगुप्त के सब गुणो को मिलाकर देखने से इस बात पर विश्वास करना कठिन हो जाता है कि चद्रगुप्त चाणक्य के, अपने एक मन्त्री क हाथ की कठपुतली मात्र था। जहाँ तक उसकी सौन्दर्य प्रियता का प्रश्न है यह उस चरित्र की व्यक्तिगत बात है। हम पहिले कह चुके है कि इतिहास अपने से सम्बन्धित सभी व्यक्तियो को काल-विशेष की सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के बीच रखकर देखता है, उसकी व्यक्तिगत भावनाओ और आवेगो के उसी अश को वह स्पर्श करता है जिसका प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियो पर पडता है। परिणामस्वरूप ऐतिहासिक व्यक्ति का सामाजिक स्वरूप तो अधिकतर उपलब्ध हो जाता है पर उसक व्यक्तिगत सुख-दुख, प्रेम-विरह, अश्रु-हास को इतिहास मे कोई स्थान नही मिल पाता। नाटक के लिये ऐतिहासिक व्यक्तियो के ये गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसलिये नाटककार सामाजिक स्वरूप के सामजस्य में इन वैयक्तिक गुणो का अपनी सृजनात्मक कल्पना शक्ति से निर्माण कर ऐतिहासिक चरित्रो पर इनका आरोप करता है। तभी वे व्यक्ति जीवित और सप्राण बन पाते है। अतः चद्रगुप्त की सौन्दर्य-प्रियता का काल्पनिक गुण उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को पुष्ट ही करता है। राजकुमारी कल्याणी, कार्नेलिया और मालविका तीनो का प्रणय चन्द्रगुप्त के चरित्र को जीवन्त बनाता है। इसी प्रकार चाणक्य के चरित्र को भी प्रसाद ने अधिक भव्य, अधिक उदार, क्षमाशील और मानवोचित बनाया है। चाणक्य सम्बन्धी जो कुछ भी विवरण इतिहास से ज्ञात होता है, उसमें वह महान् कूटनीतिज्ञ, तेजस्वी पर हठी और क्रोधी ब्राह्मण है। प्रसाद ने उसके इस चरित्र मे क्रूरता के स्थान पर कोमलता का समावेश भी कर दिया है। साथ ही सुवासिनी से उसके प्रणय की योजना में उसमे विश्रुत अमानवी शक्तियो के स्थान पर मानवोचित दुर्बलताओ को भी स्थान दे दिया है। इससे इतिहास पर कोई चोट नही लगती, इतिहास का सत्य बदलता नही है, पर चाणक्य हमारे हृदय के अधिक पास आ जाता है, और दर्शक के लिये अधिक सभाव्य एव अधिक बोधगम्य बन जाता है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र की स्पष्ट रूपरेखाए इतिहास में नही मिलती, पर उसके जीवन की घटनाओ के आधार पर उसके जिस प्रकार के चरित्र की सभावना है वैसा ही प्रसाद ने उसका चरित्र बनाया है। उसके पूर्वराग की अवहेलना कर एक कायर सम्राट ने उससे परिणय किया और उसी को क्रीत दासी की तरह शत्रु के पास भेज दिया। अत मे सब सामाजिक परम्पराओ के विरोध मे वह अपना पूर्व प्रणय पा सकी। ऐसी भारत की साम्राज्ञी के दूसरे प्रकार की चरित्र की कल्पना हम नही कर पाते। यह ठीक है कि प्रसाद की कल्पना ने उसमें मनमाने रग भरे है, पर उन रगो की योजना का प्रतिवाद कौन कर सकता है। वे सुन्दर होने के साथ साथ चित्र के अनुकूल है, अतः विश्वसनीय है, सभाव्य है। चन्द्रगुप्त के चरित्र पर थोडा सा अभियोग लग सकता है। इतिहास का चद्रगुप्त गुप्त साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण सम्राट रहा है। वह शकारि विक्रम जनश्रुतियो के विक्रम से समकक्ष रखा जाता है। वीरता, कौशल, साहित्य और राजनीति सब में जिस विक्रमादित्य

का वश था, उसके चरित्र को प्रसाद ने थोडी सी ही आडी तिरछी रेखाओ से बाधने का प्रयास किया है। प्रसाद का विक्रमादित्य धर्म-भीरू और आत्मविश्वास से हीन है। यह मानते हुए भी कि नाटक का नायक वह नही है, इतिहास एव जन-मानस के मन मे बसे हुए विक्रमादित्य के चरित्र की रक्षा प्रसाद नही कर सके है। स्कद के चरित्र की थोडी-सी सामग्री जो उसके शिलालेखो इत्यादि से मिलती है वह इतने बडे नाटक के लिये पर्याप्त नही। प्रसाद ने स्कद को इतनी अधिक घटनाओ और परिस्थितियो की पृष्ठभूमि में रखा है कि उसके चरित्र के प्राय उसी प्रधान गुणो की योजना उन्हे स्वय करनी पडी है। इतिहास से जो कुछ मिला है उसका विरोध उन्होने नही किया, पर उस पर जोडा बहुत है। ध्रुव और चल इतिहास—(शिलालेख तथा राजतरगिणी) की दो विभिन्न घटनाओ को जोडने से दो विभिन्न पात्रो (स्कद व हर्ष) को भी प्रसाद ने एक मान कर जोड दिया है। इससे कथानक सम्बन्धी दोष तो मालूम पडता है पर चरित्र मे कोई दोष नही प्रतीत होता। स्कद-विक्रमादित्य नही भी हो सकता, पर इसमे रत्ती भर भी असम्भाव्यता नही कि स्कद इतना उदार शासक था कि तनिक-सी कृतज्ञता के लिये वह एक राज्य तक दान कर सकता था। हर्ष और राज्यश्री के चरित्रो मे इतिहास से अधिक कुछ भी नही है, उससे कुछ कम भले ही हो।

उपर्युक्त ऐतिहासिक चरित्रो के अतिरिक्त कुछ चरित्र ऐसे भी है जो ऐतिहासिक तो है, पर जिनके चरित्रो मे प्रसाद ने अपनी नवीन कल्पनाओ द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है। इस प्रकार के परिवर्तनो से वे ऐतिहासिक चरित्र न केवल इतिहास विरोधी बन गए वरन् कला की दृष्टि से भी उनका कोई विशेष महत्व न रहा। उदाहरण के लिए पर्वतेश्वर और अम्बपाली के चरित्र लिये जा सकते है। इतिहास से पर्वतेश्वर के सम्बन्ध मे जो कुछ भी जाना जा सकता है वह उसकी वीरता और साहस से ही सम्बन्धित है। ग्रीक इतिहास पर्वतेश्वर (पोरस) की वीरता का पर्याप्त उल्लेख करता है। प्रसाद ने ग्रीको के इस पर्वतेश्वर के चरित्र को मुद्राराक्षस के उस पर्वतक के चरित्र से जोड दिया है जिसका वध चाणक्य ने विषकन्या के द्वारा करवाया था। पर्वतक का विषकन्या के रूप पर मोहित होना उसकी विलासी प्रवृत्ति का सूचक था या नही यह नही कहा जा सकता। पर प्रसाद ने इसका यही अर्थ मानकर सिकन्दर से पचनद मे वीरतापूर्वक टक्कर लेने वाले महान् पर्वतेश्वर के चरित्र को ही इतना विलासी बना दिया कि वह विषकन्या पर तो नही पर नन्द-दुहिता कल्याणी पर अत्याचार करने को तैयार हो गया। प्रसाद ने यहाँ यह सोचने की आवश्यकता नही समझी कि इससे एक प्रख्यात चरित्र पर वे ऐसा लाछन लगा रहे है जिसे दर्शक अस्वीकार कर सकते है। पर्वतेश्वर के चरित्र का यह नवीन रूप किसी प्रकार भी गले के नीचे नही उतर पाता, विशेषकर जब पर्वतेश्वर और पर्वतक को इतिहास तक ने एक मानने का साहस नही किया हो। अम्बपाली के चरित्र की स्पष्ट रूपरेखाए मिलती है। वैशाली के लिच्छवि गणतन्त्र की यह नगरशोभिनी न केवल अनिन्द्य सुन्दरी ही थी वरन् अत्यन्त वैभवशालिनी और गुणवती भी थी। वह सचमुच राज-पूजिता थी। स्वय भगवान बुद्ध ने उसका भात स्वीकार किया था और उसने एक आम्रकानन भी बुद्ध व

संघ को भेंट किया था। पर उस आम्रपाली ने कभी भी आम नही बेचे, कभी भी लडकों के हाथ से पत्थर नही खाये और वह न तो कभी उदयन की रानी थी और न बुद्ध पर आसक्त। हम यह मानते हैं कि प्रसाद ने ऐतिहासिक मागन्धी, श्यामा तथा आम्रपाली के चरित्रो को जानबूझकर मिलाया है। पर क्या इस सम्मिश्रण से कही भी कौतूहल की वृद्धि होती है? उल्टे, इस प्रकार के पूर्ण ऐतिहासिक नाटक मे आम्रपाली जैसे विश्रुत ऐतिहासिक चरित्र के साथ मनमानी करने में नाटक दोषपूर्ण हो गया है। प्रसाद द्वारा जान-बूझकर किये गये इस चरित्र सम्बन्धी मिश्रण से उत्पन्न दोष को किसी प्रकार भी क्षम्य नही कहा जा सकता।

प्रसाद के नाटको में ऐसे ऐतिहासिक चरित्र अनेक हैं जिनके नाम भर उन्होने इतिहास से लिए हैं। किन्तु हमारे वर्गीकरण के अनुसार इस प्रकार के पात्रो मे तीन पात्र शक्तिमती, कार्नेलिया और कल्याणी ही ऐसे हैं जिनके नाम ऐतिहासिक नही, प्रसाद के अपने है। शक्तिमती का ऐतिहासिक नाम 'वासभखत्तिया' है। सिल्यूकस कन्या और नन्द-दुहिता के नाम इतिहास में नही मिलते। परन्तु उनका उल्लेख अवश्य मिलता है। इनको इस वर्ग में रखने का कारण यह है कि इन तीनो के चरित्रो की किसी प्रकार की विशिष्टताओ का इतिहास को पता नही है। वासभखत्तिया की जीवन-सम्बन्धी घटना—उसका महानाम की दासी पुत्री होना और प्रसेनजित के विवाह, कार्नेलिया सम्बन्धी एक घटना—उसका चन्द्रगुप्त से विवाह, और कल्याणी सम्बन्धी एक घटना—उसका चन्द्रगुप्त से प्रेम—ये तीन ऐतिहासिक प्रसग हैं, पर इतिहास में उनका उल्लेख या तो भिन्न नामो से हुआ है अथवा नाम रहित। उनके चरित्र किस प्रकार के थे, इसका इतिहास को उतना ही ज्ञान है जितना भीमवर्मा, शर्वनाग एव पृथ्वीसेन के चरित्रो का इतिहास में उल्लेख भर पाये गए ऐसे नामों से प्रसाद ने अत्यन्त सभाव्य और सर्वांग सुन्दर ऐतिहासिक पात्रो की सृष्टि की है। कार्नेलिया तो चन्द्रगुप्त नाटक पर खूब छाई हुई है। वाजिरा और शक्तिमती का चरित्र इतिहास से कम नही प्रतीत होता और शर्वनाग तो जैसे अपने नाम की शक्ति पर ही स्कदगुप्त की घटनाओ को मोड देने का बल रखने लगा है। अन्य चरित्रो मे भी किसी प्रकार का सम्भाव्यता सम्बन्धी दोष नही प्रतीत होता। सभी घटनाओ के प्रवाह में घुलते-मिलते चले गये हैं और अपने नामो की सार्थकता बनाये हुए हैं।

प्रसाद के अधिकाश काल्पनिक चरित्र अत्यन्त गौरवशाली और महान् हैं। सभी चरित्रो को प्रसाद ने इतना पूर्ण और ऐतिहासिक पात्रो के अनुरूप बनाया है कि कही भी वे ऐतिहासिक घटनाओ के टेढे मेढे रास्तो में पथ-भ्रष्ट नही हुए हैं।

काल्पनिक चरित्र

कही भी उन्होने ऐतिहासिक पात्रो की गति को नही रोका। जहाँ तक सभव था इन चरित्रो ने उनको सहायता ही दी है। अपने त्याग, स्नेह, बलिदान अथवा नीचता और दुष्टता से इन चरित्रों ने दर्शको व पाठको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट अवश्य किया, उनको स्वतन्त्र रूप से प्रभावित भी किया, वे सम्पूर्ण नाटक के प्रारम्भ से अन्त तक चलते भी रहे, किन्तु उनमें से दो पात्रो (शांतिदेव और सुरमा) को छोडकर किसी ने भी ऐतिहासिक घटनाओ को बदलने का अथवा

उनमे अनावश्यक रूप से भाग लेने का प्रयास नही किया। वे केवल इसलिये नाटककार द्वारा निर्मित किये गये कि ऐतिहासिक घटनाओ और पात्रो के बीच के शून्य एव रिक्त स्थान को उनके बिना भरा ही नही जा सकता था, और न उस स्थान को रिक्त ही छोडा जा सकता था।

प्रथम प्रकार के काल्पनिक पात्रो मे से अलका और सिंहरण तो चन्द्रगुप्त नाटक मे एक गौण कथानक के नायक और नायिका ही है। भारतीय सस्कृति और भारतीय आदर्श के पुजारी प्रसाद इस बात को सहन न कर सकते थे कि भारत के उत्थानकाल मे भारत की सीमा मे आंभीक जैसा देश-द्रोही सिकन्दर की सेना का स्वागत करे और उस कुल में कोई भी ऐसा व्यक्ति न हो जो उस देश-द्रोही का उन्मुक्त विरोध कर सके। प्रसाद यह नही मान सकते थे कि भारत मे कोई भी राजकुल पतन की इस सीमा तक जा सकता है। यही कारण है कि सौन्दर्य, स्वतन्त्रता एव देशप्रेम से परिपूर्ण विद्रोहिणी अलका को प्रसाद ने उस कुल मे जन्म दिया। ऐसी विद्रोहिणी के योग्य प्रणयी की आवश्यकता की पूर्ति सिंहरण ने की, जिन्होने मिलकर आर्यावर्त्त की एकता के नाम पर तक्षशिला का राज्य तक चन्द्रगुप्त के आधीन बनाने मे सकोच न किया। सिंहरण के अभाव मे चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक घटनाओ के अनुसार यह सभव न होता कि यह मालव-क्षुद्रको की सम्मिलित सेना का नेतृत्व कर सके, क्योकि मालव क्षुद्रको की सम्मिलित वाहिनी का उल्लेख करते हुए भी इतिहास यह नही बताता कि उस सेना का सेनापति कौन था। मालव गण-मुख्य के पुत्र और मालवो के सधि-विग्राहक सिंहरण ने घटना-चक्र में आकर इतिहास के इन मौन पर चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठा कर दी। क्योकि वीर सिंहरण भी अलका की ही भाति आर्यावर्त्त की एकता का पक्षपाती था।

सुवासिनी, चाणक्य और राक्षस के बीच एक नवीन, पर काल्पनिक कडी है। अत्याचारी नन्द के लिये यदि राक्षस जैसा व्यक्ति स्वामिभक्ति रखता है और उसके प्रत्येक कार्य का समर्थन करता है तो वह भी अत्याचार का भागीदार बन जाता है। केवल स्वामिभक्ति की भावना उसको इस दोष मे नही बचा सकती। क्या स्वामिभक्ति इतनी बडी वस्तु है कि वह विवेक को आखे भी फोड डाले? क्या मात्र इसके लिये राक्षस जैसे कूटनीतिज्ञ एव कला-कुशल विद्वान को अविवेकी या प्रमादी बनाना उचित है? यही कारण है कि प्रसाद ने स्वामिभक्ति के साथ साथ व्यक्तिगत सघर्ष की भी सृष्टि की है। विवेकी राक्षस नन्द से रुष्ट है, पर शकटार की कन्या सुवासिनी और चाणक्य के बीच शिशु-कोमल-सबध को वह समझता है और घटनाक्रम से उसे नन्द की मृत्यु के बाद भी चाणक्य-चन्द्रगुप्त विरोधी ही बना रहना पडता है। यहाँ उसके हृदय का प्रश्न है। उसके अनुराग पर पडी हुई चोटे हैं। तर्क, विवेक और कूटनीति का उसमे कोई भी सबध नही। प्रणय इन सबकी अवहेलना कर सकता है और कोई भी इसका असभाव्य नही ठहरा सकता। दर्शकों को कडी से कडी दृष्टि भी प्रणय के नाम पर उसके बडे से बडे दोष को क्षमा कर सकती है। साथ ही चाणक्य के चरित्र को मनवोचित बनाने के लिये भी सुवासिनी की आवश्यकता पडी है। चाणक्य दैवी प्रतिभा से सम्पन्न असाधारण व्यक्ति हो सकता है, पर इतना सब कुछ होते हुए भी वह मनुष्य

था। सुवासिनी ने चाणक्य के चरित्र को मासलता दे दी है, उसको जीवन्त बना दिया है। अत, वह अधिक सम्भाव्य और ऐतिहासिक के अधिक निकट हो गया है। प्रति हिंसा के अ ध-कार के शिखर पर खडे हुए मेधावी दैत्य के समान वह नही है, वरन् महान् आदर्शों से प्रेरित, अनुपम प्रतिभा से युक्त, ब्राह्मण की गरिमा से परिपूर्ण एक कर्मठ महापुरुष है। इसी भावभूमि पर हम उससे मिल सकते हैं, उससे तादात्म्य स्थापित कर सकते है, अन्यत्र नहो। यही सुवासिनी के चरित्र की अनिवार्यता प्रतीत होती है।

मालविका और जयमाला क्रमशः चन्द्रगुप्त और स्कदगुप्त के लिये अधिक आवश्यक नही कही जा सकती। पर मालविका प्रसाद के कवि की एक क्षणिक पर करुण कल्पना है जो नाटक मे आसू की एक बून्द छोड जाती है। उसके बिना भी नाटक की घटनाओ मे अन्तर न होता, चन्द्रगुप्त का चरित्र भी प्राय· वैसा का वैसा ही रहता, पर शायद आसू की वह बू द न रह पाती जो पात्रो और दर्शको के मन मे एक हल्की सी टीस पैदा करती है। जयमाला का चरित्र देवसेना और बधुवर्मा के चरित्रो को अपनी क्षणिक पर भावुकता पूर्ण हीनता से उत्कर्ष देता है। शातिदेव और सुरमा के चरित्र प्रसाद की कल्पना के विचित्र और अप्रौढ़ नमूने है। 'राज्य श्री' नाटक की ऐतिहासिक घटनाओ के विकास मे ये एक विचित्र प्रकार का योग देते है। काल्पनिक चरित्रो का कार्य ऐतिहासिक चरित्रो और घटनाओ को और अधिक सभाव्य बनाने मे सहायता देना है पर शातिभिक्षु और सुरमा, राज्यश्री सबधी ज्ञात ऐतिहासिक घटनाओ को काल्पनिक बनाने में योग देते हैं। सम्पूर्ण नाटक की घटनाए साझेदारो के खेल सी मालूम पडती है जिसमे ऐतिहासिक पात्र तो निष्क्रय (पैसिव) साझी-दार और ये दोनो पात्र सक्रिय (एक्टिव) साझीदार प्रतीत होते हैं। सभी प्रमुख घटनाओ के होने में इनका हाथ है। पर दुर्भाग्यवश हर्षकालीन विश्रु त इतिहास मे इनका आरोप विश्व-सनीयता और सभाव्यता दोनो से परे है। यही कारण है कि इन दोनो चरित्रो के कारण नाटक के अन्य चरित्र भी प्रभावहीन हो गये है।

साकेतिक काल्पनिक चरित्र से हमारा अभिप्राय ऐसे चरित्रो से है जिनके नाम और चरित्रो की कुछ रेखाए किसी विशेष ऐतिहासिक पौराणिक सकेतो पर आधारित होती है। चरित्र और नाम भी काल्पनिक होते है पर उनके पीछे कोई स्पष्ट अथवा अस्पष्ट सकेत भी मिलता है। उदाहरण के लिये 'स्कदगुप्त' नाटक मे देवसेना, विजया और देवकी के चरित्र हैं। देवसेना के सबध में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि अज और इन्दुमती के सबध मे कही गई रघुवश की एक उक्ति से प्रसाद ने स्कद के साथ देवसेना नाम की योजना की है।[1] वे इस सबध में आगे लिखते हैं—'शिव के 'कुमार' स्वामी कार्तिकेय 'स्कद', 'सेनानी , और 'महासेन' भी कहलाते है। ये किस सेना के सेनानी थे और इनकी महासेना क्या थी, यह जिज्ञासा भी तुरन्त शात हो जाती है कि ये 'देवो के सेनापति थे' और

---

(१) अथोपयन्त्रा सदृशेनयुक्ता स्कदेन साक्षादिव देवसेनाम्
स्वासारभावाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव।
हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

इनकी महासेना 'देवसेना' थी। पर क्या ये देवसेना के वैसे ही पति थे जैसे कोई 'सेनापति' किसी 'सेना' का 'पति' होता है ? नही। देवसेना इनकी प्रेयसी का नाम था, व्यक्तिवाचक नाम।'[१] इस प्रकार मल्लिनाथ, वायुपुराण, देवी भागवत इत्यादि के आधार पर मिश्रजी ने देवसेना और स्कद के पति-पत्नी सबध के लिये एक उचित पृष्ठभूमि खोज निकाली है। किन्तु प्रसाद के नाटक मे देवसेना और स्कदगुप्त के बीच प्रेम होते हुए भी अन्त मे उन दोनो का विवाह नही किया गया है। स्कद चिर-कुमार रहने की प्रतिज्ञा करता है और देवसेना मालव लौट जाती है। इस सबध मे मिश्र ने स्कद के एक अन्य नाम कुमार को लेकर उनके ब्रह्मचारी होने के अन्य प्रमाण सग्रहित किये है। इस प्रकार स्कद के पौराणिक चरित्र की पीठिका पर देवसेना की योजना की गई है, इसमे जरा भी सन्देह नही।

विजया का चरित्र भी साकेतिक है। इस सम्बन्ध में मिश्रजी ने स्वय कुछ सकेत किया है।[२] नाटक मे विजया के चरित्र की कुछ विशेषताए है। उनमे सर्वप्रथम विशेषता यह है कि वह श्रेष्ठिपुत्री है और स्वय चचल स्वभाव की है। प्रथम जब स्कद उसकी ओर आकर्षित होता है तो वह उसकी राज्य के प्रति उदासीनता देखते ही चक्रपालित की प्रशसा करने लगती है। बाद में देवसेना की ईर्ष्या से भटार्क से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। कालान्तर में जब स्कद उससे मुह मोड लेता है तो वह स्वय भटार्क और यहाँ तक कि पुरगुप्त तक से नाता तोड कर स्कद से प्रणय भिक्षा मागने के लिए स्वयप्रार्थिनी बनकर जाती है। स्कद से ठुकराये जाने पर वह जान तो दे देती है पर स्कद की विजय के लिये उसके कोश स्वत. ही खुल जाते हैं। स्कदगुप्त के जूनागढ के शिलालेख[३] की कुछ पक्तिया इस प्रकार हैं:—

'क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष हेतून्।
व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रा-
लक्ष्मीः स्वय य वरयाचकार॥'[४]

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब राजपुत्रो को छोडकर लक्ष्मी ने (स्कद) जिसका स्वय वरण किया। इस शिलालेख का प्रारम्भ ही विष्णु की जय से किया गया है[५] और 'नरपति भुजगाना' तथा 'प्रतिकृति गरुडा (ज्ञा) निर्विषी चावकर्त्ता जैसे प्रयोगो द्वारा विष्णु और स्कद का रूपक-सा बाधा गया है। अब यदि इस पृष्ठिभूमि पर विजया और

---

(१) हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७५-७६

(२) हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(३) इसी को श्री मिश्र भिटारी का लेख लिखते हैं, जो भ्रम है।
—देखिये हिन्दी का सामयिक साहित्य-विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ० ७४

(४) सैलैक्ट इ स्क्रिपशस—सरकार पृ० २६६ न० २५

(५) 'कमल निलयनाया. शाश्वत धाम लक्ष्म्याः
स जयति विजितार्रिविष्णुरत्यन्त-विष्णु'—वही

व्यवहार, उत्सव, सामाजिक जीवन, धार्मिक-विश्वास इत्यादि से लेकर शासन-प्रबन्ध, न्याय, सेना तथा युद्ध सम्बधी सास्कृतिक इतिहास के सूक्ष्म चित्रण की ओर भी प्रसाद की प्रवृत्ति रही है। प्राचीन सस्कृति के ढाचे मे ही उन्होने अपने कथानको को बिठाया है, इसीलिये ये कथानक पूर्णतया उसमें घुले मिले मालूम पडते है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कदगुप्त ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री की सफलता इस पर नही है कि अजात, चद्रगुप्त, स्कदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री के कथानक भर ऐतिहासिक है वरन् इस पर है कि इन कथानको के माध्यम से इतिहास के ये सब युग चल चित्रो की तरह अपनी विभिन्नता के साथ हमारे सामने मूर्त होते चले जाते है। मूर्त होने की इस क्रिया के मूल मे असख्य छोटी-छोटी बातें हैं, जो 'चद्रगुप्त' के 'सरस्वाती मन्दिर के समाज' के उल्लेख से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' की गूगी खड्गधारिणी, बौने-कुबडे-हिजडे तक सभी मे सन्निहित है। ये देश-काल गत विशिष्टताएं भौगोलिक भिन्नताओ से पूर्णतया सबधित है। प्रसाद ने सर्वत्र भौगोलिक विवरणो का सचाई का ध्यान रखा है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य

'विशाख' की भूमिका के प्रसाद लिखते है 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अ श म मे उन प्रकाड घटनाओ का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और जिन पर कि वर्तमान साहित्यकारो की दृष्टि कम पडती है।' इससे ऐसा प्रतीत होता है प्रसाद अपने ऐतिहासिक नाटको में एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलते है। कम से कम 'विशाख' की रचना करते समय तो उनका उद्देश्य 'भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण परन्तु अप्रकाशित अ शो का चित्रण' रहा होगा। परन्तु भारतीय इतिहास का चित्रण केवल इतिहास के उद्देश्य से करना उन्हे अभीष्ट न था। प्रसाद के लिए इतिहास 'ढोल और तूर्य का इतिहास' "ड्रम ए ड ट्रपेट हिस्ट्री" मात्र न होकर 'काटे वादी इतिहासकारो के अनुसार कार्य कारण परम्परा से युक्त काल की अविच्छिन्न धारा का स्वरूप भी था।

उद्देश्य
१ इतिहास का चित्रण।

हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने वाली अतीत की घटनाओ से प्रसाद का अभिप्राय है कि भारत का वर्तमान युग स्वतः प्रसूत नही है। एवं उसकी नवीनताए एकाएक उत्पन्न हुई, वरन् इतिहास और संस्कृति की एक अविच्छिन्न कार्य कारण परम्परा उसकी पृष्ठभूमि के रूप मे अडिग खडी है। साराश यह है कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको का एक उद्देश्य अतीत के महत्वपूर्ण प्रसगो के साथ साथ उसके महान् व्यक्तियो एव भव्य वातावरण के मनोरम चित्र प्रस्तुत करना है और दूसरा उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना है कि उन दूरस्थ प्रतीत होने वाले युगो का वर्तमान के निर्माण में क्या हाथ था।

२ अतीत का वर्तमान पर प्रभाव।

इतिहास के प्रति प्रसाद का एक अपना दृष्टिकोण था। वे हमारे सामने राष्ट्रीय और सास्कृतिक इतिहासकार के रूप में आते हैं। प्रसाद के नाटको कि दो ऐतिहासिक सीमाए अजातशत्रु और हर्षवर्द्धन हे। अजातशत्रु को प्रसाद ने स्वय इतिहासकाल का प्रथम सम्राट[1] स्वीकार किया है, और हर्षवर्द्धन मुसलमानो से पूर्व समस्त उत्तरी भारत का अतिम एकच्छत्र सम्राट था। यदि इन १२०० वर्षों के इतिहास में अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कदगुप्त और हर्ष केवल ये ही स्मरणीय महान् सम्राट हुए है तो प्रसाद ने इनमें से अशोक, पुष्यमित्र और समुद्रगुप्त को छोडकर अन्य सभी सम्राटो पर नाटक लिखे हैं। पुष्यमित्र और उसके पुत्र अग्निमित्र को लेकर 'इरावती' उपन्यास की रचना तो प्रसाद ने प्रारम्भ कर दी थी परन्तु यह कहना कठिन है कि अशोक और समुद्रगुप्त को प्रसाद ने अपने नाटक या उपन्यासो का विषय क्यो नही बनाया। हो सकता है प्रसाद

३. राष्ट्रीय महत्व

---

१. अजातशत्रु —भूमिका

की कल्पना मे ये नाटक भी रहे हो और वे अपनी कल्पना को मूत स्वरूप न दे पाये हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है इन दोनो सम्राटो के सम्बन्ध में तब तक इतना अधिक लिखा जा चुका था कि प्रसाद को उनके सम्बन्ध मे ऐसे 'अप्रकाशित इतिहास का अश' ही न मिल पाये हो जिन पर वतमान साहित्यकारो की दृष्टि कम पडती है। परन्तु दूसरे कारण का विशेष समर्थन नही किया जा सकता है। क्योकि प्रसाद ने अपने सकल्प के विपरीत इतिहास के ख्यात व्यक्तियो, ख्यात घटनाओ एव ख्यात युगो को ही अपने नाटको के लिए चुना है। कुछ भी हो १२०० वर्षों के इतिहास के सबसे सुन्दर और भव्य ऐतिहासिक कालो को भारतीय सस्कृति और उनके ऊचे से ऊचे आदर्शों को नाटको में उतारने का प्रयास राष्ट्रीय महत्व रखता है। अत राष्ट्रीय गौरव का सरस चित्रण इन नाटको का प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीय पतन के युग के सूचक अथवा राष्ट्रीय जागरण को ओर सकेत करे, प्रसाद के नाटको मे हमें दोनो ही परिस्थितिया दिखाई पडती है। प्रसाद का युग भारतीय राजनीति का सधिस्थल था। १९१२[1] 'कल्याणी परिणय'' से लेकर १९३२[2] (ध्रुवस्वामिनी) तक वर्षों के इस दीर्घ काल ने प्रथम महायुद्ध के सहारकारो स्वरूप के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दालन के अहिंसात्मक हलचल को भी देखा। प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रो की विजय ने विदेशी शासन की नीव को जितना ही दृढ कर दिया काग्रेस ने उस शासन के प्रसि उतनी ही असतोप भावना उत्पन्न कर अपनी सामाजिक, सास्कृतिक और राजनीतिक हीनता के प्रति भी लोगो का ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः साहित्य म सुधारवादी आन्दोलन की नीव बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन काल मे ही पड गई थी। उसमे कोरी सुधारवादी उपदेशात्मकता न होकर सरस व्यजना की प्रधानता थी। उस काल के साहित्य में मुस्कराहटो मे छिपे हुए स्फुलिंगो के बीच विदेशी शासन के प्रति जागते हुए विचारो का धुआ भी दीख पडता है। प्रसाद के नाटको मे यही धुआ चिंगारियो के रूप मे प्रकट हो गया है। प्रसाद ने वर्तमान के सघर्षा से भाग कर भारत की प्राचीन सस्कृति की ओर पलायन नही किया, वरन् अपने नाटको द्वारा अतीत के पर्द पर एक स्वतन्त्र और सगठित राष्ट्र की योजना को रगने का प्रयास किया। चन्द्रगुप्त' का सम्पूर्ण कथानक 'एक आर्यावर्त', 'एक देश', 'एक राष्ट्र'' का सदेश गुजाता हुआ प्रतीत होता है। 'अखड भारत का, 'हिमालय से अन्तरीप तक प्रसारित इस महादेश' का नया सपना हिन्दी साहित्य मे पहली बार प्रसाद ने ही देखा और अपनी सारी कृतियो को उन्होने इसी दीप्ति से भर दिया।[3] स्कदगुप्त मे आर्यावत

---

१ प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन।
—किशोरीलाल गुप्त पृ १४९)

२ प्रसाद और उनका साहित्य।
—विनोदशंकर व्यास पृ. ११६)

३. प्रसाद के नाटक —रामरतन भटनागर पृ ३४०

के गौरव के लिए गौ, ब्राह्मण और देवता की रक्षा का जो स्वर प्रसाद ने उठाया वह राष्ट्रीय भावनाओ से लबालब भरा हुआ है। 'उठो स्कद, आसुरी, वृत्तियो का नाश करो, सोने वालो को जगाओ और रोने वालो को हसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समस्त विश्व होगा 'राष्ट्र के उद्धार के लिए स्कदगुप्त, बधुवर्मा और गोविन्दगुप्त जैसे महापुरुषो न जो त्याग किये, उनका इतिहास तो साक्षीमात्र है, प्रसाद के नाटको ने उस महान् त्याग को जीवन दे दिया, वाणी दे दी। राज्यश्री मे जिस 'देव दुर्लभ दृश्य' को देखकर चीनीयात्री को यह विश्वास हो गया था कि अभिताय की जन्मभूमि यही हो सकती है, वह भी राष्ट्रीय गौरव की ओर प्रबल सकेत करता है। अतः इसमे सन्देह नही कि वे राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर भी प्रसाद 'राष्ट्र के महापुरुषो के क्रिया-कलापो का चित्रण किया है भले ही उन्होने स्पष्ट शब्दो मे इस उद्देश्य का उल्लेख नही किया हो।

किसी भी उद्देश्य को लेकर लिखे गए ऐतिहासिक नाटक मे प्राचीन जीवन, प्राचीन सस्कृति और तत्कालीन प्राचीन समाज का चित्रण स्वतः ही आ जाता है। प्रसाद ने जितनी सावधानी से ऐतिहासिक एव सास्कृतिक तत्वो का चित्रण किया है, उसे देखते हुए यह स्वीकार करना पडेगा कि उनका एक उद्देश्य प्राचीन समाज, सस्कृति इत्यादि का वास्तविक चित्रण भी रहा होगा। यह उद्देश्य उनके स्वय के सामने भले ही स्पष्ट न रहा हो, परन्तु प्रच्छन्न रूप से वे सदा ही इसके जागरूक रहे है।

४-प्राचीन संस्कृति की झांकी

प्रसाद के नाटको मे विभिन्न धर्म एव सस्कृतियो का सघर्ष और उसके उपरान्त उनका समिश्रण इतिहास की देन है। गौतम बुद्ध ने जिस धर्म को नीव अजातशत्रु के काल मे डाली थी, उसका शुद्ध रूप 'अजातशत्रु' नाटक मे मिलता है। वहाँ करुणा, दया और क्षमा का जयजयकार है। उसी बौद्ध धर्म का उत्तर गुप्तकाल के प्रारम्भ में ह्रास होने लगा था। महायान का दार्शनिक पक्ष वज्रयान कर्मकाड और तत्र से प्रभावित होकर तत्रयान के विकृत् स्वरूप में परिवर्तित हो गया। 'स्कदगुप्त' नाटक मे बौद्ध धर्म का यही विकृत स्वरूप साकार हो गया है। आगे चलकर हर्ष के युग में इस बौद्ध धर्म के उन्नत और अवनत दोनो स्वरूप 'राज्यश्री' मे स्पष्ट हो गये है। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त उसके घोडो की टापो के विस्मृत होते ही, भारत एक बार थोडा सा सिर उठाकर पुनः चाहे अपने दार्शनिक चिंतन मे डूब गया हो, तथापि भारत और यूनान के इस सघर्ष से भारतीय और यूनानी सस्कृतियाँ एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गई।[1] चन्द्रगुप्त और सिल्यू

१ मौर्य सम्राटो का केवल भारतवर्ष के दूसरे भागो के राजाओ के साथ ही नही, बल्कि विदेशी राष्ट्रो के साथ भी घनिष्ठ राजनीतिक सबध था। स्वय चन्द्रगुप्त के दरबार में सीरिया के राजा सिल्यूकस का राजदूत, मेगास्थनीज रहता था। चन्द्रगुप्त के पुत्र, बिन्दुसार के दरबार में सीरिया के राजा एन्टिओकस सोटर और मिश्र के राजा टालेमी फिलाडेल्फस के राजदूत रहते थे। अशोक का लका के साथ, तथा सीरिया, मिश्र, साइटीनी, मेसीडोनिया और एपिरस नामक पाँच यूनानी राज्यो के साथ सबध था'
—बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० १८६, ८७

कस के बीच जिस वैवाहिक और दौत्य सबध की स्थापना हुई वह दो सस्कृतियो की चिर मैत्री का प्रतीक भी था । प्रसाद ने ठीक इसी बात को नाटकीय वस्तु मे कहने का प्रयास किया है 'कार्नेलिया ग्रीस की होकर भी भारतीयता के रग मे रगी' हुई है । बुद्ध कालीन, मौर्य कालीन और गुप्त कालीन सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के स्वरूपो में कई अन्तर थे, और उन अन्तरो को सूक्ष्म इतिहासकार की दृष्टि ही पकड सकती है । अपने नाटको में प्रसाद ने इतिहास के जिन जिन कालो को लिया है उन उन कालो के वातावरण के सूक्ष्म अन्तर को ध्यान मे रखते हुए उनका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में वे सफल हुए हैं ।

प्रसाद अपने युग की समस्याओ के प्रति भी सचेत थे और कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्होने वस्तुत. अपने नाटको की रचना अप्रत्यक्ष रूप से समकालीन समस्यओ के हलो को प्राचीन इतिहास मे खोजने के उद्देश्य से ही की हो । इस उद्देश्य के स्पष्टीकरण करने के पूर्व प्रसाद के युग की एक झलक दिखा देना अप्रासगिक न होगा ।

५. प्राचीन इतिहास मे अपने युग की समस्याओं का समाधान ।

'बगभग' आन्दोलन के उपरान्त भारतीय राजनीति काग्रेस के हाथो में आ गई और गाधी ने एक नवीन अहिंसात्मक क्राति के द्वार खोल दिए । समस्त राष्ट्र को सगठित करने की आवश्यकता सामने आई, परन्तु मुसलिम लीग की स्थापना तथा हिन्दू मुस्लिम सघर्षो ने नई समस्याए खडी कर दी । समाज सुधार की भावना इससे पहले ही जाग चुकी थी । सभी समझदार व्यक्ति नारी स्वातन्त्र्य, विधवा विवाह और सामाजिक सगठन की कामनाए करने लगे थे । आर्य समाज ने प्राचीन भारतीय आदर्शों को वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण बनाना प्रारम्भ कर दिया था और प्रसाद के काल तक उसका प्रभाव कम नही हुआ था । चारो ओर धार्मिक सहिष्णुता और सास्कृतिक समन्वय के प्रयत्न होने लगे थे । काग्रेस ने इस ओर महत्वपूर्ण प्रयत्न किए थे और गाधी की प्रार्थना सभाओ में सभी धर्मो की प्रार्थनाएँ हुआ करती थी । भारतीय सस्कृति को विश्व सस्कृतियो का केन्द्र प्रतिपादित कर 'थियोसोफिकल समाज' बहुत पहले ही विश्वबधुत्व का प्रसार करने मे प्रयत्नशील था । इन समस्त प्रयत्नो के पीछे दो विचार धाराए एक साथ काम करती प्रतीत होती है,

१ राजनीति के क्षेत्र मे सब प्रकार के भेदभाव भुलाकर अग्रेजी साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने के लिए सगठन, और

२ भारत की प्राचीन सस्कृति के आधार पर नवीन सास्कृतिक निर्माण ।

प्रसाद के नाटको में भारतीय जीवन की यह आकुलता स्पष्ट परिलिक्षित ही नही होती, उसमें नवयुग की नवीन समस्याओ का समाधान भी मिलता है । अजातशत्रु में पारिवारिक कलहो की शाति का प्रयास के साथ साथ अहिंसा और आत्मत्याग के महत्वो को ध्रुवता भी प्रादन की गई है । चन्द्रगुप्त में विदेशी आक्रमणकारिओ और विजेताओ को पराजित करने के लिए छोटे छोटे राज्यो और दलो को स्वतः ही एक दूसरे में अपना अस्तित्व मिलाकर एक हो जाने का आदेश है । इसमे छोटे छोटे स्वार्थों के ऊपर उठकर एक अविच्छिन्न

राजनीतिक सगठन की आवश्यकता की ओर भी प्रसाद ने सकेत किया है। यह कार्य चाणक्य ने किया, चन्द्रगुप्त ने किया और गाधी ने किया। काग्रेस के सभी पिछले प्रयत्न 'अखिल भारतीय काग्रेस' के अधिक से अधिक सदस्य बनाकर एक सर्वभौम राजनीतिक सस्था की स्थापना की ओर ही हुए थे। गाधी ने विदेशी वहिष्कार के समय कहा था कि हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से घृणा हो सकती है, ब्रिटेन या अग्रेजो से नही। उन्हे हम प्रेम से जीतेंगे और इस सघर्ष मे हमारा अस्त्र होगा अहिंसा। यह उक्ति स्वतः ही हमारा ध्यान चाणक्य की उस महान् राजनीतिक विजय की ओर आकृष्ट करती है जिसमे सिकन्दर भारत छोडकर गया अवश्य परन्तु भारत से मैत्री का हाथ बढाकर, सिल्यूकस हार कर यूनान लौटा सही, परन्तु भारत को कार्नेलिया के स्नेह बधन मे बाधकर। गाधी का सपना, गाधी ने अपनी आखो से देख लिया। अग्रेज को भारत छोडकर जाने के लिए विवश होना पडा, पर भारत ने कामनवेल्थ में बधना स्वीकार कर उन अग्रेजो को एक नवीन स्नेह बधन मे बाध लिया जो उत्पीडक के रूप मे २०० वर्षों तक उस पर शासन करते रहे। भारतीय युद्ध करना जानते है द्वेष नही' इन शब्दो मे प्रसाद ने भारत के राजनीतिक भविष्य को देख लिया था।

प्रसाद ने 'विशाख' को सब से पहला ऐतिहासिक नाटक माना है। किन्तु विश्रुत एव प्रामाण्य ऐतिहासिक वस्तु न होने के कारण हमने उसे ऐतिहासिक नाटक नही माना है। 'राज्यश्री' ही इनका प्रथम ऐतिहासिक नाटक है और यह १९१४ में प्रकाशित हुआ था। प्रथम महायुद्ध प्रारभ हो जाने के कारण उस समय काग्रेस ने अग्रेजो के विरूद्ध अपना आन्दोलन स्थागित कर दिया था। अग्रेजो और उनके साथी राष्ट्रो ने यह घोषित किया था कि यह युद्ध जनतत्र, स्वातत्र्य और नागरिक अधिकारो की रक्षा के लिए लडा जा रहा है। गाधी ने इस आशा मे देश को तन मन धन से अग्रेजो की सहायता करने की सलाह दी कि जो युद्ध स्वतत्रता और जनतत्र की रक्षा के लिए लडा जा रहा है उसके अन्त मे भारत को भी अपनी स्वतत्रता प्राप्त होगी। समस्त 'राज्यश्री' मे इसी 'आशावादिता' का स्वर व्याप्त है। ठीक उन्ही दिनो सुअवसर पाकर टर्की ने भी अपनी स्वतत्रता के लिए अग्रेजो के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। काग्रेस ने इसका समर्थन किया और फल स्वरूप मुस्लिम लीग और काग्रेस मे पारस्परिक सहयोग की सभावना हुई और इस आतरिक एकता से भी राजनीतिक वातावरण आशाप्रद हो उठा। 'राज्यश्री' मे समस्त उत्तरापथ मे एकता की प्रतिष्ठा और दक्षिणापथ से उसकी मैत्री मे यही आशावाद मुखरित है। राजनीतिक आशावादिता का स्वाभाविक परिणाम सास्कृतिक पुरुत्थान की चेष्टा थी। 'राज्यश्री' मे हर्ष के गौरव की प्रतिष्ठा और भारत की जयजयकार में यही भावना साकार हुई है और उसका भरतवाक्य 'करुणा कादबिनी बर से' भविष्य के लिए नवीन आशावाद से अनुप्राणित ही तो है।

राज्यश्री मे

दूसरा ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' १९२२ मे प्रकाशित हुआ था। काग्रेस ने १९२० में जिस असहयोग आन्दोलन को प्रारम्भ किया था वह १९२२ मे अपने चरम शिखर तक पहुँच चुका था। १० मार्च १९२२ को गाधी को ६ वर्ष का कारावास का दड मिला और इसके साथ ही उक्त आन्दोलन वापस ले लिया गया। इतने बडे राजनीतिक सघर्ष के युग की घटनाओ का कोई

अजातशत्रु में

भो प्रभाव 'अजातशत्रु' में नही पडा । 'अजातशत्रु' का कथानक बौद्ध इतिहास से ज्यो का त्यो ले लिया गया है और उसमें प्रसाद ने नवीन दृष्टिकोणो का प्रतिपादन करने की चेष्टा भी नही की है। अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि आधुनिक इतिहासकारो ने उस युग में गाधी के नेतृत्व का जो चित्र दिया है वह 'अजातशत्रु' के गौतम के चित्र से मिलता जुलता है । उन्होंने सबल अ ग्रेजी शासन के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए सत्य और अहिंसा का मार्ग अपनाने की सलाह दी । अन्याय और विदेशी सत्ता का विरोध करने क लिए उन्होंने सत्याग्रह का मार्ग अपनाने के लिए कहा । इस पद्धति से महात्मा गाधी स्वाधीनता सग्राम में भारतवासियो के नैतिकस्तर को उठा देना चाहते थे । सत्य और अहिंसा के सैनिको को, पाशविक शक्ति द्वारा, निर्लज्ज रूप से बहुत समय तक दबाए रखना असभव था । . . गाधीजी का व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली था । उनके कार्यक्रम में कायरता, स्वार्थ और लोभ के स्थान पर साहस, त्याग और बलिदान था । उनके प्रभाव में आकर विलास की गोद में पले हुए बहुत से व्यक्तियो ने भी स्वाधीनता सग्राम के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया (सितम्बर १९२० के असहयोग आन्दोलन में) तकली और चरखा, भारतीय राष्ट्रीयता के मूल मत्र और सत्य और अहिंसा उसके प्रमुख अस्त्र बने । यही से भारतवर्ष में गाधी युग का आविर्भाव हुआ ''।[1]

वह गाधी के व्यक्तित्व के प्रसार का युग था और उसका प्रभाव युग धर्म पर क्रमश. बढता चला जा रहा था । 'अजातशत्रु' का नायक चाहे कोई हो, इसमे सदेह नही कि प्रारम्भ से लेकर अ त तक उसकी समस्त घटनाओ को मोडने की कु जी बुद्ध के स्वय के व्यक्तित्व में, अथवा उसकी मूर्तिमान शिक्षा मल्लिका के व्यक्तित्व में पाई जाती है । यहाँ पल पल पर बुद्ध के सिद्धात कसौटी पर उतारे गए है और प्रत्येक द्वद्व के उपरात वे खरे उतरे है । अ त में विरुद्धक के यावराज्याधिकार की पुनः प्रतिष्ठा, समस्त धार्मिक रूढियो एव अ धविश्वासो के विरुद्ध शुद्ध सत्वगुण प्रधान प्राचीन भारतीय विचारो की विजय ही नही, बुद्ध के प्रकाशमान व्यक्तित्व की विजय भी है । गाधी की डडी यात्र और उनका आतकवादियो की पद्धति के विपरीत अहिंसात्मक असहयोग आदोलन उनकी राजनीतिक विजय का ही सूचक नही, आध्यात्मिक विजय का भी सूचक है ।

चंद्रगुप्त और स्कदगुप्त में ।

रचनाकाल को दृष्टि से चद्रगुप्त' 'स्कदगुप्त' से पहले का नाटक है, भले ही उसका प्रकाशन स्कदगुप्त के प्रकाशन के तीन वर्ष बाद १९३१ में हुआ हो । प्रसाद के नाटको के सर्वप्रथम प्रकाशक विनोदशकर व्यास के अनुसार स्कदगुप्त का प्रथम प्रकाशन १९२८ में हुआ था[2] 'चद्रगुप्त' का चतुर्थ अ क 'कल्याणी परिणय' के रूप मे १९१२ मे नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'राज्यश्री' के भी पहले छप चुका था और चद्रगुप्त सबधी शोधपूर्ण निबध चद्रगुप्त नाटक की भूमिका तो १९०९ में ही नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे छप चुका था । इससे यह तो स्पष्ट है कि 'चद्रगुप्त' नाटक की योजना १९०९ के आसपास बन चुकी होगी ।

---

१. भारत का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ० ५७३, ७४ वौल्यूम २

२० प्रसाद और उनका साहित्य (व्यास) पृ० ११९

१९१७ मे द्विजेन्द्रलाल राय का 'चद्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हो गया । प्राचीन भारत को लेकर लिखा हुआ यह सर्वप्रथम सफल एव लोकप्रिय नाटक सिद्ध हुआ । फलत, प्रसाद को पर्याप्त समय तक 'चद्रगुप्त' लिखने का विचार स्थगित कर देना पडा । अन्त साक्ष्य के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'चद्रगुप्त' विचार रूप मे और सभवतः लिखित रूप में भी 'स्कदगुप्त' के पूर्व की रचना है ।

हम पहले लिख चुके है कि १९१४ के आसपास भारतीय राजनीति मे आशावादिता का स्वर था । उस समय भावी स्वतन्त्रता की आशा मे काग्रेस ने विजित और विजेता के अन्तर को भुलाकर अग्रेजो का पृष्ठपोषण प्रारम्भ कर दिया था । गाँधी ने एक ऐसे मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि कर दी थी जो सकुचित राष्ट्रीयता को पीठ पीछे कर जनतन्त्र की रक्षा के नाम पर सारा भारत मित्र राष्ट्रो के साथ मिलकर येन केन प्रकरेण शत्रुराष्ट्र के पराभव के लिए कटिबद्ध हो गया । १९२० के पूर्व काग्रेस मे जो आशावादिता थी वह जटिल सघर्षों के कारण निराशावाद की ओर झुक चली थी । १९१९ मे एक ओर तो 'माटेग्यू चेम्सफोर्ड' सुधार हो रहे थे और दूसरी ओर रौलेट एक्ट के विरोध मे ६ अप्रैल को सत्याग्रह आदोलन की नीव पड रही थी । इसके परिणाम स्वरूप 'जलियावाला बाग' का नृशस हत्याकाड हुआ । २० सितम्बर के कलकत्ता के विशेष अधिवेशन मे काग्रेस ने 'असहयोग आदोलन' की नीति स्वीकार कर ली । फरवरी १९२२ मे चौरीचौरा के हत्याकाड ने उसे असफल बना दिया । इसी बीच मुस्लिम लीग ने काग्रेस से पूर्णतया विच्छिन्न होकर साम्प्रदायिक दगो को जन्म दिया । लाहौर काग्रेस ने २६ जनवरी १९३० को पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की । द्वितीय गोलमेज परिषद् का परिणाम भयकर साम्पदायिक निर्णय हुआ जिसके फलस्वरूप पुन, साम्प्रदायिक दगो ने जोर पकडा और हिन्दू, मुसलमान, सिख और परिगणित जातियो के बीच ही नही स्वय हिन्दुओ के आपस मे भी बडी बडी दीवारें खडी हो गई । १९३२ मे काग्रेस ने पुन, सविनय अवज्ञा आदोलन प्रारम्भ कर दिया यह स्थिति १९३४ तक चलती रही ।[1] इस प्रकार १९१९ से १९३४ तक का काल भरतीय राजनीति के क्षेत्र मे आशा निराशा के द्वन्द्व का काल माना जा सकता है । अगले ही वर्ष १९३५ मे जो विधान भारत को दिया गया उसकी १९३४ तक कोई चर्चा ही नही थी ।

'चद्रगुप्त' और 'स्कदगुप्त' दोनो मे राष्ट्रीय हलचलो का पर्याप्त चित्रण हुआ है । 'चद्रगुप्त' में आपसी भेदभाव को भुलाकर आतरिक सगठन की योजना द्वारा एक विदेशी आक्राता को बाहर निकाल दिया गया और इसके उपरात आभ्यन्तरिक तत्वो पर विजय कर एक राष्ट्र, एक सस्कृति, एक आर्यावर्त की घोषणा की गई । अन्त मे दो विभिन्न सस्कृतियो के सम्मिलन द्वारा एक नवीन आशावादिता के स्वर के साथ इस नाटक की समाप्ति होती है । आतरिक सगठन, शत्रु पर विजय और पूर्ण आशावादिता का वातावरण १९१९ से १९३४ तक कही भी नही दिखाई पडता फलतः इस काल मे चद्रगुप्त की रचना सम्भव नही प्रतीत होती । चद्रगुप्त का रचनाकाल १९३१ के आस पास तो हो ही नही सकता और

(१) भारत का इतिहास 'गाधी युग', डा० ईश्वरी प्रसाद : पृ० ५७२, ५८२

जिस ऐतिहासिक वातावरण की हम ऊपर चर्चा कर चुके है उसके अनुसार तो १९१९ के पूर्व इसकी रचना हो ही जानी चाहिए। चद्रगुप्त एक प्रौढ लेखनी की सृष्टि है जब कि राज्यश्री (१९१४) और अजातशत्रु (१९२२) का रचनातत्र इसकी अपेक्षा पर्याप्त शिथिल है। इसका कारण यही कहा जा सकता हे कि १९०९ मे जिस चद्रगुप्त की नीव डाली गई थी उसमे १९३१ तक पर्याप्त परिवर्तन किए गए स्कदगुप्त की रचना काल १९२८ है और १९२०से लेकर १९२८ तक की राजनीतिक परिस्थितियाँ इस नाटक मे भली भांति प्रतिबिंबित हो गई है आन्तरिक राजनीतिक के क्षेत्र मे बौद्ध ब्राह्मण सघर्ष, हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक दगो की ओर सकेत करता हे। धार्मिक कृत्य ही इन दोनो सघर्षां का मूल कारण हे इतिहास मे ज्ञात होता है कि बौद्धो ने देशद्रोह कर हूणो का स्वागत केवल इसलिए किया कि वे भी आचार रूप में बौद्ध धर्म को मानते थे देशद्रोह करने के लिए ठीक यही बहाना मुस्लिम लीग ने भी ढू ढ निकाला। मुसलमान और अ ग्रेज दोनो एक ही 'खुदा' और एक 'रसूल' को मानते हे, हजरत मूसा भी दोनो को मान्य है। मुस्लिम लीग का कहना था कि मुसमान और अ ग्रेजो मे धार्मिक समानता है, और हिन्दू काफिर और बुतपरस्त हे अत मुसलमानो को हिन्दुओ के विरोध मे अ ग्रेजो का महायता करनी चाहिए। इस प्रकार के देशद्रोही मुस्लिम लीग मे ही नही काग्रेस में भी भरे पडे थे। देश में ऐसे लोगो की कमी नही थी। सामन्तवग, जमीदार और विदेशी उपाधिकारी सभी इस श्रेणी म थे। अनन्तदेवी और भटार्क ने राज्य लोभ और पद लालसा के लिए स्कदगुप्त के प्रति नही राष्ट्र के प्रति विद्रोह किया और इस राष्ट्रद्रोह के लिए हूणो की ओर से पुरुगुप्त को 'महाराज' की उपाधि मिली और अनन्तदेवी को रत्नमू जषा। १९२२ मे चोरीचोरा के साथ देश के सभी प्रमुख नेता जेलो मे ठू स दिए गए और देश में भयकर निराशा फैल गई। इसके दो कारण थे। एक तो मुस्लिम लीग के विरोध ने आन्तरिक सगठन को दुबल कर दिया था। दूसरे, बगाल से जो क्रातिकारी आन्दोलन चला वह देश भर मे फैल गया और उसने काग्रेस की अहिंसात्मक नीति का प्रबल विरोध किया। हूणो के प्रथम आक्रमण रोकने म स्कदगुप्त को जो असफलता मिली उसमे हमे उपयु क्त दोनो कारणो का प्रतिबिंब स्पष्ट मिलता है। भटार्क के देशद्रोह प्रसादकालीन सभी प्रतिगामी शक्तियो का देशद्रोह कहा जा सकता। कुभा के तट पर चक्रपालित भटार्क को बन्दी बनाने का आग्रह करता है पर स्कदगुप्त गाधी की भाँति हृदयपरिवर्तन और क्षमा भावना पर विश्वास रखता है। फलत दोनो स्थलो पर असफलता ही हाथ लगी। चक्रपालित के उग्र राजनीतिक विचार आतकादियो के विद्रोहो के स्वर से मिलते जुलते कहे जा सकते हैं।

सुदूर ऐतिहासिक काल म 'आधुनिक सामाजिक समस्याओ' के समाधान ढूँढने के प्रयत्नो के फलस्वरूप 'ध्रु वस्वामिनी' की सृष्टि हुई है। आज जितने सुधार या समाज शास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते ह, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते हे, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त ने समाज की दीर्घ काल व्यापिनी परम्परा मे प्राय. प्रत्येक विधानो का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन हुए ह ? प्रसाद के इस कथन मे दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हे। प्रथम

ध्रुवस्वामिनी मे

यह कि प्रसाद का ध्यान विवाह मोक्ष सम्बन्धी समकालीन सुधार की ओर था और दूसरे वे उक्त सुधार को वाछनीय मानते हुए, भारतीय सिद्व करना चाहते थे। समृति ग्रथो में दिए गए निर्णय साधारण जनता के लिए यदि अग्राह्य नही तो रूढ़ होने के कारण अचित्य अवश्य हो जाते है। सामाजिक परम्पराएँ जो सुधार चाहती है, वह केवल धार्मिक ग्रन्थो के आधार पर सम्भव नही। उसके लिए प्राचीन काल मे ऐसे सुधारो की प्रस्तावना उनके प्रति शकाए एव अन्त में उनकी विजय का नाटकीय चित्रण आवश्यक है। यही कार्य प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी इतिहास को लेकर किया। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रसाद के व्यक्तिगत वैवाहिक जीवन ने उन्हे विवाह मोक्ष जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर सोचने के लिए बाध्य किया। इसके अतिरिक्त प्रसाद का समकालीन युग भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी युग था। राजनीतिक क्षेत्र में १९०९, १९१९ और १९३५ मे वैधानिक सुधार हुए। सामाजिक सुधारो की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास कॉंग्रेस भी कर रही थी। अछूतोद्धार, अनिवार्य शिक्षा, नारी जागरण और ग्राम सुधार कॉंग्रेस के मुख्य उद्देश्यो में थे। 'चान्द' जैसी पत्रिकाएँ नारी स्वातत्र्य और नारी आन्दोलन की ओर प्रगतिशील कदम उठा रही थी। और सरस्वती के प्रकाशन के साथ साथ महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य और भाषा के परिष्कार में लग चुके थे। इसी समय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने रामगुप्त और ध्रुवदेवी सबधी ऐतिहासिक शोध पर एक लेख लिखा और रायल ऐशियाटिक सोसायटी को पत्रिका में अल्टेकर ने इसी विषय पर एक विद्वता पूर्ण लेख प्रकाशित किया। इतिहास के इस अप्रकाशित अंश पर सिल्वा लेवी और डा० राघवन न भी विभिन्न दृष्टियो से विचार किया। राखालदास बनर्जी ने उक्त कथानक पर ध्रुवा उपन्यास प्रस्तुत किया। ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न का इस उपन्यास की मूल समस्या थी और इतिहास भी केवल पुनर्लग्न का उल्लेख करता है। आर्य समाज के कारण विधवा विवाह पर्याप्त रूप से प्रचलित हो चुका था, विवाह मोक्ष की समस्या अभी तक ज्यो की त्यो बनी हुई थी और उसकी भारतीयता को स्वीकार करने के लिए सभवत कोई भी प्रस्तुत न था। आज भी हिन्दू कोड बिल' के विवाह मोक्ष के प्रस्ताव को भारतीय जनता शका की दृष्टि से देखती है। अतः प्रसाद ने मूल समस्या पुनर्लग्न के महत्व को कम कर अपने नाटक में विवाह मोक्ष के प्रश्न को उठाने का प्रयास किया।[२] ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी कथानक इसके सर्वथा उपयुक्त था। यही कारण है कि ध्रुवस्वामिनी इतिहास की पृष्ठभूमि में एक समस्या नाटक (प्रोबलम प्ले) बन गया।

गाधी ने चारित्रिक सुधार के उद्देश्य से प्रत्येक सुधारक को हृदय परिवर्तन करने का आदेश दिया था। कोई भी व्यक्ति मूलत बुरा नही होता। उसमें चारित्रिक दुर्बलताएँ होती हैं, अत. सुधारक के लिए सबसे महान् मार्ग हृदय प्राप्त करना है। हृदय परिवर्तन करने से पूर्व सुधार के अपने आप में आमूल परिवर्तन कर लेना आवश्यक है। और इसके लिए आत्म बलिदान तक की अपेक्षा की जा सकती है। वस्तुतः इस सिद्वान्त का

---

१. ध्रुव० सूचना पृ० ७ ८

२ ध्रुवस्वामिनी : भूमिका :

गहरा सबध 'अहिंसा' से है, अतः अपने मूल रूप मे इसकी जडे भी बुद्ध धर्म मे दूर तक चली गई हैं। प्रसाद ने अपने नाटको मे कई ऐसे अवान्तर कथानको की योजना की है जो इस नैतिक शिक्षा के लिए ही गढे हुए प्रतीत होते है। मल्लिका द्वारा प्रसेनजित, विरुद्धक, दीर्घकारायण और शक्तिमति का हृदय परिवर्तन इसी उद्देश्य को सामने रखकर हुआ है,

६. नैतिक और चारित्रिक शिक्षा।

अन्यथा मल्लिका सम्बन्धी कथानक को इतना अधिक महत्व देने का कोई अर्थ नही। वासवी, अजात और छलना का हृदय परिवतन कर देती है। 'स्कदगुप्त' में 'शर्वनाग' और 'भटार्क' के हृदय परिवर्तन के उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हे। दड के स्थान पर क्षमा का एक अन्य उदाहरण एक अनावश्यक एव अवान्तर कथा में हुई है। बलि देते हुए ब्राह्मणो और बौद्धो के सघर्ष मे प्रख्यात कीर्ति जब अपनी बलि देने को प्रस्तुत हो जाता है तो ब्राह्मणो का हृदय परिवर्तन हो जाता है। 'राज्यश्री' मे इसी हृदय परिवर्तन के महत्व को चित्रित करने के लिए प्रारम्भ से ही शांतिभिक्षु और सुरमा की योजना हुई और उनको विचित्र विचित्र रूपो में नाना कार्यों के लिए प्रयुक्त किया गया। काषाय ग्रहण की घटना इसका समर्थन करती है। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' साधारणतया इसके अपवाद है परन्तु चाणक्य अन्त तक आते आते 'मौर्य सेनापति' को क्षमा कर उसका हृदय परिवर्तन कर देता हे और बौद्ध भिक्षुको की तरह उसे काषाय ग्रहण करने की आज्ञा दे देता है।

प्रसाद के नाटको को रोमाटिक कहा गया है, परन्तु इसमे रत्ती भर भी सन्देह नही कि प्रसाद ने अपने नाटको में सर्वत्र भारतीय आदर्श और नैतिकता की रक्षा की है। उनके राक्षस चरित्र (देवदत्त, विजया, प्रपचबुद्धि, रामगुप्त, देवगुप्त) सभी अपने आचरण से पतित होने के कारण निकृष्ट अत को प्राप्त होते हैं, और उनके मनुष्य चरित्र सघर्ष करते हुए भी नैतिकता और आदर्श की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील हैं।

अजातशत्रु का कथानक

अजातशत्रु पूर्णतया ऐतिहासिक नाटक है, अतः ऐतिहासिक नाटकों के विभिन्न स्वरूपो मे इसका स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है । अजातशत्रु की सम्पूर्ण कथा एक न होकर मगध, कौशल और कोशाम्बी मे घटित क्रमश: बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, विरुद्धक और उदयन सम्बन्धी तीन कथाओ का समन्वय है । उक्त तीनो कथाओ का सघर्ष स्थल काशी है और उनको एक सूत्र में आबद्ध करने वाले महापुरुष गौतम बुद्ध है । अजातशत्रु की कथा प्रधान होन पर भी, कथानक की गति मे एकान्त तीव्रता का अभाव है । इसका कारण यह है कि उपयुक्त तीनो कथाओ मे तीन विभिन्न नाटको के स्वतन्त्र कथानक होने की क्षमता है । इन तीनो कथानको को जोडने के लिए "काशी युद्ध" पर्याप्त नही है । यद्यपि इतिहास के अनुसार भी ये तीनो कथानक 'काशी-युद्ध" के द्वारा ही एक दूसरे से जुडे हैं, तथापि काशीयुद्ध नाटक के कार्य-व्यापार में इतना प्रबल नही हो पाया है कि तीन स्वतन्त्र कथानको का केन्द्र बिन्दु बन कर नाटक का सन्तुलन बनाये रख सके । ये तीनो कथानक तीन दिशाओ से अलग-अलग पटरियो में चलते हुए कुछ ही काल के लिए काशी-युद्ध मे एकत्र होते प्रतीत होते है, किन्तु उसके ठीक बाद ही नाटक के अत तक पुनः तीन विभिन्न दिशाओ मे मुडकर खो जाते है । पाठक या दर्शक को पहिले बीच बीच मे उन कथानको की स्वतत्र झाकियाँ मिलती है, किंतु दूसरे अक के नवें दृश्य तक आते आते महाराज उदयन सबधी कथानक दृश्य रूप मे समाप्त प्राय हो जाता है और केवल कुछ ही अ श सूच्य रूप मे इसके बाद सामने आता है । तीसरे अ क के छठे दृश्य मे प्रसेनजित और विरुद्धक रगमच से हट जाते है । केवल अजातशत्रु और प्रसेनजित ही अत तक गतिशील और जीवित प्रतीत होते है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनो कथानको को स्वतत्र रूप से ग्रहण किया जाय, और उन सभी घटनाओ पर प्रकाश डाला जाय जिनको प्रसाद ने इन सब का सधि स्थल बनाया है ।

अजातशत्रु सम्बन्धी कथानक के आधार महावश, जातक ग्रथ, जैन-सूत्र, थेरीगाथा, धम्मपद अठकथा, सुमगल विलासिनी, विनय पिटक, मज्झिम निकाय, अगुत्तर निकाय अवदान कल्पलता जैसे प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ हैं । प्रसाद के नाटक के अनुसार उक्त कथानक इस प्रकार है—अजातशत्रु की मा राजमाता छलना की बलवती इच्छा को देखते हुए, बिम्बसार ने अजात को युवराज बना दिया और समस्त शासन भार उस पर छोडकर स्वय वानप्रस्थ आश्रम का आलम्बन किया ।[1] किन्तु वानप्रस्थ आश्रम में भी अजात ने

अजातशत्रु की कथा ।

---

१) अजात० १।३५

उनको स्वतन्त्र नही रखा।[२] भिक्षुको को द्वार से खाली लौट जाते देखकर देवी वासवी ने पिता से दहेज मे पाये हुए काशी राज्य की आय बिम्बसार के हाथ में देने का निश्चय कर[३] कोशल और कौशाम्बी मे यह समाचार भेज दिया।[४] फलस्वरूप कोशलराज प्रसेनजित ने काशी की प्रजा को सूचित कर दिया कि कर अजातशत्रु को न दिया जाय।[५] उधर अजातशत्रु बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त की देखरेख मे मगध पर शासन कर रहा था।[६] यह समाचार पाकर देवदत्त की इच्छा और परिषद् की आज्ञा से उसने बिम्बसार और वासवी को बन्दी बना लिया और कोशल से युद्ध करने का निर्णय कर लिया।[७] इसी उद्देश्य से उसने समुद्रगुप्त को काशी मे मगध का गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजा।[८] पर वह काशी मे मारा गया।[९] इस युद्ध में अजात विजयी हुआ और काशी पर उसका अधिकार हो गया।[१०] अजात ने घायल प्रसेनजित का पीछा किया किन्तु मल्लिका के आग्रह से कौशल की सीमा से ही लौट गया।[११] कौशल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेना ने मगध पर आक्रमण किया।[१२] अजातशत्रु ने कोशल के साहसिक राजकुमार विरुद्धक की मैत्री स्वीकार कर युद्ध किया।[१३] उस युद्ध मे अजात के बन्दी होने के कारण[१४] छलना ने क्रोध मे देवदत्त को मगध से निकलवा दिया।[१५] उधर कौशल के कारागार मे बन्दी पडे अजात से वाजिरा प्रेम करने लगी।[१६] वासवी के प्रयत्न से अजात मुक्त कर दिया गया[१७] और वही वाजिरा से उसका विवाह हो गया।[१८] पुत्र होने तक वह श्रावस्ती में ही रहा।[१९] किन्तु पुत्र होते ही वह बिम्बसार के पास क्षमा याचना के लिये गया।[२०] समस्त परिवार के एकत्र हो जाने के जिस सुखद वातावरण की अनायास ही सृष्टि हुई उसे बिम्बसार सह न सका[२१] सम्भवतः उसकी वही मृत्यु हो गई।

अजातशत्रु सम्बन्धी कथानक का आरम्भ छलना और वासवी के द्वन्द्व से होता है और इस द्वन्द्व के कारण क्रमशः अजातशत्रु और पद्मावती है।[२२] उक्त घटना का इतिहास से कोई सीधा सम्बन्ध नही हो सकता। इसमे सन्देह नही कि बिम्बसार की तीन पत्नियाँ थी। बौद्व साहित्य के अनुसार उसकी केवल दो रानियाँ थी। एक रानी कोशला थी और दूसरी क्षेमा। कोसला का मूल नाम वासवी था और वह कोसल नरेश प्रसेनजित की बहिन थी।[२३]

---

(२) वही १।३६
(३) वही १।३६–३७
(४) वही १।३६
(५) वही १।३३, २।६७
(६) वही १।५३
(७) वही २।६६–६७
(८) वही
(९) अजात० २।७७
(१०) वही २।८८
(११) वही २।९६–९६
(१२) वही २।१०६
(१३) वही २।१०८
(१४) वही ३।१०८
(१५) वही ३।१११
(१६) अजात० ३।११३–११५
(१७) वही ३।११७
(१८) वही ३।१२८
(१९) वही ३।१४०
(२०) वही ३।१४३
(२१) वही ३।१४५
(२२) वही अंक १ दृश्य १
(२३) लाइफ आफ दि बुद्धा (रौक दिल) पृ० ६३-६४

क्षेमा (खेमा) मद्ध(मद्र ?) देश के राजा की कान्या थी।[९] बौद्ध साहित्य मे अजातशत्रु को कोशला का ही पुत्र कहा गया है[१०] किन्तु प्रसाद ने जैन इतिहास के आधार पर लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री चेल्लना (छलना) को अजातशत्रु की माता स्वीकार किया है।[११] नाटक की भूमिका मे प्रसाद लिखते हैं—"अजातशत्रु की माता छलना, वैशाली के राजवश की थी। वैशाली की वृज जाति (लिच्छवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी। छलना का झुकाव अपने कुल धर्म की ओर अधिक था '' देवदत्त .... ' ' ' चाहता था कि गौतम से वह सघ मे अहिसा की ऐसी व्याख्या प्रचारित कराये जो कि जैन धर्म से मिलती हो। ' '' देवदत्त को धर्म के बहाने छलना की सहानुभूति मिली और बडी रानी तथा बिम्बसार के साथ, जो बुद्ध के भक्त थे शत्रुता की ओर जाने लगी। इसी गृहकलह को देखकर बिम्बसार ने स्वय सिहासन त्याग किया" ।[१२] इसमे सन्देह नही कि माता की ओर से वैदेही पुत्र अजातशत्रु मे लिच्छवि रक्त तथा बुद्ध विरोधी भावना थी।[१]

यदि युक्त आधार पर नाटक के प्रारम्भ के दृश्य पर विचार करे तो छलना और वासवी का सघर्ष स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः वह कौटुम्बिक कलह की घटना न होकर दो जातियो एव दो धर्मों के बीच का सघर्ष हे। किन्तु यहाँ प्रसाद ने एक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है। प्रथम दृश्य मे ही छलना का पद्मावती के प्रति विरोध इन शब्दो मे प्रकट होता है—"पद्मा ! क्या तू इसकी मगल कामना करती है ! इसे अहिसा सिखाती है, जो भिक्षुओ की भद्दी सीख है ? जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा उसे भिखमगों का पाठ नही पढाया जाता। राजा का परमधर्म न्याय है, वह दड के आधार पर है। क्या तुझे नही मालूम कि वह भी हिसामूलक है' ।[२] भूमिका में बिम्बसार के गृह कलह के मूल ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करने पर भी नाटक मे सौतिया डाह को इस गृह कलह का मूल कारण माना है। वस्तुतः इस गृह कलह का कारण चेल्लना का जैन धर्म के प्रति विरोध झुकाव ही था। लिच्छवि रक्त की बबरता नही।[३] जैन होने के कारण चेल्लना मे अहिंसा के प्रति और अधिक गहरी आस्था होनी चाहिए थी, पर उपर्युक्त उपकरण मे प्रसाद ने उससे बुद्ध की अहिंसा का विरोध करवाया है। प्रसाद या तो भूमिका में दी हुई

---

(९) थेरीगाथा अट्ठकथा १३६—१४३ (१०) थुस जातक ४।३३८

(११) ।अ। जैन समाज—जैकोबी (निरयावली सूत्र) ऐस बी ई, वौ० २२पृ० १३ इन्ट्रोडक्शन तथा पृ १।ब। कथाकोष, ।स। मौर्य साम्राज्य का इतिहास पृ ७२, ।द। जर्नल आफ दि बिहार एँड ओरीसा रिचर्स सोसाइटी। वौ० ५ पृ० ५५० व वौ० ६ पृ० १७३।

(१२) अजात० (भूमिका) पृ०१८–१९

(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका। वर्प ५५। २००७" वैदेही पुत्र अजातशत्रु और उसकी कूटनीति"।——रत्नशकर प्रसाद का लेख।

(२) अजात० १।२५

(३) वही २।८८

अपनी निज की मान्यता को कथा के प्रवाह में विस्मृत कर गये हैं, अथवा अकारण ही उन्होंने यह इतिहास विरोधी एव परिवर्तन कर दिया है। ऐसा क्यो किया यह नही कहा जा सकता। वैसे लुब्धक सम्बन्धी समस्त घटना काल्पनिक है और इसकी सृष्टि उक्त गृह-कलह की पूर्व पीठिका के स्वरूप मे निर्मित हुई है। जहाँ तक गृह-कलह का प्रश्न है वह भी प्रमाणिक इतिहास न होकर ऐतिहासिक अनुमान अथवा सभाव्यता ही है।

नाटक की दूसरी घटना है युवराज बनाकर बिम्बसार का वानप्रस्थ ग्रहण करना। प्रसाद ने नाटक की भूमिका मे इसका कारण गृह-कलह माना है और नाटक में भी उक्त घटना गृह-कलह का ही परिणाम है। जहाँ तक अजात को राज्य सौंपने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे विरोध नही है। विनय पिटक के अनुसार—"देवदत्त के सिखाने से अजातशत्रु खड्ग लेकर अपने पिता का वध करने ही वाला था कि मन्त्रियो ने उसे पकड लिया। उसने मन्त्रियो के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। मन्त्रियो ने राजा को सलाह दी कि समस्त षडयन्त्रकारियो का वध करा दिया जाय, किन्तु बिम्बसार ने अपने पुत्र को क्षमा कर दिया और उसे राज्य भी दे दिया जिसके लिए वह इतना उतवला हो रहा था"[1]। जैन ग्रथो के अनुसार—"श्रेणिक को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था, किंतु राज्य करने की उतावली में उसने अपने पिता को बदी कर लिया"।[2]

उपयुक्त दोनो उद्धरणो से यह तो स्पष्ट है कि नाटक में बिंबसार द्वारा अजातशत्रु को युवराज बनाकर राज-काज सौपने की घटना इतिहासानुकूल है। किन्तु इस परिस्थिति के उत्पन्न होने के मूल कारणो की खोज मे प्रसाद और बौद्ध इतिहास छोडकर जैन इतिहास के समीप चले गये हैं। बौद्ध इतिहास में इस घटना से पूर्व देवदत्त की दुरभिसन्धि एव अजात द्वारा पितृबध के कारण का जो उल्लेख हुआ है, उसकी नाटक में कही चर्चा नही है। नाटक मे बिम्बसार द्वारा अजात का यौवराज्याभिषेक जैन इतिहास के अनुकूल है। अन्तर केवल इतना है कि जैन इतिहास मे न तो गृह-कलह की चर्चा हुई है और न बिम्बसार के वानप्रस्थाश्रम की। उसके अनुसार तो बिम्बसार सीधा बदी ही बना लिया गया था। किन्तु बिम्बसार का बन्दी बनाया जाना बौद्ध और जैन दोनो इतिहासो से सम्मत है।) प्रसाद ने अपने नाटक में बिम्बसार के बन्दी बनाए जाने का दो स्थलो पर उल्लेख किया है—प्रथम बार यह वासवी के कथन से ज्ञात होता है[3] और दूसरी बार परिषद के निर्णय से।[4] दोनो स्थलो पर कुचक्र का स्रष्टा देवदत्त ही है।[5] प्रथम स्थल पर जीवक का एक कथन इस कुचक्र को स्पष्ट करता है और दूसरे स्थल पर तो सम्पूर्ण दृश्य की योजना ही इसीलिए हुई है।[6] वस्तुत. एक ही ऐतिहासिक घटना को खीचकर दो स्थलो में

(१) विनय २।१९०
(२) आवश्यक-सूत्र ६८२-८३
(३) अजात १।३९
(४) वही २।६७
(५) वही २। पहला दृश्य
(६) धम्मपद अट्ठकथा १।२३३

बाट देने से नाटकीय त्वरा मे व्याघात उत्पन्न होता है। धम्मपद से ज्ञात होता है कि बिम्बसार द्वारा राजसिंहासन से परित्याग कर देने पर भी देवदत्त ने अजातशत्रु को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वह अपने पिता का बध कर दे। अजातशत्रु ने बिम्बसार के वध के लिए कई प्रयत्न किये। किन्तु बिम्बसार के "सातीसन्न" होने से उस पर शस्त्रो का कोई प्रभाव नही हुआ। इस पर यह निर्णय किया यथा बिम्बसार को "तापन्न-गेह" में बन्दी बनाकर उसे निराहार रखा जाय, और वहाँ अजातशत्रु की माता के अतिरिक्त किसी को जाने की आज्ञा न हो।[1] बौद्ध इतिहास की इस घटना की चर्चा ही नाटक में नही हुई है वरन् बन्दी बनाने का उल्लेख मात्र हुआ है। जैनो के "आवश्यक सूत्रो" के अनुसार कुणिक ने अधीर और सदिग्ध होकर पिता को कारागृह मे डाल दिया। वहाँ उसकी माता चेल्लना अपने पति बिम्बसार की देखभाल भक्तिपूर्वक करती थी।[2] इस प्रकार जैन कथाओ में अजातशत्रु पितृहन्ता के रूप में नही है। यहाँ भी प्रसाद ने जैन कथाओ का ही आश्रय लिया है। अन्तर केवल इतना है कि जैन-कथाओ में चेल्लना बिम्बसार की सेवा करती है और 'अजातशत्रु"] मे बासवी। यह भी बौद्ध कथाओ के पूर्णतया अनुकूल नही है। बौद्ध-कथाओ मे वासवी अजातशत्रु की मा है पर यहाँ उसकी विमाता।

दो स्थलो पर बन्दी बनाये जाने की चर्चा के बीच काशी राज्य की घटना आती है। "हरित-मान"[3] और "बौद्ध के जातक"[4] से ज्ञात होता है कि(अजातशत्रु और प्रसेनजित के बीच काशी प्रान्त के लिए बिम्बसार और वासवी के जीवन-काल मे कोई सघर्ष नही हुआ था। अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या कर दी है और उसी शोक मे कोशला देवी का भी प्राणान्त हो गया यह जानकर प्रसेनजित ने काशी राज्य मगध को देना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार काशी राज्य की घटना बिम्बसार की मृत्यु (हत्या) के बाद होनी चाहिए थी। प्रसाद ने बिम्बसार की जीवितावस्था में ही इस घटना का उल्लेख कर इतिहास का विरोध किया है। उन्होने काशी राज्य के लिए लडे जाने वाले युद्ध के स्वतन्त्र कारणो की उदभावना की है।)इसका कारण भी स्पष्ट है। प्रसाद ने अजातशत्रु को पितृ हत्या के अपराध से मुक्त कर दिया है। अतः काशी सघर्ष के लिए नवीन कारणो की खोज आवश्यक थी। बिम्बसार और वासवी का बहुत काल तक बन्दी स्थिति में रहना इसका एक अत्यन्त स्वाभाविक कारण है। नाटक मे प्रसेनजित ने इसलिए काशी जनपद वापस ले लिया हो।

अजातशत्रु नाटक के अनुसार वासवी ने काशी के सम्बध मे कोशल और कौशाम्बी को सदेश भेजे। यहाँ तक कि कोशल को सन्देश भेजने का प्रश्न है, उसकी ऐतिहासिक सभाव्यता पर अधिक तर्क की सम्भावना नही, किंतु कौशाम्बी के बीच सम्बध मे थोडा

---

(१) धम्मपद अठ्ठकथा १।२३३

(२) आवश्यक-सूत्र ६८२-८३

(३) जातक २।२३६

(४)

विचार करना आवश्यक है। नाटक से ज्ञात होता है कि मगध और कौशाम्बी के बीच वैवाहिक सम्बन्ध था। अजातशत्रु की भूमिका मे प्रसाद इस बात को स्वीकार करते है कि भास के नाटक "सप्नवासवदत्ता" की पद्मावती, मगध राज दर्शक की बहन थी और दर्शक वस्तुतः अजातशत्रु का ही दूसरा नाम था।[1] इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन चरित्रो के प्रसग मे किया जायगा किन्तु प्रसाद की यह मान्यता इतिहास की महत्वपूर्ण सम्भाव्यता है। अतः कौशाम्बी को सन्देश भेजने की घटना ऐतिहासिक न होते हुए भी उपर्युक्त तर्क के आधार पर सभव अवश्य हो जाती है।

नाटक में अजातशत्रु ने देवदत्त के आदेशो पर चलकर मगध का शासन-सूत्र लिया है।) बौद्ध इतिहास के पास इस घटना का कोई प्रमाण नही। किन्तु विनय पिटक, दीघनिकाय, और सुमगल विलासिनी के अनुसार देवदत्त ने अजातशत्रु से कहा—"तुम अपने पिता की हत्या कर राजा बनो और मैं बुद्ध की हत्या कर रास्ता बनता हूँ।[2] अजातशत्रु ने ऐसा ही ही किया भी इससे अजातशत्रु पर देवदत्त का प्रभाव और इस घटना की ऐतिहासिक सभाव्यता का समथन किया जा सकता हे।

समुद्रदत्त को काशी में गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजने की घटना पूर्णतया काल्पनिक है। किंतु काशी मे श्यामा वेश्या के प्रेमी के स्थान पर समुद्रदत्त के छल से मारे जाने की घटना का आधार कणवेर जातक है। उक्त जातक में श्यामा ने अपने आसक्त एक श्रेष्ठि पुत्र को एक सहस्त्र मुद्रा सहित नगर-कोतवाल के पास भेजकर वहाँ चोर के स्थान पर उसे शूली पर चढवा दिया गया।[3])इस घटना को ऐतिहासिक नही कहा जा सकता और अजातशत्रु सम्बधी इतिहास से तो इसका कोई सम्बध ही नही है प्रसाद ने समुद्रदत्त की सृष्टि कर उसके गुप्त प्रणिधि बनाये जाने की घटना का सृजन किया और जातक की इस घटना को भी इतिहास के साथ जोड दिया। इस प्रकार घटना को आधार भी मिला और ऐतिहासिक सभाव्यता भी।

जातक[4], सयुत्त निकाय[5] और धम्मपद अट्टकथा[6] से ही ज्ञात होता है कि कौशल और मगध के युद्ध मे पहिले अजातशत्रु की विजय हुई और उसने प्रसेनजित को श्रावस्ती तक खदेड दिया। उपर्युक्त विवरण "अजातशत्रु" नाटक के पूर्णतया अनुकूल है। प्रसेनजित वृद्ध था और अजातशत्रु उद्धत युवक।[7] अतः उक्त युद्ध में प्रसेनजित का घायल होना सभव

---

(१) अजातशत्रु (भूमिका) पृ १५

(२) विनय २।१६०, दीघ० १।८६, सुमगल० ५, १।१३३–३६, पेतवत्थु अठ्ठकथा १०५

(३) कणवेर जातक ४।२।३१८

(४) जातक ४/३४२

(५) सयुत्त १/८४-८६

(६) धम्मपद ३/२५१

(७) वड्ढकी जातक ४/२८३

है। अजातशत्रु ने कौशल की सीमा तक प्रसेनजित का पीछा किया यह भी उक्ति बौद्ध इतिहास के अनुकूल है। किंतु अजातशत्रु वहीं से लौट क्यों गया, इसका कोई कारण इतिहास नहीं बतलाता। साधारणतया यह अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रावस्ती को विजय करना सभवतः उतना आसान न हो, अन्यथा अपने मामा के राज्य को अपने राज्य में मिला लेना अजात का मतव्य ही न रहा हो। प्रसाद ने "अजातशत्रु" में इसके कारण की स्वतंत्र कल्पना की है और अजातशत्रु के कोशल की सीमा से ही लौट जाने का सारा श्रेय बन्धुल मल्ल की पत्नी मल्लिका को प्रदान किया है। इतिहास इसका साक्षी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के मौन पर स्वतंत्र उद्भावना करने का प्रसाद को पूरा अधिकार था।

दूसरी बार पुनः युद्ध हुआ। इस युद्ध के सबध में प्रसाद ने दो नवीन योजनाएँ की हैं, जिसका अनुमोदन इतिहास से नहीं होता। नाटक में कौशल और कोशाम्बी की सम्मिलित सेनाओं ने मगध पर आक्रमण किया है। जैसा हम वासवी के सदेश के सबध में कह चुके हैं, यह प्रसाद की ऐतिहासिक मान्यता को देखते हुए सभाव्य घटना कही जा सकती है, ऐतिहासिक नहीं। इस स्थल पर अजात और विरुद्धक की सधि की चर्चा भी हुई है, जिसके सबध में इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। किंतु प्रसाद की उक्त योजना सभाव्य होने के साथ ही साथ अत्यन्त नाटकीय भी है। एक ही काल में दो सबधित राज्यों के दो पितृ-विरोधी राजकुमार यदि किसी समान हेतु के लिए अपने ही माता पिता के विरोध में एक दूसरे से सधि और मैत्री कर ले तो कोई आश्चर्य नहीं। विरुद्धक ने प्रसेनजित का विरोध किया था, यह प्रमाणित है और अजातशत्रु तो पितृ-हन्ता के रूप में प्रख्यात है ही। अतः यदि राज्य लालसा से विरुद्धक ने अपने पिता के विरोध में अजात से मैत्री कर ली हो तो यह पूर्ण ऐतिहासिक घटना न सही अत्यन्त सभाव्य नाटकीय घटना अवश्य मानी जायगी।

इस द्वितीय युद्ध में अजात बदी हुआ और वहीं वाजिरा से उसका विवाह भी हुआ। इस विवाह के परिणाम स्वरूप प्रसेनजित ने पुनः काशी का प्रांत उसे दहेज के रूप में दे दिया।[१] वाजिरा का प्रेम और बन्दीगृह की घटना पूर्णतया कल्पित है। किंतु यह घटना ऐतिहासिक घटना (विवाह) के अन्तिम परिणाम का सभाव्य कारण है। उसके विरोध में नहीं।

देवदत्त का मगध से निष्कासन भी काल्पनिक है। इतिहास के अनुसार बुद्ध को मारने के प्रयत्नों में बार बार असफल होने पर एक बार देवदत्त स्वय ही बुद्ध से मिलने जा रहा था। मार्ग में एक सरोवर में जल पीते ही उसका प्राणान्त हो गया।[२] प्रसाद ने अजात के बन्दी होने के पर्याप्त समय बाद इस घटना की सूचना दे दी है। प्रश्न यह उठता है कि अजात के बन्दी होने और देवदत्त की मृत्यु के बीच देवदत्त ने क्या किया? इसका उत्तर यही है कि अजातशत्रु के बन्दी बना लिये जाने के उपरान्त देवदत्त मगध का

---

१ सामञ्जफल सुत्त १।८४–८६, जातक ४।३४२, धम्मपद टीका ३।२५६,

२ बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० ५४

मगध के शासन पर रहा सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया होगा। अतः अपने पुत्र के बन्दी होने का कारण उसी को मान कर उसको मगध से निष्कासन कर दिया होगा। प्रसाद ने यहाँ ऐतिहासिक सभाव्यता का सहारा लिया है, अन्यथा उक्त घटना पूर्णतया काल्पनिक ही मानी जायगी।

पुत्र उत्पन्न होने पर अजातशत्रु को पितृ स्नेह का मूल्य जान पडा और पिता को बन्धन मुक्त करने के लिए वह कारागृह मे गया।) प्रसाद ने अपनी भूमिका मे बुद्ध घोष इस घटना का आधार माना है। (इस घटना का यही रूप दीघनिकाय[1] में भी उपलब्ध है। उसमे ज्ञात होता है कि अजात के पुत्र स्नेह ने ही उसे पितृ-स्नेह का स्मरण कराया। किंतु जब वह पिता के पास पहुँचा तब तक उसका अ तिम समय आ गया था। इसके ठीक विपरीत धम्मपद[2] से ज्ञात होता है कि पिता को पूर्ण कष्ट देने के उपरात भी मृत्यु को प्राप्त होता न देख अजात ने नापित के द्वारा उसकी नसें कटवा दी और इस प्रकार रक्त स्राव से उसकी मृत्यु हुई। जैन इतिहास में पुत्रोत्पत्ति की घटना का इतना महत्व नही है। अजात की अपनी मा चेरलना द्वारा ज्ञात हुआ कि उसके पिता ने उसकी पीडा कम करने के लिए उसकी मवाद भरी अ गुली को चूस लिया था। अपने प्रति पिता का इतना उत्कट प्रेम जानकर उसका मन बिल्कुल परिवर्तित हो गया, "मने अपने पिता के साथ बडा दुखद व्यवहार किया है", यह सोचकर वह तुरत कारागृह मे गया और लोहे की गदा मे उसके बधनो को तोड डाला। किंतु श्रेणिक ने, पुत्र के इस प्रकार आकस्मिक आगमन से भयभीत होकर विष खाकर प्राणात कर डाला।[3]

प्रसाद की कथा यहाँ धम्मपद और आवश्यक सूत्रों के अनुकूल न होकर दीघनिकाय पर आधारित है। किंतु अपने पुत्र के होने तक अजातशत्रु श्रावस्ती मे ही रहा होगा, इस घटना का कोई आधार नही है।) नाटकीय दृष्टि से भी इस योजना की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। मगध का शासन कार्य छोडकर एक वर्ष तक अजात का श्रावस्ती मे ही रहना सभाव्यता के विरुद्ध है। नाटक मे बिम्बसार की मृत्यु की ओर भी स्पष्ट सकेत नही किया गया है। नाटक के अनुसार बिम्बसार के जीवन के अ तिम क्षण जिस हर्ष और उल्लास के वातावरण मे बीते हैं, वे सचमुच ही उसी प्रकार बीते होगे अथवा नही, दीघनिकाय से भी इस पर कोई प्रकाश नही पडता। (अधिकाश ऐतिहासिक उल्लेखो से यही निष्कर्ष निकलता है कि बिम्बसार दुख, क्लेश, भूख और भय के वातावरण मे मरा था। अत. प्रसाद के नाटक की अंतिम घटना ज्ञात इतिहास मे थोडा-सा हट गई है। इससे इतिहास को क्षति तो अवश्य पहुँचती है किंतु इससे सम्पूर्ण नाटक दु:खात होते होते भी सुखात की ओर झुक जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रसाद ने नाटकीय परम्पराओं के सत्य की रक्षा के उद्देश्य मे मूल इतिहास मे काल्पनिक मोड दे दिया है।

---

१ दीर्घनिकाय, सामञ्जफल सुत्त की टीका पृ० १६

२ धम्मपद अट्ठकथा १। १३

३. आवश्यक सूत्र ६८२—८३ आदि

प्रसेनजित विरुद्धक की कथा का आधार धम्मपद कट्ठकथा, सयुत्त निकाय, महा वश, दीघनिकाय, विनयपिटक, जातक ग्रन्थ, तथा दिव्यावदान है । उक्त कथा प्रथम अ क के सातवें दृश्य से प्रारम्भ होती है ।

कोशल के सम्राट प्रसेनजित को यह समाचार मिला कि अजातशत्रु ने बिम्बसार को बन्दी बना लिया है । अत· उसने महादेवी वासवी की इच्छा के अनुसार काशी की प्रजा के नाम आज्ञापत्र लिख दिया कि अजात को काशी का कर न दिया जाय । इसी प्रसग मे अपने पुत्र विरुद्धक की धृष्टता से रुष्ट होकर प्रसेनजित ने उसे राज्याधिकार से वचित कर दिया

प्रसेनजित की कथा ।

और उसकी माता को राजमहिषी के पद से । विरुद्धक की माता शक्तिमती वास्तव में शाक्यो की दासी पुत्री थी और प्रसेनजित से उसका विवाह छल से किया गया था । अपनी माता के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर विरुद्धक ने प्रतिज्ञा की कि यह शाक्यो का सहार कर इस अपमान का प्रतिशोध लेगा । पिता से निराहृत विरुद्धक शैलेन्द्र नाम से डाकू बन बैठा । सयोगवश काशी की गणिका श्यामा उससे प्रेम करने लगी । उधर जब कोशल का सेनापति बधुल सीमाप्रान्त के लिच्छवियो को पराजित कर लौटा तो उसके गौरव से प्रसेनजित को ईर्ष्या हुई और उसने बधुल को काशी का सामन्त बनाकर भेज दिया और शैलेन्द्र डाकू को लिख दिया कि यदि वह बधुल की हत्या कर देगा तो उसके समस्त अपराध क्षमा कर दिये जायेंगे । शैलेन्द्र ने छल से बधुल की हत्या कर दी । वह पकडा गया और काशी के दण्डनायक ने उसे मृत्यु दण्ड दे दिया । अपने प्रेमी शैलेन्द्र को बचाने के लिए श्यामा ने अपने नवागत प्रेमी समुद्रदत्त को एक सहस्त्र मुद्रा देकर दण्डनायक के पास भेज दिया । श्यामा की इच्छा के अनुसार दण्डनायक ने शैलेन्द्र को मुक्त कर दिया और रातो रात समुद्रदत्त को शूली पर चढा दिया । मल्लिका को बधुल की हत्या की सूचना ठीक उस समय मिली जब वह आनन्द और सारिपुत्र को भोजन का निमन्त्रण दे चुकी थी । किन्तु उसने अत्यन्त धैर्य के साथ, मु ह पर किसी प्रकार की भी विकृति न आने देकर उनको भोजन कराया । उसके पति का हत्यारा प्रसेनजित काशी के युद्ध में हार गया , पर उसने बिना किसी भेदभाव के घायल प्रसेनजित की भी रक्षा की । उसके भानजे दीघकारायण ने उसकी इस उदारता का विरोध भी किया । सन्तप्त प्रसेनजित आत्मग्लानि से भर गया और उसने दीर्घकारायण को बधुल के स्थान पर अपना सेनापति बना दिया, पर उपेक्षित रानी शक्तिमती के उभाडने पर दीर्घकारायण ने विरुद्धक से मैत्री स्थापित कर ली । उधर शैलेन्द्र (विरुद्धक) ने श्यामा का गला घोट कर उसका सर्वस्व छीन लिया और उससे गुप्त सेना का सगठन करने लगा । उसने अजात से भी मैत्री कर ली, लेकिन काशी के दूसरे युद्ध में वह घायल हो गया और मल्लिका ने ही सेवा शुश्रूषा से उसे अच्छा किया । विरुद्धक ने मल्लिका की इस सेवा का गलत अर्थ लिया और अपने पूर्व प्रेम का स्मरण कराकर पुनः प्रेमयाचना की । पर मल्लिका ने उसे फटकार दिया । श्यामा की हत्या का अभियोग गौतम पर लगा, किन्तु श्यामा के जीवित हो जाने से गौतम निर्दोष सिद्ध हो गये । काशी के द्वितीय युद्ध में प्रसेनजित विजयी हुआ और उसने अजात को बन्दी कर

लिया । वासवी के कहने पर प्रसेनजित ने अजात को मुक्त कर उससे अपनी कन्या वाजिरा का विवाह कर दिया और काशी का राज्य भी उसे दे दिया । मल्लिका की आज्ञा से दीर्घकारायण ने प्रसेनजित का विरोध छोड़ दिया और अन्त में उसी की इच्छा और गौतम की प्रेरणा से विरुद्धक और शक्तिमती को भी प्रसेनजित ने क्षमा कर दिया ।

प्रसेनजित व विरुद्धक सम्बन्धी इस कथा का आधार ऐतिहासिक है। धम्मपद से ज्ञात होता है कि पसेनदी बुद्ध का समकालीन था,[१] बुद्ध पर उसकी अडिग आस्था थी ।[२] जातको से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने बिम्बसार का वध कर दिया। उसके शोक में कोशलदेवी की मृत्यु हो जाने पर पसेनदी ने काशी ग्राम का स्वत्व वापस ले लिया ।[३] किन्तु अजातशत्रु के कथानक के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम कह चुके हैं कि (नाटक में बिम्बसार-वध सम्बन्धी कथानक कथाओ पर आधारित है । इसके परिणाम स्वरूप बिम्बसार अजातशत्रु से सबद्ध होने के कारण प्रसेनजित सम्बन्धी कथानक में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है । काशी राज्य की घटना ही इन दोनो कथानको को परस्पर जोडती है । अत. परिवर्तन भी उसी घटना में होना अनिवार्य है । इसीलिए बौद्ध इतिहास के विरुद्ध (काशी की घटना बिम्बसार और कौशलादेवी (वासवी) की जीवितावस्था मे हुई है) और वासवी ने सुदत्त द्वारा जो समाचार प्रसेनजित को भेजा था वही काशी–सघर्ष का मूल कारण हो गया है ।

विरुद्धक सबधी कथानक का आधार बौद्ध इतिहास है। धम्मपद[४] और जातको[५] से ज्ञात होता है कि पसेनदी ने सात दिनो तक बुद्ध और उनके एक सहस्र शिष्यो को भिक्षा दी । सातवें दिन उसने बुद्ध से प्रार्थना की कि नित्य अपने पाँच सौ शिष्यो सहित प्रासाद में भोजन करें । बुद्ध स्वय नही आये किन्तु उन्होने अपने स्थान पर आनन्द को भेज दिया । आनन्द नित्य पाँच सौ भिक्षुओ सहित आता था । किन्तु पसेनदी की उपेक्षा के कारण भिक्षुओ ने भिक्षा के लिए आना छोड दिया । अन्त तक अकेला आनन्द ही भिक्षा के समय प्रासाद मे उपस्थित होता रहा । जब यह बात पसेनदी को ज्ञात हुई तो भिक्षुओ का विश्वास पुन प्राप्त करने लिए उसने गौतम सबधी शाक्यो मे विवाह सबध की इच्छा प्रकट की। शाक्य पसेनदी के आधीन थे वे अपने को उससे उच्च-कुल मानते थे । किन्तु पसेनदी के प्रस्ताव को अपने कुल का अपमान समझा। किन्तु पसेनदी के भय से अपने प्रधान सामन्त महानाम की दासी नागमुण्डा से उत्पन्न वासभखत्तिया पसेनदी का विवाह कर दिया । विरुद्धक (विडूडभ) उसी का पुत्र था । एक बार विडूडभ कपिलवस्तु गया । दासी पुत्र को प्रणाम करने के भय से विडूडभ (विरुद्धक) से छोटी वय के सभी कुल पुत्र उन दिनो कपिलवस्तु से बाहर चले गये । विडूडभ जब वहा से लौटने लगा तो उसका सेवक प्रासाद में कुछ भूल जाने के कारण

(१) धम्मपद अट्ठकथा १।३३८
(२) उदान टीका ६।२ , महावश २।१२०
(३) जातक २।२३० , ४०३ , ४।३४२
(४) धम्मपद अट्ठकथा १।३३६
(५) जातक १।१३३; ४।१४४

वापस भीतर गया। वहाँ उसने देखा कि एक शाक्य दासी विडूडभ को दासीपुत्र कहकर गालियाँ दे रही थी और उस आसन को धो रही है, जिस पर विडूडभ बैठा था। विडूडभ इस प्रकार अपमानित होकर लौटा, और उसने शाक्यों से बदला लेने का प्रण किया। जब इस घटना का ज्ञान प्रसेनजित को हुआ तो उसने वासभखत्तिया एव उसने विडूडभ दोनो को राज्य सम्मान से वचित कर साधारण दासो की श्रेणी में रख दिया।

प्रसाद ने इस प्रसग की चर्चा करते हुए भी उक्त घटना में जान बूझकर परिवर्तन कर दिया है। "अजतशत्रु" के प्रथम अक के सातवें दृश्य से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित ने शक्तिमती के दासी-पुत्री होने एव इस कारण विरुद्धक के अपमानित होने के ही कारण स्वरूप नही किन्तु अजातशत्रु और बिम्बसार सबधी प्रसग पर विरुद्धक के तर्क से रुष्ट होकर[1] उन दोनो को अपदस्थ किया। उक्त परिवतन से कथानक में कोई विशेष अन्तर नही पडता। सम्भव हे इससे प्रसाद प्रसेनजित को कुछ उदारचेता प्रकट करना चाहते हो। शाक्यो का सहार करने की प्रतिज्ञा बौद्ध इतिहास के अनुसार कपिलवस्तु मे ही करली गई थी।[2] अतः माता द्वारा उत्तेजित होकर उक्त प्रतिज्ञा करना ऐतिहासिक नही हे—हम घटना क्रम के अनुकूल इसे सभाव्य भले ही मान लें।

मल्लिका के प्रति विरुद्धक-प्रेम की कल्पना प्रसाद की अपनी है। उक्त घटना का साक्षी इतिहास नही है। यहाँ यह बात समझ मे नही आती कि घटना के इस काल्पनिक स्वरूप की आवश्यकता क्यो पडी? वस्तुत. देखा जाय तो नाटक मे मल्लिका से विरुद्धक का प्रेम-व्यापार नही के बराबर है। इस प्रेम-प्रसग का यदि उल्लेख भी नही होता तो भी नाटक की कथावस्तु मे किसी प्रकार की बाधा नही आती। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इससे एक तो मल्लिका के पातिव्रत्य पर प्रकाश पडता हे और दूसरे विरुद्धक की नीच प्रवृत्तियाँ अधिक खुलकर खेल पाती हैं। अन्यथा इस प्रसग की अवतारणा अनावश्यक कही जायगी।

बन्धुल सबधी घटना बौद्ध इतिहास के अनुकूल है। बधुल कुशीनारा का एक मल्ल सामन्त था। वह तक्षशिला मे पसेनदी का सहपाठी रह चुका था। तक्षशिला से लौटने पर जब वह युद्ध कला का प्रदर्शन कर रहा था तो अन्य सामन्तकुमारो ने उनके साथ परीक्षा मे छल किया। इससे क्रुद्ध होकर वह श्रावस्ती चला आया, जहा पसेनदी ने उसे अपना सेनापति नियुक्त किया। बन्धुल की पत्नी का नाम मल्लिका था। मल्लिका को "दोहद" हुआ कि वह वैशाली के कमल-सर का जलपान करे। उक्त कमल-सर का जल केवल वैशाली के राजपुरुषो के अभिषेक के लिए ही काम मे लाया जाता था। बन्धुल ने मल्लिका को रथ पर बैठाया और रक्षको को भगाकर उसे कमल-सर का जलपान कराया। लिच्छवि कुल पुत्रो ने बन्धुल के रथ का पीछा किया। जब उनके ५०० रथ एक रेखा मे हुए तो बन्धुल ने एक ही तीर से सब कुल पुत्रो को बीध दिया। उनको इसका आभास तक न

---

१ अजात० १।५२—५३

२. धम्मपद १।३३९

हुआ , किन्तु वधुल के आग्रह से जब एक ने अपना कमरबन्द खोला , तो उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई । बधुल के न्याय संबधी एक निर्णय पर प्रसन्न होकर पसेनदी ने उसे न्यायाधीश बना दिया ।[1] अन्य न्यायधीशो ने इर्ष्या से राजा के कान भरने प्रारम्भ किये । इससे प्रभावित होकर (पसेनदी ने बधुल एव उसके पुत्रो को सीमा प्रान्त के विद्रोह का दमन करने भेज दिया । लौटते समय मार्ग मे ही पसेनदी की आज्ञा से उनकी हत्या कर दी गई ।) इस दुखद घटना का समाचार मल्लिका को उस समय मिला जब वह सारिपुत्र और आनन्द के साथ ५०० भिक्षुको को भोजन करा रही थी । मल्लिका ने उक्त सूचना को अपने वस्त्रो में छिपा लिया और पूववत् कार्य में सलग्न रही । सारिपुत्र ने इस धैर्य की प्रसशा की । मल्लिका ने अपनी पुत्र-वधुओ को यह समाचार भेजकर कहा कि वे राजा के प्रति कोई दुर्भावना न रखें । गुप्तचरो से यह सूचना पाकर पसेनदी ने उससे क्षमा मागी और उसको कुछ देना चाहा । मल्लिका ने कुशीनारा लोटने की इच्छा प्रकट की । पसेनदी ने बन्धुल के भागिनेय दीर्घकारायण को सेनापति बनाया ।

बोद्ध इतिहास की उपर्युक्त घटना में प्रसाद ने पर्याप्त परिवर्तन किये हैं । मल्लिका के दोहद के प्रसग मे प्रसाद ने "वैशाली के कलम-सर" के स्थान पर "पावा के अमृत-सर" का उल्लेख किया है । यह स्पष्ट ही ऐतिहासिक भ्रान्ति है । नाटक में उसे काशी का सामन्त बनाया गया है, न्यायाधीश नही । मूल कथा के अनुसार न्यायाधीश बनाये जाने के उपरात ही बन्धुल के प्रति पसेनदी के मन मे सन्देह उत्पन्न कराया गया था, किन्तु नाटक में बन्धुल पर सन्देह इसलिए हुआ है कि वह सीमाप्रान्त के विद्रोह को दबाकर कौशल की जनता का प्रिय हो गया था ।) यहाँ घटना-क्रम में भी पर्याप्त उलट फेर हैं । वस्तुतः सीमाप्रान्त के विद्रोह को दबाने की घटना के ठीक बाद ही बन्धुल की हत्या कर दी गई थी । बन्धुल विजयी होकर कोशल लौटा ही नहीं । प्रसाद ने बन्धुल की हत्या विरुद्धक के साथ काशी में लडे गये छल-पूर्ण द्वन्द्व-युद्ध मे करवाई है, यह कल्पना प्रसूत है ।) सारिपुत्र और आनन्द सम्बन्धी प्रसग इतिहास के अनुकूल हे । यहाँ प्रसाद ने पाच सौ शिष्यो का उल्लेख कर, नाटक की सीमा का ध्यान रखा हे । साथ ही दासी द्वारा स्वर्णपात्र के टूट जाने की घटना का सृजन कर नाटकीय सौन्दर्य की रक्षा ही नही वृद्धि भी की है । नाटक मे मल्लिका की पुत्रवधुओ की चर्चा नही हुई है । सारिपुत्र की शिक्षा और बौद्धधर्म के प्रभाव से मल्लिका स्वय ही दुर्भावना और उदासीनता न रखने की प्रतिज्ञा करती है । यह परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय है । (नाटक मे पसेनदी की क्षमा याचना उस समय हुई है जब मल्लिका काशी युद्ध के उपरान्त उसकी रक्षा करती है ।[2] कारायण को भी वही पर सेनापति का पद प्रदान किया गया है । प्रसेनजित की परिचर्या की योजना काल्पनिक है किन्तु उक्त कल्पना से एक तो काशी को केन्द्र मानकर नाटक की समस्त महत्वपूर्ण

(१) सयुत्तनिकाय १।७४ (अट्टकरण सुत)
——फिडर्ड सेइगूज (पाली-टैक्स्ट सोसायटी) १।१०१ न० ३

(१) पपन्च-सूदानी, मज्झिम टीका—२।१५३

घटनाओं को वही एकत्र करने की प्रसाद की योजना पूर्ण होती है और दूसरे मल्लिका के चरित्र का देवत्व और भी निखर आता है। सभवत बन्धुल को काशी का सामन्त बनाकर भेजने में भी प्रसाद का यही भावना काय कर रही हो। बौद्ध इतिहास का बिड्डभ कभी भी साहसिक नही बना। वस्तुत. यहाँ प्रसाद ने घटना वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए "कणवेर जातक"[1] की घटना को स्थान दे दिया है। उक्त जातक की गणिका श्यामा चोर के रूप मे उत्पन्न बोधिसत्व के रूप पर आसक्त हुई थी। यहाँ प्रसाद ने चारित्र वैचित्र्य के लिए विड्डभ के बोधिसत्व के स्थान पर रखकर साहसिक बना दिया है। नाटक मे श्यामा और विरुद्धक का प्रेम इतना आकस्मिक है कि वह अस्वाभाविक सा हो गया है। हम पहिले कह चुके हैं कि बन्धुल की हत्या छलपूवक और राजाज्ञा से सीमाप्रात के पथ पर हुई थी। शैलेन्द्र (विरुद्धक) के छल से काशी मे नही। राजाज्ञा की चर्चा नाटक मे भी हुई है।

धम्मपद[2] और जातको[3] से ज्ञात होना है कि दीर्घकारायण ने बधुल की हत्या का प्रतिशोध लेने की ठानी और जब पसेनदी उलूम्पा ग्राम में बुद्ध के दर्शन के लिए गया तब दीर्घकारायण ने उसके छत्र चबर लेकर विड्डभ को कोशल के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। पसेनदी दशन करके लौटने पर पसेनदी को केवल दो ही वस्तुए बाहर मिली— उसका अश्व और उसकी दासी। पसेनदी अजातशत्रु से सहायता पान के उद्देश्य से राजगृह की ओर गया, किन्तु नगर द्वार पर ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

प्रसाद न इस घटना की चर्चा ही नही की है, किन्तु दीर्घकारायण और विरुद्धक की मैत्री एव "छत्र चबर लेकर विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देने की"[4] दीर्घकारायण का इच्छा का आधार यही प्रमाण है। मल्लिका के प्रभाव के कारण दीर्घकारायण की यह इच्छा कार्य रूप मे परिणति नही हो सकी है। वस्तुतः मल्लिका के इस प्रभाव का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही। ये कल्पना-प्रसूत घटनाए सभवतः एक ओर तो घटना की दुखात परिणति की ओर ले जाने मे अवरोधक हैं और दूसरो ओर मल्लिका को और उसके माध्यम से बुद्ध की करुणा की जयजयकार कराती हैं। इसमें सन्देह नही कि चरित्र वैचित्र्य की इतनी सृष्टि के उपरांत देव-चरित्रो की यह अनायास विजय कथानीक को शिथिल बना देती है, किन्तु इससे प्रसाद के उद्देश्य की पूर्ति अवश्य हो जाती है।

प्रसेनजित सम्बधी अतिम घटना के दो भाग है (१) वाजिरा से अजात का विवाह और (२) प्रसेनजित-द्वारा रानी शक्तिमती एव विरुद्धक को क्षमा प्रदान। दोनो ही घटनाए बौद्ध-ग्रथो से प्रमाणित हैं। दीघनिकाय[5] मज्झिम निकाय[6] और जातको[7] से वाजिरा एव अजात से उसके विवाह की घटना की पुष्टि होती है। दूसरी घटना "अट्टहारित" जातक पर आधारित है। वासभखत्तिया एव विड्डभ को पसेनदी ने एक बार बुद्ध के कहने से क्षमा

(१) जातक ४।२।३१८ (५) धम्मपद १।३५६ (३) जातक ४।१५१
(४) अजात० ३।१२६ (२) दीघ० १।६५
(६) मज्झिम० १।२३१ (७) अयाकूट जातक

कर दिया था और उन्हे पूर्ववत् सम्मान का भागी भी बना दिया था। यहाँ भी मल्लिका के प्रभाव के लिए कोई स्थान नही है। किंतु "अजातशत्रु" नाटक मे मल्लिका के आग्रह से ही प्रसेनजित रानी शक्तिमती एव विरुद्धक को क्षमा प्रदान करता है। बुद्ध का प्रभाव तो केवल विरुद्धक को राज्याधिकार दिलाने मे ही सहायक होता है। मल्लिका का यह कार्य इतिहासानुमोदित नही है।

उदयन सम्बन्धी कथा का मूल-स्रोत कथासरित्सागर, धम्मपद, अट्ठकथा, जातक, चूलवश तथा दिव्यावदान है। नाटक की भूमिका मे प्रसाद ने इनके अतिरिक्त स्वप्नवासवदत्ता प्रतिज्ञा-यौगंधरायण, रत्नावली, हर्षचरित, मेघदूत, विष्णुपुराण तथा अन्य बौद्ध-ग्रथो का भी उल्लेख किया है। भूमिका मे प्रसाद ने उदयन के वशवृक्ष आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध की है, किन्तु नाटक में उदयन की कथा का इतना थोडा अश लिया गया है कि इस शोध का उसमे विशेष उपयोग नही होने पाया है। नाटक में उदयन की कथा का जितना अश आया है वह उपर्युक्त शोध पर आश्रित न होकर बौद्ध साहित्य पर आधारित है।

उदयन की कथा

अजातशत्रु में उदयन की कथा प्रथम अङ्क के पाचवे दृश्य से प्रारम्भ होती है। कौशाम्बी के राजा उदयन की तीन रानियाँ थी—वासवदत्ता, पद्मावती और मागधी। पद्मावती मगध के सम्राट अजातशत्रु की बहिन थी और मागधी एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या थी। गौतम ने रूप गर्विता मागधी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था, तभी से वह गौतम की विरोधिनी बन गई थी। पद्मावती के प्रासाद मे बुद्ध धर्म चर्चा किया करते थे। इस पर मागधी ने उदयन के कान भरने प्रारम्भ कर दिये और पद्मावती के चरित्र पर लाछन लगा दिया। दासी पद्मावती के मदिर से उदयन की वीणा ला रही थी। मागधी ने उसके भीतर साप का बच्चा डलवा दिया। इस प्रकार उदयन को पद्मावती की दुश्चरित्रता का प्रमाण मिल गया और उसने पदमावती के मदिर मे जाना छोड दिया। एक दिन पद्मावती अपने झरोखे से सघसहित करुणानिधान बुद्ध का दर्शन कर रही थी कि उदयन ने उसे देख लिया। फलतः ईर्ष्या और क्रोध से उसका वध करने के लिए उदयन ने तलवार उठाई, पर उसका हाथ ही नही उठा। वासवदत्ता ने मागधी की दासी द्वारा मागधी के कुचक्र को जान लिया। भडाफोड हो जाने के भय से मागधी ने अपने महल मे आग लगा दी। अजातशत्रु को शिक्षा देने के लिए प्रसेनजित और उदयन मे मन्त्रणा हुई और उन्होने मगध पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

वस्तुतः नाटक में प्रासाद की कथा इतनी ही है। किन्तु उदयन की रानी मागधी का कथा का जो विकास किया गया है उससे ज्ञात होता है कि कौशाम्बी के प्रासाद में मागधी जली नही थी। अपने महल मे आग लगाकर वह वहाँ से निकल भागी और "काशी की प्रसिद्ध वार-विलासनी श्यामा" बन गई। श्यामा के रूप मे वह डाकू शैलेन्द्र (विरुद्धक) से प्यार करने लगी। शैलेन्द्र कौशल के सेनापति बन्धुल की हत्या के अपराध में बन्दी बना लिया गया और उसे शूली पर चढाये जाने का दड मिला। श्यामा ने अपने नवागत प्रेमी

मगध के गुप्त प्रणिधि समुद्रदत्त को धोखे में डालकर हजार मोहरो के साथ दडनायक के पास भेज दिया। श्यामा के सकेत से समुद्रदत्त वेश बदल कर गया और दडनायक ने श्यामा के सकेत से शैलेन्द्र को मुक्त कर रातो रात समुद्रदत्त को शूली पर चढ़ा दिया। चाहे धन के लोभ से अथवा अपने प्रति भी छल की आशका से शैलेन्द्र ने श्रावस्ती के एक उपवन में श्यामा का गला घोट दिया और स्वय भाग गया। मुमूर्ष श्यामा को बुद्ध ने प्राणदान दिया। विरुद्धक ने भी उससे क्षमा माँग ली। श्यामा ने विरक्त होकर राजसुख से मुँह मोड लिया। वह आम की बारी लेकर बेचने लगी और आम्रपाली कहलाने लगी। अपना वह आम्रकानन उसने बुद्ध को भेंट कर दिया और अन्त मे वह स्वय बुद्ध की, सघ की शरण मे चली गई। अधिकाश ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर पसाद की इस मान्यता को स्वीकार किया जा सकता है कि उदयन परतप का पुत्र और कौशाम्बी (वत्स) का शासक था। प्रसाद ने अपने नाटक की भूमिका में उदयन के पूर्व इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नाटक की घटनाओ से इसका सम्बन्ध न होने के कारण यहाँ इस पर विचार करना अनावश्यक है। उदयन की दो रानियो के सबध में प्रसाद लिखते हैं—'कथासरित्सागर में उदयन की दो रानियो के नाम ही मिले है, किन्तु बौद्धो के प्राचीन ग्रन्थो मे उनकी तीसरी रानी मागधी का नाम भी आया है। इनमें से वासवदत्ता उसकी बडी रानी थी, जो अवती के चन्द्र महासेन की कन्या थी। मेरा अनुमान है कि पद्मावती अजातशत्रु की बहिन थी।[1]" प्रसाद के इस अनुमान के आधार पर और उसकी सभाव्यता पर चरित्रो के प्रसग में विचार किया जायगा। यहाँ प्रसाद की मान्यता को ही मानकर चलना प्रसगानुकूल है। इतना कह देना अनुचित न होगा कि बौद्धो की सामावती और प्रसाद की पद्मावती कथा-प्रसग में एक ही हैं।

बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि मागन्धीया के पिता मागन्धीय ने अपनी पुत्री का विवाह बुद्ध से करना चाहा। मागन्धीय कुरुप्रदेश का ब्राह्मण था और उसकी परम रूपवती कन्या से पाणिग्रहण करने के लिए कई वैभवशाली व्यक्ति प्रस्तुत थे। एक दिन बुद्ध को ज्ञात हुआ कि मागन्धीय और उसकी पत्नी बौद्ध धम को अगीकार करना चाहते हैं। बुद्ध जब मागन्धीय के गाँव में पहुंचे तो मागन्धीय उन्हे सभी शुभ लक्षणो से युक्त देखकर उनसे अपनी कन्या के रूप गुण की चर्चा की। तथागत मौन रहे। मागन्धीय ने अपनी कन्या को अलकृत कर उसे बुद्ध को समर्पण किया। तथागत मागन्धीय को अपने पूर्व जीवन का वृत्त सुनाते हुए कहा कि मैने पारन्की उन अनिन्द्य सुन्दरी कन्याओ के प्रलोभनो पर विजय पाई थी जिनकी तुलना में मागधीया ३२ दोषो से युक्त एक शव मात्र है, एक ऐसा अपवित्र वर्तन है जिसे बाहर से रग दिया है। अन्त में उससे विवाह तो क्या उसे अपने चरण से भी स्पर्श नही कर सकते।[2]' इस पर मागन्धीय ने मागन्धीया को उसके चाचा के पास भेज कर पत्नी सहित बौद्ध

---

१. अजातशत्रु (भूमिका) पृ० १४-१५

२ धम्मपद अट्ठकथा ३।१९३, सुत्तिकात टीका २।५४२ (पा० टैक्स्ट सौ०) दिव्यावदान (कावैल एन्ड नील) पृ० ५१५

धर्म अंगीकार कर लिया। पीछे मागन्धीया का विवाह उदयन से हो गया और उदयन ने उसे अपनी पटरानी बना लिया। बुद्ध द्वारा अपने रूप का अपमान मागन्धीया न भूल सकी, अतः कौशाम्बी आते ही उसने बुद्ध से बदला लेने का प्रयत्न किया। उसे जब ज्ञात हुआ कि उदयन की अन्य रानी सामावती (प्रसाद के नाटक की पद्मावती) और उसी की सहेलियाँ अपने प्रकोष्ठो के झरोखो से बुद्ध के मार्ग का अवलोकन किया करती है, तो उसने उदयन से कहा कि सामावती उदयन की हत्या का षडयन्त्र रच रही है। कुछ काल तक उदयन ने इस पर विश्वास नही किया किन्तु जब उसे दीवारो पर बने हुए छिद्र और वातायन दिखाये गये तो उसने उन्हे बन्द करवा कर झरोखो को ऊँचे पर बना दिया।

यह षडयन्त्र निष्फल हो जाने पर मागन्धीया ने राजमार्ग में बुद्ध का अपमान करने के लिए एक दास को नियुक्त किया। दुखी होकर आनन्द ने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे कौशाम्बी छोड दें। बुद्ध ने उत्तर दिया—"युद्ध मे गये हुए हाथी के समान मुझे उन सभी भालो को झेलना पडेगा जो मुझे लक्ष्य कर फेंके जावेंगे।" सात दिन बाद यह अपमान स्वतः ही बन्द हो गया। इसी प्रकार के अन्य कई प्रयत्नो के उपरान्त मागन्धीया ने अपने चाचा से एक विष-रहित साप मगवाया, और उसे उदयन की वीणा के अन्दर रखकर छेद को फूलों से बन्द कर दिया। उदयन अपनी तीनो रानियो मे से प्रत्येक के साथ एक एक सप्ताह व्यतीत किया करता था। जब उसकी सामावती के पास जाने की बारी आई तो मागधीया ने कहा कि मैंने एक बहुत बुरा स्वप्न देखा है और मुझे आपके प्राणो की आशका है। अत. यदि आप सामावती के प्रासाद मे न जायें तो अच्छा है। किन्तु उदयन उसकी बात न मान कर सामावती के प्रासाद में गया। मागन्धीया उसके पीछे पीछे गई और जब वह सो गया तब उसने सिरहाने रखी हुई वीणा में से फूलो का गुच्छा निकाल लिया। साँप कुण्डली मार कर उदयन के तकिये पर बैठ गया। मागन्धीया ने चीखकर इस सारे षडयन्त्र का आरोप सामावती पर लगाया। इस बार उदयन अविश्वास न कर सका। उसने सामावती और उसकी सहेलियो को एक पक्ति मे खडाकर अपना वह धनुष उठाया जिसकी प्रत्यचा एक सहस्र व्यक्ति मिलकर भी नही चढा सकते थे। तीर धनुष से छूटा तो किन्तु सामावती बच गई। सामावती को निरपराध मान कर उदयन ने उससे क्षमा माँगी और बुद्ध को नित्य राजप्रासाद में प्रवचन का आमन्त्रण देने का निश्चय कर लिया। तथागत स्वय तो नही आये परन्तु अपने स्थान पर आनन्द को भेज दिया।

मागन्धीया ने एक बार और षडयन्त्र किया। उसने अपने चाचा की सहायता से सामावती के प्रासाद के सभी स्तम्भो को तेल के भीगे कपडो मे आवृत कर उनमें आग लगा दी। सामावती और उसकी सहेलियो ने उस अग्नि मे ध्यान लगाकर अर्हत्व प्राप्त किया। जब उदयन को इस षडयन्त्र का पता लगा तो उसने मागन्धीया के सब बान्धवो को कमर तक धरती पर गाढकर उनके ऊपर रखे हुए पुआल में आग लगा दी और उनके जल जाने पर उस स्थान मे हल चला दिया गया। मागन्धीया के शरीर से माँस चीर कर उसे भूना गया और मागन्धीया को ही खाने दिया गया।[1]

---

१. चूलवश (अनु० गीगर । ५८)

अजातशत्रु के प्रथम अंक के पाचवे और नवे दृश्य की कथा का मूल रूप यही है। बुद्ध के प्रति मागन्धीया के रोप का कारण दोनो स्थानो म वही है। किन्तु उसके उपरान्त की कथा के क्रम को बदल दिया गया है। नाटक मे पहिले मागन्धी बुद्ध और पद्मावती की नैतिकता पर आक्षेप करती है। इसकी पुष्टि के लिए साप का बच्चा प्रमाण बनाया गया है। इस पर विश्वास कर उदयन पद्मावती का वध करने के लिए उसके महल मे जाता है। उसी समय झरोखे वाली घटना से उसे पद्मावती की दुश्चरित्रता पर विश्वास हो जाता है। पर पद्मावती को मारने के लिए उसकी तलवार नही उठ पाती। किन्तु मागधी की दासी भडा फोड कर देती है और मागधी अपने महल में आग लगाकर स्वय वहाँ से निकल भागती है। चूलवश मे पहली घटना झरोखे वाली है और यहाँ मागधी असफल रही है। प्रसाद के अनुसार यह अतिम घटना है और इसके उपरान्त ही उदयन पद्मावती का बध करने को प्रस्तुत हो जाता है। नाटक में दास द्वारा बुद्ध के अपमान करने का उल्लेख नही किया गया है। साप वाली घटना नाटक में पहली है चूलवश में तीसरी। नाटक में मागन्धीया के प्रकोष्ठ मे ही पद्मावती के मदिर से लाई गई वीणा मे साँप निकलता है, पद्मावती के मदिर मे नही। प्रसाद ने दासी के आश्रय से घटना मे अधिक नाटकीय सभाव्यता ला दी है। नाटक मे पद्मावती पर तलवार का प्रहार करने का प्रयास किया गया है। चूलवश में धनुषबाण का। चूलवश में बाण लगता ही नही और नाटक मे उदयन का हाथ ही नही उठता। नाटक से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त घटनाओ से पूर्व ही देवी पद्मावती के मदिर मे सघ निमन्त्रित होता था और बुद्ध वहाँ उपदेश देते थे। चूलवश मे यह घटना पद्मावती के वध के असफल प्रयास के उपरान्त उदयन द्वारा दिये गये वचन के फलस्वरूप ही मानी जा सकती है। यहाँ मूलकथा से क्रम में अन्तर कर प्रसाद ने घटनाओ की सभाव्यता को क्षति ही पहुंचाई है। यदि भगवान बुद्ध पद्मावती के मदिर मे आते ही थे तो न तो पद्मावती के लिए दर्शन करने की आवश्यकता पडती और न इससे उदयन के क्रोध मे आहुति ही पडती। प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति में परोक्ष दर्शन का महत्त्व स्वाभवत ही कम हो जाना चाहिए। अन्त मे प्रसाद ने कथा मे आमूल परिवर्तन कर दिया है। चूलवश के अनुसार मागन्धीया ने सामावती के मदिर मे आग लगा दी थी। प्रसाद ने मागन्धीया को स्वय आत्मघात करने के प्रयास में अपने ही महल में आग लगाते हुए चित्रित किया है। अन्त में वह वहा से निकल भागी है। यहाँ पद्मावती और उदयन का मिलन हो गया है। इस कल्पित मिलन के लिए जिस कल्पित कारण का आश्रय लिया गया है, उसके मूल में एक ऐतिहासिक चरित्र वासवदत्ता और एक काल्पनिक चरित्र मागन्धीया की दासी नवीना है। इतनी जरा-सी बात के लिए भास और श्री हर्ष के नाटको की अत्यन्त रूपवती, गौरवशालिनी और महान् महिषी वासवदत्ता को लाकर प्रसाद ने कुछ भी अच्छा नही किया। उसके साथ न्याय करने का तो प्रश्न ही नही उठता। नाटक में न तो पद्मावती की मृत्यु हुई है और न मागधीया और उसके बान्धवो का वध।

उदयन और पद्मावती की कथा यही समाप्त हो जाती है। दूसरे अ क के नवें दृश्य म यह अवश्य ज्ञात होता है कि उदयन ने अजात के विरुद्ध प्रसेनजित् की सहायता की। जैसा

हम पहले कह चुके हैं यह घटना ऐतिहासिक नही। किन्तु प्रसाद ने पद्मावती को अजात की सौतेली बहिन मानकर घटना को सभाव्य अवश्य बना दिया है। मागन्धीया की कथा को अब नया रूप मिल जाता है। उदयन सबधी पूर्व इतिहास से अब उसका कोई सबध नही। प्रसाद ने उसका नवीन नामकरण श्यामा किया है और उसका सबध कणवेर जातक की "एक हजार मुद्रा लेने वाली, राजा की प्रिया और पॉच सो सुन्दर दासियो वाली वाराणसी श्यामा वैश्या से जोड दिया है। नाटक के दूसरे, चौथे और आठवें दृश्य की श्यामा विरुद्धक सबधी घटनाओ का यही आधार है। कणवेर जातक की घटना और नाटक की उक्त घटना मे कोई अन्तर नही है। केवल तथागत के स्थान पर विरुद्धक को रखकर श्यामा की हत्या करने के प्रयत्न के उपरान्त जातक की शेष कथा को छोड दिया गया है। दूसरे अ क के आठवें ही दृश्य में इस घटना का सबध बुद्ध सबधी एक नूतन घटना से जोड दिया गया है। बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि लोगो के सिखाने से एक बार बुद्ध पर चिचा नामक स्त्री ने यह अभियोग लगाया कि वह गर्भवती है और उसके गर्भ मे स्थित बालक के पिता तथागत हैं। इस अभियोग के गलत प्रमाणित हो जाने के उपरान्त बुद्ध पर एक स्त्री की हत्या का अभियोग भी लगाया गया जो बाद मे जीवित हो गई और बुद्ध इस परीक्षा में सफल हो गये। प्रसाद ने श्यामा की घटना को इससे जोडकर नाटकीय कौतूहल की वृद्धि अवश्य की है किन्तु कल्पना द्वारा नाटकीय जटिलता का सृजन भी हो गया है। श्यामा और मल्लिका के सम्मिलन की घटना पूर्णतया काल्पनिक है। तीसरे अ क के सातवें दृश्य में मागन्धी का पुन' नामकरण हुआ है। इसबार इसका नाम आम्रपाली रखकर उसे बुद्ध और सघ की शरण मे भेज दिया गया है। यहाँ आकर ही बुद्ध की दासी बनने की मागन्धी की साध पूर्ण हुई है। इस प्रकार मागन्धी, श्यामा और आम्रपाली की घटनाओ को जोड दिया गया है। बौद्ध ग्रन्थो में आम्रपाली(अम्बपाली) वैशाली की गणिका है। उसका यह नाम इसलिए पडा कि एक माली ने उसे एक आम्र वृक्ष के नीचे पडा पाया था। वह इतनी सुन्दर थी कि उसके लिए वैशाली के तरुण राजकुमारो में आए दिन सघर्ष होने लगे।[1] इसके परिणामस्वरूप उसे जनपदकल्याणी (गणिका) बना दिया गया। तथागत जब अ तिम बार वैशाली गये तब अम्बपाली ने उनका आगमन जानकर वैशाली के निकट कोलिग्राम में ही उनके दर्शन किये। अम्बपाली गणिका को भगवान ने धार्मिक कथा से सदर्शित, समुत्तेजित किया। तब अम्बपाली ने भगवान को भिक्षुसघ सहित भोजन का निमन्त्रण दिया और भगवान के मौन से स्वीकार किया। लिच्छवियो ने उसे इस भोज का मूल्य सौ हजार कार्षापण देना स्वीकार किया किन्तु अम्बपाली ने उन्हे भगवान का भात लेना अस्वीकार कर दिया। "अम्बपाली गणिका ने उस रात के

---

१ उसकी सुन्दरता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि अम्बपाली के आगमन की चर्चा सुनकर भगवान बुद्ध ने भिक्षुओ से कहा कि वे अपने मान और अपनी इंद्रियो पर नियत्रण रखे अन्यथा अम्बपाली का प्रबल आकर्षण उन्हे विचलित कर देगा। (सुमगल विलासिनी) "थेरीगाथा के दो गीतो में आनद ने उन भिक्षुओ को सचेत किया है जो अम्बपाली को देखते ही अपनी सुध खो बैठे।

बीतने पर अपने आराम मे उत्तम खाद्य भोज्य तैयार कर भगवान को समय सूचित किया।

"भगवान पूर्वाह्ण समय, पहिनकर चीवर, पात्र ले भिक्षु सघ के साथ जहाँ अम्बपाल' का परोसने का स्थान था वहाँ गये। जाकर बिछे आसन पर बैठे। तब अम्बपाली गणिका भगवान के भोजन करा पात्र से हाथ खीच लेने पर नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी अम्बपाली गणिका भगवान से बोली :—

"भन्ते। मैं इस आराम को (जिसमे तथागत ठहरे थे) बुद्ध प्रमुख भिक्षु सघ को देती हू।"

भगवान ने आराम को स्वीकार किया। तब भगवान अम्बपाली को धार्मिक कथा से समुत्तेजित कर आसन से उठकर चले गये।[1]

प्रसाद ने अम्बपाली के गणिका होने एव उसके द्वारा बुद्ध को आराम समर्पित किये जाने को अपनी घटना का आधार बनाया है। किन्तु प्रसाद की आम्रपाली का सबध एक ओर तो मागन्धी से है और दूसरी ओर श्यामा वेश्या से। यह कल्पना है ही किन्तु आम्रपाली का जो चित्रण नाटक मे हुआ है वह सर्वथा बौद्ध ग्रन्थो की आम्रपाली के विपरीत है। प्रसाद की आम्रपाली "आम की बारी लेकर बेचा करती है और लडको के ढेले खाया करती है।" बौद्ध ग्रन्थो की आम्रपाली रूप, गुण, धन-वैभव सभी से सम्पन्न है और कभी भी किसी भी काल मे वह दरिद्रता की इस सीमा तक नही पहुंची है। नाटक मे बुद्ध से उसका मिलन और आम्रकानन का समर्पण ऐसी ही स्थिति मे हुआ जो बौद्ध इतिहास से पूर्णतया भिन्न है। इससे किसी भी नाटकीय सौन्दर्य की सृष्टि नही हुई है। प्रसाद भूमिका मे लिखते हैं—"बौद्धो की श्यामावती वेश्या, आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की श्यामा वेश्या का एक सगठन कुछ विचित्र तो होगा, किंतु चरित्र का विकार और कौतुक बढाना ही इसका उद्देश्य है।" किन्तु यहाँ इन बातो में से एक भी बात नही आने पाई है। प्रसाद ने इनका एकत्र सगठन न कर काल्पनिक मिश्रण किया है और इस मिश्रण के परिणामस्वरूप न केवल ज्ञात इतिहास पर ही आघात पहुचा है वरन् कौतूहल की सृष्टि भी नही हो पाई है।

---

१ दीर्घनिकाय २। ३

—)**(—

(ख) "चन्द्रगुप्त मौर्य" का कथानक

"अजातशत्रु" नाटक की तरह "चन्द्रगुप्त मौर्य" में कई स्वतन्त्र कथानको का एक साथ सम्मिश्रण नही किया गया है । मूल कथानक नाटक के प्रधान पात्र चन्द्रगुप्त एव चाणक्य से सम्बन्ध रखता है । अन्य सभी गौण कथानक प्रधान कथानक के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं । वे प्रधान कथानक के अ ग होकर आते हैं और उसके प्रवाह को गतिशील बनाकर अन्ततः उसी में समाकर एकाकार हो जाते हैं। नाटकीय रचनातन्त्र की दृष्टि से नाटक 'चद्रगुप्त' में भी कथानक सम्बन्धी दोष पर्याप्त मात्रा में हैं । नाटक के चतुर्थ अ क की कथा नाटक की मूल कथा से सम्बद्ध होते हुए भी नाटक से विलग की जा सकती है । वह कथा नाटक मे स्वतन्त्र रूप से पीछे जोडी गई है । प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक लिखने से पूर्व" कल्याणी परिणय "(१९१२) नामक एकाकी की रचना की थी । बाद मे कल्याणी परिणय के कथानक को ही कुछ थोडे से परिवर्तनो के साथ "चन्द्रगुप्त" का चतुर्थ अक बना दिया गया । इससे कथानक का अनावश्यक विस्तार हो गया और नाटक में शिथिलता आ गई ।

चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त के कथानक के लिए प्रसाद ने समस्त बिखरी हुई सामग्री का उपयोग किया है । बौद्ध-ग्रथों में अर्थकथा (अट्ठकथा) और महावश, जैन-ग्रथो में त्रिकाडशेष और हेमचद्र अभिधान, पुराणो में वायु पुराण और विष्णुपुराण तथा ग्रीक इतिहासकारो में डायोडोरेस सिक्यूलस, जिस्टनस, स्ट्राबो एव प्लूटार्क का नामोल्लेख किया गया है । इनके अतिरिक्त कथासरित्सागर, अर्थशास्त्र, कामन्द-कीय नीतिसार, मुद्राराक्षस, ढु ढि, मैक्समूलर, टाड और विसेंटस्मिथ से भी पर्याप्त सामग्री ग्रहण की गई है ।

चंद्रगुप्त का कथानथ

अकिंचन चाणक्य गुरुदक्षिणा चुकाने के निमित्त तक्षशिला गुरुकुल में अर्थशास्त्र का पाठ पढाया करते थे । मगध-सेनापति मौर्य का पुत्र चन्द्रगुप्त और मालव गुणमुख्य का राजकुमार उनके शिष्यो मे थे । एक दिन चाणक्य सिंहरण से गान्धार मे यवनदूतो के आगमन पर विचार कर ही रहे थे कि भावी गान्धारराज आभीक वहाँ आ पहुंचे और उन पर कुचक्र का आरोप लगाया । वह सिंहरण को बन्दी करना ही चाहता था कि सहसा चद्रगुप्त वहाँ आ पहुँचा । आभीक द्वन्द्वयुद्ध में चद्रगुप्त से पराजित हुआ और अलका उसे वहा से हटा ले गई । चाणक्य ने चद्रगुप्त और सिंहरण के सामने समग्र आर्यावर्त की एकता की घोषणा की । सिंहरण के अनुरोध पर अलका ने उसे आश्वासन दिया कि वह भरसक अपने भाई के कुचक्र को सफल न होने देगी और यवन सेना सिन्धु को पार न कर सकेगी ।

तक्षशिला से लौटकर चाणक्य मगध आ पहुँचा । वहाँ उसे ज्ञात हुआ कि नन्द ने शकटार को उसके सातो पुत्रो सहित बन्दीगृह मे डाल दिया । चाणक्य के पिता चणक ने

इस पर नन्द से वहुत बुरा भला कहा। नद ने चिडकर उसका ब्रह्मस्व छीन लिया और उसे निर्वासित कर दिया। शकटार के सभी पुत्र बन्दीगृह मे ही भूख से तडप तडप कर मर गये और उसके शैशव की सहचरी शकटार पुत्री बौद्ध बिहार म चली गई, पर वहाँ भी वह न रह सकी और अभिनय करने लगी। बसतोत्सव के अवसर पर नद ने वक्रनास के भ्रातुष्पुत्र राक्षस का अपने अमात्यवर्ग में नियुक्त कर दिया और उसकी प्रेयसी सुवासिनी को अभिनय-शाला की रानी। अपनी पैतृक सम्पत्ति पुन. प्राप्त करने के लिए निवेदन करने को चाणक्य नद की सभा में गया।

चद्रगुप्त आदि तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक नद की सभा मे राजदर्शन के लिए आये हुए थे। नद ने अमात्य वररुचि से उनकी परीक्षा लेने को कहा। अपने गुरुजनो का अपमान समझकर वररुचि ने अपने ही गुरुकुल के स्नातको की परीक्षा लेना अस्वीकार कर दिया। इसी अवसर पर प्रसगवश चाणक्य ने उत्तरापथ की राजनीतिक स्थिति की चर्चा की और यवनो के आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति का बोध कराकर प्रार्थना की कि आसन्न गान्धार-युद्ध मे मगव पर्वतेश्वर की सहायता करे। किंतु पर्वतेश्वर ने नदपुत्री कल्याणी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। अतः इस प्रस्ताव से नद क्रुद्ध हो उठा। और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह विद्रोही ब्राह्मण चणक का पुत्र है तो उसे शिखा पकडकर बाहर निकाल दिया। चाणक्य ने नन्दकुल के नाश करने तक अपनी शिखा न बाँधने का प्रण किया। इस पर चाणक्य बन्दी कर लिया गया। चाणक्य के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का चन्द्रगुप्त ने विरोध किया तो उसे भी मगध से निर्वासित कर दिया गया।

चन्द्रगुप्त ने एक बार अहेरी चीते से राजकुमारी कल्याणी की रक्षा की था। फलस्वरूप कल्याणी उसे चाहने लगी थी। उसने नन्द से चद्रगुप्त को क्षमा करने की प्रार्थना की। पर क्रोधाध नन्द ने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। बन्दीगृह मे राक्षस ने चाणक्य के सामने प्रस्ताव रखा कि यदि वह मगव का गुप्त प्रणिधि बनकर तक्षशिला जाना स्वीकार करे तो उसे वन्दीगृह से मुक्त किया जा सकत है। चाणक्य ने पर्वतेश्वर के विनाश क लिए तक्षशिला जाना स्वीकार कर दिया। ठीक इसी अवसर पर चद्रगुप्त चाणक्य को छुँडा ले गया।

चाणक्य पर्वतेश्वर की सभा मे गया और उसे मगध पर आक्रमण कर चन्द्रगुप्त को वहाँ का सम्राट बनाने के लिए प्रेरित किया। पर चन्द्रगुप्त को हीन कुलोत्पन्न वृषल मानकर उसने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। चाणक्य अपने ब्राह्मणत्व एक (सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव) के द्वारा उसका सस्कार करना चाहता था, पर पर्वतेश्वर ने ऐसा करना केवल समर्थ ऋषियो का अधिकार बताकर चाणक्य को तिरस्कार कर अपनी सीमा से बाहर निकाल दिया। एक बार फिर चाणक्य मे अभिशाप की शक्ति प्रज्वलित हो उठी।

उधर गान्धार में मालविका उद्भाण्ड के सेतु का चित्र अलका को दिखा ही रही थी कि यवन सेनापति सेल्यूकस वहाँ पहुँच गया और मानचित्र मागने लगा। इतने में सिंहरण वहाँ आ पहुँचा और मानचित्र लेकर मालविका के साथ मालव को ओर चला गया।

अलका को वन्दी कर सिल्यूकस गांधारराज के पास ले आया । गान्धारराज ने आभीक को यवन मैत्री से मुँह मोड लेने के लिए बहुत समझाया। पर वह देशद्रोह में इतना आगे बढ चुका था कि अब लौटना उसके लिए सभव न था। दूसरे पर्वतेश्वर ने अपनी कन्या का विवाह कायर आभीक से करना अस्वीकार कर दिया था । उससे बदला लेने के लिए उसे यवनो की सहायता अपेक्षित थी। इसलिए उसने अपने पिता की आज्ञा नही मानी । अलका ने भाई से विद्रोह कर दिया और आर्यावर्त की रक्षा के लिए गान्धार छोडकर चल दी ।

सिन्धु-तट पर मनीषी दाण्डयायन का आश्रम था। सिकन्दर का आमन्त्रण लेकर एनिसौक्रेटीज उनके पास पहुचा। पर जब दाण्डयायन ने लोभ, सम्मान या दण्ड के भय से भी सिकन्दर के पास जाना अस्वीकार कर दिया तब उनका आशीर्वाद लेने सिकन्दर स्वय वहाँ पहुँच गया। इसी बीच एक ओर से अलका और दूसरी ओर से चाणक्य एव चन्द्रगुप्त उस आश्रम मे आ पहुँचे। सिकन्दर दाण्डयायन से "भारत विजय" का आशीर्वाद चाहता था। पर दाण्डयायन ने "चन्द्रगुप्त भारत का भावी सम्राट है" यह भविष्यवाणी करके उसे इस प्रकार का आशीर्वाद देना अस्वीकार कर दिया। सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस ने गान्धार की ओर जाते हुए थके-मान्दे अचेत चन्द्रगुप्त की व्याघ्र के मुख से रक्षा की थी। उसी ने तेजस्वी राजकुमार चन्द्रगुप्त का परिचय सिकन्दर से कराया। सिकन्दर ने उसे अपने शिविर में आमन्त्रित किया। यहीं चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के प्रेम का सूत्रपात हुआ।

यवन-शिविर मे भारतीयता के रग मे रगी कार्नेलिया के प्रति फिलिप्स ने अपना प्रेम प्रदर्शित किया। कार्नेलिया के विरोध करने पर फिलिप्स बल प्रयोग करना ही चाहता था कि सहसा चन्द्रगुप्त ने प्रवेश कर उसकी गर्दन पकड ली । इस पर फिलिप्स ने सिकन्दर के सामने चद्रगुप्त और सिल्यूकस पर सिकन्दर के प्रति षड्यत्र का अभियोग लगाया। सिकदर ने पहले तो चद्रगुप्त को सैन्य सहायता देकर मगध का सम्राट बनाने का लोभ दिया, पर जब चद्रगुप्त ने लुटेरे यवनो की सहायता से मगध का उद्धार करना अस्वीकार कर दिया तो सिकदर ने उस पर गुप्तचर होने का आरोप लगाकर उसे बन्दी करना चाहा पर चद्रगुप्त वीरता से निकल भागा।

झेलम के तट पर चद्रगुप्त, सिंहरण और अलका वेश बदले हुए पर्वतेश्वर के शिविर मे खेल दिखाने गये और खेल के बीच मे ही चद्रगुप्त ने पर्वतेश्वर को यवनो के वितस्ता पार करने की सूचना दे दी। वहाँ पुरुष वेश मे कल्याणी मगध के गुल्म का नेतृत्व कर पर्वतेश्वर की सहायता के लिए आई हुई थी। युद्ध मे पर्वतेश्वर की सहायता कर उसे नीचा दिखाना उसका अभीष्ट था। युद्ध हुआ और उसमे पर्वतेश्वर की पराजय हुई। बन्दी पर्वतेश्वर के रणकौशल पर मुग्ध होकर सिंकदर ने उसके प्रति मैत्री का हाथ बढाया और पर्वतेश्वर ने चन्द्रगुप्त और सिंहरण के विरोध करने पर भी सधि करली । आभीक ने घायल सिंहरण और अलका को बन्दी कर लिया। कल्याणी ने अपना शिरस्त्राण फेंक दिया और पर्वतेश्वर को लगा कि उसे निकृष्ट पराजय मिली।

बन्दिनी अलका पर पर्वतेश्वर मुग्ध हो गया। अलका ने उससे इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार कर लिया कि सिंहरण को मुक्त कर दिया जाय। पर्वतेश्वर ने सिंहरण को मुक्त कर दिया। मालवों के स्कन्धावार में क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित युद्ध परिषद् ने चन्द्रगुप्त को ही उनकी सम्मिलित सेना का भी सेनापति मान लिया। पर्वतेश्वर मालवयुद्ध में सिकन्दर की सहायता के लिए मालव आ पहुंचा। उसके साथ अलका भी वहाँ आगई थी, अवसर पाकर-वह बन्दिनी के रूप में मालव नौका द्वारा सिंहरण के पास आ गई। सिकन्दर ने सन्देश भेजा कि मालव नेता मुझ से भेंट करे और मेरी जल यात्रा का सुप्रबन्ध करें। सिंहरण ने रणभूमि में भेंट करने का आश्वासन दिया और युद्ध की घोषणा कर दी गई। इस पर सिकन्दर ने स्थल मार्ग से मालवों पर आक्रमण कर दिया। दुर्ग में अलका के तीर से दो यवन मारे गये और स्वयं सिकन्दर सिंहरण की तलवार से घायल होकर गिर पड़ा। पर्वतेश्वर को दी गई क्षमा के बदले सिकन्दर को भी जीवित करके शिविर में भेज दिया गया। यवनों और मालवों में सन्धि हो गई। स्वयं सिकन्दर ने अलका सिंहरण के विवाह का सम्पादन किया। यवन सेना लौट गई और उसके साथ ही चन्द्रगुप्त की स्मृति और भारत के प्रति अटल अनुराग लेकर कार्नेलिया भी चली गई। सब ओर से निराश पर्वतेश्वर ने आत्म-हत्या का प्रयास किया, पर चाणक्य ने उसे रोक कर पुनः कर्म क्षेत्र में प्रेरित किया। मगध जाने के पूर्व फिलिप्स ने चन्द्रगुप्त को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा और उस द्वन्द्व युद्ध में फिलिप्स मारा गया।

चाणक्य पर्वतेश्वर और उसकी सेना लेकर मगध की ओर चल दिया। वणिकों के रूप में सारी सेना कुसुमपुर में इकट्ठी हो गई। चाणक्य ने मालविका के हाथ राक्षस की नामांकित मुद्रा के साथ एक कपट पत्र नन्द के पास भेज दिया। सशंकित नन्द ने सेनापति मौर्य को बन्दी कर लिया और उसकी स्त्री के केश पकड़ने चाहे। मालविका और वररुचि को भी उसने बन्दी कर लिया। सुवासिनी के पत्र को पढ़कर विवाह की वेदी से राक्षस और सुवासिनी को भी पकड़ मंगवाया गया। जनता में विद्रोह फैल गया। इसी बीच कई वर्षों से बन्दी शकटार सुरंग खोदकर बाहर निकला। उसी द्वार से अन्य सभी बन्दी बाहर निकल आए। जनता के साथ मिलकर उन्होंने रंगशाला को घेर लिया। राजपक्ष के लोग मारे गये। नन्द ने क्षमा माँगी किन्तु शकटार की प्रतिहिंसा जाग पड़ी थी। उसने नन्द का बध कर डाला। परिषद् की आयोजना हुई और चन्द्रगुप्त सम्राट घोषित हुआ।

महत्वकांक्षी पर्वतेश्वर ने कल्याणी के साथ बलात्कार करना चाहा पर कल्याणी अपने पिता के विरोधी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती थी। उसने पर्वतेश्वर का बध कर आत्म हत्या कर ली। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त दक्षिण विजय के लिए चल दिया।

शकटार को जीवित पाकर सुवासिनी बिना उसकी अनुमति के राक्षस से विवाह नहीं करना चाहती थी। यह समझकर कि शैशव के संगी चाणक्य के प्रति वह पुनः झुक गई है राक्षस पुनः चाणक्य से टक्कर लेने लगा। चन्द्रगुप्त दक्षिण विजय कर लौटा, पर चाणक्य ने सबकी इच्छा के विपरीत विजयोत्सव न मनाने की आज्ञा दे दी। राक्षस ने इस घटना द्वारा जनता में चाणक्य के प्रति विद्रोह की भावना भर दी। चन्द्रगुप्त चाणक्य से रुष्ट हो गया।

अपमानित चाणक्य वहाँ से चल दिया। उसी रात चद्रगुप्त का परिच्छद पहिन कर सोई हुई मालविका की हत्या हो गई। षडयन्त्रकारी पकडे गये, पर उनका नेता राक्षस भाग गया और ग्रीक शिविर मे कार्नेलिया को पढाने लगा।

चाणक्य को सिन्धु तट पर सिल्यूकस के अभियान के समाचार मिले। यह समाचार लेकर उसने कात्यायन को मगध भेज दिया। विद्रोहिणी अलका सिल्यूकस के अभियान के विरुद्ध पुन. तक्षशिला के नागरिको को सगठित करने लगी। आभीक ने अपना कलक धोने के लिए चाणक्य के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की कि अब तक्षशिला राज्य के शासक सिंहरण और अलका होगे। वह स्वय एक सैनिक बनकर युद्ध करेगा।

सुवासिनी के प्रति प्रेम होते हुए भी चाणक्य ने उसे राक्षस को उचित मार्ग पर लाने के लिए ग्रीक शिवर में भेज दिया। सुवासिनी बन्दिनी होकर ग्रीक शिविर मे गई और वहाँ कार्नेलिया की सखी बनकर चद्रगुप्त के प्रति उसके प्रेम में वृद्धि करने लगी।

युद्ध आरम्भ हो गया। सम्राट् चद्रगुप्त ने अकेले ही प्रचड विक्रम से आक्रमण कर दिया। यवन सेना थर्रा उठी। सिंहरण अपनी सेना सहित सहायता के लिए आ पहुँचा। चाणक्य चुपचाप युद्ध का सचलन करता रहा। आभीक सिल्यूकस से युद्ध करते हुए मारा गया। ग्रीको की पराजय हुई। पराजय का समाचार सुनकर कार्नेलिया आत्महत्या करने ही वाली थी कि सिल्यूकस सहित चद्रगुप्त वहाँ पहुँच गया। उसने सिल्यूकस को मुक्त कर दिया। चाणक्य ने चारो ओर से ग्रीक शिविर के मार्ग बन्द कर दिये। उधर सिल्यूकस को यह सूचना मिलती कि यवन-साम्राज्य के पश्चिमी भाग में आटिगोनस ने आक्रमण कर दिया है। चाणक्य ने अवसर जानकर सन्धि की शर्त रख दी कि निषध पर्वत माला तक का ग्रीक प्रदेश आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा बन जाय और चद्रगुप्त-कार्नेलिया का परिणय हो जाय, हार कर सिल्यूकस को शर्तें स्वीकार करनी पडी। उसे यह ज्ञात हो गया कि कार्नेलिया चद्रगुप्त को प्यार करती है।

सुवासिनी युद्ध की भाग दौड मे राक्षस को ग्रीक शिविर से निकाल कर दाण्डायायन के आश्रम मे ले गई। वहाँ चाणक्य निष्काम भाव से भगवान सविता की आराधना कर रहा था। सहसा चाणक्य से कुपित मौर्य सेनापति ने ध्यानावस्थित चाणक्य का वध करने का प्रयास किया। सुवासिनी ने दौड कर उसका हाथ पकड लिया। इसी समय अलका, सिंहरण और अपनी माँ के साथ चद्रगुप्त भी वहाँ आ गया। चद्रगुप्त ने पिता को दण्ड देने की व्यवस्था की। पर चाणक्य ने उसे क्षमा कर दिया। उसने शकटार के भावी जामाता राक्षस के लिए मगध साम्राज्य का मन्त्रित्व भी छोड दिया। अपने पुत्र को आर्यावर्त का सम्राट उसने मौर्य सेनापति को काषाय ग्रहण करने की आज्ञा दी।

राज सभा में सन्धि हुई। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का हाथ मिलाया गया। यह तय हुआ कि आटिगोनस से युद्ध में भारत की गजसेना सिल्यूकस की सहायता करेगी। चाणक्य ने सबको आशीर्वाद दिया और मौर्य सेनापति का हाथ पकड कर वैराग्य के अन्तिम लक्ष्य की ओर चल दिया।

नाटक की पहली घटना का कोई प्रमाणिक आधार नही है। बौद्ध ग्रन्थो मे

चाणक्य को तक्षशिला का ब्राह्मण कहा गया है । कोई उनको कोकरण का ब्राह्मण मानता है और कोई पाटलिपुत्र का । वासुदेव शरण लिखते हैं कि चाणक्य तक्षशिला का स्नातक था ।[1] सिंहाली महावंश के अनुसार वह अपनी विद्वता के लिए तक्षशिला भर मे प्रसिद्ध था । और अपने यश को फैलाने के उद्देश्य से वह पाटलिपुत्र आया ।[2] अत: चाणक्य का तक्षशिला मे अध्यापक होना सम्भाव्य है । दृश्य की घटना में चन्द्रगुप्त चाणक्य और आभीक ऐतिहासिक पात्र हैं और सिंहरण एव अलका काल्पनिक । अतः सम्पूर्ण घटना ऐतिहासिक नही हो सकती । इतिहास से न तो यही ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से तक्षशिला मे शिक्षा पाई थी और न यही कि आम्भी से कभी उसका सघर्ष हुआ था । इसमे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना केवल इतनी ही है कि सिकन्दर ने जब कारमेनिया को पार किया तब गाधारराज उसके स्वागत के लिये वहाँ उपस्थित थे और उन्होने महाराज पुरु के द्वेष से सिकन्दर से सन्धि कर ली थी ।[3] इसी घटना को लेकर प्रथम दृश्य मे एक काल्पनिक सघर्ष की सृष्टि की गई है । चाणक्य और आम्भीक का वाद विवाद भी काल्पनिक है । सिंहरण जैसे मालव-गणमुख्य के कुमारो का तक्षशिला का विद्यार्थी होना सम्भव है, क्योकि तक्षशिला मे समस्त भारत के दूर दूर स्थित प्रदेशो के राज पुत्रो से लेकर साधारण विद्यार्थी तक शिक्षा प्राप्त के लिये आते थे ।[4] देशद्रोही आम्भीक के प्रति सिंहरण का रोष भी ऐतिहासिक सम्भाव्यता के अनुरोध की रक्षा ही करता है । ग्रीक इतिहासकारो से ज्ञात होता है कि मालवो (मल्लोई) ने सिकन्दर से मैत्री न कर उससे भयानक युद्ध किया । ऐसे ही युद्ध कठ जाति से लेकर पत्तल नगर तक के प्रजातत्र राज्यो ने किये । इन गणो के एक एक व्यक्ति ने अपने प्राणो को आहुति दे दी किन्तु यवनो की पराधीनता स्वीकार नही की ।[5] अतः मालव सिंहरण का कायर आम्भोक के प्रति आक्रोश अत्यन्त ही स्वाभाविक सिद्ध होता है । अलका का आम्भीक को गान्धार-रक्षा का बचन देना तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति के प्रतिकूल नही । आज इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते है कि कठ जाति की बालाओ ने ग्रीको के विरुद्ध प्रलयकर युद्ध किया ।[6] अतः यदि गान्धार में भी अलका जैसी वीरागनाएँ हो तो कोई आश्चर्य नही । सम्पूर्ण घटना सभाव्य होते हुए भी काल्पनिक है ।

दूसरा दृश्य मगध के बसन्तोत्सव का है । इसमें नन्द ऐतिहासिक पात्र है । अधिक

१ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ २०

२ अट्ठपकासि टोका--नही पृ० २० (वाद्य पर्यसन्तो पुप्फपुरम् गत्वा)

३. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ५४

४. 'देखिये शिक्षा और कला'' पृ०

५ कर्टियस बुक ११ अ० ४, मैक्रिंडल ११

---एनावसिस बाई एलैक्जैन्डर पृ० २३४

६ 'पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐशिएट इण्डिया'' (रे० चौधरी) पृ० १५०

से अधिक राक्षश को भी हम ऐतिहासिक मान सकते है। सुवासिनी तथा अन्य सभी पात्र काल्पनिक हैं। सम्पूर्ण दृश्य की योजना प्रसाद के मानस मे हुई है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि "बसन्तोत्सव" पर्व को अत्यन्त समारोह और उल्लास से मनाना प्राचीन जन-जीवन का ऐतिहासिक सत्य है।[१] इसी दृश्य की घटना मे अमात्य वक्रनास के भ्रातुष्पुत्र राक्षस को नन्द अपने अमात्यवर्ग मे नियुक्त करता है। विष्णुपुराण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वक्रनास सर्वार्थसिद्धि का ब्राह्मण मन्त्री था।[२] किन्तु यह नही कहा जा सकता कि प्रसाद ने मुद्राराक्षस के "राक्षस" का विष्णुपुराण के वक्रनास से सम्बन्ध कैसे जोड दिया। राक्षण का इसी बसन्तोत्सव के अवसर पर नन्द के अमात्यवर्ग मे गहण किया जाना काल्पनिक है। मुद्राराक्षस की घटनाएँ भी इसके बहुत बाद प्रारम्भ होती हैं। राक्षस स्वय भी कला कुशल था एव उसने भी नन्द के उद्यान में अभिनय किया इसका कोई प्रमाण नही।

चाणक्य और प्रतिवेशी के सवाद में दो महत्वपूर्ण सकेत दिये गये हैं। मगध का तत्कालीन शासक नन्द महापद्म का जारज पुत्र था और उसने किसी अपराध पर अपने मन्त्री शकटार को वदी कर लिया था। इसी का स्पष्ट और मुक्त कठ से विरोध करने के कारण चाणक्य के पिता का ब्रह्मस्व बौद्ध बिहार में देकर नन्द ने उसे मगध से निर्वासित कर दिया। प्रसाद ने अन्य सभी इतिहासकारो के मत के अनुसार ही नवें और अतिम नन्द का नाम घनानद लिखा लिखा है।[३] यही विष्णु पुराण से दिया गया एक उद्धरण भी विचारणीय है—

"ततो महानन्दी। इत्येते शैशुनाका भूपालास्त्रिवर्षशतानि द्विषष्टयधिकानि भविष्यन्ति। महानन्दिनस्तत. शूद्रागर्भोद्भवोनि-लुब्धोऽतिबली महापद्मनामनन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रियनाशकारी भविष्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला. भविष्यन्ति।[४]"

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट ही है कि महानन्द का शूद्रा के गभ से एक महापद्म उत्पन्न हुआ। किन्तु अन्तिम सम्राट घननद महापद्म का पुत्र होते हुए भी इसका जारज पुत्र नही था। भूमिका में इतना विस्तृत विवेचन करने पर भी समझ मे नही आता कि प्रसाद ने किस आधार पर अतिम नद को महापदम का जारज पुत्र लिखा है। पुराणो के अनुसार तो महानद शूद्रोत्पन्न नही था। सभवनः इसका आधार ग्रीक इतिहास है जिसके अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध का शासकहीन कुलोत्पन्न था।[५] किन्तु हीन कुलोत्पन्न से यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि नद शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कथासरित्सागर के

---

१ देखिये 'उत्सव"

२. मुद्राराक्षस (अनुवाद) (हरिश्चन्द्र) भूमिका पृ० ७२

३ चन्द्र० (भूमिका) पृष्ठ २३

४ विष्णुपुराण—१८।२१ (चद्र भूमिका) पृष्ठ २१

५ लाइम्ज "लाईफ आफ ऐलैक्जेन्डर —प्लूटार्क

किया था।[1] नद की पुत्री चद्रगुप्त के प्रति आसक्त थी, और सभवतः चद्रगुप्त ने नद की उक्त कन्या से विवाह भी किया था। यह घटना उस समय की है जब विजयी चद्रगुप्त का रथ पाटलिपुत्र मे प्रवेश कर रहा था और स्वर्ण और मुद्राओ से भरे हुए विजित नद का रथ नगर से बाहर आ रहा था।[2] प्रसाद ने इस प्रेम का क्रमश विकास कर घटना में नाटकीय सभाव्यता ला दी है। इसी दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याणी बचपन से ही चद्रगुप्त को प्यार करती थी।

नद की राजसभा मे चाणक्य का अपमान किया गया। नद के रोप में एक आहुति इस कारण भी पडी कि पर्वतेश्वर ने उसकी कन्या से परिणय करना अस्वीकार कर दिया। यह सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है। पर्वतेश्वर और मगध सम्राट् के बीच किसी प्रकार के वैवाहिक सबध की चर्चा इतिहास में नही हुई है। चाणक्य का अपमान ऐतिहासिक घटना तो है किंतु इस रूप मे नही "चाणक्य कथा" से ज्ञात होता है कि पिंजरे मे बद सिंह को गला देने के उपरात चद्रगुप्त नद की घृणा और ईर्ष्या का पात्र हो गया। अतः उसने नन्दो का विनाश करने का निश्चय किया। एक दिन अपने पितरो के श्राद्ध के अवसर पर नद चद्रगुप्त को ब्राह्मणो को निमत्रत करने की आज्ञा दी। मौर्य सेनापति के चद्रगुप्त को मार्ग में मूँज की जडो को उखाड कर उन्हे भस्म करने मे लगा हुआ एक ब्राह्मण मिल गया। वह मूँज को इसलिए उखाड रहा था कि उस घास से उसके पाव छिल गये थे। बातचीत में उसके दृढ निश्चय और राजनीतिक चातुरी का परिचय पाकर चद्रगुप्त ने उसे श्राद्ध के लिए निमन्त्रित कर दिया। नद की राजसभा में जाकर चाणक्य सबसे विद्वान् और योग्य ब्राह्मण के लिए सुरक्षित स्थान में जाकर बैठ गया। नदो उसका परिचय प्राप्त किए बिना ही उसे सेवको द्वारा शिखा पकड कर निकलवा दिया। क्रुद्ध चाणक्य ने प्रतिज्ञा की कि वह नदो का विनाश कर एक हीन कुल के व्यक्ति को सिंहासन पर बिठवायेगा। अत में उसने चद्रगुप्त को सम्राट् बनाने का निश्चय किया।[3] कथासरित्सागर के अनुसार भी कथा लगभग इसी प्रकार की है। अतर केवल इतना है कि यहाँ शकटार चाणक्य को कुशा उखाडते हुए देखता है और स्वय अपने और अपने पुत्रो पर किए गये अत्याचारो का बदला लेने के लिए चाणक्य को श्राद्ध के लिए निमन्त्रित करता है। चाणक्य राजसभा मे आकर सर्वोच्च आसन पर बैठ जाता है। किंतु सुबधु के पक्ष में निर्णय दे देता है। चाणक्य सभा से जाते जाते यह घोपणा करता है कि वह सात दिनो मे नद का बध करेगा और तब तक अपनी शिखा नही बाधेगा। शकटार के सरक्षण में वह तत्र एव कृत्या द्वारा नद का बध कर देता है।[4]

---

१. कार्टियस—बुक ६।चैप्टर २
 डायडोरस—बुक १७।चैप्टर ६३

२ हिस्ट्री आफ इण्डिया (शाह) पृ० ८८
 रैकर्डस आफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड (बील) बौलयूम २ पृ० १३

३. चाणक्य कथा—ऐज कोटेड इन "कौटिल्य" (नारायनचन्द्र बद्योपाध्याय) पृ० ६

४ कथासरित्सागर—१। पचम तरग

प्रसाद ने मूल घटना कथासरित्सागर से न लेकर संभवतः "चाणक्य कथा" से ली है, क्योंकि शिखा पकडकर सभा से निकाले जाने की चर्चा उसी में हुई है। किन्तु इस घटना के कारण में अंतर कर दिया गया है। चाणक्य श्राद्ध के लिए राजसभा में नही जाता। वह अपना ब्रह्मस्व प्राप्त करने के लिए नन्द के पास आता है। उसके अपमान का कारण यह है कि वह राजनीतिक स्थिति को खरे-खरे शब्दो में प्रकट कर बौद्ध धर्म का अपमान करता है। यह परिवर्तन इतिहास के अनुकूल न होते हुए भी एक ओर तो चाणक्य की राजनीतिक प्रतिभा का द्योतक है और दूसरी ओर घटना क्रम मे अधिक गंभीरता एव सकारण संघर्ष का सृजन करता है। अत. वाछनीय है। छठे दृश्य मे मालविका, अलका और सिंहरण से संबद्ध सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है। ग्रीक इतिहास से केवल इतना ज्ञात होता है कि पचनद के सम्राट पौरस की ईर्ष्या के कारण आभी ने सिकन्दर से मैत्री कर ली थी। उसी के परिणाम स्वरूप ग्रीक सेना ने ओहिंद (उद्भाण्ड) पर नौकाओ से बने पुल को पार किया था।[1] ओहिंद में ही आम्भी ने पुरु के राज्यो के विरोध मे सिकदर का स्वागत किया। प्रसाद के अनुसार उद्भाण्ड पर सिंकदर और आभीक ने पुल बनवाया है। इतिहास से ऐसा प्रतीत होता है कि ओहिंद व्यापारिक केन्द्र भी था और उत्तरापथ यही से जाता था। सिन्धु में जल बढ जाने पर यही उसे नावो के पुल द्वारा पार किया जाता था।[2] अतः इतना तो स्पष्ट है कि ओहिंद पर पुल पूर्व से ही था। सभव है उस पुल को सिकदर ने अधिक सुदृढ बनाया हो। किंतु अलका द्वारा उसका मानचित्र बनवाना और उसके निमित्त सिंहरण और सिल्यूकस का सघर्ष तथा अलका का बन्दी बनाया जाना ये सब घटनाए काल्पनिक हे। चद्रगुप्त नाटक मे राजनीतिक-सास्कृतिक सघर्ष और उसके प्रभाव से उत्पन्न सामजस्य की प्रधानता है। अत. ये सभी काल्पनिक योजनाएँ उस राजनीतिक सघर्ष के सृजन में सहायक होकर आती हैं।

चाणक्य का बन्दी बनाया जाना और चद्रगुप्त द्वारा उसकी मुक्ति दोनो घटनाएं काल्पनिक हैं। किंतु इन घटनाओ का एक स्पष्ट उद्देश्य चाणक्य के क्रोध में आहुति देकर उसके स्वातन्त्र्य-प्रिय विचारो को स्पष्ट करना है। चाणक्य तक्षशिला इसलिए नही जाना चाहता कि वह पर्वतेश्वर का अनिष्ट करे। इससे चाणक्य के प्रभाव से स्वतन्त्र चद्रगुप्त की वीरता और चातुरी पर भी प्रकाश पडता है।

आठवें दृश्य में अलका, गान्धारराज और आभीक का सवाद काल्पनिक है किंतु इससे एक तो उन भारतीय नारियो के चरित्र पर प्रकाश पडता है जिन्होंने सिंकदर की सेना से पुरुषो के कन्धे से कन्धा मिलाकर लोहा लिया था। दूसरे आम्भीक और पर्वतेश्वर के बीच हुए एक ऐतिहासिक वैवाहिक सबध की भूमिका भी यही गढी गई है। यह कहना तो कठिन है कि पर्वतेश्वर ने आम्भीक से अपनी पुत्री का विवाह करना अस्वीकार किया था

(१) कार्टियस ८।१२
(२) कार्टियस ८।१२

या नही। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सिंकदर ने पुरु-विजय के उपरात गान्धार और पुरु राज्य को वैवाहिक सम्बध मे अवश्य बाध दिया था।[1] इस ऐतिहासिक घटना की एक सुन्दर काल्पनिक कार्य-कारण परम्परा का यहा विकास हुआ है। यह भी कहना कठिन है कि इतिहास में आभी ने कभी यह विचार भी किया हो कि सिंकदर का स्वागत न किया जाय। किंतु स्वतन्त्रता प्रिय भारतीय चरित्र की यह सभाव्यता तो माननी ही पडेगी।

चद्रगुप्त चाणक्य का मनोनीत था। शूद्र न मानते हुए भी चाणक्य उसे आर्य-क्रियाओ से च्युत क्षत्रिय (वृषल) मानता है। "वृषल" शब्द का प्रयोग "मुद्राराक्षस" मे हुआ है और उसका यह अर्थ मनाव-धर्मशास्त्र के आधार पर किया गया है।[2] कुछ भी हो बौद्ध-जैन दोनो प्रमाणो के आधार पर यह निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त मौर्यवशी क्षत्रिय था।[3] चाणक्य ने उसको मूर्धाभिषिक्त करने के लिए पवतेश्वर की सहायता ली थी या नही इसमे सदेह है। किंतु "मुद्राराक्षस" से यह अवश्य ज्ञात होता है कि चाणक्य ने कूटनीति से पवतक को सहायता प्राप्त कर मगध पर विजय प्राप्त की और अत में विषकन्या के प्रयोग मे उसका वध कर चद्रगुप्त के लिए राज्य निष्कटक कर दिया।[4] यह कहना कठिन है कि ग्रीको का पोरस और मुद्राराक्षस का पर्वतक एक ही व्यक्ति हैं। किंतु प्रसाद ने पर्वतेश्वर सबधी घटनाओ के लिए दोनो व्यक्तियो को मिला दिया है। नवम् दृश्य की योजना का आधार होते हुए भी घटना का यह रूप निश्चय ही काल्पनिक है। इससे चाणक्य की महत्ता के साथ-साथ पर्वतेश्वर का सवनाशी अहकार घटना-क्रम को बढाने मे सहायक हुआ है। पर्वतेश्वर की हार के पीछे वीर-क्षत्रियो की इस अहकार भावना का दिग्दर्शन किया गया है जो युगो-युगो से भारतवर्ष में विदेशी आक्रान्ताओ की विजयो के मूल मे रही है।

सिल्यूकस न व्याघ्र मे कभी चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी या नही, अथवा दाण्डयायन ने चद्रगुप्त के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की थी या नही ये दोनो बातें विचारणीय हैं। वस्तुत. इस रूप में ये घटनाएँ प्रसाद ने स्वत: ही गढी है। चद्रगुप्त के सम्बन्ध मे ग्रीको मे यह प्रचार अवश्य किया गया था कि एक सिंह ने उसके तलुवे चाटे थे और भारत के भविष्य-वक्ताओ ने उसके सम्राट् होने की घोषणा की थी।[5] यदि प्लूटार्क[6] और जस्टिन पर विश्वास

---

(१) देखिये "नगर और ग्राम" 'उदभाण्ड" पृ०

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ० ९३

(३) मनुस्मृति

(४) परिशिष्ट पर्व--वोल्यूम १ (पृ० १९९) फुटनोट ३९
जौनिज्म इन इडिया—(सी० जे० शाह) पृ० १३२
दिव्यावदान--(कावैल एण्ड नील) पृ० ३७०
रेकार्डस औफ दि वैस्टन वरड (बील)– वौल्यूम २। पृ० १३

(५) मुद्राराक्षस

(६) लाइव्ज—(प्लूटार्क) लाइफ आफ एलैक्जैन्डर--वौ० ७। चैं० ६२॥ पृ० ४०३

किया जाय तो वह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिलीय दण्डनीति में "मन्त्रयुद्ध" का जो स्वरूप है, उसी का प्रयोग यहाँ पर किया गया होगा। यह भी सच है कि चंद्रगुप्त तक्षशिला में सिकन्दर से मिला था और उसने सिकन्दर से कहा कि यदि सिकन्दर और आगे बढता तो सम्भवतः वह मगध पर भी विजय प्राप्त कर लेता।[1] प्रसाद ने सिल्यूकस द्वारा उसकी रक्षा कर भविष्य में होने वाले चद्रगुप्त सिल्यूकस के युद्ध की सुखान्त एव गौरवपूर्ण परिणति के लिये सुन्दर काल्पनिक परिस्थितियो का निर्माण कर दिया है।

दाण्डयायन और सिकन्दर के बीच जो कुछ भी बातचीत हुई वह अविकल रूप से ग्रीक इतिहास से ली गई है। सिकन्दर ने जब तक्षशिला में भारतीय दार्शनिको (जिमनोसो फिस्ट) को देखा तो उसकी यह इच्छा हुई कि एक दार्शनिक उसके पास लाया जाय। इन दार्शनिको मे प्रधान दाण्डमिस था। अतः सिकन्दर ने ओनेसिक्रटीज को दाण्डमिस को लाने के लिये भेजा। उसने दाण्डमिस से कहा—" हे ब्राह्मणो के गुरु टीचर आफ दि ब्रेगमंन्स) तुम्हारा अभिनन्दन है। जुपिटर का पुत्र सब मानवो का सम्राट् सिकन्दर तुम से मिलना चाहता है। यदि तुम उसकी आज्ञा मानोगे तो वह तुम्हारी अभ्यर्थना धन वैभव से करेगा। अन्यथा तुम्हे मृत्यु दण्ड दिया जायगा।" दाण्डमिस मुस्कराया और बिना सिर उठाये उसने उत्तर दिया—"सम्राटो का सम्राट् ब्रह्म, प्रकाश, शाति, जीवन, जल, शरीर और आत्मा का स्रष्टा है और मृत्यु के उपरान्त ये सब उसी ब्रह्म में समा जाते है। मैं उसी के सामने प्रणत होता हूँ। सिकन्दर स्वय मर्त्य है अतः ब्रह्म नही है। सिकन्दर ने अभी विजय ही कितनी की है जो वह अपने आप को विश्वविजेता कहता है • स्मरण रखो कि सिकन्दर के वैभव मेरे लिये महत्वहीन है। मेरे लिये उनसे कही अधिक मूल्यावन ये पत्ते है जिनसे मेरी कुटी बनी है। ये पल्लवित वृक्ष है जिनसे मुझे भोजन मिलता है, ये नदिया हैं जिनसे मेरी प्यास बुझती है • मैं पत्तियो पर सोता हूँ जिनकी रक्षा करने को आवश्यकता नही। धरती के क्रोड से मेरी सारी आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाती है। मैं इच्छानुकूल उसी निर्द्वन्द्व विचरण करता हू। सिकन्दर मेरे शरीर को नष्ट कर सकता है किन्तु मेरी आत्मा अमर है और वह शरीर छोडकर उसी प्रकार ब्रह्म मे लीन हो जायगी जिस प्रकार हम पुराने वस्त्र त्याग देते है। सिकन्दर ये धमकिया उन्हे दे जो वैभव की लालसा रखते है और जो मृत्यु से त्रस्त है। सिकन्दर से कह दो कि दाण्डमिस को तुम्हारी किसी चीज की आवश्यकता नही। अतः वह तुम्हारे पास नही आएगा। यदि तुम्हे उससे कुछ प्राप्त करना है तो तुम उसके पास आओ।" ओनिसिक्रेटीज से यह सुनकर सिकन्दर एव दाण्डमिस से भेंट करने आया।[2]

चद्रगुप्त के प्रथम अक का ग्यारहवा दृश्य इन सम्पूर्ण घटना का सही चित्र प्रस्तुत करता है। दाण्डमिस (दाण्डयायन) के सवादो तक का प्रसाद ने अनुवाद कर दिया। अलका से सम्बन्धित घटना का भाग काल्पनिक है। यहाँ कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रथ॰।

---

(१) अलैक्जैण्डर (प्लूटार्क) चैप्टर ६२

(२) एंशिएण्ट इण्डिया—(मैक्रिंडल) मेगास्थनीज एण्ड ऐरियन—फ्रैगमेंट ५५ पृ० १२३–२४

रागात्मक दर्शन भी प्रसाद की काल्पनिक योजना का अंग है जो चंद्रगुप्त कार्नेलिया के विवाह में पूर्व-राग की नाटकीय सृष्टि करता है। यह सच है कि इस योजना के परिणाम-स्वरूप नाटक में सुदीर्घ कालावधि के कारण ऐतिहासिक नाटकीय दोष आ गये हे। किन्तु घटना की योजना के अनुसार यह प्रयोग आवश्यक सफल माना जा सकता है। यह घटना पूर्णतया काल्पनिक है। सिकन्दर चद्रगुप्त की भेंट के लिये इस स्थान का चुनाव भी ऐतिहासिक न होकर नाटकीय है।

द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य की आधी घटना पूर्णतया काल्पनिक है। सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया (हैलेन अथवा ऐथेना जो भी हो) सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीक सेना में साथ थी इसका कोई भी प्रमाण नही। साथ ही उसका भारत-प्रेम भी एक विचित्र सी घटना है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार के चरित्र की योजना द्वारा राष्ट्रीय-भावना का प्रसार हुआ हे। किन्तु इसमे सर्वत्र काल्पनिकता झलकती रहती है। फिलिप्स की कार्नेलिया के प्रति आसक्ति, चद्रगुप्त द्वारा कार्नेलिया के सम्मान को रक्षा और परिणाम स्वरूप सिकन्दर-चद्रगुप्त मे सघर्ष काल्पनिक घटनाएं हे। इसमे इतना इतिहास अवश्य है कि सिकन्दर किसी कारणवश चद्रगुप्त से रुष्ट हो गया और चद्रगुप्त को अपनी प्राण रक्षा के लिये सिकन्दर के सेनानिवेश से भागना पडा।[1] किन्तु ये घटनाएं अत्यन्त नाटकीय है। इससे चद्रगुप्त के चरित्र का उत्कर्ष होता है और कालान्तर में चद्रगुप्त के नेतृत्व मे पंजाब के विद्रोह एवं फिलिप्स की हत्या के लिये एक सम्भाव्य नाटकीय कार्य-कारण-परम्परा की सृष्टि हो जाती है। चद्रगुप्त के प्रति सिल्यूकस की सहानुभूति भी भावी घटनाओं की ओर सकेत करती है।

द्वितीय दृश्य पूर्णतया काल्पनिक है। पर्वतेश्वर-सिकन्दर के युद्ध मे न तो चद्रगुप्त ने भाग लिया था न राजकुमारी कल्याणी ने और न सिंहरण-अलका ने। किन्तु दृश्य अपनी काल्पनिकता मे आसन्न गान्धार-युद्ध की पूर्वपीठिका का ही सृजन नही करता वरन् कौटिलीय युद्धनीति एव चरपद्धति पर भी प्रकाश डालता है। सम्पूर्ण दृश्य मे ऐतिहासिक घटना सूच्य मात्रा हे। सिकन्दर के सैनिको ने वितस्ता को रातो रात पार कर लिया था, इसका साक्षी ग्रीक इतिहास है।[2] युद्ध का दृश्य अधिकतर इतिहास पर आश्रित है। जिस दिन युद्ध लडा गया उससे पहिली रात मे घनघोर वर्षा हुई थी। उसी वर्षा और अन्धकार मे सिकन्दर के घुडसवारो ने वितस्ता पार की। वर्षा मे कीचडयुक्त धरती पर भारतीयो के सुदीर्घ धनुष्य अनुपयोगी सिद्ध हुए और घुडसवारो का आक्रमण मे हाथी भडक उठे। अन्त मे स्वय पर्वतेश्वर ने भयकर युद्ध किया। युद्ध म घायल पर्वतेश्वर के पास सधि की वार्ता के लिये आम्भी को भेजा गया। देशद्रोही आम्भी पर पोरस ने चक्र छोडा। आम्भी तो बच गया किन्तु उसका घोडा मर गया। अन्त मे पोरस के मूर्छित हो जाने पर उसे सिकन्दर के पास लाया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा—"राजन्। अब तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया

(१) जस्टिन १५।४

(२) ऐनाबसिस आफ ऐलैक्जैण्डर—(ऐरियन) ५।११

जाय" ? इसके उत्तर मे पुरु ने जो कहा वह विशुद्ध ऐतिहासिक उत्तर था" जैसा एक राजा अन्य राजा से करता है" । सिकन्दर ने इस उत्तर प्रसन्न होकर पुरु से मैत्री कर ली ।[1] और कालान्तर में सिकन्दर-विजय मे उसकी सहायता भी की । मगध राजकुमारी कल्याणी का पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने का प्रयत्न पूर्णतया काल्पनिक होने के साथ ही साथ सभाव्यता के भी विरुद्ध भी है । यदि यह ऐतिहासिक घटना होती तो भी जिस रूप मे यह नाटक में आई है उस रूप में सभाव्य नही । राजकुमारी कल्याणी का चरित्र कही भी इस प्रकार के सैनिक कार्यो के लिये गढा नही प्रतीत होता । अलका का चरित्र अवश्य इस प्रकार का का है । चद्रगुप्त और सिंहरण द्वारा पर्वतेश्वर को यवन मैत्री से रोकने के प्रयत्न भी काल्पनिक है । उनका उपयोग कालान्तर में पर्वतेश्वर के पतन और इन दोनो के चारित्रिक विकास मे किया गया है ।

चतुर्थ अक की सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है । चद्रगुप्त और मालविका की घटनाए इतिहास से नही मिल सकती, क्योकि मालविका प्रसाद की स्वतत्र कल्पना है । इस दृश्य मे सूक्ष्म रूप से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ की ओर सकेत अवश्य किया गया है । विपाशा के तट पर पहुच कर यवन सेना मे विद्रोह छा गया । सिकन्दर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उन्हें प्रोत्साहित करना चाहा किन्तु जब उन्होने यह सुना कि आगे "प्रासी" और "गगरडीज" के शासक बहुत बडी सेनाएँ लेकर उनके मार्ग पर खडे है तो उनके छक्के छूट गये । अन्त मे हारकर सिकन्दर ने देवताओ की पूजा की और शकुन विचार कर लौटने का निर्णय किया । सिकन्दर की सेना दो भागो मे बटकर जल और स्थल मार्गो से वापस दक्षिण को लौटी ।[2] जलमार्ग से वापस लौटने का विचार जानकर मालव क्षुद्रको ने युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ की । सौभूति और शिवि राज्यो को ध्वस कर सिकन्दर का मालवो से ही युद्ध हुआ ।[3] यहाँ यह कहना कठिन है कि चद्रगुप्त को क्षुद्रको की सेना का सेनापतित्व कैसा मिला इतिहास इस सबध में मौन है ।

पर्वतेश्वर द्वारा सिंहरण और अलका के बन्दी किये जाने की घटना काल्पनिक है । इस सम्पूर्ण घटना से दो अर्थ सिद्ध हुए है । एक तो सिंहरण और अलका के बीच सामान्य राग बढकर प्रेम दशा तक पहुंचने का अवसर मिला है और दूसरे पर्वतेश्वर के पतन के लिए घटना-क्रम मे उनकी विलासी प्रवृत्ति को प्रकट किया गया है । इसके अभाव में इतिहास प्रसिद्ध वीर पर्वतेश्वर के चरित्र को नीचे गिराना असभव हो जाता ।

मालवो का युद्ध परिषद सबधी घटना मूलत: ऐतिहासिक है । ग्रीक इतिहास से ज्ञात होता है कि मालव क्षुद्रको मे आपस मे सघर्ष रहा करता था । किन्तु सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप दोनो ने मैत्री करने का निश्चय किया और दोनो ने इस मैत्री के उद्देश्य से एक

---

(१) डायोडोरस १७ ८७ , कर्टियस ८।१४ , इडिका-(ऐरियन) चै० १६ ऐनाबसिस—(ऐरियन) ५।१७
(२) डायोडोरस—१७।९५ , कर्टियस—९।३ , प्लूटार्क—चैप्टर ६२
(३) एनाबसिस—(ऐरियन) ६.५ , कर्टियस ९।४ , डायोडोरस १७।९६

दूसरे की १० सहस्त्र कन्याओ से परिणय किया। किन्तु व्यक्तिगत वैमनस्यो के कारण उनकी परिषदो के विचार विनिमय मे अधिक समय लग गया। सबसे अधिक कठिनाई इस बात के निर्णय मे हुई कि दोनो सेनाओ का सेनापतित्व कौन करे ? ग्रीक लेखको से ज्ञात होता है कि इस सगठन के बनने से पूर्व ही सिकन्दर ने मालवो पर आक्रमण कर उनको हरा दिया।[१] छठे दृश्य में प्रसाद ने मालव-युद्ध परिषद् मे सेनापति के लिये उपस्थित किये गये सघर्ष का ही चित्रण किया है। किन्तु प्रसाद ने इस द्वन्द्व का समाहार चाणक्य और चद्रगुप्त के माध्यम से कर प्रधान चरित्रो से घटना को जोड दिया है। इस प्रकार घटना की ऐतिहासिकता के साथ साथ उसका नाटकीय महत्व भी बढ गया है। चद्रगुप्त का दोनो की सम्मिलित सेनाओ का सेनापति बनाया जाना ऐतिहासिक तथ्य न होते हुए भी नाटक के घटना क्रम में अत्यन्त सभाव्य हो गया है। कर्टियस लिखता है कि मालव,क्षुद्रको की सम्मिलित सेना का सेनापति एक अत्यन्त वीर और अनुभवी व्यक्ति चुना गया था।[२] प्रसाद ने उसे चद्रगुप्त मान लिया है।

कठ जाति के सागल प्रदेश को जीतने में पोरस ने सिकन्दर को पर्याप्त सहायता पहुंचाई। वह हाथियो और पैदल सैनिको की ५००० सेना लेकर सागल पहुँचा था। किन्तु यह कहना कठिन है कि मालवो के प्रदेश पर आक्रमण करते समय सिकन्दर ने उससे आठ सहस्त्र अश्वरोहियो की माग की थी अथवा नही। अलका पर्वतेश्वर सम्बन्धी कल्पित कथा (सप्तम दृश्य) में सिकन्दर की उक्त माग की चर्चा हुई है। इस घटना में ऐतिहासिक सभाव्यता पूरी है। यदि पुरु पर सद्य. विजयी सिकन्दर सागल विजय के लिए पुरु की सहायता की अपेक्षा रखता था तो मालव-विजय के लिए तो उसकी आवश्यकताएँ और भी बढ गई होगी।

प्रसाद के अनुसार ग्रीक सेना को रोकने के लिए मालवो की जल-सेना सन्नद्ध थी। स्वय ग्रीक इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि मालवक्षुद्रक और शिवि गणतत्रो के योद्धा भयकर थे। झेलम और चिनाव के सगम के समीप के राज्य होने के कारण उनकी जल सेना अवश्य अत्यन्त शक्तिशाली होगी। सिकन्दर ने जो दूत मालव नेताओ के पास भेजा उसकी ऐतिहासिकता भी असदिग्ध है। वस्तुतः सिकन्दर की यह इच्छा नही थी कि वह अपनी वापसी यात्रा में किसी बृहत् सघर्ष में फँसे। कठ जाति से युद्ध करते समय वह इन प्रजातत्रो की शक्ति देख चुका था। अतः वह अपनी शक्ति का भय दिखाकर आतक द्वारा ही सिर ऊँचा किये अपनी हारी थकी सेना लेकर लौट जाना चाहता था।

कल्याणी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रणय-प्रस्ताव चाणक्य की कूटनीतिक चातुरी का नमूना है। ऐसा उसने इसलिए किया कि मगध सेना मालव-युद्ध में सहायक बन सके। वह राक्षस को धमकी देता है कि यदि उसने कल्याणी को न रोका तो क्षुद्रक सिकन्दर को मगध तक जाने का मार्ग दे देंगे। यह धमकी उस चातुरी का दूसरा नमूना है। दोनो घटनाएँ

---

१. डायोडोरस १७।६८

२. कर्टियस-बुक ६ चेप्टर ४

२. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ७८

काल्पनिक है, किन्तु नाटक के घटना-क्रम मे ये अनिवार्य हैं। राक्षस को यथासमय मगध न जाने देकर चाणक्य ने भावी मगध-विद्रोह के लिये बीज बो दिये। अन्यथा उन परिस्थितियो से अवगत राक्षस के लिए उक्त विद्रोह को रोक सकना असभव न होता।

नवें दृश्य में ही चाणक्य राक्षस को सूचना देता है कि "जल यात्रा मे इतना विघ्न उपस्थित हुआ कि सिकन्दर को स्थल मार्ग पर से मालवो पर आक्रमण करना पडा"।[१] हम पूर्व कह चुके है कि ग्रीक इतिहासकारो ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सिकन्दर ने मालव क्षुद्रको को पूर्णतया पराजित कर दिया था, क्योंकि मालव क्षुद्रक आपस में सगठित नही हो पाए। किन्तु पाणिनि और पातजलि से हमें कथा का दूसरा ही रूप मिलता है। पाणिनी ने "मालव-क्षुद्रको" के सगठन की चर्चा की है (क्षत्रिय द्वन्द्व)।[२] स्वय कर्टियस के अनुसार मालव क्षुद्रको की सेना की शक्ति एक लक्ष थी। जब ग्रीक 'सैनिको को यह ज्ञात हुआ तो उन्होने पुन. विद्रोह कर दिया और उनमें त्रास छा गया।' ये भयकर योद्धा ये एव उन्होने प्रतिज्ञा की थी कि बिना रक्तपात के सिकन्दर को भारत छोडने नही देंगे।[3] परिणाम स्वरूप सिकन्दर को एक बार पुन. भाषण देकर, रोककर, उत्साहित कर सेना को साहस बधाना पडा। और उसने अपनी सेना को दो भागो में बाँटकर स्थल मार्ग से ले जाने का निश्चय किया।

मालव-दुर्ग में युद्ध हुआ। स्मिथ इस मालव दुर्ग को झग एव मोटगोमरी जिले की सीमा पर मुलतान के उत्तर-पूर्व ८० या ९० मील के आसपास मानते है।[४] ग्रीको ने दुर्ग में प्रवेश करने का प्रयास किया। सिकन्दर स्वय एक सीढी लेकर तीन सैनिको के साथ दुर्ग की दीवाल पर चढ गया। अपने पर चारो ओर से आक्रमण होता देख सिकन्दर दुर्ग के अन्दर कूद गया। सिकन्दर का एक सहायक मारा गया और एक तीर सिकन्दर के कवच को भेद कर उसकी छाती में जा धसा। बडी कठिनाई से सिकदर के प्राण बच सके। दुर्ग का द्वार तोडकर यवन सैनिको ने मुमूर्ष सिकन्दर की रक्षा की।[५] प्रसाद ने मूल घटना में कुछ परिवर्तन कर दिया है। अलका द्वारा दुर्ग पर चढते हुए यवन सैनिक का बध काल्पनिक है। सिंहरण और सिकन्दर का द्वन्द्व भी ऐतिहासिक नही। वस्तुतः सिकदर एक तीर से घायल होकर गिर पडा था। उसे तलवार या भाले से युद्ध करने का अवसर ही नही मिला था इस घटना का अत बहुत ही सुन्दर और नाटकीय है। इतिहास से यह समझ मे नही आता कि इतने शक्तिशाली मालवो के दुर्ग मे केवल तीन सैनिकों सहित प्रवेश करने पर सिकदर किस प्रकार सुरक्षित लौट गया। दुर्ग का द्वार टूटना इतना आसान कार्य नही। ग्रीक लेखक

---

१. चन्द्र० २।१४८

२. काशिका ४।२।४५

३. कर्टियस बुक ९ चेप्टर ४

—इन्वेशन आफ इण्डिया बाइ एलैक्जेण्डर (मैक्रिण्डल) न० ०३४

४ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १००

५. कर्टियस बुक ९ चैप्टर ७

चाहे कुछ भी कहे यह तो निश्चित है कि सिकदर मालव क्षुद्रको पर विजय नही पा सकता था।[१] अत. प्रसाद ने जो यह कल्पना की है कि मालवो ने घायल पर्वतेश्वर के प्रति दिखलाई गई सिकदर की उदारता को भारत पर उसका एक ऋण माना और इसी ऋण को, चुकाने के लिए उन्होने मुमूर्ष सिकदर को जीवित और सकुशल दुर्ग के बाहर कर दिया— यह भारतीय क्षत्रियत्व के आदर्श के अत्यन्त अनुकूल होने के साथ साथ अत्यत स्वाभाविक और सम्भाव्य प्रतीत होता है।

मालव-क्षुद्रको के युद्ध में सिकदर विजयी न हो सका। स्वय एरियन इस बात को स्वीकार करता है कि मालव क्षुद्रको के युद्ध में सिकदर को जो चोट लगी उस पर अयाचित कल्पनाओ की भरमार की गई है[२]। अतः इस सबध मे प्रसाद ने भी ग्रीक इतिहास को अक्षरश. नही ग्रहण किया है। तृतीय अङ्क के प्रारम्भिक दृश्यो में घटनाओ के क्रम से ज्ञात होता है कि सिकदर ने स्वय मालव-क्षुद्रको के साथ सधि की। क्षुद्रको के विजयी होने का उल्लेख पातजलि ने भी किया है[३] और यहाँ प्रसाद ने घटनाओ को इस प्रकार सतुलित किया है कि ज्ञात इतिहास की घटनाएँ भी सुरक्षित रह सकी हे और प्रसाद की स्वय की मान्यताएँ भी रावी तट पर विस्तृत शिविरो की रगभूमि बनी जिसमें सिंहरण और अलका का विवाह हुआ। मालव और यवनो का एक सम्मिलित उत्सव मनाया गया जिसमें सिकन्दर ने भी भाग लिया। सिंहरण और अलका का विवाह एक काल्पनिक घटना है किन्तु अवसर के सबसे अधिक उपयुक्त होने से ऐतिहासिक घटना में इसका समाहार हो गया है। ग्रीक लेखको के अनुसार—"युद्ध के उपरान्त मालव क्षुद्रको के सौ दूत सिकन्दर के पास आए। ये अत्यन्त विशालकाय प्रभावशाली पुरुष रथो पर चढे हुए थे। सुनहरे एव गुलाबी रगों से कढे हुए उनके रेशमी वस्त्र अत्यन्त सुन्दर थे। उन्होने सिकन्दर से कहा कि सहस्त्रो वर्षों से आज तक वे अपनी जिस स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रख सके हैं उसका उन्हें गर्भ है। देवो की इच्छानुसार वे आज झुके अवश्य हैं पर किसी भय से नही। सिकन्दर ने अपने स्वभाव की क्रुरता के प्रतिकूल उनका असाधारण स्वागत किया। उसने एक महान् भोज की व्यवस्था की, सौ स्वर्ण सचित वस्त्रो से ढके हुए सोने के आसन रखे गये। कई प्रकार के भोजनो के उपरान्त सुरापान हुआ और वे सब दूत अपने अपने स्थानो को लौट गये।[४]

उपर्युक्त उद्धरण से यह तो स्पष्ट है कि यह विजित मालव-क्षुद्रको के सम्मान का स्वरूप हो हो नही सकता बल्कि इससे तो यह प्रतीत होता है कि कोई विजित राजा, विजेताओ का स्वागत कर रहा है। "सिकन्दर को न केवल पीछे ही हटना पडा वरन् अपने

---

१. हिंदू पौलिटी (जायसवाल) पृ० ६९

२. एरियन बुक ६ चैप्टर ११

३. "एकाकिभिः क्षुद्रको", पातजली —३।५२
(कीलहौर्न —२। पृ० ४१२

४ कर्टियस बुक १० चैप्टर ७
इन्वेजन—(मैक्रिंडल) पृ० २४८–५१

सैनिको को भी सन्तुष्ट कर उनमे आगे की यात्रा के लिए साहस भरना पडा।[1]" वस्तुतः यवन और मालवो के सम्मिलित उत्सव द्वारा प्रसाद ने उपर्युक्त ऐतिहासिक उत्सव की ओर ही सकेत किया है। राक्षस को छद्म मगध सैनिको द्वारा बदी बनाकर अपने सैनिको द्वारा उसे मुक्त करने में चाणक्य की कूटनीति पुनः प्रतिफलित हुई है। चाणक्य का कौटिलीय रूप यहाँ स्पष्ट प्रकट होता है। हम पहले कह चुके हैं कि राक्षस का मगध चला जाना नद की स्थिति की दृढता का कारण बन जाता। और चाणक्य की दूर दृष्टि कुशासन के कारण नद के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर मगध मे भावी विद्रोह को देख रही थी। अतः राक्षस के मन में यह भ्रम उत्पन्न किया गया कि नद को अपनी प्रेमिका सुवासिनी और राक्षस के अनुचित सबधो का विश्वास हो गया है, अतः वह राक्षस को बदी बनाना चाहता है। इस प्रकार के भ्रम द्वारा चाणक्य ने राक्षस को दो बार मगध आने से रोक दिया। यह घटना काल्पनिक है। किंतु इसमे "अर्थशास्त्र" के "मत्र-युद्ध" एव "दण्डनीति" की इतनी अधिक छाया है कि घटना अत्यत स्वभाविक और सम्भाव्य बन गई है। "मुद्राराक्षस" से भी इस प्रकार की कूट-नीति की पुष्टि हो जाती है।

अलका सिंहरण के विवाह से पुरु को ईर्ष्या हुई एव उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया। किन्तु दूरदर्शी चाणक्य अभी उससे भावी एक नये सघर्ष में सहायता चाहता था। अतः उसने पुरु की रक्षा की। यह घटना भी काल्पनिक है, किन्तु अनिवार्य भी। अन्यथा न तो मुद्राराक्षस की पर्वतक वध की घटना से इसका समाहार हो पाता और न चाणक्य की दूरदर्शिता ही प्रकट होती। घटना क्रम में भी विशृङ्खलता उत्पन्न होने की सभावना हो जाती और कथा का एक सूत्र असमय मे ही टूट जाता। अलका के विवाह के अवसर पर गान्धार-राज और अलका का पुर्नमिलन काल्पनिक है, साथ ही अनावश्यक भी। इसके उपरात गान्धार-राज का चरित्र घटना-क्रम से हट जाता है। अच्छा होता यदि प्रसाद यवन आक्रमण से पूर्व ही गान्धार राज की मृत्यु स्वीकार कर आम्भी को ही वास्तविक शासन मान लेते। इससे घटना का अनावश्यक और अनाटकीय विस्तार की रक्षा हो जाती। इसी दृश्य मे कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त की प्रेम-चर्चा और तज्जन्य ईर्ष्या के कारण फिलिप्स द्वारा चन्द्रगुप्त को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारना, दोनो पूर्णतया काल्पनिक हैं। कार्नेलिया-सबधी घटना तो चतुर्थ अक की चरम-परिणति की पूर्वपीठिका बन गई, किन्तु फिलिप्स सबधी घटना और भी नाटकीय है। पचनद के विद्रोह में चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में यवन क्षत्रपो को मारकर भारतीयो ने सिकन्दर के आक्रमण के अन्तिम अवशेषो को नष्ट कर दिया। इसी विद्रोह में वहाँ के क्षत्रप फिलिप्स की हत्या करदी गई।[2] यह हत्या किसने की इसका इतिहास में कोई भी उल्लेख नहीं। प्रसाद ने कार्नेलिया के लिए लडे गये द्वन्द्व मे चन्द्रगुप्त द्वारा उसके बध की कल्पना कर एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक संभाव्यता के साथ साथ एक अत्यन्त सुन्दर नाटकीय घटना की योजना भी करदी है—

---

१. हिन्दू पौलिटी—(जायसवाल) पृ० ६६

२. कर्टियस—बुक १० चैप्टर १।

सिकन्दर चला गया, किन्तु विजेता बनकर नही, मालव-क्षुद्रको से मैत्री करके। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनो उसकी विदा करते समय उपस्थित थे। यह तथ्य ऐतिहासिक भले ही न हो कथानक की सम्भावना के अनुकूल एव नाटकीय तो हे ही।

राक्षस को यह ज्ञान हो गया कि चाणक्य उसके साथ छल कर रहा है और इसी छल से उसने सुवासिनी को मुक्त करने के बहाने उसकी नामाकित मुद्रा भी ले ली है। अतः वह सीधा मगध की ओर चला जाता है। इस राक्षस सबधी घटना का आधार "मुद्राराक्षस" है। उक्त कथानक मे राक्षस और चाणक्य के दाव पेचो में राक्षस की नामाकित मुद्रा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चाणक्य का चर चन्दनदास जौहरी के द्वार पर चित्र फैलाकर गा रहा था। उस कौतुक को देखने के लिए एक पाँच वर्ष का सुन्दर बालक एक परदे की आड से बाहर निकला। भीतर स्त्रियो मे कोलाहल हुआ कि लडका कहाँ चला गया। इतने मे एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुह निकाल कर देखा और बच्चे को भीतर पकड ले गई। उसके हाथ से राक्षस की नामाकित अगुठी गिर पडी। वह चर ने चाणक्य को लाकर दी।[1] वे स्त्री और पुत्र मत्री राक्षस के थे। चाणक्य ने राक्षस की उस मुद्रा के द्वारा शकटदास से पत्र लिखवाकर राक्षस और कुमार मलयकेतु मे फूट डलवा दी। साथ ही मलयकेतु की आज्ञा मे उसके सहायक कौलूत चित्रवर्मा मलयाधिपति सिंहनाद, कश्मीराधीश पुष्कराक्ष, सिंधुराज सुरवेण और पारसीकपति मेघाक्ष का बध करवा दिया।[2] "मुद्राराक्षस" के कथानक से प्रसाद के कथानक मे अन्तर है। यहा चाणक्य स्वय राक्षस से मुद्रा ले लेता है और नन्द राक्षस के बीच फूट उत्पन्न करवा देता है। "मुद्राराक्षस" में चाणक्य का चर सिद्धार्थक इस कार्य को करता है और "चन्द्रगुप्त" में चाणक्य के चर के रूप में कार्य करती हुई मालविका। किन्तु इस कथानक का मूल स्त्रोत यही है, भले ही "चन्द्रगुप्त" नाटक मे चाणक्य की कूटनीनि उतनी प्रकट नही हो पाती जितनी "मुद्राराक्षस" मे।

चाणक्य का पर्वतेश्वर का मगध विजय के लिए ले जाना ऐतिहासिक है इसका आधार भी "मुद्राराक्षस" नाटक ही है। चाणक्य ने पर्वतक की सहायता से नन्दवश पर विजय प्राप्त की। मुद्राराक्षस का पर्वतक म्लेच्छराज है। प्रसाद ने ग्रीको के पोरस से उसे मिला दिया है। यह कहना कठिन है कि दोनो एक ही थे अथवा नही। "मुद्राराक्षस' के अनुसार- "नन्दवश की राजलक्ष्मी चन्द्रगुप्त केवशीभूत होकर भी चाचल्य नही त्याग की मूर्ति रही थी अर्थात् यह साम्राज्य के दो विभागो मे—चन्द्रगुप्त तथा पवतक के बीच बाँटे जाने के विचार से अस्थिर हो रही थी।[3]" इसका एक मात्र कारण यही था कि चाणक्य ने पर्वतक को अपना सहायक और मित्र बनाने की कूटनीति अपनाई थी। प्रसाद के नाटक मे भी चाणक्य पर्वतेश्वर को आत्महत्या करने से केवल इसलिए रोकता है कि यह उसकी सेना की सहायता पाकर नद विजय कर सके। पर्वतेश्वर राजलक्ष्मी से उदासीन है। राज्य के

---

१ मुद्राराक्षक अक १

२. वही अक ५

३. मुद्राराक्षम (अनु० हरिश्चन्द्र) कथावस्तु पृ० २५

एक मात्र विरोधी पर्वतेश्वर में महत्वाकाक्षा नही प्रतीत होती । वह राजलक्ष्मी से उदासीन है पर मुद्राराक्षस का पवतक अपने को मगध का भागीदार मानता है । यहाँ चाणक्य की कूटनीति कुछ दब गई है । मूल कथानक मे यह परिवतन कर प्रसाद ने क्या लाभ देखा यह नही कहा जा सकता ।

सुवासिनी के प्रति नद की कामुकता और राक्षस द्वारा उसकी रक्षा की घटना एकान्त काल्पनिक है । इससे एक लाभ हुआ है कि नद और राक्षक के बीच चाणक्य की कूटनीति से उत्पन्न भावी सघर्ष के लिये सुवासिनी का प्रणय सहायक बन गया है, और कथानक में सघर्ष के लिए प्रबल कारण आ गये हैं ।

चाणक्य की योजना है कि वणिको के रूप मे सारी सेना कुसुमपुर मे एकत्रित हो जाय, कथानक की दृष्टि से यह काल्पनिक है, किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र की दडनीति और कूट-युद्ध के पूर्णतया अनुकूल है । इससे उचित ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि होती है । शकटार सबधी कथा का आधार "कथा-सरित्सागर" है । "चन्द्रगुप्त" नाटक में शकटार को नद ने अधकूप मे डाल दिया । वह और उसके सातो पुत्रो को सत्तू और नमक मिला हुआ पानी दिया जाता था । सातो पुत्रो ने भूख से तडप कर प्राण दे दिए, अकेला शकटार पुत्रो की हड्डियो से सुरग बनाकर नद से बदला लेने बाहर निकल आया । और चाणक्य से मिल गया । "कथासरित्सागर" के अनुसार व्याढि, इन्द्रदत्त एव वररुचि अयोध्या के सम्राट नन्द के पास गुरुदक्षिणा के लिए दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ मागने गए । किन्तु जब वे वहाँ पहुँचे तो राजा की मृत्यु हो गई थी । इन्द्रदत्त ने योगबल से नद के शरीर मे प्रवेश किया । नद जीवित हो गया । व्याढि इन्द्रदत्त के शरीर की रक्षा करता रहा और वररुचि मुद्राएँ मागने चला गया । योगनद ने नन्द के मत्री शकटार को आज्ञा दी कि वररुचि को दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ दे दी जाय । शकटार ने आज्ञा तो मान ली किन्तु उसे सन्देह हो गया । उसने यह सोचकर कि जब तक नन्द का पुत्र छोटा है तब तक योगनन्द ही शासक रहे सारे राज्य के मृतको को भस्म कर दिया । इसी में इद्रदत्त का शरीर भी जल गया ।

योगनन्द ने व्याढि से सलाह ली । व्याढि ने कहा कि शकटाल को तुम पर सदेह हो गया है अतः तुम उसे बन्दी बना लो । अन्यथा वह उन्हे मारकर नद के अन्य पुत्र चद्रगुप्त को सिंहासन पर बैठा देगा । व्याढि दक्षिणा लेकर चला गया । वररुचि ने भी यही बात कही । इस पर योगनन्द ने शकटाल और उसके सौ पुत्रो को अन्धकूप में डलवा दिया । उन पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होने एक ब्राह्मण को जीवित जलाया है । उन्हे नित्य एक बर्तन में जल तथा अन्न में सतू दे दिया जाता था । एक दिन शकटाल ने अपने पुत्रो से कहा "पुत्रो इस गग-जल से एक आदमी भी कठिनता से जीवित रह सकता है, इतने लोगो का तो प्रश्न ही नही । अत. हम में से जो भी योगनन्द से बदला ले सकने में समर्थ हो वही नित्य इस जल और सत्तू को ग्रहण करे ।" सब पुत्रो ने शकटाल को ही इसके योग्य माना । शकटाल उस अन्धकूप में अपने पुत्रो को भूख से तडप-तडप कर मरता देखता रहा । अन्त में अपने पुत्रो की हड्डियो से घिरा हुआ शकटाल जीवित रहा । कालान्तर में योगनन्द ने विलासिता में फसकर सब काम वररुचि पर डाल दिया, वररुचि ने नन्द की आज्ञा लेकर शकटाल को

बन्दी-गृह से निकाल कर पुनः मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित किया। शकटाल बदले का अवसर ढूढता रहा।[1]

प्रसाद ने शकटाल के सौ पुत्रो के स्थान पर सात पुत्रो का ही उल्लेख किया है। साथ ही शकटाल की मुक्ति वररुचि द्वारा न होकर स्वय अपने ही प्रयत्नो से हुई है। इस परिवर्तन से विशेष ऐतिहासिक क्षति नही हुई है। किन्तु नद की क्रूरता और शकटाल के दुख और क्षोभ मे सहस्त्रो गुणा वृद्धि अवश्य हो गई है। इसी कारण कथानक के विकास में नद की क्षमायाचना के उपरान्त भी शकटाल द्वारा उसके वध मे कोई अनौचित्य नही प्रतीत होता। यह परिवर्तन प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी होने के साथ कथानक की काय कारण परम्परा में पूर्णतया सहायक बन कर आया है। कथासरित्सागर के अनुसार भी नद वध के लिये शकटाल ने चाणक्य से मैत्री की थी। नद की सभा मे चाणक्य का अपमान इसके बाद की घटना है। चाणक्य ने कृत्या द्वारा नद वध किया था।[2] प्रसाद ने राजसभा मे अपमान की घटना को पहिले रखा है और शकटार-चाणक्य की मैत्री का उपयोग मगध विद्रोह और शकटार द्वारा नद-वध के समय ही किया है। प्रसग को इस प्रकार पूर्वापर मिलाने से घटना को आवश्यक विस्तार मिल जाता है एव शकटार के बन्दी बनाये जाने से लेकर उसके द्वारा नदवध तक नाटक के तीन अक पूर्ण हो जाते है। यह काल-योजना के भी अत्यन्त अनुकूल है।

"चाणक्य-कथा" से ज्ञात होता है कि नदो ने अपने सेनापति मौर्य एव उसके सौ पुत्रो को ईर्ष्या के कारण बन्दी कर लिया। सब के सब बन्दीगृह में मर गये। अकेला चन्द्रगुप्त बचा। लका के सम्राट ने एक पिंजरे में बन्द सिंह की मूर्ति नद के पास भेजी थी। उसे बिना पिंजरा खोले कोई नही निकाल सका था। चन्द्रगुप्त ने मोम के सिंह को गरम लोहे की शलाकाओ से गलाकर पिंजरा खाली कर दिया। इस पर चन्द्रगुप्त तीन माह बाद मुक्त कर दिया गया। अपने पिता और भाईयो का बदला लेने का उसे एक अवसर मिला और उसने चाणक्य को श्राद्ध के लिये निमन्त्रित कर दिया, नदो ने चाणक्य का अपमान कर अपने नाश का मार्ग खोल दिया।[3] वस्तुत. "कथासरित्सागर" को शकटार-कथा और "चाणक्य कथा" की चद्रगुप्त-कथा एक ही प्रकार की है यह निश्चय है कि दोनो का मूल एक ही है और एक स्थान पर उसका प्रयोग शटकार के लिये तथा दूसरे स्थान पर चन्द्रगुप्त के लिए है। प्रसाद ने नद द्वारा मौर्य सेनापति एव उसकी पत्नी के बदी किये जाने के लिये "चाणक्य-कथा" का आश्रय लिया है। अन्तर केवल इतना है कि इसमे चद्रगुप्त बदी नही हुआ है और मौर्य सेनापति मृत्यु को प्राप्त नही हुआ है। ठीक मगध विजय के पूर्व वह अन्धकूप से निकलता है। यह परिवर्तन आवश्यक है अन्यथा वररुचि,

(१) कथारित्सागर—वौल्यूम १ पृ० ७-८ प्रथम तरग

(२) कथासरित्सागर—प्रथम तरग

(३) कौटिल्य (नारायण चद्र बन्द्योपाध्याय) पृ० ६
वेरुड आन रबिनतंकस प्रोज वर्शन कलकत्ता ओरिए टल सीरीज।

राक्षस एव सुवासिनी सबके साथ बदी मौर्य सेनापति की मृत्यु अस्वाभाविक हो जाती। प्रसाद को इस कथा की आवश्यकता केवल इसलिए पड़ी कि नद के पापो का प्याला इस अनाचार से छलक उठे और जनता का विरोध उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मालूम पडे। सभाव्यता की रक्षा के लिये यह आवश्यक है।

"कथासरित्सागर" से ही यह भी ज्ञात होता है कि नद ने वररुचि को भी बदी कर लिया था। परतु "चद्रगुप्त" नाटक में इसका कारण वररुचि का मौर्य पत्नी की रक्षा के लिये नद का विरोध करना है। कथासरित्सागर मे नद को उस पर सदेह हो गया था। नद के दरबार मे एक नया चित्रकार आया था। उसने योगनद और महारानी का एक चित्र बनाया। चित्र से प्रसन्न होकर योगनद ने चित्रकार को बहुत धन दिया और चित्र को अपने रनिवास मे लगाया। एक दिन जब वररुचि उस चित्र को देख रहा था तो उसने अपनी विद्या से जाना कि महारानी के चित्र मे उसके सभी शुभ-चिह्न नही बन पाये हैं। अतः उसने कटि के नीचे एक तिल बना दिया। क्रुद्ध होकर योगनद ने शकटार को आज्ञा दी कि महारानी से अनुचित सबध रखने के कारण वररुचि का वध कर दिया जाय। शकटाल ने वररुचि की रक्षा कर अपने घर में छिपा लिया, और किसी अन्य का वध करवा दिया। अन्त में वररुचि ने नद के पुत्र को योगबल द्वारा एक शाप से मुक्त कर कलक से मुक्ति पाई और स्वय वैरयानस हो गया।[1] प्रसाद ने इस कथानक को लिया ही नही है केवल वररुचि के बदी होने की घटना को लेकर उसकी बदीगृह से मुक्ति और पुनः चद्रगुप्त के मत्रित्व की योजना अपनी कल्पना द्वारा की है।

मालविका के पास राक्षस के पत्र और उसकी मुद्रा की घटना "मुद्राराक्षस-नाटक" से ली गई है। हम पहले कह चुके है कि प्रसाद ने मूल-कथानक मे पर्याप्त हेर-फेर कर घटना को अपने नाटक के अनुकूल तो बना लिया है, किन्तु इससे कौटिल्य और राक्षस मे कूट दाव-पेचो में उतनी शक्ति नही रह गई है।

मगध विद्रोह को घटना का आधार भी कथासरित्सागर ही है। वस्तुतः उसमें चाणक्य के क्रुद्ध होने के उपरान्त शकटाल की इच्छानुकूल चाणक्य ने कृत्या द्वारा सात ही दिन में नद का वध कर दिया। नद को भयकर ज्वर हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। शकटाल ने नद के पुत्र हिरण्यगुप्त का वध कर चद्रगुप्त को सिंहासनासीन किया। शकटाल ने चाणक्य को मत्री बनाकर स्वय पूर्णकाम होकर बन मार्ग का अवलम्बन किया।[2] प्रसाद ने चाणक्य के अपमानित होने से लेकर नद-वध के बीच कई घटनाएँ रखी है एव उनके बीच कई वर्षों का व्यवधान रखा है। इसका आधार ग्रीक इतिहास है। वस्तुत. भारतीय इतिहासकारो ने कही भी सिकन्दर के आक्रमण एव तज्जन्य परिस्थितियो का उल्लेख नही किया है। प्रसाद ने जब भारतीय और ग्रीक इतिहास को मिलाकर चद्रगुप्त-चाणक्य सबधी सभाव्य इतिहास को खोजने का प्रयास किया तो स्वभावतः उन्हे काल और घटनाओ में

---

(१) कथासरित्सार-प्रथम तरग

(२) कथासरित्सागर-प्रथम तरग

संभाव्यता और इतिहास के अनुकूल पर्याप्त हेरफेर करने पडे । अतः मगध विद्रोह मे शकटाल ने नद का वध किया नद के पुत्र का नही । इसके उपरान्त सर्वप्रथम उसी ने चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाने की घोषणा की ।

'मुद्राराक्षस' में चाणक्य राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का वध करन के लिये भेजी गई विष कन्या द्वारा पर्वतक का वध करवा देता है ।[1] महत्वाकाक्षी पर्वतक चाणक्य के हाथ की कठपुतली बनने के उपरान्त उसकी कूटनीति का शिकार बन जाता है । चन्द्रगुप्त नाटक में पर्वतेश्वर की महत्वाकाक्षा केवल चतुर्थ अ क के प्रथम दृश्य में प्रकट हुई है । मदमस्त पर्वतेश्वर कल्याणी के साथ बलात्कार कर आधे मगध पर शासन करना चाहता है । यहाँ चाणक्य की कूटनीति की आवश्यकता नही पडी है । नद दुहिता कल्याणी क्रोध में पर्वतेश्वर का वध कर स्वय आत्मघात कर लेती है और चन्द्रगुप्त के मार्ग के दोनो कटक दूर हो जाते है । यह घटना काल्पनिक है किन्तु महत्वाकाक्षा से रहित पर्वतेश्वर का वध सभवतः चाणक्य के लिये औचित्य के विरुद्ध होता । अत. एक आकस्मिक घटना द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या अधिक स्वाभाविक हुई है, यद्यपि इस कारण चाणक्य के चरित्र का विकास कम हो पाया है । विषकन्या वाली घटना को न लेकर प्रसाद ने ठीक ही किया है क्योकि विषकन्या का आलिगन चु बन आदि वर्ज्य दृश्य होने के कारण सभवत' वह घटना उन्हे 'मुद्राराक्षस' की ही भाँति सूच्य रूप में रखनी पडती । इस प्रकार के सूच्य दृश्य कथानक में कौतूहल की सृष्टि करने में प्रायः असमर्थ ही सिद्ध होते ।

सुवासिनी और चाणक्य के सम्बन्ध में राक्षस का सन्देह एव पुनः चाणक्य से उसकी प्रतिद्वद्विता केवल चतुर्थ अक की घटना को आगे बढाने के लिये आये हैं । वस्तुतः चतुर्थ अ क की घटना को हम नाटक से पूर्णतया अलग कर सकते हैं । मूल कथानक की एक चरमसीमा तृतीय अ क मे ही समाप्त हो जाती है अत. तृतीय और चतुर्थ अ क को जोडने के लिये कई छोटे छोटे काल्पनिक सघर्षों की सृष्टि की गई है । उन्ही में से एक यह भी है ।

चद्रगुप्त ने सिंहासन पर बैठते ही दक्षिण विजय की । इतिहास से ज्ञात होता है कि अशोक की एक मात्र विजय 'कलिंग-विजय' थी अत नर्मदा के दक्षिण प्रवेश की विजय का कार्य या तो बिन्दुसार ने किया या चंद्रगुप्त ने । स्मिथ का अनुमान है कि दक्षिण-विजय का कार्य सभवतः बिन्दुसार ने किया ।[2] किंतु अन्य ऐतिहासिक प्रमाण बिन्दुसार को किसी भी विजय की सूचना नही देते अतः यही स्वीकार करना उचित है कि यह विजय चद्रगुप्त ने ही की थी ।[3] विजयोत्सव सबधी घटना का आधार 'मुद्राराक्षस' है । अन्तर केवल इतना है कि मुद्राराक्षस मे 'कौमुदी महोत्सव' के कारण चाणक्य-चद्रगुप्त का सघर्ण बनावटी और चाणक्य की एक चाल मात्र है । प्रसाद ने उसे वास्तविकता का बाना पहिनाकर चद्रगुप्त के चरित्र की विशेषता प्रदर्शित की है । चद्रगुप्त रक्षा के लिये मालविका की हत्या, राक्षस

---

(१) मुद्राराक्षस अ क

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ० १७५

(३) दि एज आफ इम्पीरियल यूनिट पृ० ६१

का षडयन्त्र इत्यादि घटनाएं काल्पनिक है, किन्तु अर्थशास्त्र[1] और मुद्राराक्षस[2] दोनो से इनका संबंध जोड़ा जा सकता है। दोनो में शत्रुओं के षडयन्त्रों से राजा की रक्षा के प्रयत्नो का उल्लेख हुआ है। अपमानित होकर मौर्य सेनापति और चन्द्रगुप्त का माता का राज्य छोड़कर चले जाने की घटना पूर्णतया काल्पनिक है। परन्तु इसका उपयोग ग्रन्त में किया गया है जहाँ चाणक्य के चरित्र की मूल उज्ज्वलता के प्रदर्शन के लिये मौर्य सेनापति उसका वध करने जाकर भी क्षमा पाता है। चतुर्थ अंक के छठे दृश्य मे राक्षस को सिल्यूकस के पास भेजकर प्रसाद ने एक काल्पनिक घटना का सृजन किया है। उक्त घटना से यवन कन्या का चरित्र भले ही अधिक सुन्दर बन गया हो, पर राक्षस का चरित्र बहुत गिर गया, जो 'मुद्राराक्षस' के 'राक्षस' के चरित्र का पूर्णतया विरोधी है। यहाँ इस पर देश-द्रोह का आरोप लग सकता है।

जहाँ तक आम्भीक का प्रश्न है, यह कहना कठिन है कि आम्भीक ने चन्द्रगुप्त के साथ संधि की अथवा नहीं। अलका वाली घटना तो काल्पनिक है ही, आम्भीक और चाणक्य का सम्पूर्ण संवाद भी काल्पनिक है। आम्भीक का हृदय परिवर्तन करना अभीष्ट होने के कारण प्रसाद ने इस घटना का सृजन किया है। इतिहास से इस संबंध मे कोई प्रमाण नहीं ढूँढे जा सकते। सुवासिनी संबंधी सम्पूर्ण घटनाएं काल्पनिक हैं—अतः चाणक्य द्वारा सुवासिनी की अंतिम प्रार्थना का ठुकराया जाना और सुवासिनी का ग्रीक शिविर में जाकर राक्षस और कार्नेलिया दोनो के हृदयो मे परिवर्तन करना ऐतिहासिक नहीं हो सकता। इससे घटना का प्रवाह अवश्य बढ़ता है और वैचित्र्य की सृष्टि होती है।

सिल्यूकस का आक्रमण अवश्य ऐतिहासिक है और उसकी हार भी।[3] यह भी सत्य है कि सिल्यूकस ने संधि की वार्ता में निषध पर्वतमाला तक के प्रवेश को चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा मान लिया था। और साथ ही दोनो सम्राटो के बीच एक वैवाहिक संबंध भी हुआ।[4] इतिहास से इसके पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि सिल्यूकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त से ही हुआ था। प्रसाद ने संधि की शर्तों मे इन दोनो का उल्लेख किया है। साथ ही सीरिया पर ओंटिगोनेस की चढ़ाई का फायदा उठाकर सिल्यूकस को इन शर्तों को स्वीकार करने के लिये मजबूर कर दिया गया है। प्रसाद के अनुसार एक गज-सेना भी सिल्यूकस की सहायता के लिये गई थी। यह घटना भी इतिहास सम्मत है।[5] सिल्यूकस ने परोपनिषद (काबुल) एरिया (हिरात) एरेकोसिया (कंधार) और गैड्रोसिया (मकरान) के इलाके चन्द्रगुप्त को दिये थे।[6] चतुर्थ अंक का तेरहवां दृश्य पूर्णतया काल्पनिक होने के साथ ही बहुत कुछ ऐतिहासिकता का विरोध करता हुआ प्रतीत होता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि

(१) सुरंगया रात्रौ राजावासमनुप्रविश्य गुप्तमित्र हन्यात्—अर्थशास्त्र १२।५।६५
(२) मुद्राराक्षस अंक २ पृ० २६
(३) स्ट्राबो-बुक २ चैप्टर २, ६
(४) देखिये 'चन्द्रगुप्त एँड दि मौर्य इम्पायर' (राधाकुमुद मुकर्जी) पृ० ६०
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया—(स्मिथ) फुटनोट पृ० १२५
(६) वही (स्मिथ) एपैन्डिक्स 'एफ' पृ० १५८

चद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त सम्भवतः चाणक्य ने बिंदुसार का मन्त्रित्व भी किया था।[१] ऐसी दशा मे यहाँ चाणक्य का 'निष्काम होकर' विरक्त हो जाना, ऐतिहासिक नही है। इसमे सदेह नही कि इस परिवर्तन से चाणक्य के चरित्र की उदात्तता का पूर्ण चित्रण हो सका है, किन्तु घटना-क्रम कुछ बदल अवश्य जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रसाद ने मुद्राराक्षस के अ तिम अ क को थोडा-सा बदल कर अपना बना लिया है।[२] चाणक्य की प्रेरणा से ही चद्रगुप्त को राक्षस का मन्त्रित्व मिल सका है। दूसरा ऐतिहासिक आधार जैन इतिहास है।[३] जिसके अनुसार चद्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही जैन साधु हो जाते हैं। प्रसाद ने उसे स्वय ही अनैतिहासिक और भ्रामक मान लिया है।[४]

इसी दृश्य मे मौर्य सेनापति द्वारा चाणक्य के बध का प्रयत्न, सुवासिनी द्वार उसकी रक्षा और अन्ततः चाणक्य द्वारा उसको क्षमा किया जाना काल्पनिक घटनाए हे और मात्र चाणक्य और चद्रगुप्त के चरित्रो को उदात्त बनाने के लिये इनका उपयोग किया गया है।

अ तिम दृश्य की घटना का सबध इतिहास से होना ही चाहिये। चद्रगुप्त और सित्यूकस की सधि यदि इतिहास है, उनके बीच कन्या समप्रदान यदि ऐतिहासिक सत्य है तो अ तिम दृश्य की ऐतिहासिक सभाव्यता मे कही भी आघात नही पहुँच सकता।

---

(१) (स्मिथ) पृ० १५७
(२) मुद्राराक्षस
(३) रामलाल १७२, इडियन ऐंटिक्वेरी २१। (१८९२) पृ० २८७
(४) चद्रगुप्त (भूमिका) पृ० ५०



(ग) 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक

'ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु का आधार गुप्तकालीन इतिहास के संबध में नूतन ऐतिहासिक गवेषणा थी। प्रसाद के समकालीन इतिहासकारो ने 'शृंगार प्रकाश' और 'नाट्य दर्पण' से प्राप्त 'देवी चद्रगुप्त' नाटक के कुछ उद्धरणो के आधार पर रामगुप्त और ध्रुवदेवी के संबध में लुप्त इतिहास की एक नवीन कडी को जोडने का प्रयास किया। प्रसाद ने इस नाटक के उत्स के लिये ध्रुव इतिहास की जिस सामग्री का उल्लेख किया है उसमे से सजात ताम्रपत्र, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, हर्षचरित, शृंगार प्रकाश तथा नाट्य-दर्पण मुख्य हैं। भूमिका मे जिन इतिहासकारो की उन्होने चर्चा की है वे जायसवाल राखल-दास बनर्जी, अल्टेकर, अबुलहसन अल्वी तथा भण्डारकर है। स्मृतिकारो मे नारद और पाराशर को प्रमाण स्वरूप ग्रहण किया गया है।

जहाँ तक कथानक का प्रश्न है, 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक न तो 'अजातशत्रु' की तरह कई कथानको से बना है और न उनमें स्कदगुप्त की तरह ही कथानक ऋजु कुंचित बनाकर विकसित किया गया है। चद्रगुप्त और राज्यश्री की तरह उसमे सुदीर्घ काल की सामग्री को बलपूर्वक ठूसने का प्रयास भी नही है। कथानक अत्यन्त सीधा एव सरल है। अतः तीन अंको मे विभाजित इस नाटक की कथावस्तु का प्रत्येक अंक मे गुंफित कथावस्तु के आधार पर ही विवेचन किया जाना उचित है।

वस्तुतः रामगुप्त सबधी इतिहास के अनुसन्धान का श्रेय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जाता है। उसके उपरान्त डाक्टर सिलवा लेवी ने इस समस्या पर विचार किया था। प्रसाद ने नाटक की भूमिका में इन दो नामो का उल्लेख नही किया है, यद्यपि इनके बाद के सभी इतिहासकारो की उसमें यथास्थान चर्चा हुई है।

रामगुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। अयोग्य एव दुर्बल चरित्र का व्यक्ति होने के कारण सम्राट् ने उसे राज्याधिकार से वचित कर चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित कर दिया। किन्तु समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त शिखर स्वामी ने "ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होना चाहिए"—इस सिद्धान्त की आड लेकर रामगुप्त को ही सम्राट बना दिया। गुप्तकुल की गौरव-रक्षा के विचार से चन्द्रगुप्त ने भरत के समान प्राप्य राज्य का भार रामगुप्त को ही सौप दिया पर कुटिलता की प्रतिमूर्ति रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी का भी अपहरण कर उससे विवाह कर लिया। विवाहित होने पर भी ध्रुवस्वामिनी को नीरव अपमान के अतिरिक्त और कुछ न मिला। वह यह भी न जान सकी कि उस पर राजा का कितना अनुग्रह है, न उसने कभी उसका मधुर सभाषण सुना, क्योकि विलासिनियो के साथ मदिरा मे उन्मत्त रामगुप्त को अपने ही आनन्द से अवकाश नही मिलता था। विवाह के पूर्व ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त एक दूसरे पर आसक्त थे। चन्द्रगुप्त

के प्रति ध्रुवस्वामिनी के मनोभावो को जानने के लिए सशयी रामगुप्त ने गूगी का अभिनय करने वाली खड्गधारिणी को उसकी अगरक्षिका बना दिया और कुज की आड में छिपकर उसने जान लिया कि जगत की अनुपम सुन्दरी राजाधिराज होते हुए भी उससे स्नेह नही करती और उसके हृदय के किसी कोने में अब भी चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम छिपा हुआ है। रामगुप्त को यह भी आशका थी कि सहसा राजदड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। इसलिए सभी विरोधी तत्वो को एक साथ हटाने के लिये उसने एक दुष्ट उपाय सोच निकाला।

रामगुप्त दिग्विजय करने निकला। पार्वत्य प्रदेश में शको ने उस पर आक्रमण कर दिया और किसी पहाडी राह से उतर कर नीचे का गिरिपथ रोक लिया। शिविर घिर गया। शकराज ने सधि का जो प्रस्ताव भेजा उसमें एक शर्त यह थी कि महादेवी ध्रुवस्वामिनी शकराज को समर्पित की जाय और उसके सामन्तो को मगध के सामन्तो की स्त्रियाँ भेंट में दी जायँ। रामगुप्त किसी ऐसे ही सुअवसर की प्रतीक्षा में था जिस में भीतर और बाहर सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हो। अतः महादेवी के समक्ष ही शिखरस्वामी के परामर्श से यही निर्णय किया गया कि राष्ट्र के हित के लिए स्त्री सप्रदान के अतिरिक्त और कोई उपाय नही और राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में रानी की बलि देनी ही होगी। ध्रुवस्वामिनी ने रामगुप्त से पत्नी के अधिकार की रक्षा की माग की, पर वह ठुकरा दी गई। ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या का प्रयत्न कर ही रही थी कि मदाकिनी से यह समाचार पाकर कि चन्द्रगुप्त वहा आ पहुँचा। जिस कुलमर्यादा की रक्षा के लिये उसने राजदण्ड ग्रहण न कर अपना प्राप्त अधिकार छोड दिया उसी का इस प्रकार पददलित होना उसे सहन नही हुआ। उसने रामगुप्त और शिखरस्वामी दोनो को बुरी तरह फटकारा और यह निर्णय किया कि सामन्तकुमारो को लेकर ध्रुवस्वामिनी के वेश में वह स्वय शकराज के पास जायगा। पर रामगुप्त तो ध्रुवस्वामिनी को भी दण्ड देना चाहता था। अतः उसने राजाज्ञा के नाम पर ध्रुवस्वामिनी को भी शकराज के पास जाने को विवश किया। इस अवसर पर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम का भी सकेत मिल जाता है। इस अक में बोने, कुबडे और हिजडो के द्वारा हास्यरस की सृष्टि करने का भी प्रयास किया गया है।

शकराज के गुरु मिहिरदेव की पालिता कन्या कोमा शकराज को प्यार करती थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि सधि की शर्तों में ध्रुवस्वामिनी को शकराज ने उपहार स्वरूप मागा है तब उसने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसने और मिहिरदेव ने भी शकराज को समझाने की बहुत चेष्टा की, पर शकराज पर इसका कोई प्रभाव नही पडा। मिहिरदेव ने आकाश मे धूमकेतु की ओर सकेत कर उसके सर्वनाश की ओर सकेत किया और उसे छोड कर चल दिया। और कोमा भी शकित शकराज के रोकने की चिन्ता न कर चली गई। रामगुप्त द्वारा सधि की शर्तें स्वीकृत होने के फलस्वरूप अनायास प्राप्त की हुई विजय के उपलक्ष मे शकराज के दुर्ग में रागरग चल हो रहा था कि ध्रुवस्वामिनी के वेश में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को लेकर दुर्ग में आ पहुँचा। वास्तविक ध्रुवस्वामिनी कौन है इस पर क्षणिका वाद-विवाद के अन्त में चन्द्रगुप्त ने शकराज का वध कर डाला और उसका तूर्य-

नाद सुनकर सामन्तकुमारो ने शक दुर्ग को जीतकर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

शकदुर्ग की स्वामिनी ध्रुवस्वामिनी और मदाकिनी ने शातिकर्म के लिये आये हुए पुरोहित के सामने क्लीव पति और अयोग्य राजा के द्वारा परित्यक्ता एव क्रीतदासी के समान शत्रु के पास प्रेषिता नारी के अधिकारो का प्रश्न रखा। पुरोहित एक बार पुनः धर्म शास्त्र का मथन कर निर्णय देने का आश्वासन देकर चला गया। कोमा और मिहिरदेव शकराज का शव लेकर जा रहे थे कि रामगुप्त के सैनिको ने दोनो का वध कर डाला। इस घटना से सामन्तकुमार उत्तेजित हो गये। उधर रामगुप्त के सैनिको ने चन्द्रगुप्त को भी बन्दी बना लिया और जब ध्रुवस्वामिनी के व्यग-प्रहारो से क्रुद्ध होकर रामगुप्त ने उसे भी बन्दी बनाने की आज्ञा दी तो चन्द्रगुप्त ने लौहशृखलाए तोड दी और परिषद् के सामने अपने अधिकार रखे। परिषद् ने निर्णय दिया कि रामगुप्त आर्यसाम्राज्य के पवित्र सिंहासन पर बैठने के अधिकार से पदच्युत किया जाय और गौरव से नष्ट, आचरण से पतित, कर्मों से राजकिल्विषी क्लीब रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर भी कोई अधिकार नही। इस निर्णय से बौखलाया हुआ रामगुप्त चन्द्रगुप्त पर वार करना ही चाहता था कि एक सामन्तकुमार ने रामगुप्त का वध कर दिया।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु का विवेचन किया जा सकता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की परिणीत पत्नी थी। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणो से इसकी पुष्टि होती है,[1] और इस तथ्य को प्राय. सभी इतिहासकारो ने एकमत से स्वीकार कर लिया है।[2] रामगुप्त समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। किन्तु गुप्त-कुल का यह नियम नही था कि ज्येष्ठपुत्र ही सर्वदा सिंहासन का अधिकारी होता है। इस धारणा का आधार समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे वर्णित "राजपद के लिये चुनाव" की घटना है। उसमे पिता द्वारा चन्द्रगुप्त के चुन लिये जाने पर परिषद् के सभ्यो एव तुल्य-कुलज अन्य राजकुमारो की मानसिक स्थितियो का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अधिकाश गुप्तकालीन शिलालेखो मे "तत्परिगृहीतो' विशेषण का स्थान स्थान पर प्रयोग भी इसी ओर सकेत करता जान पडता है।[3]

स्वय चन्द्रगुप्त के शिलालेखो मे समुद्रगुप्त के उपरान्त चन्द्रगुप्त का ही उल्लेख आता है। रामगुप्त का नाम कही भी नही आता। अत. प्रसाद तथा अन्य इतिहासकारो के विचारो के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाय कि गुप्त-वशावली मे रामगुप्त का नाम न आना आश्चर्यजनक नही,[4] तो भी हमारे नाटक के सबध मे यह समस्या बराबर बनी रहती है

(१) देखिये 'समीक्षायण' मे डा० सहल का लेख

(२) जर्नल आफ बिहार ऐंड ओरीसा रिसर्च सोसायटी
—अल्टेकर का लेख वौल्यूम १४ आफ १९२८

(३) सभ्येषूच्छ्वसितेषु-तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षित:
—प्रयाग प्रशस्ति (सरकार) पृ० २५४

(४) स्कन्दगुप्त का बिहार का शिलालेख। न० २९ व भिटारी का शिलालेख। न० २८ (सरकार)

क्योंकि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को ही भावी शासक चुना था तो रामगुप्त किस प्रकार सिंहासनासीन हो सका। नाटक से ज्ञात होता है कि रामगुप्त आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल गुप्तसिंहासन पर बैठा था और वह ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण सम्राट बन सका था। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के विरुद्ध कोई षडयन्त्र करके रामगुप्त शिखिरस्वामी की सहायता से गुप्त-सिंहासन पर बैठा। परन्तु इतिहास से ऐसा कोई भी प्रमाण नही मिलता। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के जो उद्धारण अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के बीच परस्पर प्रेम और सौहार्द की भावना थी। यदि शक-युद्ध और चन्द्रगुप्त की विजय से पूर्व रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच राज्याधिकार के कारण विरोध होता तो शायद विशाखदत्त की लेखनी से ये शब्द न निकल सकते :—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। न खल्वह त्वा परित्यक्तुमुत्सहे।
प्रत्यग्रयौवन विभूषितमगमेतद्।
रूपश्रिय च तव यौवन योग्यरूपाम्।
भक्ति च मय्यनुपमा नु रुध्यमानो।
देवी त्यजामि बलवास्त्वयि मे अनुराग.॥[1]

(उठो, उठो, तुम्हारा त्याग करने मे मैं असमर्थ हूँ। यौवन मे विभूषित तुम्हारा यह अ ग, यौवन के अनुरूप तुम्हारा यह मोहक सौन्दर्य और मुझ मे तुम्हारी यह अनुपम भक्ति—इन सबको देखते हुए मैं तुम्हारा त्याग न कर, ध्रुवदेवी को त्याग देता हूँ। तुम पर तो मेरा प्रबल अनुराग है, गाढी प्रीति है।)

जो राजा अपने भाई के प्रति ऐसे वचनो का उच्चारण कर रहा है वह कम से कम उस समय तो उसका विरोधी नही होगा। इसके अतिरिक्त अबुलहसन अली से भी इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि रामगुप्त ने शिखर की कूटनीति द्वारा छल से राज्य प्राप्त किया होगा। जायसवाल साहब का अनुमान है कि गुप्त साम्राज्य के द्वारा हिन्दू धर्म के विकास के प्रभाव फल के स्वरूप हिन्दू धर्म के उत्तराधिकारी का नियम अन्ततोगत्वा इस सघर्ष मे विजयी हुआ हो तथा चद्रगुप्त ने भरत के आदर्श पर चलकर अपने बडे भाई के लिए राज्य छोड दिया हो।[2] किन्तु प्रसाद इस बात को स्वीकार नही करते कि चद्रगुप्त ने स्वेच्छा से राज्य छोडा। यह कहना कठिन है कि किस आधार पर उन्होने चद्रगुप्त के राज्याधिकार को रामगुप्त द्वारा अन्याय से छिनवाया।

नाटक के प्रथम अक के प्रारम्भ मे ही ध्रुवस्वामिनी के अन्तर्द्वन्द्व से यह ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी चद्रगुप्त से प्रेम करती है और रामगुप्त को इस बात की पूर्ण आशका है। आगे चलकर यह भी ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी चद्रगुप्त की वाग्दत्ता थी, किन्तु रामगुप्त के राज्याधिकार पा जाने पर वह रामगुप्त की पत्नी हुई। इसी कारण कुमार पर भी राजकोप है। वस्तुत ध्रुवस्वामिनी एव चद्रगुप्त के इस पूर्व-राग का साक्षी कोई भी नही। 'देवीचद्रगुप्तम्' से तो यह भी ज्ञात नही हो पाता कि ध्रुवस्वामिनी कौन थी और उसका

---

(१) ध्रुव० (भूमिका) पृ० ४ (२) जर्नल ऑफ बी एंड ओ रिसर्च सोसायटी वी १४।१९२८

रामगुप्त मे कैसे परिणय हुआ । पूर्ण नाटक के अभाव मे यह कहना कठिन है कि नाटक का अत किस प्रकार हुआ होगा । नाटक मे प्रसाद की मान्यताओ का एक आधार 'अबुलहसन-अली' की कथा है । उसके अनुसार रानी का विवाह पहिले बर्कमारीस (विक्रमादित्य) से निश्चित हुआ था , किंतु उसके बडे भाई रुवाल (राम) ने उसको अपनी रानी बना लिया ।[1] यदि इस पूर्व-राग के लिए ठोस आधार है तो इतना ही । अन्यथा सजन ताम्रपत्र के 'हत्वा भ्रातरमेव राज्य महरद्देवी स दीनस्तथा' जैसी उक्तियो से तो केवल इस अंतिम घटना से पूर्व स्थितियो की कल्पना भर की जा सकती है । प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी के गुप्त-कुल मे आने का कारण समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर 'कन्योपायनदान' की प्रथा को माना है ।[2] यह सभाव्य होते हुए भी इस घटना के सबध में इसकी ऐतिहासिकता को नहीं माना जा सकता । नाटक के प्रारम्भ में ही रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर चद्रगुप्त-अनुरक्ति का सन्देह और उसको प्रमाण-सग्रह के लिए एक खड्गधारिणी की नियुक्ति, पूर्णतया काल्पनिक घटनाएँ ह और केवल ध्रुवस्वामिनी के अतद्व न्द्व की सूचक ह । 'देवीचद्रगुप्तम्' अशो से तो ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त से सहज सबध था । बहुत सभव है वह एक भारतीय नारी के ही समान पति मे अनुरक्त भी हो । रामगुप्त ने स्त्रीवेशधारी चद्रगुप्त को भेजना अस्वीकार कर ध्रुवदेवी को ही शत्रु के पास भेजने का निर्णय कर लिया । स्त्री वेशधारी चंद्रगुप्त से राजा ने जो कुछ कहा वह ध्रुवदवो ने नेपथ्य से सुन लिया था । अतः चद्रगुप्त को अन्य स्त्री समझकर राजा के वाक्यो का मनमाना अर्थ निकालती रही, और बारबार राजा के प्रति अपनो निष्ठा और प्रेम का सूचना देती रही ।

"ध्रुवदेवी—(अन्य स्त्री शकया)—(जई भक्ति अवेक्खसि तवो म मन्दाभाइणि ण परिच्चइस्ससि ।) यदि भक्तिमवेक्ष से ततो मा मन्दभागिनी न परित्यक्षसि । (यदि आप भक्ति की ओर देखे तो मुझ मदभागिनी का कभी त्याग न करेंगे ।

राजा—अपि च त्यजानि देवी तृणवत् त्वदन्तरे (तुम्हारे लिए मैं देवी को तृणवत् छोड सकता हूँ)

× × × ×

ध्रुव०—(अह वि जोविद परिच्चअन्ती अज्जउत्त पढमदरज्जेव्व परिच्चइस्सं) अह-मपि जीवित परित्यजन्ती आर्यपुत्र प्रथमतरमेव परित्यक्षामि (उसके पहिले तो मैं ही प्राणत्याग करके स्वामी को छोड दूँगी ।

× × × ×

राजा—दृढेति देवी प्रति मे दयालुता

(देवी के प्रति मेरी दयालुता अब भी दृढ है)

ध्रुव०—(इय अज्जउत्तस्स दयालुता ज अणवरद्धो जणो अणुगदो एव्वं परिच्चईअदि ।) इयमार्यपुत्रस्य दयालुता तदनपराधो जनोऽनुगत एव परित्यज्यते (जिसने कोई

---

(१) जर्नल ऑफ बी । ऐण्ड ओ रिचर्स सोसायटी

—वौल्यूम १८। १९२८

(२) देखिये जायसवाल का लेख—

—जर्नल आफ बी एण्ड ओ रिचर्स सोसायटी । वौ० १८।१९३२

अपराध नही किया और जो आर्य पुत्र की अनुगामिनी है, उसका इस प्रकार परित्याग किया जा रहा है, क्या खूब।"[१]

× × × ×

उपर्युक्त उद्धरण मे ध्रुवस्वामिनी स्वय राजा की अनुगामिनी होना स्वीकार करती है, साथ ही अन्य स्त्री के प्रति राजा के आकर्षण की ईर्ष्या और तज्जन्य कटुता उसमे पर्याप्त मात्रा मे है।[२] प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत प्रारम्भ से ही यह करने का प्रयास किया है कि ध्रुवस्वामिनी ने न तो कभी राजा से सरल सभाषण किया और न राजा के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की निष्ठा या अनुराग ही था। यह सब प्रसाद की अपनी योजना है और कोई इसका ऐतिहासिक आधार नही है। इसी कारण प्रारम्भ से ही कुमार चद्रगुप्त राजकोप का भाजन बना, इसका भी कोई प्रमाण नही मिलता। वस्तुतः प्रसाद ने प्रारम्भ से ही समस्त कथानक अपनी इच्छा के अनुसार मोड दिया है।

प्रतिहारी सूचना देता है कि शको ने किसी पहाडी राह से उतरकर नीचे का गिरि-पथ रोक दिया है और शिविर का सबध राजपथ से छूट गया है। इससे पुनः एक नवीन प्रश्न उठ खडा होता हे कि यह घटना कहाँ और क्यो हुई ? नाटक में आगे दी गई सूचनाओं से ज्ञात होता है कि रामगुप्त भी समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था और किसी पहाडी प्रदेश मे शको ने उस पर आक्रमण कर दिया। इतिहास से रामगुप्त की किसी भी दिग्विजय की सूचना नही मिलती। सभव है समुद्रगुप्त की ही तरह रामगुप्त (काच) के सिक्को में भी 'काचोगा अभिजित्य दिव कमभिर-उत्तमीर जयति सर्वराजोच्छेता'[3] जैसा विरुद्ध देखकर प्रसाद ने इसकी कल्पना करली हो, परन्तु घटना ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक ही कही जायेगी। जहाँ तक शको के आक्रमण का प्रश्न है, यह घटना अवश्य ऐतिहासिक मानी जा सकती है क्योकि 'नाट्य दर्पण' के अनुसार—'यथा देवीचद्रगुप्ते द्वितीयेंऽके प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी सप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासु. प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्य. कुमार चद्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते'[४] यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रजा को आश्वासन देने के लिए' राजा रामगुप्त ने शको को ध्रुवदेवी का देना स्वीकार कर लिया। अत. यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शको ने रामगुप्त को कही इस प्रकार पराजय अवश्य दी जहा वह इतने बडे अपमान को भी चुपचाप पी गया, और स्त्री सम्प्रदान के लिए प्रस्तुत हो गया। शको के आक्रमण सम्बन्धी विवरण हमे कही नही मिलते किन्तु इसी घटना सबधी श्रृगाररूपक, काव्यमीमासा और हर्षचरित के एक एक स्वतत्र उद्धरणो से इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि शको ने रामगुप्त को पराजित कर ध्रुवदेवी की माग की होगी और उसने इस

---

(१) समीक्षायण—डा० कन्हैयालाल सहल 'ध्रुवस्वामिनी का अनुमानिक कथानक'

(२) अत्र स्त्रीवेशनिह्नुते चद्रगुप्ते प्रियवचनै. स्त्री प्रत्ययाद्ध्रुवदेव्या
गुरुमनुसतापरूपस्य व्यसनस्य सप्राप्तिः"
—जे बी ओ आर ऐस (अल्टेकर का लेख)

(३) (ऐलैन)—कैटलोग ऑफ इण्डिया काइन्स ३२।३

(४) जे बी ओ आर ऐस—अल्टेकर का लेख

शर्तं को स्वीकार कर लिया होगा। इस आक्रमण के संबध मे अबुलहसन अली की सूचना महत्वपूर्ण है।[1] अबुलहसन अली लिखता है।

'रसाल स्कद का पोता और अयद का पुत्र था। रव्वाल (रामगुप्त) के सिंहासनासीन होने के पूर्व वह भगा दिया गया। रसाल के पुत्र ने एक बडी सेना लेकर आक्रमण किया और रव्वाल को भगा दिया। रव्वाल अपने भाइयो और प्रधान पुरुषो के साथ एक पहाडी दुर्ग में चला गया। दुर्ग की रक्षा का प्रबन्ध कर वे निश्चित हो गये, पर शत्रु ने बडी चतुराई से दुर्ग को घेर लिया। रव्वाल ने सधि करनी चाही। उत्तर मिला कि तुम्हारी नवविवाहिता वधू साम्राज्ञी के साथ यदि प्रत्येक राजपुरुष मेरे सरदारो के लिये एक एक लडकी भेजे तो मैं वापस लौट सकता हूँ।"[2] यहाँ स्पष्ट ही पहाडी दुर्ग की चर्चा हुई है। राजशेखर के उद्धरण में भी—'तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे गीयन्ते तव कार्तिकेय नगरस्त्रैणा गणैः कीर्तयः[3] हिमालय की गुफाओ का उल्लेख सभवत' इसी ओर सकेत करता हो। विद्वानो ने इसी आधार पर इस युद्ध का कार्तिकेयपुर मे होना स्वीकार किया है, जिसका वे कागडा से लेकर अल्मोडा मे बैजनाथ की घाटी तक मे होना स्वीकार करते है।[4] कुछ भी हो प्रसाद ने किसी नाम का उल्लेख नही किया, अतः हम इस प्रश्न को यही छोड सकते है।

ऊपर अबुलहसनअली के आधार पर हम देख चुके हैं कि सधि की प्रार्थना रव्वाल (रामगुप्त) ने की थी। किन्तु प्रसाद ने प्रथम अक मे ही यह प्रदर्शित किया है कि शकराज ने सधि के लिये दूत भेजा। शकराज समुद्रगुप्त की दिग्विजय में पराजित शको का बदला इस प्रकार अपमानजनक प्रस्ताव से लेना चाहता था। इस शकराज का प्रसाद ने कोई नाम नही लिखा है। अत' यहाँ यह प्रसग उठाना भी अनावश्यक सा ही है कि यह शकराज कौन था। इतिहासकारो की मान्यता है कि वह सभवतः रुद्रसिंह तृतीय था जो पश्चिमी क्षत्रपो की शाखा का शासक था।[5] सभव है प्रसाद का शकराज यही रुद्रसेन हो। दूत सबधी घटना का अन्य कोई प्रमाण नही है, अत. यही मानना पडेगा कि प्रसाद की उक्त मान्यता अपनी स्वतन्त्र है, ऐतिहासिक नही।

जहाँ तक सधि की शर्तों का प्रश्न है प्रसाद ने इस सबध मे अबुलहसनअली को पूर्णतया स्वीकार किया है। 'देवीचद्रगुप्तम्' से तो केवल यही अनुमान होता है कि शको ने ध्रुवदेवी की ही माग की थी। हर्षचरित के टीकाकार शकर के कथन से अवश्य हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शकाधिपति ने केवल ध्रुवदेवी की ही माग न की होगी वरन् साथ ही अन्य

---

१ अबुलहसन अली एक अरबी था जिसने किसी भारतीय पुस्तक का 'मुजमुल उल तवारीख' के नाम से अरबी में अनुवाद किया। १०२६ ई० मे इसका फारसी मे अनुवाद हुआ।
—वही

(२) जे बी ओ आर ऐस—जायसवाल १८।१९३२

(३) वही—काव्य मीमासा (राजशेखर) १४।१९२८

(४) ध्रुव० (भूमिका) पृ० ८

कुल कन्याओं को भी मागा होगा। ठीक यही सूचना 'मुजमुल उल तवारीख' से मिलती है। नाटक में संधि की इस अपमानजनक शर्तों को राजा अपने मन्त्री शिखरस्वामी की मत्रणा के आधार पर स्वीकार कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वय रामगुप्त भी ध्रुव-स्वामिनी से मुक्त होना चाहता था। यही बीच मे कुबडे-बौने-हिजडे का एक काल्पनिक हास्य-व्यगात्मक प्रसग आया है जो अनैतिहासिक है किन्तु अनावश्यक नही, क्योकि इसी प्रसग से चद्रगुप्त के मन मे स्त्री वेशधारण करने का विचार उत्पन्न होता है। शिखरस्वामी सधि की ये शर्तें ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख रखना है। यह सम्पूर्ण घटना तो नही किन्तु इसका एक भाग 'मुजमुल-उल-तवारीख' से लिया गया है। अबुलहसनअली लिखता है :—

"जब ख्वाल को सधि की शर्तों का ज्ञान हुआ, तो वह निराश हो गया। उसका सफर नामक एक अन्धा वजीर था उससे उसी से करणीय कर्त्तव्य पूछा। वजीर ने उत्तर दिया कि वह स्त्री को दे दे और अपनी रक्षा करले, तभी वह बाद में शत्रु से बदला ले सकता है। यदि वह मर गया तो पुत्र, स्त्री और धन से क्या लाभ। अन्त मे यह निश्चय हो गया कि स्त्री-सम्प्रदान ही ठीक है।[१]

ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और शिखरस्वामी सम्पूर्ण वार्तालाप काल्पनिक है। हाँ, इतना अवश्य माना जा सकता है कि राजा के चरणो मे बैठकर ध्रुवस्वामिनी ने दया की जो भिक्षा मागी, सभवत उसको लिखते समय प्रसाद के मन में 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का पूर्वोक्त प्रसग रहा हो जिसमें अन्य स्त्री की शका से ध्रुवदेवी स्वगत कथनो द्वारा अपने उद्गार प्रकट करती है।[२] राजा के प्रति ध्रुवदेवी का क्रोध 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के निम्न अवतरण में मिलता है—

राजा—देवी वियोग दु.खार्तान्स्त्वमस्यान् रमयिष्यसि (देवी के वियोग के दुख से हम दुखी होगे, किन्तु तुम्हारे पास रहने से हम उस दुख को भूल जायेंगे।)

ध्रुव०—(विजोअदुक्ख वि दे अकरुणस्य अत्थि) वियोग दु खमपि ते अकरुणस्यास्ति। (तुझ जैसे निर्दय को क्या मेरे वियोग का दुख भी होगा।)

इसी अक मे नाटक मे ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करना चाहती है, और चद्रगुप्त सहसा आकर उसकी रक्षा कर लेता है। आत्महत्या के प्रसग का आधार भी देवीचन्द्रगुप्तम् में मौजूद है—

"ध्रुव :—(अदो जेव्व मन्दभाआ परिच्चइज्जा) अतएव मन्दभागा परित्यज्यते। (इसीलिये तो मुझ मन्दभागिनी का परित्याग किया जा रहा है।)

"ध्रुव :—(हिञ्जे, ईसदी अज्जउत्तस्य करुणाहीणदा।) हञ्जे! ईदृसी आर्य-पुत्रस्य करुणाहीनता। (अरी! इस हद तक आर्यपुत्र निष्ठुर हो गये हैं।)

---

(१) शाकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजाया ध्रुवदेवी प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवेशधारिणा स्त्रीवेशजन परिवृतेन व्यापादितः"

—वही

(२) जे बी ओ आर एस —१८।१६३२

(३) देखिए पीछे, और भी—

ध्रुव—(अह वि जीविद परिच्चअन्ती अज्जउत्त पढमदर जेव्व परिच्चइस्से) अहमपि जीवित परित्यजन्ती आर्यपुत्र प्रथमतरमेव परित्यक्षामि । (उसके पहिले तो मैं ही प्राण त्याग करके स्वामी को छोड दूगी)

—: तथा :—

ध्रुवः—(मम वि सपद णिफलो जीवलोओ सुपरिच्चणीओ भविस्सदि) ममापि साम्प्रत निष्फलो जीवलोकः सुपरित्यजनीयो भविष्यति । मेरे लिये भी अब यह मर्त्य लोक निष्फल होने के कारण आसानी से छोडा जा सकेगा ।)

चन्द्रगुप्त के सहसा आगमन की बात काल्पनिक होते हुए भी घटनाक्रम के अनुसार प्रतीत होती है । क्योकि देवीचद्रगुप्तम् से यही ज्ञात होता है कि ध्रुवदेवी की रक्षा के लिये चद्रगुप्त ने स्त्रीवेश मे शको के पास जाने का निश्चय कर लिया था और वह उसी वेश में रामगुप्त से मिला था । 'मुजुमल-उल तवारीख' के अनुसार "सफर की शर्त के अनुसार रव्वाल ने रानी को भेजने का निश्चय कर लिया । उसी समय बर्कमारीस (रव्वाल का भाई, विक्रमादित्य) वहाँ आया और प्रणाम करने के उपरात बोला" मैं और सम्राट एक ही पिता के पुत्र ह, अत. यदि आप मुझे अपनी राय बताये तो सभव है, मैं आपकी कुछ सहायता कर सकू । मेरी उम्र पर ध्यान मत दीजिए 'राजा ने उसे सब घटना कह सुनाई । इस पर उसने कहा—'यह उचित प्रतीत होता है कि मैं सम्राट के लिये प्राणो का बलिदान करू । सम्राट आज्ञा दें तो मैं तथा अन्य सामन्तपुत्र स्त्रीवेश धारण करें तथा सभी अपने अपने केशो मे छुरी छिपाकर रख लें ।'[1] मुजमुल उल तवारीख की इस सूचना से भी उस समय चन्द्रगुप्त का सहसा वहाँ आ पहुँचना सिद्ध है । इसी नाटक मे चद्रगुप्त स्त्रीवेश मे जाने का निर्णय करता है , पर अन्त मे राजाज्ञा होती है कि ध्रुवस्वामिनी को भी उसके साथ जाना पडेगा । प्रसाद के अनुसार इस आज्ञा का कारण स्पष्ट है । रामगुप्त दोनो से मुक्ति पाना चाहता है । यह प्रसाद की स्वतत्र योजना है जो नाटक मे दिये गये कथानक के मोड के मेल में तो हैं, पर ऐतिहासिक नही । असभाव्यता का दोपारोपण इसमें अवश्य नही किया जा सकता । मदाकिनी वाली घटनाए पूर्णतया काल्पनिक हैं, यद्यपि वे कथाक्रम के अन्तरग विकास मे सहायक होकर आई है ।

द्वितीय अक की अधिकाश घटनाए काल्पनिक है । शकराज का अपने आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कन्या से प्रेम, उस प्रेम की अवहेलना, मिहिरदेव और कोमा द्वारा शकराज को उचित सुझाव धूमकेतु की घटना और अन्त में मिहिरदेव और कोमा का प्रस्थान, सभी काल्पनिक प्रसग है । परन्तु इन प्रसगो का अपना एक महत्व है । प्रथम तो इनसे शकराज के चरित्र पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है और उसके पतन के लिये दर्शक पूर्णतया प्रस्तुत हो जाते हैं । दूसरे ये प्रसग रामगुप्त चद्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी सबधी मूल-कथानक की आगे आने वाली घटनाओ के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करती हैं । दूत के सदेश लेकर आने की प्रसन्नता स्वाभाविक।सभाव्यता को लिये हुए है ।

(१) वही—(जायसवाल) जे बी आर ओ ऐस

छद्मवेशी चद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी शकराज के सम्मुख जो नाटक प्रस्तुत करते है, वह काल्पनिक है, पर कथानक के सघर्ष को अत्यत सुन्दर ढग से प्रस्तुत करता है। इस प्रधान सघर्ष मे तूर्यनाद द्वारा अन्य छद्मवेशी सामन्तपुत्रो को सूचना देना और चद्रगुप्त द्वारा शकराज का वध एव शकदुग पर विजय पूर्णतया ऐतिहासिक घटनाए हैं। मुजमुल-उल-तवारीख के अनुसार बर्कमारीस की योजना ही इस प्रकार है, "मैं और अन्य सामन्त स्त्रीवेश में सजकर अपने केशो में एक छुरा रख लें हमे राजा के पास भेज दिया जाय। वहाँ पहुँचकर राजा को सूचना दी जाय कि मैं (वर्कमारिस) ही वह स्त्री हू। वह मुझे अपने पास रख लेगा और अन्य स्त्रियो (सामतो) को अपने सामतो को दे देगा। जब वह मेरे साथ एकात मे जाएगा तो मैं उसका पेट फाड डालू गा और तूर्य नाद करू गा। जब अन्य सामत इसे सुनेगे तो वे समझ जायेंगे कि मैं अपना काम कर चुका हूँ और उन्हे अब अपना कार्य करना चाहिये। इस प्रकार सभी सेना-मुख्य मारे जाएगे।[1]

नाटक मे यहाँ तक की घटनाएँ तो मुजमुल-उल तवारीख से मेल खाती है, किंतु इसके उपरान्त की घटना उन्होने छोड दी है। नाटक के अनुसार चद्रगुप्त के तूर्यनाद करने पर शक-दुर्ग क्षुब्ध होता है और अ त में चद्रगुप्त और अन्य स्त्रीवेश धारी सामत ही दुर्ग पर विजय प्राप्त कर लेते हे। परतु मुजमुल-उल तवारीख में बर्कमारीस की सहायता के लिये रव्वाल अपनी सेना तैयार रखता है, क्योकि बर्कमारीस की योजना के अनुसार तूर्यनाद सुनते रवाल और उसके सैनिको को शत्रुओ पर आक्रमण करने के लिये प्रस्तुत रहने का निर्देश किया गया है।[2] इसका कारण स्पष्ट है। प्रसाद जिस तरह से घटनाओ की योजना करते हे, उस प्रकार रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच मे कोई स्नेह-सम्बन्ध के लिये स्थान नही और रामगुप्त वस्तुत' चद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनो से छुटकारा पाना चाहता है। इस घटना का इस रूप में विस्तृत उल्लेख अन्यत्र नही हुआ है। स्त्रीवेश में शकराज के बध की घटना अन्यत्र भी मिलती है।[3]

तृतीय अ क मे रामगुप्त का अपने सैनिको सहित शक-दुर्ग में आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः हम जैसा पहले कह चुके है मुजमुल-उल-तवारीख के अनुसार भी रव्वाल

---

(१) वही— (जायसवाल)

(२) वही—(जायसवाल)

(३) (अ) अरिपुरे च पर कलत्र कामुक कामिनी वेशगुप्तश्चद्रगुप्त. शकपतिमशातयत।

—हर्षचरित

शाकानामाचार्यः शकाधिपति. चद्रगुप्तेन भ्रातृजाया
ध्रुवदेवी प्रार्थयमानः चद्रगुप्तेन ध्रुवदेवी वेशधारिणी
स्त्रीवेषजन परिवृतने व्यापादित.

—शाकरी टीका

(ब) स्त्रीवेशनिहनुतश्चद्रगुप्त. रात्रौ स्कन्धावारमलिपुर शकपतिवधायागमत्

—शृंगार रूपकम् (भोज)

अपने सैनिकों के साथ शक दुर्ग में गया था। प्रसाद ने इतना अन्तर कर दिया है कि नाटक में वह दुर्ग-विजय के उपरात पहुंचता है और यह नाटक के चरित्र तथा घटनाओं के अनुकूल ही है। कोमा और मिहिरदेव का ध्रुवस्वामिनी के पास आगमन और रामगुप्त के सैनिकों द्वारा उनकी हत्या पूर्ण काल्पनिक प्रसग है, पर रामगुप्त के नाटकीय अत के लिये इनकी पूर्ण उपयोगिता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके बाद की घटना अत्यत महत्व की है। 'देवीचद्रगुप्तम्' नाटक के श्लोकों से घटना अधिक स्पष्ट नही हो पाती, किन्तु उक्त नाटक के पचम अक मे चद्रगुप्त (सभवतः अपने प्राणों की) शका से उन्मत्त बनने का बहाना करता हुआ राजमहल में फिरता है।[२] अमोघवर्ष के ताम्रपत्र से यह भी ज्ञात होता है कि किसी गुप्त राजा ने भाई को मारकर उसका राज्य और उसकी महादेवी को स्वय ले लिया। इतिहासकार इस गुप्त राजा को चन्द्रगुप्त मानते हैं। ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभवतः देवीचद्रगुप्त' मे ध्रुवदेवी की रक्षा के उपरात चन्द्रगुप्त और देवी मे प्रेम हो गया हो। राजा पर प्रकट होते ही उसने चन्द्रगुप्त का वध करना चाहा हो, और अपनी रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त ने पागलपन का बहाना किया है और अत में अवसर पाकर रामगुप्त का वध कर दिया हो। 'देवीचद्रगुप्तम्' मे 'कृतकोन्मत्तस्य, 'मदनविकार-गोपनस्य' एव मानक् शच भीतस्य' शब्द बड़े सार्थक प्रतीत होते ह। 'मदनविकार गोपनस्य' का प्रयोग वेश्या माधव सेना के सम्बध में नही हो सकता क्योकि स्वय नाटक मे ही वेश्या के प्रति चद्रगुप्त के रस पूर्ण शब्द स्पष्ट है।[१] साथ ही सामाया नायिका वेश्या के प्रति अपने विकार को रखने का प्रश्न ही नही उठ सकता।[२] अत. निश्चय ही यह गुप्त प्रेम ध्रुवदेवी के प्रति ही होना चाहिए, जिसका

---

(२) यथादेवीचद्रगुप्ते पचमें के—

* * * *

इय स्वापायशंकिन कृतकोन्मत्तस्य कुमारचद्रगुप्त चद्रोदय वर्णानेन प्रवेश-प्रतिपादिकेति।

* * * *

इयमुन्मत्तस्य चद्रगुप्तस्य मदनविकार गोपनपरस्य मनाक् शचभीतस्य राजकुलगम-नार्थं निष्क्रमसूचिकेति।

(१) आनन्दाश्रुजल सितोत्पलरुचोरावघ्नता नेत्रयो.।
प्रत्यगेषु वरानने पुलकिषुस्वेद समा तन्वता॥
कुर्वाणेन नितबयोरुपचय सम्पूर्णयोरप्यसौ।
केनाप्यस्पृशताप्यधो निवसनग्रथिस्तवीच्छ्वसित॥
—देवी चन्द्रगुप्तम्।
— माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्ति।

(२) श्री जायसवाल की मान्यता है कि 'मदनविकार गोपनस्य' 'माधवसेना' सबंधी अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य प्रेम के निमित्त आया प्रतीत होता है।
—जे. बी. ओ. आर ऐस

परिणाम 'भीतस्य' मे और जिसकी परिणति 'कलकोन्मत्तस्य मे स्पष्ट रीति से ध्वनित होती है।

ध्रुवस्वामिनी, मदाकिनी और पुरोहित की बातचीत काल्पनिक है किन्तु जब उक्त सम्पूर्ण ऐतिहासिक घटना को इतिहास से स्वतत्र मोड देना हो, तो इस प्रकार की घटनाओ का सृजन अनिवार्य हो जाता है। इतिहास से यह कही भी ज्ञात नही होता कि ध्रुवदेवी ने अपने पति और सम्राट रामगुप्त के विरुद्ध धर्म, न्याय अथवा गुप्त-वश की कीर्ति की शरण ली थी। इतिहास इस सबध मे अधिक है भी नही, परन्तु जो कुछ है उससे बीच की सम्पूर्ण घटनाएँ एक दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करती है, चाहे उससे चन्द्रगुप्त जैसे पराक्रमी और विद्वान राजा के चरित्र पर कुछ ही प्रभाव पडता हो।

सजात ताम्रपत्र की साक्षी स्पष्ट है। 'हत्वा भ्रातरमेव' शब्दो का अन्य कोई अर्थ नही होता। विशाखदत्त की कथा उपलब्ध नही हो पाई और मुजमुल उल-तवारीख के अनुसार बर्कमारीस ने ही रवाल का बध किया। उक्त ग्रथ के अनुसार रानी बर्कमारीस से प्रेम करने लगी, क्योकि उसका वाग्दान पूर्व ही उससे हो चुका था, और बर्कमारीस ने उसकी रक्षा की थी। राजा को इस बात का पता चला तो वह बर्कमारीस पर क्रुद्ध हुआ और उसे अपमानित किया। एक दिन रवाल और रानी राजमहल मे बैठे हुए गन्ना खा रहे थे। रानी के हाथ मे छुरी थी और वह उससे गन्ना छीलकर राजा को दे रही थी। द्वार पर प्रतिहारी भी नही थी। उसी समय बर्कमारीस एक दीन भिक्षुक के वेश में राजमहल मे घुस गया। रानी के आग्रह से राजा ने उसको भी खाने के लिये गन्ना दिया। रवाल उस भिक्षुक को न पहिचान सका। रानी ने उसको पहिचान लिया था। राजा द्वारा गन्ना मिलते ही रानी ने उसे छीलने के लिये अपनी छुरी दे दी। सकेत समझकर बर्कमारीस ने छुरी से रवाल का बध कर दिया, और बाद में रानी से स्वय विवाह कर राजा बना। मत्री सफर का दोष होते हुए भी बर्कमारीस ने उसे क्षमा कर दिया। सफर ने अपने नवीन मन्त्रित्व काल मे राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा और अन्त में चिता मे जलकर अपने प्राण त्याग दिये।

उपर्युक्त विवरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सभव है कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का प्रेम ही रामगुप्त की मृत्यु का कारण रहा हो और इसमे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनो ने मिलकर षडयन्त्र किया हो। देवीचन्द्रगुप्तम् का उन्मत्त चद्रगुप्त और मजमुल-उल तवारीख का भिखारी बर्कमारीस एक दूसरे के बहुत समीप हैं। अत. इतना स्पष्ट है कि जायसवाल का यह मत किसी प्रकार भी स्वीकार नही किया जा सकता कि रामगुप्त को अपनी प्रजा से युद्ध करना पडा और उसी मे उसका वध किया गया।[1] ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्ट है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी ने मिलकर षडयन्त्र किया और इस प्रकार रामगुप्त की हत्या स्वय चन्द्रगुप्त ने की। बहुत सभव है कि श्री मुशी की मान्यता ठीक हो। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त ने पागलपन का बहाना कर उसी के धोके मे रामगुप्त का वध कर दिया[2]

---

(१) 'वेरी लाइकली इट केम इन दी फोम आफ पोपुलर राइजिंग'—ध्रुवस्वामिनी (भूमिका)

(२) ध्रुवस्वामिनी देवी (कन्हैयालाल मानिकलाल मुशी) नाटक का कथानक

'ग्रह-कृत उन्माद'[1] समझकर उसके इस कृत्य पर जन-रोष भी नही उमड पाया होगा।

प्रसाद ने रामगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी का ही नही सामन्तो का भी विरोध चित्रित किया है। परिषद् के सम्मुख रामगुप्त पर क्लीव होने का आरोप भी लगाया गया है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनो ही आरोप लगाते हैं। परिषद् धर्मानुसार ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से मोक्ष का अधिकार दे देती है और रामगुप्त को राजकिल्विष के कारण सिंहासन से च्युत कर दिया जाता है। अत में रामगुप्त का एक सामन्तपुत्र वध कर देता है। यह सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है और ज्ञात इतिहास के निष्कर्षों से इसका कोई संबंध नही। कथा के इस काल्पनिक मोड का कारण यह है कि प्रसाद अपने नाटक को एक समस्या-मूलक नाटक बनाना चाहते थे। जैसा नाटक की भूमिका से स्पष्ट है वे मोक्ष की समस्या को इतिहास की पृष्ठभूमि मे रखकर चित्रित करना चाहते थे। इनके लिये उन्होंने प्रमाण दिये है। कुछ भी हो तृतीय अंक की यह कथा अधिकांश रूप मे काल्पनिक है। अंत मे रामगुप्त का वध ऐतिहासिक घटना से समन्वित है क्योकि महाराजा चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय से नाटक समाप्त होता है।

---

(१) 'एष शितकर शस्त्र प्रणाशिता शेप-वैरितिमिरोध'
निज विभवेन चन्द्रो गगन ग्रहलङ्घितो विशति'

—डा० सहल का लेख 'समीक्षायण' मे

—'देवीचंद्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक

स्कंदगुप्त का कथानक

प्रसाद के इस नाटक मे, उनके अन्य नाटको से पर्याप्त भिन्नता है। अपने अन्य नाटको मे प्रसाद ने इस बात का ध्यान रखा है कि घटनाए और पात्र इतिहास के उसी काल से लिये जायें जो सामान्यतः ज्ञात-इतिहास की सीमाओ मे बाधा जा सके। अजातशत्रु चन्द्र-गुप्त, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री इन सभी नाटको की घटनाओ की पर्याप्त साक्षी इतिहास मे मिल जाती है। किन्तु स्कदगुप्त विक्रमादित्य का शासन काल निर्वाणोन्मुख दीप की अन्तिम ज्वाला की तरह प्रतापी गुप्त साम्राज्य की सीमाओ के टूट, टूट कर गिर पडने का काल था। इसके उपरान्त सम्पूर्ण भारतवर्ष मे बडे बडे परिवर्तन हुए और प्रायः हर्षवर्द्धन के काल तक किसी महत्वपूर्ण और शक्तिशाली साम्राज्य शक्ति का अभ्युदय न हो पाया। इस घटना का सबध हूणो के आक्रमण से है। स्वय स्कदगुप्त का व्यक्तिगत जीवन कैसा था, अपने पिता कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसे राज्य के लिये सघर्ष करना पडा अथवा नही, हूणो के आक्रमण के समय साम्राज्य की क्या दशा थी, हूणो के कितने आक्रमणो को स्कद ने रोका, और स्वय उसका अन्त किस प्रकार हुआ—ये सारे प्रश्न सरलता से सुलझाये नही जा सकते। स्कद के बिहार, भिटारी और जूनागढ के लेखो से स्वय स्कद के चरित्र और उसके कुछ महत्वपूर्ण कार्यो पर अवश्य प्रकाश पडता है। कोसम के मूर्तिलेख इन्दौर के ताम्रपत्र, कथासरित्सागर तथा राजतरगिणी के आधार पर उस काल की कुछ अन्य घटनाओ का परिचय भी मिलता है। पर यह सम्पूर्ण सामग्री इतनी अधिक नही है कि उसके आधार पर स्कदगुप्त-कालीन इतिहास को पूरा किया जा सके। यह मानते हुए भी कि प्रसाद इतिहास न लिखकर नाटक लिख रहे थे, हम इतना तो कह ही सकते हैं कि उन्होने अपने इस नाटक के लिये जो ऐतिहासिक सामग्री ली है, वह बहुत कम है। यदि इसकी बाह्यरूपरेखा इतिहास के शक्तिशाली धागों से न बाँधी गई होती तो इसे 'पूर्ण ऐतिहासिक' न मानकर 'अर्द्ध ऐतिहासिक' या 'स्वछद ऐतिहासिक' नाटको की कोटि में रखना अधिक अनुचित न लगता।

नाटक के प्रथम सस्करण की भूमिका इतिहास की गवेषणा-पद्धति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भूमिका के समान ही उक्त जटिल भूमिका का नाटक की घटनाओ से कम ही सबध है। कुछ थोडी सी ही घटनाए भूमिका की के प्रकाश मे स्पष्ट हो पाई है, अन्यथा अधिकाश घटनाओ को समझने सामान्य गुप्त-कालीन ज्ञात इतिहास का आश्रय लेना पडता है, या जिनको ऐतिहासिक प्रसगो के साथ जोडकर समझना पडता है है कि अपने नाटक की पृष्ठभूमि के लिये प्रसाद ने पूर्वोक्त ताम्र-पत्रो तथा अन्य ग्रन्थो की सहायता ली है। इसके अति

कालकाचार्य की कथा, प्रबन्ध कोष, राजावली, स्मिथ का इतिहास, जैसलमेर का इतिहास, जल्हण की सूक्ति मुक्तावली, हरि कवि की सुभाषितावली, कालिदास के ग्रन्थ तथा पराक्रम-बाहु-चरित्र जैसे अनेक ग्रन्थों के नाम भी भूमिका में दिये गये ह । इनमे से अधिकांश ग्रथो का नाटक की घटनाओ के लिये कोई महत्वपूर्ण उपयोग नही है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद ने अपने नाटक की घटनाओ के लिये जायसवाल की 'इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इन्डिया' का भी उपयोग किया है । कालिदास सबधी मान्यताओ के लिये सभवत. प्रसाद ने भाओ-दाजी एव महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के लेखो का भी उपयोग किया हो । सम्पूर्ण नाटक में प्रसाद की कुछ अपनी ऐतिहासिक मान्यताए भी ह, किन्तु उनमे कोई ऐतिहासिक उलझने नही प्रतीत होती । प्रसाद सवत्र या तो सामान्य उपलब्ध इतिहास के साथ चले है या अपनी व्यक्तिगत मान्यताओ के । इसका परिणाम यह हुआ है कि सम्पूर्ण कथानक कई भिन्न–भिन्न धाराओ से बटा हुआ सा प्रतीत होता हे, ऐसा जान पडता हे जसे कई घटनाए अलग-अलग स्थानो से उठकर एक दूसरे से दूर ही दूर रहकर एक ही अन्त की ओर अग्रसर हो रही हो । परन्तु इतना होते हुए भो नाटक अधिक विशृ खल नही हो पाया है ।

नाटक की कथा गुप्त साम्राज्य के स्कधावार से प्रारम्भ होती है । राज्य से उदासीन स्कदगुप्त का पर्णदत्त और चक्रपालित समझाते हैं । स्कदगुप्त के उदासीन होने के कारण 'गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' है । इसी अ क से ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य का पुष्यमित्रो से युद्ध चल रहा है और कपिशा को श्वेत हूणो ने पादाक्रान्त कर लिया है । नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है और बर्बर हूणो से वलभी का बचना कठिन हे, इन सब कारणो से पश्चिमी मालव अब सुरक्षित नही रहा । मालवेश का चर गुप्त साम्राज्य और मालव-राष्ट्र के बीच जो सधि हुई थी उसके अनुसार स्कदगुप्त से सहायता याचना के लिए आता है और स्कदगुप्त मालव की रक्षा के लिये सन्नद्ध हो जाता हे । मातृगुप्त कवि हूणो के आतक से काश्मीर छोडकर कुसुमपुर पहुँचता है और सिंहल युवराज धातुसेन उसकी प्रतिभा पर मुग्ध होकर उसे स्कदगुप्त के पास पहुचाने की प्रतिज्ञा करता हे, और सूचना देता है कि विषय-विह्वल कुमारगुप्त के राज्य में परिवर्तन उपस्थित हे । मगध सम्राट कुमारगुप्त अपनी तरुणी पत्नी अनन्तदेवी क इशारो पर नाच रहे है और महादेवी देवकी और स्कदगुप्त के प्रति अब उनका उतना स्नेह नही रहा । अनन्तदेवी भटार्क और प्रपचबुद्धि से मिलकर सम्राट की मृत्यु और पुरगुप्त का सिंहासन पर बंठाने का षडयन्त्र करती है । एक अन्धेरी रात मे कुमारगुप्त की मत्यु हो जाती है, और भटार्क पुरगुप्त को सम्राट घोषित कर देता हे । अन्तर्विरोध की रक्षा के लिये गुप्त साम्राज्य के कुमारामात्य, महादण्डनायक और महा-[illegible]हार आत्महत्या कर लेते हे । उधर नगर-प्रान्त मे हूणो का आक्रमण होता है और [illegible] नजु महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त, मुद्गल और मातृगुप्त की सहायता से दीन [illegible]ते हैं । अवन्ती दुर्ग में शक और हूणो के आक्रमण के समय जयमाला, [illegible]धुवर्मा की बातचीत से ज्ञात होता है कि उन्हे समय पर स्कन्द [illegible]न्तु दुर्ग का द्वार टूटते-टूटते विजयी स्कन्द वहा पहुच जाता है [illegible] पर मुग्ध हो जाते हैं ।

दूसरे अक के प्रारम्भ में पुनः इस बात की पुष्टि होती है कि स्कन्द अपने अधिकारो के प्रति उदासीन है। महत्वाकाक्षिणी विजया को इससे कुछ निराशा होती है। कुसुमपुर में भटार्क और प्रपचबुद्धि शर्वनाग को वदिनी महादेवी देवकी के वध के लिए प्रस्तुत कर लेते हैं। धातुसेन और मुद्गल को इस षडयत्र का पता चल जाता है। अर्द्धरात्रि को कारागार मे देवकी की हत्या का प्रयत्न किया जाता है जिसमे शर्वनाग की पत्नी रामा रोडे अटकाती है। स्कन्द ठीक समय पर पहुंचकर अपनी माँ की रक्षा करता है। भटार्क घायल हो जाता है। अवन्ती दुर्ग में जयमाला, बधुवर्मा, भीमवर्मा और देवसेना मिलकर यह निश्चय करते है कि स्कन्द को उज्जयिनी के सिंहासन पर बिठाकर सम्राट घोषित किया जाय। सौराष्ट्र के शको को निर्मूल कर स्कन्द भी मालव आ जाता है। भटार्क की माँ कमला और उसके पीछे-पीछे भटार्क दोनो उज्जयिनी पहुंचते हैं। कमला देशद्रोही पुत्र का मुँह नही देखना चाहती। पथ में गोविन्दगुप्त उसे वदी कर लेता है। मालवेश कुमारी देवसेना की ईर्ष्या के कारण विजया भी स्वय भटार्क के साथ बदिनी वन जाती है। राजसभा मे स्कन्द का अभिषेक होता है और गोविन्दगुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियुक्त किये जाते है। शर्वनाग को अन्तर्वेदी का विषयपति बना दिया जाता है। विजया यह घोषणा करती है कि उसने भटार्क का वरण कर लिया है। सम्राट दुखी हो जाते है और अन्त में सबको क्षमा कर दिया जाता है।

तृतीय अक का प्रारम्भ महाकाल के महाश्मशान मे होता है। प्रपचबुद्धि भटार्क और विजया मिलकर देवसेना की वलि देने का षडयत्र रचते है। मातृगुप्त बातचीत सुन लेता है और स्कद और वह ठीक समय पर पहुंचकर देवसेना की रक्षा कर लेते है। यही स्कद पर देवसेना का प्रेम प्रगट हो जाता है। उधर कुसुमपुर मे भटार्क और अनन्तदेवी हूणो से गुप्त सधि कर लेते हैं। बौद्ध स्थविर तथा अन्य सघ हूणो की सहायता करने का वचन देते हैं। गान्धार की घाटी और कुभा के तट पर युद्ध होता है, जिसमे सर्वप्रथम वधुवर्मा की मृत्यु होती है। भटार्क कुभा का बाँध काट देता है और स्कद एव उसकी सेना उसमे बह जाती है।

इसी समय मगध मे विजया को अनन्तदेवी और भटार्क के बीच प्रेम की शका होती है और वह अपनी भूल पर पछता कर शर्वनाग के साथ चल देती है। देवकी स्कद की खोज में भटार्क के पास पहुंचती है और उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर स्वयं चिर-निद्रा में सो जाती है। भटार्क को पश्चाताप होता है। देवसेना की रक्षा करने के बदले स्कद मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना देता है, क्योकि गान्धारवशी शासक तब वहाँ न रहे थे। वहाँ के न्यायाधिकरण में मातृगुप्त को उसकी प्रियतमा मालिनी वेश्या के रूप मे मिलती है। सम्राट स्कद के अभाव मे जब उसे यह ज्ञात होता है कि पचनद हूणो के अधिकार मे है और वे काश्मीर पर भी आक्रमण करना चाहते है तो वह काश्मीर से विदा ले लेता है। प्रख्यातकीर्ति और धातुसेन ब्राह्मण-बौद्ध सघर्ष को निर्मूल करने का प्रयास करते हैं, और धातुसेन के आग्रह से प्रख्यातकीर्ति महाबोधि बिहार का महास्थविर बन जाता है। प्रख्यातकीर्ति विजया और मातृगुप्त को कनिष्क चैत्य के पास भेज देता है। वही

कुमार धातुसेन भी है। कमला की कुटी मे चिन्तामग्न स्कद बैठा होता है। अन्तर्वेदी के पादाक्रांत होने पर शर्वनाग और राम अपने पुत्रो की हत्या से पागल की तरह भटक रहे है। बन्धुवर्मा की मृत्यु से भीमवर्मा की भी यही दशा है। इतने मे ही देवसेना का पीछा करते हुए हूण आता है। पर्णदत्त उसकी रक्षा कर लेता है। कमला स्कद को सूचना देती है कि देवसेना उसकी माँ की समाधि के पास सुरक्षित है।

महादेवी देवकी की समाधि पर पर्णदत्त और देवसेना भिक्षा द्वारा साम्राज्य के विश्वासी सैनिको के भोजन इत्यादि का प्रबध करते हैं, सभी वहाँ एकत्र हुए है। स्कद मा की समाधि पर पहुँचता है। वह मालव के ऋण को देवसेना से विवाह कर चुकाना चाहता है, पर देवसेना प्रतिदान नही चाहती। स्कद आजीवन कुमार व्रत ले लेता है। विजया स्कद से प्रणय याचना करती है और इसके बदले अपने रत्नगृहो का प्रलोभन देती है। भटार्क आकर उसे लाछित करता है और विजया आत्महत्या कर लेती है। शव को गाडते हुए अकस्मात् रत्न-गृह मिल जाता है। स्तूप के पास पर्णदत्त देश के नाम पर वीरो की याचना करता है। स्कद के साथ कई नागरिक सामने आ जाते है और पुन. सैन्य-सग्रह किया जाता है। उधर महाबोधि बिहार के नये महाश्रमण प्रख्यातकीर्ति हूणो को सहायता देना बद कर देते है। कुमार धातुसेन अनतदेवी और हूण सेनापति के कोप से उनकी रक्षा करता है और सबको बन्दी बना लेता है। स्कद और खिंगिल के युद्ध मे स्कद की विजय होती है। पर्णदत्त की मृत्यु हो जाती है और स्कद हूण सेनापति को आज्ञा देता है कि वह सिन्धु के इस पार के पवित्र प्रदेश मे कभी न आने का साहस करे। पुरगुप्त युवराज घोषित किया जाता है और स्कद उसे रक्त का टीका करता है। देवसेना स्कद से अन्तिम विदा होती है।

नाटक के प्रारम्भ मे ही स्कदगुप्त की उदासी और गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम की चर्चा की गई है। इस दृश्य की योजना काल्पनिक है किन्तु यह चर्चा एक ऐतिहासिक मान्यता पर अवश्य आधारित है। ध्रुवस्वामिनी के कथानक पर विचार करते हुए हम प्रसाद की इस मान्यता के सबध मे लिख चुके है कि गुप्त कुल मे उत्तराधिकार नियम व्यवस्थित नही था। यह पिता की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह अपने कई पुत्रो में से किसको योग्य मानकर उत्तराधिकारी नियुक्त करे। इस मान्यता के कुछ कारण स्पष्ट है। सर्वप्रथम कारण तो समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में ही सन्निहित है। समुद्रगुप्त के उत्तधिकारी घोषित किये जाने के सबध मे हरिषेण को प्रशस्ति मे इस प्रकार लिखा है—

"आर्यो हीत्युपगुह्य भाव–पिशुनरुत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येपूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेह व्यालुलितेन बाष्प-गुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
य पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिला पाह्येव मुर्वीमिति ॥१

उपर्युक्त छद में 'तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षितः' से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि सभवतः समुद्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य राजकुमार भी गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकार प्राप्त करने के अधिकारी थे जो समुद्रगुप्त के चुनाव के कारण म्लानानन दीख पडने लगे।

दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि भिटारी के लेख मे कुमारगुप्त प्रथम के उपरान्त सीधे ही पुरगुप्त का नाम आता है, स्कदगुप्त का नाम नही आता। इससे कुछ इति-

हासकारो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सभवतः स्कद सिंहासन का अधिकारी नही था।[1] किन्तु इसके खण्डन में अन्य इतिहासकारो ने समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदाहरण देकर यही स्वीकार किया है कि गुप्त साम्राज्य के विधान मे सबसे योग्य राजपुत्र को ही उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता था।[2] सभव है कि प्रसाद की मान्यता के ये ही आधार हो। स्कद के जूनागढ के लेख से भी एक इस प्रकार का उदाहरण दिया जा सकता है जिसके अनुसार लक्ष्मी ने सब राजपुत्रो को छोडकर स्वय उसका वरण किया था।[3] आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार प्रसाद की तरह ही अन्य इतिहासकारो ने भी यह स्वीकार किया है कि स्कद को राज्य प्राप्त करने के लिये सघर्ष करना पडा था।

कुमारगुप्त के राज्य के अतिम दिनो मे 'पुष्यमित्रो से गुप्त साम्राज्य का सघर्ष चल रहा था, यह भी एक ऐतिहासिक घटना है, और इसका उल्लेख स्वय स्कद के भिटारी के शिलालेख मे हुआ है।[4] परन्तु ये पुष्यमित्र कौन थे और इनका राज्य कहा था, इस सबध में इतिहास के साथ-साथ प्रसाद भी मौन ह। प्रसाद ने इतिहास से केवल इतनी घटना ले ली है कि कुमारगुप्त के राज्य के अतिम दिनो मे गुप्तो का पुष्यमित्रो मे युद्ध चल रहा था और अन्त मे स्कन्दगुप्त ने उन पर विजय प्राप्त की।

मालवेश चर के आगमन की घटना और मालवेश द्वारा शको और हूणो के विरुद्ध स्कन्द से सहायता की प्रार्थना ऐतिहासिक नही है। इस सवाद का अभिप्राय मालव और गुप्त साम्राज्य के बीच किसी प्राचीन सधि की सूचना देना मात्र है। स्कन्दगुप्त के परिशिष्ट

---

(१) इलाहाबाद स्टोन पिलर इ स्क्रिप्शन आफ समुद्रगुप्त
—सैलेक्ट इ स्क्रिप्शन्स
—सरकार पृष्ठ २५४

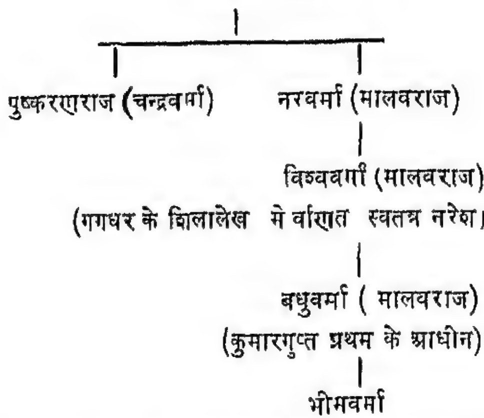
(१) इ डियन ऐ टीक्वेरी वोल्यूम ३१ जून १६०२ पृ० २५७ स्मिथ का लेख, रिवाइज्ड क्रौनालौजी आफ दि अर्ली और इम्पीरियल गुप्ता डाइनैस्टी।

(२) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐ शिए ट इ डिया
—(राय चौधरी) पृ० ३४८

(३) व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र पुत्रा
लक्ष्मी. स्वय य वरयाचकार।
—वही (सरकार) न० २५ पृ० २६६

(४) समुदित बल कोशान्पुष्यमित्राश्च जित्वा
क्षितिपचरण पीठे स्थापितो वाम पादः।
—वही (सरकार)
—न० २८ पृ० ३१३

में प्रसाद ने मालवराजवंश का वंश वृक्ष इस प्रकार दिया है[1] :—



इतिहास इस संबंध मे अधिक स्पष्ट नही कि बंधुवर्मा ने कब और क्यो कुमारगुप्त की आधीनता स्वीकार की थी। परंतु कुमारगुप्त प्रथम और बंधुवर्मा गांगेय का सम्मिलित शिलालेख इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि बंधुवर्मा 'कुमारगुप्त के आधीन उसका करद राजा' था। किन्तु प्रसाद ने अपने वंश वृक्ष मे मालवराज विश्ववर्मा को गंगधर के शिलालेख मे वर्णित स्वतंत्र नरेश घोषित किया है। मंदसौर के शिलालेख मे विश्ववर्मा 'गोप्ता' कहा गया है और उसकी उपाधि केवल 'राजा' है।[2] नाटक में प्रसाद ने 'महाराज विश्वर्मा के शरीरान्त की सूचना देकर इसी मत को स्वीकार किया।[3] अतः यही अनुमान होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने जब उज्जयिनी के शको को परास्त कर मार भगाया तभी संभवतः गुप्त साम्राज्य और मालवराज में यह संधि हुई हो।[4] नाटक मे स्कन्द के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संधि संभवतः प्रसाद की मान्यता के अनुसार विश्ववर्मा और कुमारगुप्त में हुई थी।[5] किन्तु इतिहास में कुमारगुप्त की किसी शकविजय की सूचना नही मिलती। अतः मालव-शक युद्ध में जिस संधि की चर्चा यहाँ की गई है वह चंद्रगुप्त द्वितीय के काल मे ही संभव है।

---

(१) स्कन्दगुप्त-प्रथम संस्करण (परिशिष्ट)

(२) रणेषु य. पार्थ-समानकर्मा। बभूव गोप्ता नृप विश्ववर्मा।
—मंदसौर का कुमारगुप्त व बंधुवर्मा का शिलालेख
—वही (सरकार) न० २१ पृष्ठ २१३

(३) स्कन्द १।१३

(४) (संभवत' नरवर्मा से—देखिये हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया)
—(बसाक) पृ० ४२

(५) स्कन्द १।१३

एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक समस्या यहाँ उठती है। मालव का दूत यही पर 'नवागत म्लेच्छवाहिनी' द्वारा सौराष्ट्र के पादाक्रान्त होने की चर्चा करते हुए पश्चिमी मालवा ,की सुरक्षा की आशका प्रकट करता है। यही वह यह भी कहता है कि, 'वलभी का पतन अभी रुका हुआ है किन्तु बर्बर हूणो से उसका बचना कठिन है'।[1] उपर्युक्त सभी उद्धरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि कुमारगुप्त के शासन के अंतिम दिनो मे और पुष्यमित्रो पर विजय प्राप्त होने से पूव ही हूण सम्पूर्ण उत्तरी-पश्चिमी भारत को पादाक्रान्त कर सौराष्ट्र और वलभी तक पहुँच चुके थे। किन्तु इस सूचना से ठीक पूर्व ही पर्णदत्त की सूचना से ज्ञात होता है कि उसी दिन उसे यह ज्ञात हुआ है कि कपिशा को श्वेत हूणो ने पादाक्रान्त कर लिया है। स्पष्ट ही यहा प्रसाद पूर्णतया अनैतिहासिक तो हैं ही साथ ही उन्होने यहाँ पर स्वय विरोधी घटनाओ की भी सृष्टि कर दी है।

प्रसाद ने स्कदगुप्त नाटक के पारिशिष्ट में कई ऐतिहासिक तथ्यो का मिश्रण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय इतिहास में तीन प्रसिद्ध विक्रमादित्य हुए--(१) प्रथम विक्रमादित्य गधर्वसेन का पुत्र, मालवगण का प्रमुख अधिपति था। वह शकारि था। उसने मथुरा वाली शक शाखा का नाश किया और दिल्ली का उद्धार करके जैतपाल को वहाँ का राज्य दिया। यह शक युद्ध मुलतान से ५० मील दक्षिण पूव मे 'कहरूर' में हुआ था।[1] (२) दूसरा विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय था। किन्तु विक्रमादित्य इसका नाम न होकर उपाधि थी। यह उज्ययिनी नाथ न होकर पाटलीपुत्र नाम था। इसके काल में गुप्त-सवत् चलता था विक्रम सवत् नही। इसने कोई शक-विजय नही की। वस्तुत. इससे पूर्व समुद्रगुप्त ने ही उज्जयिनी के शको को परास्त कर दिया था। (३) तीसरा विक्रमादित्य स्कदगुप्त था। यह वस्तुत राजतरंगिणी का हर्ष विक्रमादित्य है। यह शकारि था, क्योकि इसी ने अंतिम शक–क्षत्रप रुद्रसिंह को पराजय दी। इसी ने सौराष्ट्र के शको को निर्मूल किया और तोरभाण के पूर्ववर्ती हूणो से लगातार युद्ध किया। सभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गाधार के हूण तुञ्जीन की सम्मिलित वाहिनी को कहरूर युद्ध मे पराजित कर स्कदगुप्त ने आर्यावर्त की रक्षा की थी।[2]

यहाँ यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि किन ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर प्रसाद उपर्युक्त निष्कर्षों पर पहुचे है। प्रथम विक्रमादित्य के लिये प्रसाद ने निम्न प्रमाण दिये है :—

(१) कथासरित्सागर के आधार पर विक्रमादित्य नामधारी उज्जयिनी–नाथ है।

(२) मालव सवत् और विक्रम सवत् दोनो एक ही हैं और इसका काल ५७ ई० पू० है।

(३) राजा हाल की 'गाथा सप्तशती' (ईसा की प्रथम शती) में विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है।[1]

---

(१) स्कद० १।१३

(२) सवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेह तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्रमादित्य चरित्र अणु सिक्खअतिस्सा ।। (६४)

से ज्ञात होता है कि उसके पिता तु जीन या प्रवरसेन का समकालीन स्कन्दगुप्त था। इससे यह सिद्ध होता है कि राजतरगिणी मे हर्ष का उल्लेख प्रसाद से हो गया है। शुद्ध पाठ 'श्रीमान् हर्षापराभिधः' के स्थान पर 'श्रीमान् स्कन्दापराभिधः' होना चाहिये था।

(२) स्कन्दगुप्त के जूनागढ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चक्रपालित ने सुदर्शन भील का सरकार कराया था। इसके आधार पर प्रसाद का अनुमान है कि अ तिम शक क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ई० सन् ४५७ के लगभग हुई होगी। उक्त शिलालेख मे लिखा है—

"अपि च जितमिव तेन पथयति यशासि यस्य
रपकेप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छ देशेषु।"

यहाँ 'म्लेच्छ देशेषु' के प्रयोग से प्रसाद मानते हैं कि शको से और तोरमाण के पूर्ववर्ती हूणो से स्कन्द को लगातार युद्ध करना पडा था। प्रसाद का अनुमान है कि सभवत सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गाधार के हूण तु जीन की सम्मिलित वाहिनी को कहरूर युद्ध में पराजित कर स्कन्दगुप्त ने आर्यावर्त की रक्षा की थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में प्रसाद स्वय अपनी इन मान्यताओ पर स्थिर नही रह सके। क्योकि स्कदगुप्त के प्रथम सस्करण मे इस परिशिष्ट के अनुकूल कुछ ऐतिहासिक स्थानो का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु बाद के सस्करणो में वे नाम हटा दिये गये। उदाहरण के लिए "कहरूर का रणक्षेत्र" लिया जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रसाद की मान्यता के अनुसार विक्रमादित्य प्रथम तथा स्कदगुप्त विक्रमादित्य दोनो ही कहरूकर के रणक्षेत्र मे शको को पराजित कर शकारि बने थे। परन्तु इतिहास इसको स्वीकार न कर सका।

प्रसाद के इस नाटक के कथानक को ध्यान मे रखते हुए हम विक्रमादित्य प्रथम पर विचार करना अनावश्यक समझते हैं। नाटक मे प्रसाद की किसी भी मान्यता से इसके सबध मे कोई अतर नही पडता। जहाँ तक चद्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रश्न है बाद की गवेषणाएँ इस बात को सिद्ध कर चुकी है कि उसने शको की एक शाखा, और सभवत. अतिम रूद्रसिंह को ही पराजित किया था। प्रसाद ने विंसेंट स्मिथ इत्यादि की इस मान्यता के विरोध में अपना नया दृष्टिकोण रखा था। किंतु 'देवीचद्रगुप्तम्' के अशो तथा रामगुप्त और चद्रगुप्त द्वितीय सबधी अन्य ऐतिहासिक घटनाओ के प्रकाश में यह प्रायः निश्चित-सा हे कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने (ध्रुवदेवी की राजा अथवा राज्य की) रक्षा के लिए शकराज का (सम्भवतः रूद्रसिंह) का वध किया था। इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता इसलिए भी नही प्रतीत होती कि स्वय प्रसाद ने अपने अतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी' में उक्त ऐतिहासिक घटना का उपयोग किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक पर लिखते हुए हम उक्त सामग्री पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं। वस्तुतः चद्रगुप्त ३८० ई० के कुछ पूर्व ही गद्दी पर बैठा था। ध्रुवस्वामिनी की माग के परिणाम स्वरूप उसने पश्चिमी भारत के शकों पर आक्रमण किया। अतः उसकी शक विजय ३९५ ई० और ४०० ई० के बीच कभी

हुई होगी। बाण, विशाखदत्त तथा अन्य कई ग्रथकारो की इस सबध मे साक्षी उपलब्ध है। कुछ इतिहासकारो का अनुमान है कि उदयगिरि की गुफा के द्वार पर बने एक चित्र मे भी उसका अस्पष्ट हवाला है। वहाँ वराह की मूर्ति अपने दाढो द्वारा पृथ्वी का उद्धार करती हुई दिखाई गई है। पृथ्वी उसके दाढो पर स्थिति है। उसका अभिप्राय न केवल चद्रगुप्त द्वारा शको का नाश कर 'मालव-भूमि' की रक्षा से है बल्कि उन शकपति से ध्रुवदेवी की रक्षा से भी है इस उत्कीर्ण मूर्ति का आशय इससे स्पष्ट हो जाता है कि चद्रगुप्त अब शको का विध्वश कर लौट रहा था। इसी कारण चद्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक और उसके सामन्त (?) कवि विशाखदत्त के लिए भी यह साथक ही है कि वह अपने राजनैतिक वस्तु प्रधान नाटक 'मुद्राराक्षस' के आरम्भ के नान्दी श्लोक मे वराह के पृथ्वीरक्षक रूप की ही स्तुती करे।[1]

प्रसाद की उक्त मान्यता का खण्डन इससे भी होता है कि शकराज रूद्रसिंह, तृतीय के अतिम सिक्के ३८८ व ३९७ ई० के बीच है।[2] हम ऊपर देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त ३८० ई० अथवा इससे कुछ पूर्व गद्दी पर बैठा था। अतः स्पष्ट ही रूद्रसिंह तृतीय की हार स्कदगुप्त के हाथ से होनी असभव है। साथ ही चद्रगुप्त के मैहरोली लौह-स्तम्भ मे उत्कीर्ण 'लेख तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिंधोर्जिता वाल्हीका' से भी यही निष्कष निकलता है कि चद्रगुप्त ने बलख तक के कुशान शासको को समूल नष्ट करने का कार्य किया था, और यह शको की अतिम पराजय थी।

अब रहा प्रसाद की स्कदगुप्त सबधी मान्यता का प्रश्न। राजतरगिणी के हर्ष विक्रमादित्य को प्रसाद ने जिस आधार पर स्कद विक्रमादित्य माना है वह पुष्ट कोई आधार नही। वस्तुतः तुजीन अथवा प्रवरसेन हूण शासक था या नही, यह राजतरगिणी से नही ज्ञात होता। नाम के आधार पर तथा अन्य ऐतिहासिक मान्यताओ के आधार पर हम चाहे कुछ भी मानें। इसके अतिरिक्त यदि 'राजतरगिणी' की घटनाओ को शब्द शब्द (वरबेटिम) इतिहास माना जाय तो प्रवरसेन द्वितीय ने काश्मीर इसलिए नही छोड़ा था कि हर्ष विक्रमादित्य ने उस पर आक्रमण किया था वरन् इसलिए कि माता की मृत्यु के उपरात अपने चाचा (मामा) हिरण्य के भय से उसने राज्य से बाहर निकल जाने मे ही अपनी कुशल समझी। (राजतरगिणी में उनके गाधारवशी होने का भी उल्लेख किया गया है और उन्हे कही भी हूण नही लिखा गया है।) परतु अब प्रवरसेन के मामा की भी मृत्यु हो गई तब किसी उत्तराधिकारी के अभाव में उज्जयिनी के प्रतापी सम्राट् हर्ष विक्रमादित्य से किसी योग्य शासक की प्राथना की गई और तब मातृगुप्त सबधी नाटकीय घटना बनी।[3]

---

(१) भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ—(उपाध्याय) चन्द्र। विक्रमादित्य

(२) केटेलोग ऑफ दि काइन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम्स (स्मिथ)
गुप्ता कौइन्स पृ० ९१
—वही (उपाध्याय) जे बी ओ आर ऐस १८। २९

(३) राजतरगिणी— तृतीय तरग

उपर्युक्त घटना के प्रकाश में प्रसाद की मान्यताओ का आधार स्पष्ट नही हो पाया। यदि प्रसाद की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय कि राजतरगिणी का हर्ष विक्रमादित्य और स्कद विक्रमादित्य एक ही थे तो पुनः 'शकारि' का प्रश्न उठ खडा होता है। हर्ष 'शकारि' था और हम यह देख चुके है कि स्कद के 'शकारि' होने का प्रश्न ही नही उठता। ऐतिहासिक आधार पर अधिक से अधिक यही निष्कर्ष निकला जा सकता है कि काश्मीर के गाधारवशी ये शासक सभवत. पश्चिमी क्षत्रप शाहानुशाहियो के वशज रहे हो, जिन्होने समुद्रगुप्त की आधीनता स्वीकार कर ली थी। सभवत. चद्रगुप्त द्वितीय ने इन्ही शको मे बढते हुए आतक को अपने राज्य-काल मे नष्ट किया हो और यही चद्रगुप्त द्वितीय उज्जयिनी का सम्राट् हर्ष विक्रमादित्य रहा हो, क्योकि अमोघवर्ष के ताम्रपत्र मे जिस दानी विक्रमादित्य का उल्लेख है वह चद्रगुप्त था और उसकी प्रसिद्धि नवी शताब्दी तक बहुत अधिक थी। सुबधु उक्त विक्रमादित्य को कवियो का प्रसिद्ध सरक्षक भी मानता है।[1] प्रायः सभी इतिहासकार यह भी मानते हैं कि वसुबधु चद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। जहाँ तक चद्रगुप्त द्वितीय के उज्जयिनी नाथ अथवा पाटलिपुत्र नाथ होने का प्रश्न है, यह कोई बहुत बडी समस्या नही है। हम पहले देख चुके है कि चद्रगुप्त द्वितीय के समय में मालवा के शासक उसके आधीन और करद बन चुके थे, किंतु उनकी राजधानी उज्जयिनी न होकर दशपुर थी। स्मिथ के अनुसार चद्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में अयोध्या के स्थान पर पाटलिपुत्र और उज्जयिनी ये दो नगर अत्यन्त महत्वपूर्ण बन चुके थे। अतः यह असम्भव नही कि उज्जयिनी में भी गुप्त सम्राट की एक दूसरी राजधानी हो। राजशेखर की 'काव्य मीमासा' में उज्जयिनी के जिस सम्राट् 'साहसाँक' का उल्लेख हुआ है[3] उसको इतिहासकार चद्रगुप्त द्वितीय ही मानते है।[4] ऐसी दशा मे प्रसाद का स्कदगुप्त को शकारि और उज्जयिनी नाथ मानना कोई विशेष महत्व नही रखता। रहा 'कहरूर' का प्रश्न। डा० दशरथ शर्मा समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे आये हुए 'कर्तृपुर' को चैनाब और सतलज के बीच का 'करूर' नगर मानते हैं।[5] किन्तु इस कहरूर या करूर में स्कदगुप्त ने किसी शकराज से कोई युद्ध नही किया। मुस्लिम इतिहासकार अल्बरूनी लिखता है कि पूर्व के एक सम्राट् विक्रमादित्य ने मुल्तान और लोनी के बीच करूर के प्रदेश मे एक शक शासक को हराकर उसका वध किया।[6] स्पष्ट ही यह सकेत चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की ओर है और डा० दशरथ शर्मा भी इसको स्वीकार करते हैं।[3] अत प्रसाद की कहरूर वाली मान्यता अभी अपना कोई अर्थ नही रखती।

---

(१) सा रसवत्ता विहिता नवका विलसति चरति नो कक.।
सरसीव कीर्तिशेष गतवति भुवि विक्रमादित्ये ।। —वासवदत्ता (श्लोक १०)
(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ)
(३) 'श्रूयते हि उज्जयिन्या साहसाको नाम राजा'- काव्य मीमासा पृ० ५०
(४) जे बी ओ आर एस (अल्टेकर का लेख)
(५) जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री १४। पार्ट १ सीरियल न० ४०
—लोकेशन आफ कर्तृपुर (डा० दशरथ शर्मा)
(६) अल्बरूनीज इण्डिया (सचर) २।६

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'स्कदगुप्त' नाटक के प्रारभ में ही शक और हूणो के आक्रमण की चर्चा अनैतिहासिक है। स्कदगुप्त के शासन काल मे मालवा में न शको का आक्रमण हुआ था और स्कदगुप्त ही 'शकारि' था। इतना निर्विवाद है कि मालवा के शासक गुप्त साम्राज्य के करद राजा थे और सम्भवत. स्कदगुप्त के काल मे बधुवर्मा वहाँ का शासक रहा हो। कुमारगुप्त के समय मे भी वही वहाँ शासन कर रहा था। किंतु उस समय मालवा पर हूणो का आक्रमण होना सभव नही। कपिशा पर श्वेत हूणो का आक्रमण ४५५ ई० के लगभग हुआ और ४६५ ई० के लगभग हूणो ने गाधार को विजय कर लिया। किन्तु ४७० ई० से पूर्व स्कद के साम्राज्य के भीतर हूणो का आक्रमण नही हुआ था।[२] अत. ४५० ई० से ४५५ ई० के बीच होने वाले पुष्यमित्रो के युद्ध तथा मालव पर हूण आक्रमण—इन दो भिन्न काल की घटनाओ को एक साथ रखना उचित नही। फलतः इस समय स्कद के पास अथवा गुप्त सम्राट् के पास मालव के दूत की रक्षार्थ प्रार्थना को ऐतिहासिक समथन नही प्राप्त होता।

कुसुमपुर मे महाराज कुमारगुप्त की सभा की योजना काल्पनिक होते हुए भी सभाव्य है। इसका मूल उद्देश्य महादेवी देवकी के प्रति सम्राट कुमारगुप्त की उदासीनता और अनन्तदेवी के प्रति उनकी आसक्ति दिखलाना है। प्रसाद की मान्यता है कि 'स्कद का अपने वैमात्रिक भाई पुरगुप्त से आतरिक द्वन्द्व चल रहा था।[४] यही कारण है कि पुरगुप्त के लेखो में कुमारगुप्त और अनन्तदेवी के पुत्र पुरगुप्त का ही नामोल्लेख हुआ है, स्कद का नही। और उधर स्कद के लेखो मे उसकी माता का नाम नहीं मिलता। केवल स्कद के भिटारी के स्तभ लेख की एक पक्ति के आधार पर प्रसाद ने स्कद की माता का नाम देवकी माना है।[५] सभव है इतिहास ऐसा ही हो, क्योकि राखालदास बनर्जी ने भी इसी सूत्र के आधार पर 'करुणा' की अनन्ता और देवकी का चित्रण किया है। कुछ भी हो इतिहास के सम्मुख इस घटना का स्वरूप स्पष्ट नही है। अतः नाटककार अथवा उपन्यासकार को इस पर अपनी कल्पना के प्रयोग करने का पूर्ण अधिकार है, और प्रसाद ने इस अधिकार का सुन्दर और सफल उपयोग किया है। किन्तु,'सभव है पुरगुप्त ने उसके विरुद्ध षडयन्त्र रचकर अपने को

---

(१) अलबरूनीज इण्डिया (डा० दशरथ शर्मा)

(२) देखिये प्रबध मे 'स्कदगुप्त' नाटक में काल योजना

(३) वही पृ०

(४) स्कदगुप्त (प्रथम सस्करण) परिशिष्ट पृ० २०

(५) पितरि दिवमुपेते विप्लुता वश लक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूपः
जितमिति परितोषान्मातर सास्रुनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः
—भिटारी का लेख

शासक बनाने का प्रयत्न किया हो'[1]—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा को इस अनुमान का कोई आधार नही मिलता।

मातृगुप्त का संबंध भी 'राजतरंगिणी' के सम्राट हर्ष विक्रमादित्य से ही जुड़ता है। वस्तुतः इस मत को स्वीकार करने के लिये प्रसाद ने अधिक प्रमाण न देकर केवल कालिदास त्रयी को मात्र भर लिया है। इनमें से प्रथम कालिदास (नाटककार) को वे ई०पू० प्रथम शताब्दी के विक्रमादित्य का आश्रित कवि मानते है, द्वितीय कालिदास (कवि) को स्कंदगुप्तकालीन और तृतीय को उसके भी उपरान्त ६ वी या ७ वी शती का। इसमे सन्देह नही कि यह मत कुछ इतिहासकारो को मान्य भी रहा है। इस संबंध मे जो कुछ भी प्रमाण प्रसाद ने दिये है वे इस प्रकार है—राजशेखर (११वी शती) का एक श्लोक जल्हण की सूक्ति मुक्तावली और हरि कवि की सुभाषितावली मे इस प्रकार मिलता है.—

एकोपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितादगारे कालिदास त्रयी किमु।।

इस आधार पर प्रसाद ने कुछ इतिहासकारो के इन मतो का खण्डन किया है कि शाकुंतल रघुवंश के कर्ता कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे हुए, मालविकाग्निमित्र इत्यादि के रचयिता शुंग वंश मे और ज्योतिष संबंधी ग्रन्थो के निर्माता छटी शती मे यशोधमदेव के समय मे हुए थे। इन मतो के विरोध मे प्रसाद का कहना है कि यदि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन थे ता अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखाकर रघुवंश का अन्त करना चन्द्रगुप्त के समसायिक कवि के लिये किस प्रकार संभव था। किन्तु यदि ऐसा मानना ही हो तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि कालिदास ने गुप्त वंश का ह्रास अपनी आखो से देखा होगा। अपने मत की पुष्टि के लिये प्रसाद का कहना है कि नाटककार कालिदास निश्चय ही प्रथम शती ई०पू० में हुए क्योकि उन नाटको में किसी भी गुप्त राजा का उल्लेख नही प्रतीत होता। सिन्धु तट पर विदेशी यवनो के हराये जाने की माल्विकाग्निमित्र की कथा प्राचीन घटना प्रतीत होती है। शाकुंतल मे हस्तिनापुर के सम्राट 'वनपुष्प' मालावधारिणी यवनियो से सुरक्षित चित्रित किये गये है। यह प्रथा मौर्यकाल से लेकर शुंग-काल तक ही चली होगी, क्योकि कालान्तर मे इसका उल्लेख नही मिलता। साथ ही प्रसाद का अनुमान है कि धीवर द्वारा पशुमारण कर्म को दारुण कहना (शाकुंतल) तथा बौद्ध परिव्राजिका को राज्याश्रय प्राप्त पंडिता (मालविकाग्निमित्र) मानना बौद्ध प्रभाव के सूचक है और यह प्रथम शती ई० पू० के लगभग ही संभव है। मालविकाग्निमित्र की कथा ताजी मालूम पडती है अतः शुंगवंश के पतनकाल मे मालवगणपति के रूप मे विक्रमादित्य की प्रतिष्ठा इस घटना के काल की सूचना दे सकती है। उसी काल का कवि शुंगवंश का इतना सफल चित्रण कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन नाटको मे जामित्र, होरा जैसे विदेशी शब्द भी नही मिलते जिनको इतिहासकार ईसा की पाँचवी शती के बाद का विदेशी प्रभाव का मानते है।

---

(१) प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन–पृ० ५७

अन्त में इन नाटको की भाषा मे मग्गधी प्रचुरा प्राकृत का प्रयाग किया गया है जबकि पाँचवी छठी ई० की प्राकृति महाराष्ट्री प्राकृत होनी चाहिये थी ।[1]

कालिदास के सबध मे अभी भी इतिहासकारो ने कोई अ तिम निर्णय नही दिया है । जहाँ तक प्रथम शती ई० पू० के विक्रमादित्य का प्रश्न है, इस सबध मे अत्यन्त सहानुभूतिपूवक विचार करते हुए भी कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव मे इतिहासकार उसको मान्यता दे सकने मे असमथ है और कीथ से लेकर भगवतशरण उपाध्याय तक के इतिहासकारो की सामान्य मान्यताओ का यही इतिहास है । इसमे सन्देह नही कि कुछ इतिहासकारो ने विक्रमादित्य को मानने का प्रयास भी किया है, पर उनकी योजनाए अधिकाश मान्यताए भर है । अधिकाश इतिहासकारो का मत है कि कालिदास का काल चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के अ तिम दिनो से लेकर स्क दगुप्त के काल तक माना जा सकता है ।[2] इसमे सन्देह नही कि कालिदास त्रयी की मान्यता को थोडी देर के लिये छोड दें तो भी प्रसाद को कालिदास की उक्त काल योजना मान्य है ही । परन्तु पुनः यह प्रश्न उठता है कि कालिदास को मातृगुप्ताचार्य कैसे मान लिया जाय । यह मत डा० भाउ दाजी का भी था । किंतु प्रसाद का तर्क स्पष्ट है । जब प्रसाद उज्जयिनी के सम्राट हष विक्रमादित्य मान लेते है तो स्वाभावतः उसके कवि मातृगुप्त को कलिदास मान लेना ही पडता है । किंतु हर्ष विक्रम के सबध मे हम अपनी शकाऐं पूर्व ही उठा चुके है और यह भी कह चुके है कि यदि प्रसाद हष विक्रम को स्क द विक्रम न मान कर चन्द्र विक्रम मान लेते तो विशेष उपयुक्त होता । तब सभवत कालिदास की समस्या का भी कुछ और रूप होता । किन्तु जो शकाए पूव उठाई जा चुकी है उसके आधार पर यह नही माना जा सकता कि कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति होगे । स्वय प्रसाद के मन मे इस सबध मे शका प्रतीत होती है क्योकि उन्होने नाटक में सर्वत्र मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है कालिदास का नही । उक्त चरित्र योजना भी कालिदास के अनुरूप नही है ।

कालिदास को काश्मीर का मानना भी एक जनश्रुति के आधार पर है । प्रसाद ने मेघदूत के अलका-वियोग को काश्मीर वियोग मानकर इसकी पुष्टि की है, जो किसी को भी अमान्य हो सकता है । मातृगुप्त हूणो के आक्रमण से काश्मीर छोडकर गया था— यह प्रसाद की कल्पना है । सिंहल के युवराज कुमारदास अथवा धातुसेन एक ही व्यक्ति थे या नही यह भी निश्चित नहीं, क्योकि कुछ विद्वान सिंहल के राजा धातुसेन का शासन काल ४६० ई० से लेकर ४७८ ई० तक मानते है और उसके एक भाई का नाम कुमारसेन स्वीकार करते हैं । तिथिक्रम की दृष्टि से तो उक्त तिथिया निश्चय ही स्कदगुप्त के काल की है । किन्तु धातुसेन एव कुमारसेन (दास) मे अन्तर स्थापित करती है ।[3] डा० जगन्नाथ

(१) स्क द० (प्रथम सस्करण) परिशिष्ट पृ० २५-३०

(२) सस्कृत ड्रमा-कीथ-कालिदास डेट इंडिया इन कालिदास-(उपाध्याय
डेट आफ कालिदास जे आ ए ऐस-मजूमदार का लेख १९०९
कालिदास ऐंड गुप्ता किग्ज-[भिडे] वौल्यूम १ पृ० १११

(३) डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्ज पृ० ११५८

शर्मा ने महावश के अनुसार धातुसेन के शासनकाल की तिथियाँ क्रमश ५११ एव ५२४ ई० मानकर उसका साम्य स्कद के शासन-काल से बिठाया है।[१] साथ ही डा० शर्मा ओफ्रेक्ट महाशय के आधार पर मातृगुप्ताचार्य का काल ई० सन् ४३० मानते है। तब तो महावश की उक्त तिथियो से धातुसेन और मातृगुप्त को किसी प्रकार भी पास पास नही लाया जा सकता। अत. इसमे सन्देह नही कि प्रसाद को सिहल के धातुसेन की ४६० ई० से ४७८ ई० वाली शासन तिथि ही मान्य होगी। सभव है कि मातृगुप्त की ४३० ई० की तिथि से सबध जोडने के उद्देश्य से ही उन्होने धातुसेन को लका का शासक नही वरन् युवराज भर माना है जो वह ४६० ई० से पूर्व कभी भी हो सकता था। कालिदास और कुमारदास (धातुसेन) की मैत्री का आधार जनश्रुति मात्र है और जनश्रुति को इतिहास मान लिया जाय तो सिहल में कालिदास का किसी वेश्या के जाल में फँसना और वहीं उसकी मृत्यु का होना भी इतिहास ही मानना पडेगा, जो किसी प्रकार भी सभव नही। कुछ भी हो इसमें सन्देह नही कि प्रसाद ने यहाँ इतिहासकारो के एक मत के साथ-साथ जनश्रुति का भी आश्रय लेकर नाटक की घटना का सृजन किया है। धातुसेन की सहायता से मातृगुप्त का स्कद के पास पहुँचना राजतरगिणी की मातृगुप्त सबधी घटना के अनुकूल नही है। यह प्रसाद की स्वतत्र कल्पना है।

— अनतदेवी, भटाक, और प्रपचबुद्धि का षडयत्र काल्पनिक है यद्यपि, जैसा हम पूर्व कह चुके है, इतिहास का मौन इस सबध मे नवीन मान्यताओ के लिये पर्याप्त स्थान देता है। प्रसाद के प्रपचबुद्धि की अभिचारशक्ति मे की गई भविष्यवाणी राखालदास बनर्जी के उपन्यास 'करुणा' के 'तान्त्रिक' की अभिचार क्रियाओ के समकक्ष रखी जा सकती है। घटनाए दोनो ही स्थनो पर काल्पनिक है।

कुमारगुप्त की मृत्यु के साथ-साथ पुरगुप्त का सिहासनासीन होना एव कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार की आत्महत्या पूर्णतया काल्पनिक घटनाए है। इस आत्महत्या पर विचार करते ही हमारा ध्यान तुरन्त 'करुणा' में चित्रित इसी प्रकार की आत्महत्याओ की ओर स्वतः ही खिंच जाता है। कहा नही जा सकता कि प्रसाद के ध्यान में यह लिखते समय 'करुणा' का कथानक नही रहा होगा। इसी समय नगर प्रान्त में हूणो का आक्रमण ऐतिहासिक घटना है क्योंकि भिटारी के शिलालेख की 'पितरि दिवमुपेते विप्लुता' वशलक्ष्मी 'वाली पक्तियो के बाद ही की पक्तियों मे हूणो के आक्रमण का उल्लेख हुआ है।[२] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्कदगुप्त के सिंहासन पर बैठते ही, अथवा कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद ही हूणो ने भारतवर्ष की उत्तर पश्चिमी सीमा पर आक्रमण कर दिया था। नागरिको की रक्षा की घटना, और उसी समय एकाएक कई वर्षो से भाई से रुष्ट महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त का प्रगट होना भी काल्पनिक है। वस्तुतः गोविन्दगुप्त का कुमारगुप्त पर रोष राखालदास बनर्जी की कल्पना थी।[३] बहुत सभव है प्रसाद ने उसी ओर यहाँ सकेत किया हो। अन्यथा इतिहास में ऐसी कोई भी घटना उपलब्ध नही है।

---

(१) प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन—पृ० ८३
(२) 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता'—भिटारी का शिलालेख
(३) करुणा—(बनर्जी)

हम पहले ही देख चुके हैं कि अवन्ती में शक और हूणों के आक्रमण की घटना ऐतिहासिक नहीं है। इसलिए जयमाला, देवसेना, बधुवर्मा और विजया वाली सम्पूर्ण घटना का आधार प्रसाद की कल्पना ही है। विजया और स्कद का आकर्षण और चक्रपालित व स्कन्द की बातचीत का भी ज्ञात इतिहास से कोई सम्बध नही।

कुसुमपुर मे शर्वनाग द्वारा महादेवी के वध की योजना भी इतिहास से नही ली गई है, किन्तु उसकी सृष्टि प्रसाद ने भिटारी के शिलालेख के आधार पर ही की है। यदि भिटारी के शिलालेख की 'पितरि दिवमुपेते' वाली पंक्तियो का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि 'पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर चचला कुललक्ष्मी को अपनी भुजाओ के बल से शत्रुओ का नाश कर (स्कन्द ने पुनः प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार विजयी (स्कद) (अपने शत्रुओ का सहार कर अश्रु पूर्ण नेत्रो से मा से इस प्रकार मिला और मा को इस प्रकार परितोष दिया जिस प्रकार शत्रुओ का सहार कर कृष्ण देवकी से मिले थे।' कृष्ण की कथा का स्मरण करते ही कस द्वारा बन्दी की गई उनकी माता देवकी का ध्यान स्वतः ही हो आता है। कृष्ण ने कस का वध किया और उसके उपरात ही वे बदीगृह में अपनी मा के पास गये थे। प्रसाद ने इसी प्राचीन घटना के अनुकरण मे बदिनी देवकी का चित्रण किया है। उसके वध की योजना इसका स्वाभाविक परिणाम है और स्कन्द द्वारा उसकी रक्षा इसकी अन्तिम परिणति। कुछ भी हो यह घटना ऐतिहासिक हो अथवा न हो किंतु ऐतिहासिक सभाव्यता का आरोप इस पर प्रचुर मात्रा में किया जा सकता है। इस घटना में शर्वनाग, रामा और भटार्क का भाग लेना काल्पनिक है।

इसके उपरात अवति दुर्ग में स्कन्द को राज्य देने का निश्चय और मालवेश के त्याग की समस्त घटनाएँ काल्पनिक हैं। प्रसाद की इस मान्यता को जो कुछ प्रमाण था वह हम पूर्व प्रदर्शित कर चुके हैं। वस्तुतः हर्ष विक्रमादित्य का उज्जयिनी नाथ होना और कुमारगुप्त के समकालीन बधुवर्मा का मालवेश होना, इन दो विरोधी घटनाओ के बीच सामजस्य लाने के लिये प्रसाद ने इस काल्पनिक त्याग की योजना की है।

स्कन्द के शासन काल मे गोविन्दगुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत थे या नही, इस सम्बध में इतिहास मौन है। हा, इतना अवश्य है कि कुमारगुप्त के शासन काल में भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा और कालातर मे सभवतः सौराष्ट्र और मालवा में भी वे रहे थे।[1] अतः यह सभव है कि इन प्रदेशो की स्थिति मे उनका विशेष नियत्रण भी रहा हो। पर्णदत्त का सौराष्ट्र का गोप्ता होना चक्रपालित के लेख मे सिद्ध है।[2] शर्वनाग का अन्तर्वेदी का विषयपति होना भी इतिहास सिद्ध है।[3] किन्तु यह घटना उज्जयिनी के राजप्रकरण में हुई, इसका कोई प्रमाण नही।

---

(१) दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज —(आर० डी० बनर्जी) पृ० ५२

(२) ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः।

—(फ्लीट) सी आई-आई पृ० ५८ प्लेट १४

(३) विषय पति शर्वनागस्य अतरर्वेद्या भोगाभिवृद्धये।

—इंदौर ताम्रपत्र सी आई आई (फ्लीट) प्लेट १६ पृ० ७०

भटार्क और अनन्तदेवी द्वारा हूणों से गुप्तसधि की योजना, गाधार की घाटी का युद्ध, बधुवर्मा की मृत्यु और कुम्भा के बाँध में स्कद का बह जाना—ये पूर्णतया काल्पनिक घटनाएँ ह। वस्तुत स्कद ने हूणों से कितने युद्ध किये, कहाँ युद्ध किये, हूणों को देश के आतरिक शत्रुओं से सहायता मिली अथवा नहीं, इन सभी विषयों पर इतिहास मौन है। अत. यहाँ भी नाटककार को कार्य-कारण परम्परा के आधार पर अपनी स्वतत्र उद्‌भावनायें कर सकने का पूर्ण अधिकार मिल जाता है। प्रसाद ने अत्यन्त सुचारु रूप से इन घटनाओं की सृष्टि की है, इसमें कोई सदेह नहीं। यहीं पर विजया का हृदय परिवर्तन और देवकी की मृत्यु भी काल्पनिक घटनाएँ हैं।

इससे पूर्व कापालिक प्रपचबुद्धि द्वारा देवसेना की नरबलि की घटना ऐतिहासिक तो नहीं है किन्तु ठीक इसी प्रकार की घटना भवभूति के मालती-माधव में उपलब्ध होती है जहाँ कापालिक मालती की बलि देना चाहता है किन्तु ऐन मौके पर पहुँचकर माधव उसकी रक्षा कर लेता है। यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद की इस घटना का मूल कौन सा है, किन्तु सम्भव है कि इस घटना की योजना करते समय उनके मन में मालती-माधव की उक्त घटना रही हो।[1] किन्तु यहाँ प्रसाद ने एक ज्ञात ऐतिहासिक घटना में भी परिवर्तन कर दिया है। कल्हण की राजतरगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को काश्मीर का शासक तो अवश्य बताया था, किन्तु देव सेना अथवा किसी अन्य व्यक्ति की रक्षा का निमित्त इस घटना के मूल मे नहीं था। वस्तुत. मातृगुप्त तो राजसम्मान का अभिलाषी एक दरिद्र कवि था जिसको विक्रम कुछ देने की प्रतिज्ञा भूल गया था। किन्तु मातृगुप्त ने आशा ही में सर्दी और कष्ट भोगते हुए बहुत समय बिता दिया। अत में पुनः विक्रम को उसका स्मरण हुआ और उसने पूछा कि तुम्हारा समय किस प्रकार कटा। इसके उत्तर में मातृगुप्त ने कहा—

'शीतेनोद्‌धूपितस्य मापशिमिवच्चिताणवि मज्जतः
शाताग्नि स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य में।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सत्यज्य दूर गता
सत्पात्र प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

उसी दिन काश्मीर के लिये एक योग्य शासक की आवश्यकता पड़ी, क्योकि गाधार-वशी शासक हिरण्य की मृत्यु हो जाने और प्रवरसेन के इससे पूर्व ही राज्य से निकल जाने से, शासन पट्ट सूना हो गया था। अतः पराक्रमी राजा हुप विक्रम् से एक न्यायप्रिय शासक मागा गया। विक्रम इस बात से दु खी तो था ही कि ऐसे गुणी कवि को वह कुछ न दे सका, अत. उसने काश्मीर का राज्य उसे ही दे दिया और मातृगुप्त ने प्रवरसेन द्वितीय के लौटने तक काश्मीर का शासन सूत्र सभाला।[2]

प्रसाद ने इस घटना के अतिम परिणाम को तो अपने नाटक मे स्वीकार किया। पर नाटकीयता के लिए कारण-कार्य-परम्परा में अतर कर दिया और देवसेना की कापालिक

---

(१) मालती माधव-भवभूति।
(२) राजतरगिणी (कल्हण) तृतीय तरग १२४-१६०

से रक्षा की काल्पनिक योजना प्रस्तुत की। प्रसाद ने स्कदगुप्त मे ब्राह्मण-बौद्ध सघर्ष पर पर्याप्त जोर दिया है। यद्यपि प्रख्यातकीर्ति और धातुसेन द्वारा उक्त सघर्ष को रोकने के प्रयास की चतुर्थ अक की घटना काल्पनिक है तथापि स्कदगुप्त के शासन काल के अतिम दिनो में बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के बीच सघर्ष चलने की सभावना अवश्य है। वस्तुतः जैसा हम धर्म के सबध में विचार करते हुए देख चुके है महायान मे तन्त्रयान और वज्रयान की अभिचार क्रियाएँ गुप्तकाल के उपरात प्रबल हो चली थी,[1] साथ ही गुप्तकालीन शासको ने बौद्ध अहिंसा के सिद्धात छोडकर अश्वमेध यज्ञ किए और सस्कृत भाषा और ब्राह्मणो को प्रधानता दी थी। अतः यह सभव है कि बार बार हूणो के आक्रमण से जर्जर गुप्त साम्राज्य के अदर ही धार्मिक विद्वेष भी भडक उठे हो।

हूणो ने अन्तर्वेदी को सभवतः स्कद के जीवन-काल मे ही पादाक्रात कर लिया था,[2] किन्तु शर्वनाग के पुत्रो की हत्या, हूण द्वारा देवसेना पर अत्याचार करने का प्रयत्न, कमला की कुटी मे स्कन्दगुप्त की चिन्ता, ये सब काल्पनिक घटनाएँ हैं। महादेवी देवकी की समाधि की योजना प्रसाद की अपनी है। वहाँ पर्णदत्त और देवसेना के कृत्य, स्कद का आगमन, विजया की प्रवचना और आत्महत्या, रत्नगृह की प्राप्ति और पुन: सैन्य योजना ये प्रसाद की मनःसृष्ट घटनाएँ है, कथानक उसकी चरम परिणति हूण-पराजय तक ले जाने का कार्य करती है।

दूसरी ओर अतिम अक मे प्रख्यातकीर्ति द्वारा हूणो की सहायता न मिलना, धातुसेन द्वारा अनन्तदेवी, पुरगुप्त और हूण-सेनापति का बदी बनाया जाना, पर्णदत्त की मृत्यु और खिखिल की हार ये भी काल्पनिक घटनाएँ ही है। इसमे सत्य का अश केवल इतना ही प्रतीत होता है कि स्कदगुप्त के जीवन काल में सभवतः हूण गुप्त साम्राज्य पर विजय नही पा सके हो। नाटक की अतिम और सवश्रेष्ठ घटना 'देवसेना की विदा' प्रसाद के कवि हृदय की कमनीय सजना है, जो इतिहास तो नही है, पर इतिहास के बडे से बडे सत्य से अधिक कोमल, अधिक मधुर, और अधिक ऐतिहासिक है।

---

(१) देखिये 'प्रधान धम और देवी देवता' पृ०

(२) अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३२८

राज्यश्री का कथानक

प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटको में से सबसे सरल कथानक राज्यश्री का है। इसके दो कारण स्पष्ट हैं। एक तो यह प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक रूपक है। अतः इसमें न तो वाह्य घटनाओ के वैचित्र्य द्वारा सघर्ष की सृष्टि की गई है और न उन घटनाओं से उत्पन्न अतद्वन्द्व से ही कथानक को उलझाने का प्रयास किया गया है। दूसरा कारण यह है कि हर्ष के जीवन की केवल महत्वपूर्ण घटनाओ को ही चुना गया है। अत. छोटी छोटी घटनाए अथवा गौण कथानकों का प्रयोग कम ही होने पाया है। नाटक की भूमिका से ज्ञात होता है कि 'राज्यश्री' नाटक की घटनाए केवल बाण के 'हर्षचरित' तथा सुएनच्वाग (ह्वेनसाग) के भ्रमण-वृत्तान्त से ही ली गई हैं।

नाटक का प्रारम्भ भिक्षु शातिदेव और सुरमा मालिन के वार्तालाप से होता है। ये दोनो काल्पनिक चरित्र है। इसी बीच मालवा नरेश देवगुप्त वहा आ उपस्थित होता है। एक बार मदनोत्सव में उसने राज्यश्री का अपूर्व सौंदर्य देखा था। अतः राज्यश्री का अपहरण करने के लिये वह छद्मवेश मे कान्यकुब्ज आ पहुँचता है और उसकी सेना भी अनेक वेशो में वहा प्रवेश कर जाती है। देवगुप्त अपनी बातचीत से सुरमा को लुभाकर उसके यहा अपना आश्रय खोज लेता है। कान्यकुब्ज के राजमदिर में भावी आशका से उद्विग्न ग्रहवर्मा को राज्यश्री उत्साह दिलाती है और वह सीमाप्रान्त के जगल में मृगया के द्वारा अपना मन बहलाने को चला जाता है। इसी बीच दूत ग्रहवर्मा के मत्री को सूचना देता है कि मालवेश्वर की सेना कान्यकुब्ज की सीमा पर एकत्र हो रही है, अत. महाराज ने सेना सीमा पर बुलाई है। मत्री को स्वय नगर के अन्दर सदेहजनक व्यक्तियो के होने की सूचना मिलती है। सेना सीमा पर भेज दी जाती है और स्थाण्वीश्वर को समाचार भेज दिया जाता है। राज्यश्री देवमदिर में भिक्षुओं को वस्त्र और धन दान देती है और भिक्षु शातिदेव की धृष्टता से खिन्न हो उसे शील का उपदेश देती है, पर वह भिक्षा नही लेता। युद्ध की सूचना मिलने पर राजश्री विजय के लिये प्रार्थना करती हैं पर मदिर मे अट्टहास सुनकर वह मूर्छित हो जाती है। देवगुप्त सुरमा पर अपना रहस्य प्रगट कर देता है और महत्वाकाक्षी सुरमा शातिभिक्षु को भूलकर उसके साथ हो जाती है। गुप्तकुल का वशज देवगुप्त मौखरियो और वर्द्धनो को समाप्त कर अपने कुल की प्रतिष्ठा पुन. स्थापित करना चाहता है। सीमाप्रान्त के युद्ध मे ग्रहवर्मा आहत होता है और देवगुप्त की विजय होती है। उसकी छद्मवेशी सेना प्रजा के रूप मे दुर्ग में प्रविष्ट हो जाती है। मानसिक सताप से विक्षिप्त-सा राज्यश्री को वन्दी बना लिया जाता है।

सुरमा और राज्यश्री दोनो से वचित होकर शातिभिक्षु अब दस्यु विकटघोष बन जाता है और ग्रहवर्मा की सहायता के लिये आती हुई राज्यवर्द्धन की सेना में सम्मिलित हो

जाता है। गौडेश्वर नरेन्द्रगुप्त स्थाण्वीश्वर से मैत्री करने की इच्छा से देवगुप्त के विरुद्ध राज्यवर्द्धन को सहायता देने आया है। राज्यवर्द्धन अभी पचनन्द से हूणो को विताडित कर आया है। उधर देवगुप्त के कारागृह मे राज्यश्री को कठोर कारावास दिया गया है। विकटघोष मधुकर को ठोक पीटकर राज्यश्री और सुरमा का पता चला लेता है। युद्ध मे देवगुप्त राज्यवर्द्धन के हाथ से मारा जाता है। उधर इस युद्ध का लाभ उठाकर विकटघोष अपने दस्युओ की सहायता से राज्यश्री और सुरमा दोनो को बन्दीगृह से भगा ले जाता है।

नरेन्द्रगुप्त मगध के गुप्त सम्राटो का वशज, वर्द्धनो की जय से ईर्ष्यालु हो उठता है और विकटघोष एव सुरमा के द्वारा राज्यवर्द्धन का वध करवा देता है। बौद्ध साधु दिवाकरमित्र दस्युओ के हाथ से राज्यश्री की रक्षा करते है। उधर हर्ष और पुलकेशिन चालुक्य में युद्ध चल रहा है, किन्तु राज्यवर्द्धन की मृत्यु एव बहिन राज्यश्री के अपहरण के कारण हर्ष युद्ध से विरत हो पुलकेशिन से सधिकर राज्यश्री की खोज मे चल देते है और ठीक समय पर दिवाकर मित्र के तपोवन मे पहुंचकर राज्यश्री की सती होने से बचा लेते है। दस्यु विकटघोष देवी की प्रतिमा के सम्मुख चीनी यात्री सुएन च्वाग की बलि देना चाहता है, पर आकस्मिक अन्धकार और आँधी के कारण वह बच जाता है।

हर्ष कान्यकुब्ज के दान के उपरात प्रयाग में दान करता है। चीनी भिक्षु के आदर से महायान के विरोधी बौद्ध क्रुद्ध हो जाते है और महाश्रमण पर आक्रमण किया जाता है। हर्ष डौंडी पिटवा देता है कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियो को जीवित जलना पडेगा। इस पर स्वय हर्ष की हत्या का प्रयास किया जा है और हत्यारा होता है शातिभिक्षु। सर्वस्व दान करने के उपरात हर्ष राज्यश्री से और राज्यश्री सुएनच्वाग से एक वस्त्र मागते है। राज्यश्री की इच्छा से नरेन्द्रगुप्त से लेकर शाति भिक्षु तक सभी को क्षमा मिल जाती है। कुमार राजा और उदित राजा हर्ष को पुन. आभूषण, वस्त्र, मणि-रत्न, मुकुट और राजदण्ड देते है।

नाटक की पहली घटना पूर्णतया काल्पनिक है। नाटक की भूमिका मे प्रसाद ने इन दोनो काल्पनिक चरित्रो का आधार चीनी यात्री ह्वेनसाग के एक डाकू द्वारा पकडे जाने की ऐतिहासिक घटना को माना है। नाटक मे इन दोनो व्यक्तियो के द्वारा ही कई ऐतिहासिक घटनाओ को भी सम्पन्न करवा दिया गया है। सुरमा और शान्तिभिक्षु का वार्तालाप सर्वथा काल्पनिक है। इतिहास से यह ज्ञात नही होता कि ग्रहवर्मा की मृत्यु से पूर्व भी महारानी राज्यश्री स्वय भिक्षुओ को दान देती थी। वस्तुत हर्षवर्द्धन से पूर्व न तो वर्द्धनो का इतिहास ही[1] मौखरियो का ही बौद्ध धर्म के प्रति विशेष अभिरुचि का प्रदर्शन करता है। ये दोनो हिन्दू राजा थे और उसी परम्परा मे कालान्तर मे हर्ष ने भी अपने धर्म मे समन्वयवादी प्रवृत्ति को ही प्रधानता दी थी। अतः महारानी राज्यश्री का भिक्षुओ को दान देना और उनसे शील की चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है।

---

१. प्रभाकरवर्द्धन सूर्य का उपासक था और मौखरी वश शिव के।
—हर्षचरित (कौवेल एण्ड थामस) अध्याय ३

मालव राज देवगुप्त ने ग्रहवर्मा का वध कर राज्यश्री को कारागृह म बंदिनी बना रखा था। यह घटना हर्षचरित के अनुकूल है।[१] किन्तु हर्षचरित के अथवा अन्य प्रमाणों से यह ज्ञात नही हो पाता कि देवगुप्त ने उक्त विजय किस प्रकार पाई। अत प्रसाद ने इस घटना पर निजकी कारण-कार्य-योजना का सुन्दर निर्माण किया है। ग्रहवर्मा की आशका, मृगया के लिए प्रस्थान, छद्मवेशी देवगुप्त और उसके सैनिको द्वारा कान्यकुब्ज गढ पर विजय और इस विजय मूल मे राज्यश्री का अप्रतिम रूप, वस्तुत. प्रसाद की कल्पना प्रसूत-घटनाएँ हैं। यहाँ अधिकतर घटनाओ का सृजन पूर्व-सूचनाओ (आइरनी) के रूप मे लिया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वहीन होने पर भी नाटकीय कौशल की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ह। विजय के निमित्त राज्यश्री द्वारा मदिर में पूजन और प्रतिमा के अट्टहास से अपशकुन की आशका ये दोनो घटनाएँ पूर्णतया काल्पनिक घटनाएँ हैं, पर ये घटनाएँ ही नाटक मे पूर्व सूचनाओ का कार्य करती हैं।

शान्तिभिक्षु का दस्यु विकटघोष बन कर राज्यवर्द्धन की सेना मे सम्मिलित होना भी एक काल्पनिक घटना है, किन्तु इसका उपयोग राज्यश्री के भगाने के लिए किया गया है। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि गौडाधिपति ने राज्यवर्द्धन को छल से (मिथ्यापचारोपचितविश्वास) मरवाया था, किन्तु इससे पूर्व उसने सेना लेकर देवगुप्त को पराजित कर दिया था।[२] बसखेडा के ताम्रपत्र मे भी यह ज्ञात होता है कि राज्यवर्द्धन ने कशाघात से दुष्ट अश्वो के समान देवगुप्त जैसे शासको को पराजित कर दिया था।[३] प्रसाद ने यहाँ अपने घटना-क्रम में कुछ परिवर्तन किया है। वस्तुत. हर्षचरित्र से तो यही ज्ञात होता है कि प्रथम राज्यवर्द्धन ने मालव-नरेश को पराजित किया और उसके उपरात गौडेश्वर ने उससे छलकर उसका वध किया। नाटक मे प्रसाद ने पहिले वर्धनो के बन्धु नरेन्द्रगुप्त की अकारण मैत्री के प्रयत्नो का चित्रण किया है, फिर देवगुप्त पर विजय का और सबसे अन्त मे राज्यवर्द्धन की हत्या की योजना का। वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद ने श्री आर० डी० बनर्जी की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया था कि शशाक अथवा नरेन्द्रगुप्त गुप्तनरेश महासेनागुप्त का पुत्र अथवा भतीजा था (और सम्भवत. हर्ष और राज्यवर्धन के साथी माधवगुप्त और कुमारगुप्त का एक भाई था।[४] राय चौधरी की मान्यता है कि दामोदरगुप्त के उपरात महासेनगुप्त गद्दी पर बैठा। वह हर्षचरित म सूचित कुमारगुप्त और माधवगुप्त का पिता और मालव शासक था। महासेनगुप्त और प्रभाकर वर्द्धन के कुलो के बीच की, मैत्री का अनुमान हर्ष के सोनपत ताम्रपत्र अभिलेख से लगाया जा सकता है, जिसमे "महासेनगुप्ता देवी को प्रभाकरवर्द्धन की माँ कहा गया है।[५] ऐसी दशा में यदि नरेन्द्र को महासेनगुप्त का

---

(१) हर्षचरित—अध्याय ६ पृ० २०४

(२) हर्षचरित—२०७-१

(३) बसखेडा का ताम्रपत्र

(४) हिस्ट्री ऑफ बगाल (बनर्जी एण्ड आर चदा) द्वितीय आवृत्ति पृ० १०६

(५) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएट इण्डिया (राय चौधरी) पृ० ३७१

पुत्र अथवा भतीजा मान लिया जाय तो अवश्य प्रसाद की योजना समझ में आ जाती है। अन्यथा अकारण ही नरेन्द्रगुप्त का सहायता के लिए आना, और राज्यवर्द्धन का उस पर इतना विश्वास करना समझ मे नही आता। किन्तु यहा एक समस्या बराबर बनी रहती है। हार्नले और राय चौधरी दोनो का अनुमान है कि सम्भवतः देवगुप्त, माधवगुप्त और कुमार-गुप्त का भाई था,[1] क्योकि देवगुप्त मालव-राज है और महासेनगुप्त भी मालव का राजा है। ऐसी दशा मे वर्द्धनो का बन्धु देवगुप्त हो जाता है न कि नरेन्द्रगुप्त। स्पष्ट ही प्रसाद को यह तक मान्य नही। अन्यथा वे नाटक में नरेन्द्र को वर्द्धनो का बधु न मानते। अतः यहाँ प्रसाद ने बनर्जी और चदा की मान्यता को ही स्वीकार किया है।

घटना क्रम की योजना मे नाटक में एक दोष आ गया है। हर्षचरित के अनुसार राज्यवर्द्धन प्रभाकरवर्द्धन को जीवितावस्था मे ही हूणो पर आक्रमण करने गया था। हूण-विजय के उपरान्त स्थावीश्वर के लौटने पर उसके पिता प्रभाकर वर्द्धन का स्वर्गवास हो गया। उसी दिन ग्रहवर्मा की हत्या का समाचार सुनकर राज्यवर्द्धन ने कान्यकुब्ज की ओर[2] प्रस्थान किया। इस प्रकार ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यवर्द्धन की हत्या मे काफी समय का अन्तर था। राज्यश्री के नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि 'अभी पचनन्द से हूणो को विताडित कर' राज्यवर्द्धन सीधा कान्यकुब्ज ही आ रहा हो। विकटघोष का यद्धा बन कर देवगुप्त को भयभीत करना भी काल्पनिक है। हर्षचरित के अनुसार 'गुप्त, नामधारी किसी कुलपुत्र के द्वारा राज्यश्री का निष्कासन हुआ है।[3] तब यह बात समझ मे नही आती कि नाटक में प्रसाद ने राज्यश्री की कारागृह से मुक्ति दस्यु द्वारा क्यो करवाई है। घटना-क्रम के विपर्यय या परिवर्तन से नाटक मे कोई विशेष सौंदर्य आ गया है यह भी नही कहा जा सकता। हाँ दूसरी घटना के कारण विकटघोष का चरित्र अवश्य प्रधानता पा गया है।

राज्यवर्द्धन के वध के लिये एक उत्सव का आयोजन किया जाता है। सुरमा नर्तकी बनती है। राज्यवर्द्धन और उसके अनुचर मदविह्वल हो जाते हैं। और विकटघोष उपयुक्त अवसर पाते ही राज्यवर्द्धन पर छुरी चला देता है। उक्त घटना का सकेत हर्षचरित से ही प्राप्त होता है। नरेन्द्रगुप्त ने राज्यवर्द्धन से सधि के झूठे प्रस्ताव किये। इस प्रस्ताव मे उसने राज्यवर्द्धन से अपनी पुत्री का विवाह कर देने की इच्छा भी प्रकट की। भोला निष्कपट राजा जाल मे फस गया। विवाह की आशा से प्रलोभित होकर वह प्रस्तावो पर

---

(१) जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी (हार्नले) १६०३ पृ० ५६२
पौलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एँशिएट इण्डिया (राय चौधरी) पृ० ३७१

(२) अतिक्रान्तेषु च बहुषु वासरेषु
—अ० हर्षचरित पृ० २५४

(३) उक्तवाश्च वधनात् प्रभृति विस्तरतः स्वसुः
कान्यकुब्ज गौड सभ्रमे गुप्ततो गुप्तानाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासन
—हर्षचरित पृ० ३३१.

बातचीत करने के लिये शत्रु के शिविर मे निःशस्त्र जा पहुंचा ।[१] ह्वेनसाग भी कहता है कि राज्यवर्द्धन कर्ण सुवर्ण के दुष्ट राजा द्वारा धोखा देकर मार डाला गया ।[२] बसखेडा का ताम्रलेख उक्त कवि एव यात्री दोनो के कथन का समथन करता है ।[३]

हर्षचरित में सेनापति स्कन्ध का हर्ष को उपदेश इस सबध मे महत्वपूर्ण है । वह कहता है कि "अपने देश के अनुकूल, स्वभावत सरल हृदय से उत्पन्न होनेवाली, सब पर विश्वास करने की प्रकृति छोड दीजिए ।" इसके उपरान्त स्कन्ध ने स्त्रियो के कारण असावधान हो जाने वाले पुरुषो की भारी भूलो पर जोर दिया है और उसके कई उदाहरण भी दिये हैं । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि अवश्य ही राज्यवर्धन का वध धोखे से किसी स्त्री की सहायता से किया गया होगा । इसी निष्कर्ष के आधार पर प्रसाद ने उत्सव की योजना में सुरमा के रूप से विह्वल और सुरापान से मत्त राज्यवर्द्धन को हत्या सुरमा के प्रेमी विकटघोष द्वारा करवा दी, ताकि नरेन्द्रगुप्त पर कोई शका न की जा सके और वह कह सके कि गायिका के रूप पर आकर्षित राज्यवर्द्धन को उस गायिका के प्रेमी ने ईर्ष्या से मार डाला । उक्त घटना ऐतिहासिक हो अथवा नही, इतिहास के सत्य की रक्षा का प्रयास यहाँ अवश्य किया गया है ।

इसके उपरान्त नाटक के घटना क्रम में बडा फेरफार किया गया है । हर्षचरित से ज्ञात होता है कि राज्यश्री अपने अनुचारो सहित कान्यकुब्ज दुर्ग से निकल कर विध्याटवी में चली गई । वहाँ उसने राज्यवर्द्धन का मरण सुनकर अनाहार रहना प्रारम्भ किया और भटकते भटकते दुःख से अत्यन्त कातर होकर अग्निप्रवेश करने का निश्चय किया । इसी समय हर्ष विन्ध्य के वन में राज्यश्री को खोजने गया वहाँ पहुँच कर कुछ समय तक तो वह इधर उधर घूमता रहा । अत में एक दिन उस वन के करद सरदार (आटवी सामन्त) शरभकेतु का पुत्र व्याघ्रकेतु, निर्घात नामक एक पहाडी मनुष्य के साथ राजा के पास आया । हर्ष ने उस व्यक्ति से (फलमिव पापस्य) सम्मान पूर्वक कहा- 'मुझे कोई ऐसी युक्ति बताओ, जिससे राज्यश्री मुझे मिल जाय' । निर्घात ने कहा कि बौद्ध मुनि 'दिवाकरमित्र के आश्रम में जाइये । वे शायद आपकी बहिन के सबध मे कुछ बता सके ।" हर्ष वहाँ पहुँचा । दिवाकरमित्र भूतराजा ग्रहवार्मा के बाल्यसखा रह चुके थ, किन्तु उन्हे राज्यश्री के सबध में कुछ भी ज्ञात न था । उसी सयम एक भिक्षु ने आकर बतलाया कि एक स्त्री निराश होकर चिता मे जल मरने के लिये तैयार है, वह निराश और कोशाभिभूत है । मुनि सहित हर्ष वहाँ पहुँचा । हर्ष के बहुत कुछ समझाने पर अन्त मे राज्यश्री ने अपना सकल्प छोड दिया और काषाय वस्त्र धारण करने की इच्छा प्रकट की । बौद्ध मुनि ने उसे अपने बडे भाई और सरक्षक हर्ष की सम्मति के अनुसार चलने का परामर्श दिया । हर्ष नही चाहता

---

(१) शशाकेन विश्वासाथ दूतमुखेन कन्याप्रदानमुक्त्वा प्रलोभिता राज्यवर्द्धनः
स्वगेहे सानुचरो मु मान एव छद्मना व्यापादित ।
—हर्षचरित (शाकर टीका) ३।पृ० २५१.

(२) थौमस वार्टर्स—१।पृ० ३४६

(३) प्राणानुज्झित-वानराति भवने सत्यानुरोधेन यः । बसखेडा ताम्रपत्र

था कि राज्यश्री इस अल्पावस्था मे दुख भूलने के लिये भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करे। उसकी इच्छा थी कि अभी कुछ समय तक राज्यश्री का पालन करने और शत्रु से बदला लने के सकल्प को पूरा करने का अवसर मुझे मिले। महाराज हर्ष ने मुनि से राज्य श्री का शोक दूर करने के लिये राजधानी तक चलने की प्रार्थना का जिसको दिवाकर मित्र ने स्वीकार कर लिया। इस पर प्रसन्न होकर हर्ष गगातट पर अपने सेना पडाव मे लौट गये।[1]

हर्षचरित के उपर्युक्त वृत्तान्त से 'राज्यश्री' की घटनाओ का सामजस्य बैठता। इसमे सन्देह नही कि दिवाकरमित्र एक प्रकार से राज्यश्री की रक्षा के कारण बने। किन्तु प्रसाद के नाटक की घटना के समान उन्होने न तो दस्युओ के हाथ से उसका उद्धार किया और न पति की मत्यु के दुःख के कारण राज्यश्री ने उनके आश्रम मे ही सती होने का प्रयास किया। वस्तुतः दस्युराज के चरित्र के अनायास ही बढ जाने से और उसके चरित्र के द्वारा ही नाटक की समस्त घटनाओ के कारण काय परम्परा मिलाने के कारण प्रसाद को ऐतिहासिक घटनाओ में इस प्रकार का मोड़ देना पडा है, जो महत्वहीन और निरर्थक है।

नाटक के अनुसार दिवाकरमित्र राज्यश्री की रक्षा करते हुए उसे सूचना देता है कि रेवा तट पर हर्ष और पुलकेशिन के बीच युद्ध हो रहा है। किन्तु हर्षचरित के अनुसार हर्ष के दिग्विजय के प्रस्थान की घटना अतिम है और राज्यश्री एव हर्ष के मिलन की घटना इससे बहुत पूव की है समझ में नही आता कि इतनी बडा साक्षी के विरोध म प्रसाद ने क्यो घटनाओ के क्रम मे उलट फेर किया। नाटक में हर्ष स्वय यह स्वीकार करता है कि 'कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तट तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया'[2] इसका यह अर्थ हुआ कि राज्यश्री को ढूँढने से पूर्व हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को विजय कर लिया था और पुलकेशिन चालुक्य से युद्ध के उपरान्त ही उसे राज्यश्री मिली। यह स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाद है, जिसे किसी भी दशा मे स्वीकार नही किया जा सकता। इतिहासिकारो की मान्यता है कि इन दोनो राजाओ मे ६३०—६३४ ई० के बीच कही युद्ध हुआ था।[3]

प्रसाद ने अपने नाटक मे हर्ष की हार को सूचित न कर एक मैत्रीपूर्ण सधि का वातावरण प्रस्तुत किया है। राज्यश्री की खोज के लिए हर्ष बेचैन है अत. वह युद्ध रोक कर सधि कर लेता है किन्तु ऐहोडा के दानपत्र के शब्द 'हर्ष विच्छेद हेतु,' तथा 'भय विचलित हर्षो येन चाकारि हर्षो' इस प्रकार की परिस्थितियो की सूचना नही देते। राज्यश्री सबधी घटना तो कालक्रम के विरुद्ध है ही। साथ ही 'हर्ष हारा नही था, उसने अन्य किसी कारण से सधि की थी यह भी ऐतिहासिक सत्य से बहुत दूर है।

देवी की प्रतिमा के सम्मुख ह्वेनसाग की बलि देने की घटना ऐतिहासिक है। जब चीनी यात्री 'गगा में अयोध्या से पूर्व की ओर यात्रा कर रहा था, कुछ डाकुओ ने जहाज पर आक्रमण कर दिया। जहाज में लगभग अस्सी (८०) यात्री थे। स्वरूपवान होने के कारण डाकुओ ने अपनी देवी दुर्गा के सम्मुख बलि देने के लिए उसे ही चुना। अन्य यात्रियो के बहुत समझाने पर भी डाकुओ ने उसे न छोडा। उनके सरदार ने कुछ डाकुओ की एक

---

(१) हर्ष चरित पृ० ३११ से ६४० तक (२) राज्यश्री ३।५८

(३) अल्टेकर का लेख—इडियन कल्चर १९४० वो० ६ पृ० ४५०

रम्य स्थान में गीली मिट्टी की वेदी बनाने के लिए भेजा। दो व्यक्तियों ने वेदी के ऊपर चीनी यात्री को ला खड़ा किया। किन्तु उसमें भय का कोई लक्षण न देखकर सबको आश्चर्य हुआ। यात्री ने मैत्रेय का ध्यान किया। एकाएक भयंकर आंधी चलने लगी, तूफान आ गया और डाकू भयभीत होकर उसे छोड़कर चले गये।'[1] उक्त घटना में प्रसाद ने स्थान एवं यात्रा विवरण को छोड़कर शेष सब कुछ ग्रहण कर लिया है, किन्तु यहाँ भी डाकुओं का सरदार शांतिभिक्षु अथवा विकटघोष ही है जो प्रसाद की एक कल्पना मात्र है और जिसे यहाँ अनावश्यक महत्व दिया गया है।

कान्यकुब्ज के दान का उल्लेख मात्र ही नाटक में हुआ है। किन्तु महाश्रमण की हत्या का प्रयास और स्वयं सम्राट की हत्या के प्रयत्न प्रयाग के दान के समय हुए बतलाए गये हैं। ये दोनों घटनाएँ ऐतिहासिक हैं और दोनों कन्नौज की सभा की घटनाएं हैं। कन्नौज में वस्तुतः दान नहीं हुआ था, वरन् हर्ष ने ह्वेनसांग के विचारों के प्रचार प्रसार के लिए एक बहुत बड़ा उत्सव किया था, जिसमें बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई थी और उसका छत्र स्वयं हर्ष डुलाया करता था। वहाँ ह्वेनसांग महायान सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत करता था। उसके इस सम्मान से संभवतः अन्य धर्मावलम्बी असन्तुष्ट हुए हों। अतः जब हर्ष को यह ज्ञात हुआ कि महाश्रमण का जीवन अरक्षित है तो उसने इस आशय की घोषणा करवा दी कि 'यदि किसी ने महाश्रमण के शरीर का स्पर्श भी किया तो उसका वध कर दिया जायगा, जो कोई उनके विरुद्ध बोलेगा उसी की जिव्हा काट ली जायगी, किन्तु वे सब जो उनके उपदेशों से लाभ उठाना चाहते हैं, वे इस घोषणा पत्र से भयभीत न हों, यह मेरा वचन है।[2] स्वयं हर्ष की हत्या का प्रयत्न भी वहीं हुआ था। जो विशाल बिहार बनाया गया था, उसमें एकाएक आग लग गई और अन्त में स्वयं सम्राट के प्रयत्नों से बुझी। बाद में यह दृश्य देखने के लिये हर्ष स्तूप पर चढ़ा। जब वहाँ से लौट रहा था तो हाथ में कटार लेकर किसी व्यक्ति ने उन पर आक्रमण किया। किन्तु हत्यारा पकड़ा गया और उसने स्वीकार किया कि वह बौद्ध विरोधियों की प्रेरणा थी।[3] प्रसाद ने इस घटना में भी शांतिभिक्षु को हत्यारा बनाया है और दोनों घटनाओं को कान्यकुब्ज से हटाकर प्रयाग के दान के समय रख दिया है। घटनाक्रम के इन परिवर्तनों से भी किसी नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि हुई हो ऐसा नहीं प्रतीत होता।

प्रयाग का दान वस्तुतः महान् था। गंगा-यमुना के संगम पर पचहत्तर दिन तक पूजन और दान होता रहा। बुद्ध के साथ साथ सूर्य और शिव की प्रतिमाओं की स्थापना भी की गई। अन्त में हर्ष ने अपना सर्वस्व दान कर दिया और राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र मांगकर धारण किया, और दस दिशाओं के बौद्धों को प्रणाम कर प्रसन्नता प्राप्त की। नाटक में इस घटना को इसी प्रकार लेने के उपरान्त प्रसाद ने अन्त में राज्यश्री के दान का उल्लेख भी किया है और उसने महाश्रमण से वस्त्र का दान मांगा। वस्तुतः उनके नाटक का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण था।

---

(१) दि लाफ आफ ह्वेनसांग—श्रमण हुई—ली ऐंड यैन-त्सुंग पृ० ८६—८९
(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (स्मिथ) पृ० ३६१
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (स्मिथ) पृ० ३६३—सी० यू० की

प्रसाद के नाटकों में सत्य का स्वरूप

प्रसाद नाटककार के साथ साथ इतिहास के विद्वान भी थे। अत उनके ऐतिहासिक नाटको के अधिकाश स्थलो पर 'इतिहास के सत्य' का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इतिहास के अर्द्ध सिद्ध एव मात्र सभाव्य स्थलो मे ही प्रसाद ने काल्पनिक तत्वो की योजना की है। नाटको के कथानको पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर अच्छी तरह से पहुँचा जा सकता है कि सभी कथानको की सामान्य रूपरेखाएँ पूर्णतया ऐतिहासिक है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कदगुप्त और राज्यश्री सभी के कथानको के गौण तत्व चाहे प्रसाद ने कही से लिये हो किन्तु उनकी मोटी-मोटी सभी प्रधान घटनाएँ इतिहास सिद्ध है। अत इतिहासकार के सत्य की रक्षा उन्होने अच्छी तरह से की है। सामान्यतया प्रसाद ने जहाँ कही भी परिवर्तन किये है वे परिवर्तन इतिहास की अर्द्ध-सिद्ध या सभाव्य मान्यताओ मे ही किये है।

इतिहासकार का सत्य

'कथानक' सबधी परिच्छेद मे इस सबध मे पूर्ण विचार किया जा चुका है कि प्रसाद ने अपने कथानको मे जो परिवर्तन किये है वे उचित थे अथवा नही। उसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ऐतिहासिक सभाव्यता का इतना अधिक ध्यान उन्होने रखा है कि हम इस प्रकार के सामान्य कथन का प्रयोग कर सकते है कि प्रसाद ने सर्वत्र ही इतिहासकार के सत्य की रक्षा का प्रयास किया है।

प्रसाद ने कुछ परिवर्तन नाटककार के स्वानुभव के सत्य की रक्षा के लिये भी किये है। नाटककार के स्वानुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल होता है और इस विशालता में उसके सभी पात्र, उसकी सभी घटनाएँ आ जाती हैं। अजातशत्रु का वाजिरा से पूर्वराग, चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया से प्रणय, देवगुप्त की राज्यश्री के प्रति आसक्ति, चाणक्य की एक स्त्री के प्रति अनुरक्ति, राक्षस का इस कारण से चाणक्य से विरोध, स्कद का असफल प्रणय के कारण आजीवन कौमार व्रत, ऐसी ही घटनाएँ है, जो ऐतिहासिक तो नही हैं, पर जिनको प्रसाद ने ऐतिहासिक-भावभूमि में ला खडा किया है। प्रश्न यह है कि ऐसा उन्होने क्यो किया ? कारण स्पष्ट है। इनसे उनकी कलाकृतिया प्राणवान बन सकी है और उनमें वास्तविक कलात्मकता का सृजन हो सका है। इन नवीनताओ अथवा परिवर्तनो को हम नाटकार के स्वानुभूत सत्य के अन्तर्गत रखते है। नाटककार अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह जनता है कि किस प्रकार का ऐतिहासिक पात्र किस प्रकार के काल्पनिक पात्र अथवा घटना के सम्पर्क मे आकर अपने चरित्र के प्रत्येक पक्ष को अच्छी से अच्छी तरह प्रकाशित कर सकेगा। इस ज्ञान को वह इतिहास से नही पा सकता, वरन् अपने व्यक्तिगत जीवन से प्राप्त करता है।

प्रसाद का स्वानुभव

प्रसाद मे सौन्दर्य और प्रणय की जो काव्यमय अनुभूतियाँ थी, उनसे प्रभावित होकर उन्होने अपने नाटको मे कितनी ही घटनाओ और कितने ही पात्रो का सृजन किया जिनको काल्पनिक कहने मे भी सकोच होता है। 'चन्द्रगुप्त' की मालविका, 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा, 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना और इन सबके मूक, पर कोमल प्रणय विराट सत्य प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि ये नाटककार के स्वानुभव के विराट सत्यो की जीवन्त प्रतिमाएँ है। प्रसाद की स्वय की यह मान्यता सी प्रतीत होती है कि नारी, पुरुष के जीवन मे सबसे बडा योग दे सकती है वह उसका निर्माण कर सकती है और नाश भी। इस सत्य की झलक उनके नाटको में सवत्र मिलती है।

नाटकीय परम्पराओ के सत्य की रक्षा के लिये भी प्रसाद ने इतिहास में कई परिवर्तन किये है। सबसे बडी बात प्रसाद के नाटको का दुःखान्त न होकर प्रसादान्त होना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक घटना की ध्रुव-साक्षी होते हुए भी प्रसाद ने अपने नाटको को दु खान्त बनाने से यथाशक्ति बचाने का प्रयास किया है। 'अजातशत्रु' नाटक की घटना का इतिहास के अनुसार इतना सुखद अन्त नही हुआ था, जितना प्रसाद ने चित्रित किया है। यह सत्य है कि नाटक मे भी अन्त में बिम्बसार को लडखडा कर गिरते हुए चित्रित किया है, किन्तु तथागत गौतम की अभय-मुद्रा के दिव्य आलोक मे, अपने सभी परिजनो से घिरे हुए राजा की मृत्यु भी कटुता या करुणा लिये हुए नही है। एक दिव्य शाति लिये हुए है। 'चन्द्रगुप्त के अन्त का करुणापूर्ण होना तो सम्भव ही न था, किन्तु फिर भी चाणक्य और मौर्य सेनापति के काषाय ग्रहण से नाटक के अन्त में हर्ष के साथ साथ वैराग्यपूर्ण शाति का समावेश हो गया है। ध्रुवस्वामिनी का अन्त रामगुप्त की मृत्यु में तो हुआ है, पर स्पष्ट रूप से प्रसाद ने वहाँ भी रामगुप्त की मृत्यु का उल्लेख न कर उसके गिरने का ही उल्लेख किया है और जो कुछ भी सहानुभूति अथवा कटुता उसकी मृत्यु से उत्पन्न होती, वह चद्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी की जयजयकार मे छिप गई है। स्कदगुप्त का अन्त मार्मिक है, किन्तु वह भी पूर्णतया दु.खान्त नही होने पाया है। उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि स्कद और देवसेना ने भावना से कर्त्तव्य को ऊँचा समझा। इसी घटना का पूर्णतया करुणापूर्ण अन्त राखलदास बनर्जी के 'करुणा' उपन्यास में देखा जा सकता है। प्रसाद ने यहाँ हूण युद्ध में स्कद की विजय दिखाई है। उसकी मृत्यु नही। अतः निश्चय ही यहाँ भी वे उसका कारुणिक अन्त नही करना चाहते थे। राज्यश्री का अन्त भी शाति युक्त सुख का ही सूचक है। अतः हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपने नाटको में कम से कम अन्त में तो प्रसाद ने भारतीय परम्परा के इस सिद्धान्त को अनायास ही स्वीकार कर लिया है कि नाटक दुःखान्त नही होना चाहिये। इसको किसी भी प्रकार के नाटकीय प्रयोग अथवा प्रसाद की दार्शनिकता कहकर नही टाला जा सकता। यह निश्चय ही नाटकीय परम्परा के सत्य की रक्षा का प्रयास है—चाहे यह प्रयास जान बूझकर किया गया हो अथवा अनायास ही।

नाटकीय परम्परा

लोक मानस का सत्य प्रसाद के नाटको की घटनाओ में रहकर उभर आया है। प्रसाद के दुष्ट और क्रूर ऐतिहासिक चरित्र पूर्णतया दुष्ट और क्रूर हैं, और उनकी रक्षा करने

लोक-मानस

का कही भी प्रयास नही किया गया है। काव्य-न्याय की कसौटी मे वे सब अच्छी तरह से कसकर दडित किये गये हैं। अजातशत्रु की हार और अतिम आत्मग्लानि को कम न कर उसे बढा दिया है और इस प्रकार उसमे सच्चे मानवोचित गुणो को भरने का अवसर दिया है। मागन्धी जैसी रूपगर्विता नारी के गर्व को प्रसाद ने चूर चूर करके ही दम लिया है, चाहे इसमें उन्हे इतिहास को भी भ्रष्ट करना पडा हो। देवदत्त का अन्त ऐतिहासिक है और वह सचमुच कभी सुधरा भी न था। बिम्बसार और वासवी का अतिम क्षणो का सुख सम्पूर्ण जीवन के दुखो पर छा जाता है।

हृदय परिवर्तन प्रसाद का बहुत प्रिय है। इसलिये प्रसाद ने अधिकाश पात्रो के हृदय परिवर्तन के लिये योग्य परिस्थितियो की योजना भी की है ताकि लोक मानस उसे स्वीकार कर सके। राक्षस का हृदय परिवर्तन मुद्राराक्षस पर आधारित है। पर आम्भीक को देश-द्रोह की सजा दूसरे ही प्रकार से मिली। उसने अपने रक्त से अपना कलक धोया जो इतिहास क अनुकूल नही है। नन्द के पापो का घडा भरता रहा और अन्त मे शकटार के हाथो ही फूटा, क्योकि उसी के साथ उसने सबसे अधिक अत्याचार किया था। 'स्कदगुप्त मे रूपगर्विता अनन्तदेवी और विजया पतन की अन्तिम सीमा पर ही जाकर रुके हैं, और उनका जो अन्त हुआ उस पर कोई असन्तोष नही कर सकता, क्योकि वह अत्यत न्यायोचित है। देवगुप्त और नरेन्द्रगुप्त के अन्त ऐतिहासिक हे, पर शान्तिभिक्षु और सुरमा स्वय अपने अभिशाप की ज्वाला मे जलकर शाति की खोज मे पुनः देवी राज्यश्री के चरणो मे ही नतमस्तक हुए। शाति भिक्षु और सुरमा के लिये कोई दण्ड प्रसाद ने नही दिया, यह शायद कुछ अखर सकता है, किन्तु इससे प्रसाद ने बौद्ध-धम के क्षमा के सिद्धान्त की ही रक्षा नही की है वरन् लोक-मानस को इस सिद्धान्त की आड मे बहला भी दिया है।

अत्याचारी का शासन कभी शाति पूर्ण नही हो सकता, यह लोकमानस की मान्यता है। नन्द, रामगुप्त, और अनन्तदेवी के शासन-काल मे देश की दुर्दशा के जो चित्र प्रसाद ने खीचे हे वे इस ओर पर्याप्त सकेत करते हैं।

काव्य न्याय के सम्बन्ध मे प्रसाद पर यदि कही आरोप लगाया जा सकता है तो वह 'चन्द्रगुप्त' की कल्याणी और मालविका, 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा और 'स्कदगुप्त' की देवसेना के सबध मे। यदि देवसेना के लिए हम यह मान भी लें कि उसे तो प्रसाद उसका प्राप्य दे ही रहे थे, पर उसने कर्त्तव्य के लिए उसे स्वय ही अस्वीकार कर दिया, तब भी कल्याणी, मालविका और कोमा के सुन्दर-सुकोमल जीवन की करुणाजनक परिस्थिति के लिए प्रसाद स्वय ही जिम्मेदार हैं। कल्याणी के सम्बन्ध में यह कहा सकता है कि उसे आत्महत्या से नन्द के पापो का प्रायश्चित करना पडा। कोमा को शकराज की प्रियतमा होने के कारण उसकी महत्वकाक्षाओ का शिकार होना पडा। मालविका अवश्य 'स्वर्गीय कुसुम' थी और उसके वध के लिए प्रसाद का चाणक्य अपराधी है अतः स्वय प्रसाद भी अपराधी है।

भारतीय राष्ट्र के एक अत्यन्त प्रचलित विश्वास पर प्रसाद ने एक गहरी चोट मारी है। उन्होने जन-मानस में अत्यन्त श्रद्धेय और वीर माने जाने वाले पर्वतेश्वर को कालान्तर मे एक साधारण मद्यप और विलासी के रूप मे चित्रित कर दिया है। यह ठीक है कि प्रसाद ने मुद्राराक्षस की विषकन्या से आलिंगन करने वाले राजा पर्वतक और ग्रीको के पुरु (पर्वतेश्वर) को एक मानकर स्वाभाविक कारण-कार्य योजना प्रस्तुत की है। किन्तु एक तो यह बात ऐतिहासिक नही और दूसरे जन-मानस इस बात को स्वीकार करने को कदापि प्रस्तुत नही हो सकता कि सिकन्दर के सामने बंदी-अवस्था में भी मस्तक न झुकाने वाला महावीर पुरु नैतिकता से इतना गिरा हुआ होगा। जिस प्रकार विक्रमादित्य को न्याय-रहित, राजा भोज को अदानी और कृपण और मुंज को पराक्रमहीन स्वीकार करने को लोक भावना प्रस्तुत नही, उसी प्रकार पुरु (पर्वतेश्वर) को विलासी, कायर और मद्यप मानने को भी नही। प्रसाद के इस विधान को किसी प्रकार भी सत्य नही माना जा सकता।

"अजातशत्रु" नाटक की कालयोजना

प्रसाद ने "अजातशत्रु" की भूमिका मे तो नही किंतु 'चन्द्रगुप्त" की भूमिका में बुद्ध और महावीर सबधी कुछ तिथियो का उल्लेख किया है। प्रसाद बुद्ध का निर्वाण-काल ५४३ ई० पू० मानते हैं और महावीर स्वामी का निर्वाण-काल ५२० ई० पू० ।[1] मैक्समूलर के मत से बुद्ध का निर्वाण ४७७ ई० पू० हुआ था। प्रसाद इसे स्वीकार नही करते। बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के राज्यकाल के नवे वर्ष मे हुआ था। अत प्रसाद के अनुसार अजातशत्रु के सिंहासनारोहण की तिथि ५५२ ई० पू० होगी। अब यदि बिंबसार ने ५२ वर्ष[2] राज्य किया, हो तो वह ६०४ ई०पू० सिंहासनासीन हुआ होगा। और उसकी मृत्यु ५५२ ई०पू० में हुई होगी। इस दृष्टि से प्रसाद की कला-योजना पर विचार करे तो नाटक का अन्त बिंबसार की मृत्यु के साथ ५५२ ई०पू० मे होता है। बुद्धघोष के अनुसार बिंबसार अधिकारच्युत होने पर बहुत दिनो तक बन्दी की अवस्था मे रहा।[3] यदि बिंबसार कम से कम दो वर्ष भी बन्दी रहा होगा तो उसके बदी होने की तिथि ५५४ ई० पू० होगी। नाटक की घटनाओ को देखते हुए कम से कम दो वर्ष तक उसका बदी रहना आवश्यक है, क्योकि इस बीच काशी के दो युद्ध हुए, अजात का विवाह हुआ और उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। नाटक के प्रारम्भ में अजात की आयु १२ वर्ष से अधिक की नही प्रतीत होती। यदि उसका यौवराज्याभिषेक और राज्याभिषेक बिंबसार की मृत्यु के बाद १८ वें वर्ष में मानें तो नाटक के प्रारम्भ की तिथि ५५८ ई०पू० माननी पडेगी। अतः प्रसाद के अनुसार "अजातशत्रु" नाटक ५५८ ई०पू० से प्रारम्भ होकर ५५२ ई०पू० तक चलता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के निर्वाण की निश्चित तिथि के सबध मे प्रसाद स्वय किसी निर्णय पर नही पहुँच सके है। उन्होने "चन्द्रगुप्त" की भूमिका मे ही अन्यत्र बुद्ध के निर्वाण की तिथि ५५० ई०पू० भी मानी है[4] जो उनकी पूर्व मान्यता (५४३ ई०पू०) से ७ वर्ष पूर्व की है।

सम्पूर्ण नाटक की अवधि

(१) प्रसाद के अनुसार।

स्मिथ गौतम के निर्वाण की तिथि ५४७ ई० पू० मानते हैं और साथ ही यह भी

---

(१) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ३३—३४

(२) दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिट (मुखर्जी) पृ० ३७

(३) अजात० (भूमिका) पृ० १७

(४) चन्द्र० (भूमिका)

(२) स्मिथ के अनुसार। स्वीकार करते हैं कि अजातशत्रु के सिंहासनारूढ होने के नवें चातुर्मास मे बुद्ध का निर्वाण हुआ था। फिर भी स्मिथ ने अजातशत्रु के सिंहासन पर बैठने का समय ५५४ ई० पू० माना है।[1] इस प्रकार दो वर्ष पूर्व की तिथि को स्वीकार कर स्मिथ संभवत. इसी बात को ओर सकेत करते हैं कि इन दो वर्षों मे पिता को बन्दी करने के कारण वास्तविक राज्याधिकार ५५४ ई० पू० में ही अजात के हाथो आ चुका था। "सामन्जफल सुत्त" के अनुसार अजात ने बुद्ध के सम्मुख पितृहत्या के पाप को स्वीकार किया था।[2] अतः बिंबसार की मृत्यु ५५२ ई० पू० और ५४३ ई० पू० के बीच कही भी हो सकती है। स्मिथ के अनुसार बिंबसार का शासन—काल ५८२ ई० पू० से प्रारम्भ हुआ और उसने कुल २८ वर्ष तक राज्य किया।[3] इस तिथि को स्वीकार करने पर यह मानना पडेगा कि अजातशत्रु ने उसे ५५४ ई० पू० में सिंहासन से हटा दिया, कम से कम दो वर्ष तक बन्दी रखा और ५५२ ई० पू० अथवा उसके उपरात उसकी मृत्यु हुई। इस प्रकार स्मिथ के अनुसार अजातशत्रु की कथा की अवधि ५५८ ई० पू० से ५५२ ई० पू० तक छः वर्ष की होगी।

(३) अन्य इतिहासकारों के अनुसार वस्तुत. इस सुदूर ऐतिहासिक काल की प्रमाणिक तिथियाँ प्राप्त करना कठिन कार्य है और इस सबध मे इतिहासकारो के मतो में पर्याप्त भिन्नता है। बौद्ध प्रमाणो के आधार पर गौतम बुद्ध की मृत्यु अजातशत्रु के शासन-काल के नवें वर्ष मे हुई थी। सिंहाली निर्वाण सवत्-के आधार पर कुछ इतिहासकार बुद्ध का निर्वाण काल ५४४ ई० पू० मानते है। प्राचीन सिंहली परपरा यह भी मानती है कि बुद्ध के निर्वाण के २१८ वर्ष उपरात अशोक सिंहासनासीन हुआ था, और स्मिथ[4] से लेकर राधा कुमुद मुखर्जी[5] तक प्राय' सभी विद्वान इस घटना का २६९ ई० पू० में होना निश्चित मानते हैं। अतः यहाँ सिंहली परपरा से ही ५४४ ई० पू० की तिथि अमान्य हो जाती है। ऐसी दशा मे बुद्ध का निर्वाण-काल स्वतः ही ४८७ ई० पू० मानना पडेगा। उक्त तिथियो को स्वीकार कर लेने पर बिंबसार का राज्यकाल ५४५ ई० पू० से लेकर ४९३ ई० पू० तक (५२ वर्ष) ठहरता है।

प्रश्न यह है कि ४९३ ई० पू० में बिंबसार की मृत्यु हुई थी या अजात ने उसे बन्दी बना लिया ![6] सिंहली इतिहास के अनुसार अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। यदि अजातशत्रु ने बिम्बसार को ४९३ ई० पू० मे बन्दी बनाया तो ४९३ में उसका राज्याभिषेक नही हुआ होगा, अन्यथा उसे पिता के वध करने की आवश्यकता ही न होती।

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० २४
(२) डायलौग्ज आफ दि बुद्धा (राइस डेविड्ज) पृ० ९४
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३२—३३
(४) वही पृ० १६४
(५) दि एज आफ इपीरियल यूनिट--पृ० ३६
(६) विनय० २।१९० , दीघ० १।८६ , सुमगल १।१३३

परतु यदि उसका राज्यकाल ४६३ ई० पू० से दो या तीन वर्ष बाद माना जाय तो बुद्ध के निर्वाण-काल की तिथि ४८७ ई० पू० ठीक नही बैठती क्योंकि यह घटना उसके राज्य-शासन के नवें वर्ष में हुई थी। अत ४६३ ई० पू० को बिबसार की मृत्यु की तिथि मानना ही उचित है। अजात ने उसे ४९६ ई० पू० के आसपास बदी बना लिया और तब से ४६३ तक वह पिता की जीवितावस्था में ही राजकुमार के रूप में राज्यकार्य करता रहा और पिता को कष्ट देता रहा। प्रसाद का कथानक बिबसार को बदी बनाने से कम से कम ४ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो जाता है। तब अजातशत्रु की आयु अधिक से अधिक १२ वर्ष की रही होगी। नाटक की कथावस्तु इस प्रमाण से ५०० ई० पू० से प्रारम्भ होकर ४६३ ई० पू० तक (७ वर्ष) तक चलती है। इस प्रकार जहाँ तक कथानक की कालावधि का समय है इन तीनो मान्यताओं मे विशेष अतर नही है। प्रसाद और स्मिथ दोनो ने बुद्ध के निर्वाण की तिथि के आधार पर ही अपने इतिहास का ढाचा खड़ा किया है। बुद्ध के निर्वाण की दो पृथक तिथियाँ स्वीकार कर प्रसाद स्वय झमेले मे पड़ गये है। अतः वह मान्य नही। स्मिथ ने महत्वपूर्ण प्रमाणो का सग्रह नही किया। इतिहासकारो ने सिंहली परपरा और आधुनिक खोजो के आधार पर बुद्ध के निर्वाण की जिस तिथि को स्वीकार किया है, हमने 'अजातशत्रु" की काल योजना मे उसे ही आधार भूत माना है।

प्रथम अंक की अवधि।

नाटक के प्रथम अक की मूल कथा ५०० ई० पू० से आरभ होती है और अजातशत्रु के कुमाराभिषेक के उपरात बिबसार के राज्यकार्य छोड़कर एकातवास करने तक चलती है। वस्तुतः बदी बनाये जाने का प्रसग दूसरे अक के प्रारभ मे आती है। प्रसाद ने इस सबध में बौद्ध ग्रथो[1] को अक्षरशः स्वीकार न कर जैन[2] ग्रथो को आधार बनाया है। बिबसार के राज्य-त्याग एव उसके बदी बनाये जाने के बीच देवदत्त के कारण अधिक समय न लगा होगा। अतः प्रथम अक मे ५०० ई० पू० से ४९६ ई० पू० तक चार वर्ष की कथा आ जाती है।

द्वितीय अंक की अवधि।

दूसरा अक ४९६ ई० पू० से ही आरभ होकर काशी के दूसरे युद्ध तक चलता है यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि अजातशत्रु ने काशी पर आक्रमण कब किया? "सामञ्जफल सुत्त"[1] और "धम्मपद टीका"[2] से ज्ञात होता है कि काशी का राज्य कोशल ने विवाह के अवसर पर कोशल राजकुमारी वासवी को दे दिया था। अजातशत्रु द्वारा बिबसार और कोशल राजकुमारी की हत्या का समाचार सुनकर प्रसेनजित ने काशी का राज्य वापस ले लिया। इस आधार पर उक्त घटना बिबसार की मृत्यु के उपरान्त ४६३ ई० पू० के लगभग माननी पड़ेगी। परतु प्रसाद के नाटक मे बिबसार की मृत्यु काशी के दोनो युद्धो के उपरान्त हुई है। नाटक के अनुसार ये युद्ध अजातशत्रु के युवराज काल के प्रारम्भिक दिनो में हुए है। तब बिबसार बदी बना लिया गया था।

---

(१) १।८४—८६, जातक० ४।३४२
(२) ३।२५९

अतः प्रसाद के घटनाक्रम के अनुसार काशी का यह युद्ध ४६५ ई० पू० में ही होना चाहिए। इस प्रकार दूसरे अंक मे कथा ४६६ ई० पू० से ४६५ ई० पू० तक एक वर्ष की कथा है।

तृतीय अंक दूसरे युद्ध में अजातशत्रु की हार और उसके बंदी बनाये जाने से प्रारंभ होता है और अजातशत्रु की पुत्रोत्पत्ति एवं बिंबसार की मृत्यु मे समाप्त होता है। हम पहले स्वीकार कर चुके है कि बिंबसार की मृत्यु ४६३ ई० पू० मे हुई। अतः तृतीय अंक की कथा ४६५ ई० पू० से ४६३ ई० पू० दो वर्षों तक चलती है इसमें दो वर्ष की कथा का होना आवश्यक है। क्योंकि कोशल से युद्ध, अजात का बंदी बनना, वाजिरा से विवाह तथा पुत्र-जन्म और उसके ठीक बाद बिंबसार की मृत्यु, इतनी सब घटनाएँ दो वर्ष से कम में नहीं सकतीं। किन्तु इस अंक मे इतिहास संबंधी एक महत्वपूर्ण दोष भी आ गया है। तृतीय अंक के तीसरे दृश्य में मल्लिका विरुद्धक मे कहती है, "तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का किसी भी भूल पर निर्दयता मे वध किया।"[1] अत. प्रसाद के अनुसार नाटक मे कुमार विरुद्धक ने अपने पिता के जीवन-काल में ही कपिलवस्तु के शाक्यो पर आक्रमण किया। बौद्ध-ग्रंथो से ज्ञात होता है कि विरुद्धक ने गौतम के परिनिर्वाण के कुछ समय पूर्व शाक्यो पर आक्रमण किया था। इस युद्ध मे उसने जिस निर्दयता से शाक्य पुरुषो, स्त्रियो एवं बच्चों का संहार किया, उसका उल्लेख प्राय. सभी बौद्ध इतिहासकारो ने किया है। किन्तु यह घटना प्रसेनजित की मृत्यु के बाद हुई थी उसका जीवितावस्था में नहीं।[2] अत. बुद्ध के निर्वाण की मान्य तिथि के अनुसार यह घटना ४८६—८७ ई० पू० की होगी। हमारी काल-योजना के अनुसार तृतीय अंक ४६५ ई० पू० से प्रारंभ होकर ४६३ ई० पू० मे समाप्त हो जाता है। अतः स्पष्ट ही ऐतिहासिक घटनाओ के साथ साथ तिथियो से भी उक्त घटना का ६ वर्ष बाद की है। प्रसाद ने प्रसेनजित की मृत्यु के बाद की घटना को उनके जीवन-काल मे ही चित्रित कर काल-क्रम में परिवर्तन किया है। किन्तु उक्त परिवर्तन दोष-पूर्ण होने के साथ ही अनावश्यक भी है। इससे विरुद्धक की चारित्रिक क्रूरता की ओर थोड़ा सा महत्वहीन संकेत मिलने के अतिरिक्त अन्य कोई भी अर्थ सिद्ध नहीं होता।

तृतीय अंक की अवधि।

नाटक के प्रथम अंक की प्रथम दृश्य की घटना आधे घंटे से भी कम की है, प्रथम दृश्य में वासवी छलना को "गृह—विद्रोह की आग" जलाने के लिए सावधान करती है और दूसरे ही दृश्य में छलना बिंबसार के सम्मुख वासवी पर ("अपने नीरव अपमान करने का") अभियोग लगाती है। पहले दृश्य मे पद्मावती (उसी दिन) कौशाम्बी चली जाने की बात कहती है और दूसरे दृश्य मे बिंबसार उसके चले जाने का उल्लेख करता है। अतः पहले और दूसरे दृश्य के बीच एक रात का या एक दिन का अंतर हो सकता है। दूसरे दृश्य की

प्रथम अंक की काल-योजना।

---

(१) अजात०

(२) धम्मपद अट्ठ कथा १।३४६–९, ३५७–६१, उदान १।२६५, उपदान १।३००

समस्त घटना भी आधे घन्टे से अधिक की नहीं । दूसरे दृश्य के अंत में बिंबसार परिषद् को सभागृह में एकत्र होने का आदेश देता है । तीसरे दृश्य में देवदत्त और समुद्रगुप्त के संवाद से ज्ञात होता है कि परिषद् का कार्य अजात की देखरेख में होने लगा है और शुभ-मुहूर्त में उसका सिंहासन पर बैठना ही शेष है । इसी बीच यह भी सूचना मिलती है कि बिंबसार ने स्वयं ही वानप्रस्थ ले लिया है । बिंबसार के आदेश से यह प्रतीत होता है कि परिषद् दूसरे दृश्य की घटना के दिन ही एकत्र हुई होगी और उसने उसी दिन अजात के यौवराज्याभिषेक का निर्णय दे दिया होगा । इसके उपरान्त शुभ मुहूर्त निकालने, उसको युवराज पद पर अभिषिक्त करने, उसकी देखरेख में परिषद् का काम चलाने, और बिंबसार के राज्यकार्य से स्वयं अलग होकर वानप्रस्थ लेने में कम से कम एक माह का समय लग सकता है । तीसरा दृश्य अधिक से अधिक आधे घन्टे का है । चौथे दृश्य में बिंबसार के प्राण लेने के लिए देवदत्त के कुचक्र का उल्लेख हुआ है । अतः तीसरे और चौथे दृश्य के बीच पर्याप्त अन्तर हो सकता है । यह अन्तर कम से कम एक माह का तो होना ही चाहिए, उससे अधिक कितना ही हो सकता है । चौथा दृश्य भी आधे घन्टे से कम का है । पांचवें दृश्य में तिथि संबन्धी एक नवीन ऐतिहासिक समस्या खड़ी हो जाती है । भूमिका में प्रसाद ने "कथासरित्सागर" और "विष्णुपुराण" के आधार पर उदयन एवं कौशांबी के पूर्व इतिहास पर पर्याप्त विचार प्रकट किये हैं । परन्तु इस समस्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विवेचन का नाटक में कहीं भी उपयोग नहीं हुआ है । शतानीक कौशाम्बी गये अथवा नहीं, उदयन अर्जुन से सातवीं पीढ़ी में हुए अथवा उसके बहुत बाद में, इन समस्याओं का नाटक की कथावस्तु से कोई भी संबन्ध नहीं इतने तर्क-वितर्क के उपरान्त भी प्रसाद ने न बुद्ध संबन्धी तिथियों का उल्लेख किया है न अजातशत्रु संबन्धी न स्वयं उदयन संबन्धी । उदयन की तिथि का अनुमान लगाना कठिन है । कथासरित्सागर के आधार पर उसे प्रसेनजित का समकालीन माना जा सकता है ।[1] जातकों से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित बुद्ध और बिंबसार के समकालीन थे ।[2] बौद्ध ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि उदयन का जन्म ठीक उसी दिन उसी समय हुआ जिस समय गौतम बुद्ध ने जन्म लिया ।[3] पेटवत्थु टीका से ज्ञात होता है कि उदयन बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त भी जीवित था । इस प्रकार यदि उदयन की तिथियों की कल्पना की जाय तो उदयन बुद्ध की जन्मतिथि ५६७ ई० पू० से ४८५ ई० पू० तक अवश्य रहा होगा और उसने अनुमानतः ८२ वर्ष की आयु भोगी होगी । क्योंकि गौतम बुद्ध ने स्वयं ८० वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया था ।[4] प्रसाद के नाटक की कथा के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उदयन बिंबसार, प्रसेनजित और बुद्ध का समकालीन था । अजातशत्रु के प्रथम अंक के पांचवें दृश्य का घटना-काल कुछ ही घंटों का है । मूल कथानक के पूर्वापर प्रसंगों से कोई भी काल संबन्ध न होने से उक्त घटना को कहीं भी रखा जा सकता है क्योंकि इससे हमारी काल योजना में कोई

(१) कथासरित्सागर
(२) जातक
(३) लाइफ ऑफ बुद्ध (रौकहिल)
(४) बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० ३८

भी अन्तर नही पडता । धम्मपद अट्ठकथा[1] से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने नवाँ चातुर्मास कौशाम्बी मे बिताया था और तभी मागन्धीय नामक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री मागन्धीया का बुद्ध से विवाह करना चाहा था । कहा जाता है कि अपने पिता की हत्या करने के उपरान्त अजातशत्रु बुद्ध की शरण मे गया था और राजगृह मे जीवक के आम्रकानन में ही उसने बुद्ध से शांति की प्रार्थना की थी । "साम फल सुत्त" का ज्ञान इसी अवसर पर दिया गया । इस प्रसग को भरहुत के स्तूप-चित्रो मे भी चित्रित किया गया है ।[2] अजातशत्रु ४९३ ई० पू० के आसपास सिंहासन पर बैठा था और इस घटना के नौ वर्ष के उपरान्त ही बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हो गया था । अतः जीवक के आम्रकानन की उपरोक्त घटना के उपरान्त बुद्ध का कौशाम्बी में जाना किसी भी प्रकार सभव नही, क्योंकि उन्होने वहाँ अपना नवा चातुर्मास बिताया था । बुद्ध ने २९ वर्ष मे गृह त्याग किया, छै. वर्ष ज्ञान की खोज की और छठे वष बुद्धत्व प्राप्त कर ८० वष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त किया । उन्होने नियम पूर्वक ३५ वें वर्ष से एक स्थान में चातुर्मास बिताने प्रारम्भ किए ।[3] अत. बुद्ध के कौशाम्बी में चातुर्मास बिताने की घटना का काल ५२३ ई० पू० के आसपास निर्धारित किया जा सकता है । चौथे दृश्य तक की कथा का अधिक से अधिक काल ४९६ ई०पू० कत सोचा जा सकता है । अतः एकाएक पाँचवें दृश्य मे प्रसाद २७ वर्ष पूव की एक अवान्तर घटना ले आए है । इस प्रकार दो विभिन कालो की घटनाओ को बलपूर्वक मिलाने से ऐतिहासिक काल-क्रम पर कडा आघात पहुँचता है ।

पाँचवाँ दृश्य छठे से सबद्ध है । पाँचवें दृश्य में उदयन पद्मावती से रुष्ट हो गए थे । जीवक को कथन से यह भी ज्ञात होता है कि इस बीच वह मगध छोडकर कौशाम्बी आया, वहाँ गौतम के दर्शन किए, राजकुमारी से भेंट की । अन्त में उदयन से मिला और उसे यह ज्ञात हुआ कि कई दिन से उदयन पद्मावती के मन्दिर मे नही गए । अतः इन दोनो दृश्यो के बीच पर्याप्त अन्तर होना चाहिये । इसी दृश्य में प्रसाद में बिम्बसार के बन्दी किए जाने की सूचना के साथ साथ कौशाम्बी में गौतम के होने की चर्चा भी की है । अतः यहाँ दो विभिन्न कालीन घटनायें एक दूसरे से जोडी गई हैं । छठे दृश्य का काल भी कुछ ही घण्टो का है ।

सातवें दृश्य की योजना का सबध पुन. इतिहास के एक नये पृष्ठ से है । प्रसेनजित बुद्ध का समकालीन था ।[4] उसने जब अजात के विरोध में काशी राज्य को वापस ले लेने का निश्चय किया तब प्रसाद के अनुसार बिम्बसार की मृत्यु नही हुई थी । परन्तु बौद्ध ग्रन्थो से यह ज्ञात होता है कि बिम्बसार की हत्या के उपरान्त ही प्रसेनजित ने उक्त निर्णय लिया था ।[5] फलतः यह घटना ४९३ ई० पू० की होनी चाहिये, क्योकि हमने बिम्बसार की मृत्यु

---

(१) १ । १९९, ३ । १९३ ' ४ । १ , उदान ७ । १०
(पाली टैक्स्ट सोसायटी)

(२) भरहुत प्लेटस (कनिंघम) प्लेट १६ फीगर ३६ पृ० १३५

(३) दि हिस्ट्री एड लिट्रेचर आफ बुद्धिज्म (राइस डेविड्ज)

(४) दि एज आफ इम्पीरियल यूनिट पृ० ४

(५) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज पृ० ३१

४९३ ई० पू० में मानी है। परन्तु बौद्ध ग्रंथो के अनुसार बिम्बसार की हत्या के उपरान्त ही प्रसेनजित ने काशी वापस लेने का निर्णय किया था। अतः इतिहास के अनुसार उसे ४९३ ई० पू० अथवा ४९३ ई० पू० के उपरान्त ही मानना पड़ेगा। वस्तुत. बिम्बसार को कुछ वर्षों तक ब दी दशा मे मानने पर प्रमाद का अनुमान ही उचित प्रतीत होता है, और परन्तु अपने पूव निर्णय के अनुसार हम बिम्बसार की बन्दी स्थिति कम से कम दो वष की मान चुके ह अत. उक्त घटना को इससे काफी पूव ४९६ ई० पू० मानना होगा। समस्त दृश्य का काल अधिक से अधिक दो घण्टे का है। आठवे दृश्य का सबध सातवें से सीधा जुड़ता है। इनमे अधिक मे अधिक एक दिन का अन्तर हो सकता है और सम्पूर्ण दृश्य कुछ ही देर का है। घटना क्रम की दृष्टि से नवें दृश्य का सबध छठे दृश्य से है, वर्ष वही है और छटे और नवें के बीच अधिक से अधिक एक सप्ताह का अन्तर हो सकता है क्योकि पद्मावती के प्रति उदयन का क्रोध पूववत हे और वस्तुतः इसी दृश्य में वह प्रकट हुआ है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध उस समय कौशाम्बी मे चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे। सम्पूर्ण दृश्य का काल कुछ ही घटो का है।

दूसरे अक की कथा ४९६ ई० पू० स ४९५ ई० पू० तक एक वष की है। प्रथम दृश्य का काल अधिक से अधिक दो घण्टे का है। बिम्बसार ४९६ ई०पू० से ४९३ ई० पू० तक बन्दी रहा होगा और उससे पूव उसने अजात को युवराज बना कर स्वय ही राज्य कार्य से हाथ खीच लिया होगा। प्रथम दृश्य की राज सभा मे उसे बन्दी बनाये जाने का निर्णय लिया है। अत. उक्त घटना ४९६ ई० पू० के अन्तिम दिनो की होगी। इसी दृश्य मे काशी के विवाद का उल्लेख भी हुआ है। यह निश्चत रूप से नही कहा जा सकता कि

द्वितीय अङ्क की काल योजना।

पहले और दूसरे अको के बीच कितने समय का व्यवधान रहा होगा। पहले अक मे बिम्बसार के वानप्रस्थ लेने और काशी के राज्य के सबध में वासवी द्वारा दूत भेजने के साथ ही आजत की कथा समाप्त हो जाती है। दूसरे अक में अजात को सम्राट् कहा गया है और काशी के कर न देने की चर्चा हुई है। बौद्ध इतिहास के अनुसार तो यह घटना ही बिम्बसार की मृत्यु के बाद की है। अतः इतिहास की दृष्टि मे इस पर विचार करना व्यर्थ है और नाटक के कथानक की दृष्टि से भी कोई भी निश्चित समय नही बतलाया जा सकता है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि घटना ४९६ ई० पू० की है। आठवे दृश्यो के कथानक दूसरे का दृश्य सबध प्रथम अक के सातवें और आठवे दृश्यो से है। स्थान काशी है। इसी दृश्य मे अजातशत्रु द्वारा काशी पर आक्रमण करने के उपक्रमों का भी उल्लेख हुआ है। काशी का युद्ध कब हुआ था, इस सबध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु जैसा हम स्वीकार कर चुके है उक्त घटना ४९६–४९५ ई० पू० मे मानी जा सकती है। अत. प्रथम दृश्य यदि ४९६ ई० पू० के अन्तिम दिनो मे हुआ तो दृश्य उसके साथ ही घटित होना सभव है। समस्त दृश्य की घटना सन्ध्या को प्रारम्भ होकर उसी रात तक चलती है। तीसरा दृश्य कोशल का है। स्थान का अन्तर होने से दूसरे तीसरे दृश्य को समकालीन माना जा सकता है। सम्पूर्ण दृश्य अधिक से अधिक आधे घण्टे का है। चौथे दृश्य का सबध दूसरे से है। इन दोनो दृश्यो मे समय का पर्याप्त अन्तर

है, इस बीच कई कूटनीतिक चाल खेली जा चुकी है शैलेन्द्र और बन्धुल के बीच द्वन्द्व-युद्ध के कारण उत्पन्न हो चुके हैं और उनमें द्वन्द्व युद्ध लड़ा भी जा चुका है बन्धुल छल से मारा गया है और शैलेन्द्र को मृत्यु दण्ड दिया जा चुका है, उधर मगध का गुप्त प्रणिधि समुद्रदत्त भी काशी की गतिविधि देखने आया है। अत. दूसरे और चौथे दृश्य के बीच एक माह से लेकर दो माह का अन्तर हो सकता है। उक्त घटना ४९६ ई० पू० के अन्तिम अथवा ४९५ ई० पू० के प्रारम्भिक दिनों में घटित मानी जा सकती है। सारे दृश्य की घटना अधिक से अधिक एक दिन की मानी जा सकती है। दण्डनायक ने कहा था कि यदि रात भर में उसके पास हज़ार मुहरें पहुंच जाय तो वह शैलेन्द्र को छोड़ देगा। अत समुद्रगुप्त विश्राम-गृह मे दिन बिताकर रात्रि मे ही दण्डनायक के पास गया होगा।[1] चौथे और पाचवे दृश्य मे देश का अन्तर है अत उक्त दोनो दृश्यो को समकालीक माना जा सकता है। सम्पूर्ण घटना एक घण्टे से अधिक की नही है। पाँचवे दृश्य का छठे से सीधा सम्बन्ध नही है और साथ ही देश का अन्तर भी है। इस दृश्य से ज्ञात होता है कि काशी का प्रथम युद्ध समाप्त हो गया है जिसमे अजातशत्रु की विजय हुई है। उक्त युद्ध सेनापति बन्धुल के मारे जाने के साथ ही छेड़ा गया था और हम पहिले कह चुके है कि बन्धुल की हत्या ४९५ ई० पू० के प्रारम्भिक दिनो मे हुई होगी। अत. निश्चय ही काशी के प्रथम युद्ध को भी ४९५ ई० पू० मे ही मानना पड़ेगा। दुर्भाग्यवश प्रसाद ने चौथे दृश्य मे जहाँ बन्धुल के मारे जाने की सूचना दी है वहाँ काशी पर अजात के आक्रमण का उल्लेख भी नही किया गया है, अन्यथा चौथे दृश्य से ही छठे का सबध जुड़ना चाहिए था। छठे दृश्य की सम्पूर्ण योजना आध घंटे से अधिक की नही है। छठे और चौथे दृश्य की घटनाओ के बीच एक सप्ताह से अधिक का समय नही हो सकता, क्योकि काशी से मगध तक अजातशत्रु की विजय का समाचार आने मे और छलना द्वारा बिंबसार को इसकी सूचना देने मे एक सप्ताह से अधिक का समय नही लग सकता। ध्यान रहे कि इस दृश्य का सम्बन्ध पहिले अंक के नवे दृश्य से भी है, और हम यह भी कह चुके हैं कि मूलकथा की तिथियो से नाटक की इस घटना की तिथियो का सामंजस्य नही हो पाता।

सातवे दृश्य का सबध भी चौथे दृश्य से ही जुड़ता है। ऊपर हम यह निश्चय कर चुके हैं कि काशी का युद्ध चौथे दृश्य से ठीक पूर्व हुआ होगा। प्रसेनजित काशी के युद्ध में घायल हो गया था और कोशल की सीमा पर मल्लिका की कुटी में उसकी सेवा-सुश्रूषा हुई। सातवा दृश्य उसके स्वस्थ होकर कोशल लौट जाने की सूचना देता है। अत. चौथे और सातवे दृश्य के बीच एक सप्ताह से लेकर एक माह तक का अन्तर हो सकता है। परन्तु अजातशत्रु का प्रसेनजित को ढूंढते हुए वहाँ पहुँच जाना यह सूचित करता है कि काशी के युद्ध में हार-जीत के निर्णय के साथ ही प्रसेनजित घायल होकर मल्लिका की कुटी मे आया होगा और एक दिन अथवा उससे भी कम समय तक वहाँ रहकर चला गया होगा, क्योकि उसके पीछे ही अजात वहाँ पहुंच गया था। यह

---

(१) अजात० २—८०

सभव नही कि अजात को उसका पीछा करते-करते एक सप्ताह या अधिक समय बीत गया हो। इसी दृश्य के प्रारम्भ में कारायण मल्लिका से कहता है कि मरणासन्न कोशल नरेश की रक्षा नही करनी चाहिए। ऐसा मरणासन्न व्यक्ति एक दिन में ही स्वस्थ होकर आश्रम से चला जाय यह आश्चर्य की बात है। सम्पूर्ण दृश्य की घटना आध घटे से अधिक की नही है।

आठवाँ दृश्य श्रावस्ती का है। बौद्ध साहित्य में बुद्ध के श्रावस्ती गमन की दो महत्त्वपूर्ण तिथियो का उल्लेख है—एक बुद्धत्व प्राप्ति के कुछ काल बाद ही और दूसरा पैंतालीसवा चातुर्मास व्यतीत करने के लिये पहली बार की घटना इस दृश्य से बहुत पहले की है। दूसरी बार की घटना में प्रसेनजित के स्थान पर विरुद्धक सम्राट् बन चुका होगा क्योकि श्रावस्ती से राजगृह जाते हुए बुद्ध ने मार्ग में कपिलवस्तु के ध्वंसावशेष देखे थे।[1] कपिलवस्तु का विनाश विरूद्धक ने किया था।[2] नाटक की घटनाओ को देखते हुए इसे दूसरी बार की घटना भी नही माना जा सकता। अतः यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि आठवे दृश्य की घटना इतिहास के किस निश्चित वर्ष की है। आठवें दृश्य मे ही प्रसाद ने काशी के युद्ध की पुनर्योजना का उल्लेख किया है। हम पहले ही मान चुके है कि काशी सबधी दोनो युद्ध एक ही वर्ष के भीतर लड़े गये होगे। इस आधार पर सातवे और आठवे दृश्य के बीच दो या तीन माह का अन्तर माना जा सकता है। इसी बीच कोशल और कौशाम्बी मे युद्ध सबधी मत्रणा भी हुई होगी। रानी शक्तिमती से कारायण कहती है कि कौशाम्बी का राजा आया है। सभवत. कौशाम्बी और कौशल की सेना मिलकर अजात पर आक्रमण करेगी।[3] इस दृश्य की प्रारम्भिक घटना का सबध चौथे दृश्य से है। चौथा दृश्य काशी मे सम्पन्न हुआ है पर आठवा दृश्य श्रावस्ती मे। शैलेन्द्र के मुक्त होने से लेकर इस दृश्य तक कई घटनाए हो चुकी है। श्यामा की हत्या करने के उपरान्त शैलेन्द्र उसका घर भी लुट चुका है। बुद्ध पर श्यामा की हत्या का कलक लगा और श्यामा को जीवित करने के कारण वे उससे मुक्त भी हो चुके है। इस प्रकार इस दृश्य में पर्याप्त समय लगना चाहिये। अत कम से कम इसे पूरे दिन की घटना कहा जा सकता है। अब तक[4] की काल योजना के अनुसार इस दृश्य मे ४९५ ई० पू० के मध्य की घटना मानी जा सकती है।

नवा दृश्य कौशाम्बी का है। जीवक और वसतक के सवाद से सूचना मिलती है कि कौशाम्बी और कोशल अजात के विरुद्ध लडने की तैयारियाँ कर रहे हैं। और यही सूचना आठवें दृश्य के अन्त मे कौशल में भी मिलती है। अत. आठवा और नवा दृश्य समकालीन है। सम्पूर्ण दृश्य की घटना कुछ ही मिनटो की है। दसवें दृश्य का नवें से सीधा सबध है। इस बीच कौशल और कौशाम्बी के बीच मत्रणा समाप्त हो चुकी है और दृश्य के अन्त मे यह सूचना भी मिल जाती है कि उनकी सेनाएँ गरजती हुई मगध आ रही है। आठवें दृश्य में

---

(१) अजात० ३।११४

(२) बौद्धकालीन भारत-पृष्ठ ५४

(३) वही—

(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया (स्मिथ)

विरुद्धक (शैलेन्द्र) श्रावस्ती में था और अपनी पूर्व योजना के अनुसार दसवे मे वह अजात से मिलने मगध पहुच गया है। अत. इन दोनो दृश्यो के बीच एक माह या उससे कुछ अधिक का व्यवधान माना जा सकता है। इसी अवधि मे अजात और प्रसेनजित के बीच काशी सबधी द्वितीय युद्ध लडा गया जिसमे अजात वन्दी बना लिया गया था। इस प्रकार दसव दृश्य के साथ ही सम्पूर्ण दूसरा अक ४९५ ई० पू० के अतिम दिनो मे समाप्त हो जाता है।

तृतीय अक की सम्पूर्ण कथा ४ ५ ई० पू० की समाप्ति से लेकर ४९३ ई० पू० तक दो वर्षों की है। इस बीच मगध और कोशल के बीच युद्ध समाप्त हो चुका है। अत दूसरे

तृतीय अंक की काल-योजना

अक और तीसरे अक के प्रथम दृश्य के बीच का कम से कम एक सप्ताह या उससे कुछ अधिक का अन्तर माना जा सकता है। गत तृतीय अक की घटना ४९४ ई० पू० के प्रथम माह की मानी जा सकती है। अजात बन्दी हो चुका है और यह समाचार मगध भी पहुच चुका है। पहिले दृश्य का काल एक घटे से अधिक का नही है। पहिले और दूसरे दृश्य के बीच कई दिनो का अन्तर है क्योकि बन्दी अजात से वाजिरा प्रेम करने लगी हैं और वह (कई दिनो से)[1] बन्दीगृह के पास श्यामा-रजनी मे पहुंच जाती है। इस कालान्तर को कम से कम १५ दिन अथवा उससे कुछ अधिक मानना उचित है, अन्यथा राजकुमारी का एक बदी को एकाएक आत्मसमर्पण करना उचित प्रतीत नहीं होगा। पहले दृश्य में यह सूचना मिलती है कि वासवी मगध से कोशल जाने वाली है, और इस दूसरे दृश्य मे वहाँ पहुंच चुकी हैं। यहाँ स्थानान्तर है, परन्तु पर्याप्त समयान्तर का आभास भी मिल जाता है। सम्पूर्ण दृश्य सभवत. एक रात्रि का है, क्योकि वाजिरा श्यामा रजनी मे ही बन्दीगृह पहुँचती है। परन्तु यहाँ एक बात यह समझ मे नही आती कि यदि यह घटना रात्रि की है तो रात्रि मे ही दीपनारायण से लेकर प्रसेनजित और वासवी तक बन्दीगृह मे कैसे पहुंच गये ? वस्तुत यह घटना एक दिन की ही होनी चाहिए। यहाँ श्याम रजनी का अलकृत अर्थ बन्दीगृह अथवा जीवन के निराश क्षण मान लेने म उक्त शका का निराकरण किया जा सकता है।

तीसरे दृश्य का सबध दो दृश्यो से है। विरुद्धक का घायल होने का सबध द्वितीय अक के अतिम दृश्य से है और श्यामा का सबध उसी अक के आठवें दृश्य से है। इन दोनो दृश्यो और तीसरे दृश्य के बीच कितना अन्तर होगा यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। मल्लिका की सेवा सुश्रूषा से ही विरुद्धक को प्राणदान मिला है।[2] अत यह अन्तर १५ दिन से लेकर १ माह तक का माना जा सकता है। घटना ४९४ ई० पू० के तीसरे या चौथे माह की है। सम्पूर्ण घटना का काल घटे भर से अधिक का नही है। चौथे और तीसरे दृश्य के बीच अधिक अन्तर नही है। मल्लिका को कोशल की सीमा पर बनी अपनी कुटिया से श्रावस्ती तक पहुँचने मे जितना समय लगा होगा उतना ही अन्तर इन दोनो दृश्यो के बीच है। यह अधिक से अधिक एक सप्ताह का हो सकता है अन्यथा एक या दो दिन पर्याप्त समझे जा सकते है। दृश्य की घटना आधे घटे से अधिक की नही है।

---

(१) अजात० ३।११४

(२) अजात० ३।१२०

वस्तुत. दूसरे और पाचवें एव तीसरे-चौथे और पाँचवें दृश्यो के बीच पर्याप्त अन्तर होना चाहिए था। परन्तु आवश्यकता होते हुए भी प्रसाद इस अन्तर को नही निभा पाये ह। अजात के बन्दी होने से लेकर विवाह तक की घटना को कम से कम एक माह का माना जाय तो दूसरे युद्ध म और विरुद्धक के घायल होने स लेकर स्वस्थ होने के काल को (तीसरा दृश्य) भी इतना ही मानना पडेगा। यही दूसरे और पाचवे दृश्य के बीच का अन्तर माना जा सकता है। परन्तु चौथे और पाचवें दृश्य को प्रसाद ने एक साथ एक ही दिन में घटित मान लिया है। चौथे दृश्य मे मल्लिका कहती हे, 'चलो आज अपने स्वामी से क्षमा मागो" सुना जाता है कि अजात और वाजिरा का व्याह होने वाला है, तुम भी उस उत्सव मे अपने घर को सूना मत रखो।"[1] पाचवा दृश्य विवाह के उपरान्त क्षमा याचना का ही है। अतः "आज" शब्द मे तीनो घटनाएँ एक ही दिन मे घटित सिद्ध होती ह। पाचवें दृश्य का घटनाकाल केवल कुछ ही घटो का हे। चौथे और पाचवे दृश्य के बीच एक दो घटो मे सभवत अजात और वाजिरा का विवाह सम्पन्न हुआ होगा।

छठे और पाँचवे दृश्य के बीच अधिक अन्तर नही हो सकता। आलोक मालाओ के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त घटना उसी दिन रात्रि की है।[2] नागरिक कहता हे "आज तो श्रावस्ती मे महोत्सव है"[3] साथ हो वसन्तक कौशाम्बी से वैवाहिक उपहार लाया है पर वह कुछ पिछड गया है।[4] सम्पूर्ण घटना का काल बहुत ही कम है। सातवे दृश्य का सबध वैशाली की गणिका आम्रपाली से जोडा गया है, और इस सम्मिश्रण को प्रसाद भूमिका मे ही काल्पनिक स्वीकार कर चुके हे। तिथिक्रम की दृष्टि से उक्त घटना का काल ४६४ ई० पू० से बहुत बाद होना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के शासन-काल के नवें चातुर्मास मे हुआ था। शासन सूत्र सभालने के कुछ ही वर्ष बाद लगभग ४८४ ई० पू० में अजातशत्रु ने लिच्छवियो पर आक्रमण कर दिया था और वह युद्ध ४६८ ई० पू० तक चलता रहा।[5] बिबसार का आम्रपाली से विमल कौन्डन नामक एक पुत्र था।[6] अतः आम्रपाली का पूर्ण विभवकाल बिबसार के शासन काल मे मानना पडेगा, बौद्ध ग्रन्थो से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुद्ध अपनी मृत्यु से कुछ ही समय पूर्व जब अतिम बार वैशाली आये थे तभी अम्बपाली ने आम्रकानन और विहार बुद्ध को समर्पित किये थे।[7] अत. उक्त घटना ४८५ ई० पू० अथवा उससे कुछ ही पूर्व की मानी जा सकती है। सम्पूर्ण दृश्य का काल योजना बहुत थोडे समय की है।

---

(१) अजात० ३।१२७
(२) अजातशत्रु ३ । १३५
(३) वहा ३ । १३४
(४) वही ३ । १३५
(५) दि एज आफ इम्पीरियल यूनिट पृ० २६
(६) डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्ज पृ १५५
(७) वही — — पृ १५५

आठवें दृश्य का सबध छठे से है और इन दोनो के बीच कम से कम लगभग १० माह से लेकर एक वर्ष तक का समय मानना पडेगा इसी बीच अजात मगध लौट चुका है और बाजिरा से उसका एक शिशु भी उत्पन्न हो गया है। अत. उक्त घटना निश्चय ही ४९३ ई० पू० की माननी पडेगी। सम्पूर्ण दृश्य कुछ ही मिनटो का है। हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद ने अपने नाटक के नवें दृश्य की योजना प्राचीन जैन इतिहास के आधार पर की है, और उनके अनुसार अजात को शिशप्राप्ति के साथ ही बिंवसार की मृत्यु हुई। अतः उक्त विचारानुसार भी आठवें और नवे दृश्य के बीच काल का अन्तर बहुत कम होना चाहिए। प्रसाद ने भी ऐसा ही किया है। काल की दृष्टि से नवें दृश्य का प्रारम्भ और आठवाँ दृश्य एक साथ ही घटित माने जा सकते हैं। सम्पूर्ण नवाँ दृश्य एक घटे से अधिक का नही। यही दृश्य बिंवसार की मृत्यु का भी सूचक है। बिंबसार की मृत्यु का हम ४९३ ई० पू० में हम स्वीकार कर चुके हे। नाटक के घटनाक्रम के अनुसार ४९३ ई०पू० के प्रारम्भिक चार पाँच महीनो के उपरान्त ही उसकी मृत्यु हुई होगी। इस नाटक की काल-योजना का सबसे बडा दोष यही है कि यत्र-तत्र विभिन्न कालो की दूरस्थ घटनाओ को पास पास लाकर मिला देने का अवाछनीय और अनावश्यक प्रयास किया गया है।

'चंद्रगुप्त' नाटक की काल योजना

चन्द्रगुप्त नाटक की विस्तुत भूमिका मे प्रसाद ने कई प्रमाणो के आधार पर मौर्य कालीन तिथि क्रमो का पर्याप्त विवेचन किया है। उनके अनुसार चद्रगुप्त नाटक से सबध रखने वाली प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार है।

चन्द्रगुप्त की जन्म तिथि	३४६ ई० पू०
सिकदर से मिलने के उद्देश्य से चद्रगुप्त के तक्षशिला पहुंचने की तिथि	३२६ ई० पू०
सिकदर के विपाशा तट से वापस लौटने की तिथि	३२५ ई० पू०
सिकन्दर की मृत्यु और पचनद में चन्द्रगुप्त द्वारा ग्रीको के विरुद्ध आयोजित विद्रोह की तिथि	३२३ ई० पू०
उसके राज्यारोहण की तिथि	३२१ ई० पू०
सिल्यूकस द्वारा भारत मे आक्रमण किए जाने की तिथि	३०६ ई० पू०
और, चन्द्रगुप्त से उसकी सन्धि की तिथि	३०५ ई० पू०

इन तिथियो के सबध में इतिहासकारो मे विशेष मतभेद नही है अतः प्रसाद द्वारा निर्धारित तिथियो को स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नही।

उपर्युक्त तिथियो को ध्यान में रखते हुए यदि सम्पूर्ण नाटक के कथानक पर विचार करे तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक का प्रारम्भ ३२७ ई० पू० मे होता है।

सम्पूर्ण नाटक की अवधि

नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य मे ही एक ओर तो सिकन्दर के अभियान की सूचना दी गई है और दूसरी ओर तक्षशिलाधीश का 'यवनों की मित्रता के लिए स्वय वाल्हीक तक' जाने का उल्लेख हुआ है।[1] यह वाल्हीक वस्तुत. ग्रीको का बैक्ट्रिया प्रदेश है जिसे सिकन्दर मे ३२७ ई० पू० में विजय कर लिया था। उसी वर्ष वह हिन्दू कुश को लाघकर सिकन्दरिया (एलैक्जेन्ट्रीया) नगर मे आकर ठहरा था। यदि तक्षशिलाधीश के सिकन्दर से मिलने वाल्हीक जाने के ठीक बाद ही प्रथम अंक का प्रारम्भ माना जाय तो नाटक ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। नाटक का अंत चन्द्रगुप्त सिल्यूकस की सन्धि और कार्नेलिया के

---

(१) चन्द्र १ १ ५७

(२) बौद्धकालीन भारत : जनार्दन भट्ट : पृ० १०६

विवाह मे होता है । प्रसाद ई० पू० ३०५ में इस घटना का होना स्वीकार करते हैं। अतः चद्रगुप्त नाटक की सम्पूर्ण घटना २२ वर्ष (३२७ ई० पू० से ३०५ ई० पू० तक) की घटना है। स्मिथ के अनुसार ३२७ ई० पू० ऐलैक्जैन्ड्रिया से भारत की ओर अभियान करते समय सिकन्दर के साथ तक्षशिलाधीश भी थे, जिन्होने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी।[1] उक्त घटना उस वर्ष जून माह की है।[2] स्मिथ के अनुसार सिल्यूकस से सन्धि की घटना ३०३ ई० पू की है।[3] इस तिथिक्रम को मानने पर चद्रगुप्त की सम्पूर्ण घटना का काल २४ वर्ष का हो जाता है।

सम्पूर्ण नाटक चार अको में विभाजित है। प्रथम अक मे ग्यारह, द्वितीय में दस तृतीय मे नौ और चतुर्थ से चौदह दृश्यो की योजना की गई है। जैसा हम पहले निर्धारित कर चुके ह प्रथम अक की घटना ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होती है।

प्रथम अंक की अवधि

उसका अत दांडयायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त और सिकदर की प्रथम भेंट मे होता है। इस भेट का काल प्रसाद के अनुसार ३२६ ई० पू० है। नीलकठ शास्त्री भी इस तिथि को ३२६ ई० पू० के आस पास ही मानते है।[4] अत प्रथम अक की कथा ३२७ ई० पू० से ३२६ ई० पू० तक की एक वर्ष की कथा है। प्रथम और द्वितीय अको के बीच कम से कम एक माह का अतर माना जा सकता है, क्योकि चद्रगुप्त ग्रीक शिविर में

द्वितीय अंक की अवधि

इतने दिनो तक रहकर 'यवन रणनीति से कुछ परिचित हो गया है।'[5] द्वितीय अंक का प्रारम्भ भी ३२६ ई० पू० में ही होता हैं क्योकि उसका प्रथम दृश्य ही उद्भाड तट का है। और उदभाड का सेतु ३२६ ई० पू० बसन्त ऋतु बनाया गया था।[6]

द्वितीय अक सिकदर और मालव क्षुद्रको के युद्ध में सिकदर के घायल हो जाने की घटना के साथ समाप्त होता है। स्मिथ के अनुसार उक्त युद्ध ३२५ ई० पू० जनवरी मे लडा गया था।[7] 'चद्रगुप्त' की भूमिका मे प्रसाद लिखते है 'क्रमश. वितस्ता, चद्रभागा, इरावती के प्रदेशो को विजय करता हुआ सिकदर विपाशा तट तक आया और फिर मगध के राज्य का प्रचड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और ३२५

---

(१) 'ड्यरिंग दिस मार्च इस्टवर्ड, हैफैशन एण्ड परिडिक्कस वैर ऐक्म्पनीड बाइ दि किग आफ तक्षिला, ए ग्रेट सिटी बियौड दि इ डस, हू हैड लोस्ट नो टाइम इन ओबेइग एलेक्जैन्डर्स समन्स, एण्ड इन प्लेसिंग हिज सर्भिसेज एट दि डिस्पोजल आफ दि इनभेडर'। दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ५४

(२) वही पृ० ११६ (३) वही पृ० १२५

(४) 'एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज। के० ए० नीलकठ शास्त्री।

(५) चन्द्र २।११३ (६) वही २।१०७

(७) बौद्धकालीन भारत : जनार्दन भट्ट : पृ० १०६

(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया : स्मिथ। पृ० ११६

ई० पू० में फिलिफ नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर गया .. ...
इस मार्ग में सिकदर को मालव जाति से युद्ध करने मे बडी हानि उठानी पडी। एक दुर्ग के युद्ध में तो उसे ऐसा अस्त्राघात मिला कि वह महीनो तक बडी बीमारी झेलता रहा।[१] 'चद्रगुप्त नाटक का दूसरा अक ठीक यही पर समाप्त होता है। अतः यदि उक्त घटना को ३२५ ई० पू० मे मान लिया जाय तो सभवतः यह प्रसाद की मान्यता के विरोध में न होगा। इस दशा में दूसरे अक की घटना काल भी ३२६ ई० पू० से ३२५ ई० पू० तक लगभग एक वर्ष का काल होगा।

तीसरा अक सिकदर और मालव क्षुद्रको की सधि से आरभ होकर मगध मे चद्रगुप्त के सिंहासनारोहण पर समाप्त होता है। दूसरे और तीसरे अक की घटना के बीच कम से कम एक सप्ताह और अधिक से अधिक १५ दिन से अधिक का अन्तर नही प्रतीत होता। यदि इस घटना को स्वीकार कर लिया जाय कि मालव दुर्ग में सिकदर की पराजय हुई तो सिकदर ने सधि के लिए अधिक समय नही लिया होगा। उसके असतुष्ट सैनिको की वापस लौटने की उत्कट इच्छा ने उसे शीघ्र सधि करने के लिए बाध्य किया होगा। अतः तीसरा अक ३२५ ई० पू० से ही प्रारम्भ होता है। प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि ३२१ ई० पू० है। अत तृतीय अक का घटना काल ४ वर्ष का है। स्मिथ इसे ३२२ ई० पू० मानते है।[२] ऐसी दशा में उक्त काल तीन ही वर्ष का रह जाता है।

तृतीय अंक की अवधि

चतुर्थ अक पर्वतेश्वर की हत्या से प्रारभ होकर सिल्यूकस की पराजय और कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के विवाह पर समाप्त होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२१ ई० पू० स्वीकार कर लेने पर यह मान लेना कठिन नही कि पर्वतेश्वर की हत्या भी उसी वर्ष हुई होगी। वस्तुतः उक्त घटना इतिहास की नही है और उसका मूल स्त्रोत 'मुद्राराक्षस' नाटक है। मुद्राराक्षस के अनुसार भी प्रर्वतक की हत्या और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण मे अधिक समय का अन्तर नही है। अतः तृतीय और चतुर्थ अक के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर माना जा सकता है जो पर्वतेश्वर जैसे प्रभावशाली राजपुरुष मे निराशा और तज्जन्य ईर्ष्या उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सधि को प्रसाद ३०५ ई० पू० मे होना मानते हैं। अतः चतुर्थ अक की कथा ३२१ ई० पू० से ३०५ ई० पू० तक १६ वर्ष की कथा है। यदि स्मिथ[३] के आधार पर इसे ३०३ ई० पू० माने तो उक्त अक का काल १९ वर्ष का हो जाता है।

चतुर्थ अंक की अवधि

---

(१) चन्द्रगुप्त : भूमिका पृ० २९

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया : स्मिथ . पृ० १२४

(३) वही पृ० १२५ व बौद्धकालीन भारत पृ० ११४

नाटक के प्रथम अ क का पहला दृश्य ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। यह कहना कठिन है कि सिकदर के आक्रमण से कितने वर्ष पूव चाणक्य और चन्द्रगुप्त तक्षशिला में थे। प्रसाद ने 'मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की तिथि' ३२७ या ३२८ ई० पू० मानी है।[1] क्योकि ३२६ ई० पू० मे वह सिकन्दर से मिला था। यदि उक्त तिथि को माना जाय तो प्रसाद के घटना क्रम मे स्वय ही व्याघात उपस्थित हो जाता है। जस्टिन लिखता है कि 'मगधाधीश महापद्म नन्द का कोपभाजन होने के कारण चन्द्रगुप्त को निष्कासन का दड दिया गया।' अपने निष्कासन काल मे ही वह सिकन्दर से मिला था।[2] चन्द्रगुप्त के निष्कासन की कथा को प्रसाद ने प्रथम अ क के पाचवें दृश्य मे रखा है और प्रथम दृश्य में चन्द्रगुप्त को तक्षशिला मे मगध साम्राज्य से भेजे गए विद्यार्थी के रूप में प्रदर्शित किया है जहाँ वह पाँच वष तक रहा था।[3] अतः प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त तक्षशिला मे ३३२ ई० पू० से ३२७ ई० पू० तक अध्ययन करता रहा। ३२७ ई० पू० मे ही सिकन्दर ने बैक्ट्रिया तक के प्रदेश को विजय कर गाधार से मैत्री कर ली। ३२७ मे ही चन्द्रगुप्त मगध लौट गया और सभवत: ३२७ ई० पू० के ही अ तिम दिनो मे उसे मगध से निष्कासित कर दिया गया। परन्तु ३२७ ई० पू० मे मगध का शासन घननन्द का था महापद्म नन्द नही। ग्रीक इतिहासकारो के अनुसार चन्द्रगुप्त को महापद्मनन्द ने निकाला था। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो उपर्युक्त घटना ३२७ ई० पू० से बहुत पहले हुई होगी। जस्टिन को प्रमाण मान लेने पर यहाँ प्रसाद का तिथिक्रम कालानिक हो जाता है। किन्तु यदि जस्टिन द्वारा प्रयुक्त नैन्ड्रस[4] शब्द का अर्थ 'सिकन्दर' हो तो 'नन्द' नही। उक्त घटना का सम्बन्ध नन्द से न जुडकर सिकदर से जुड सकता है और सिकन्दर द्वारा चन्द्रगुप्त के निकाले जाने की घटना ३२६ ई० पू० की है। कुछ भी हो प्रथम अ क की एक घटना ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होती है। सम्पूर्ण दृश्य का काल अधिक से अधिक एक दिन का है।

प्रथम अ क की काल योजना

द्वितीय दृश्य और प्रथम दृश्य मे स्थान भेद है अत. दोनो का एक साथ घटित हुआ माना जा सकता है। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मगध की यह घटना ३२७ ई० पू० की है और यह वसन्त ऋतु मे घटित हुई होगी। स्मिथ के अनुसार ३२७ ई० पू० के मई माह मे सिकन्दर हिन्दूकुश पर्वत को पार कर रहा था। इससे प्रतीत होता है कि पहला और दूसरा दृश्य समकालीन है। सम्पूर्ण द्वितीय दृश्य एक दिन का है। तृतीय दृश्य का सबध प्रथम दृश्य से है और इस बीच चाणक्य तक्षशिला छोडकर पाटिलीपुत्र आ गया है। इसमें अनुमानत. एक माह से लेकर दो माह तक का समय माना जा सकता है। समस्त दृश्य अधिक से अधिक आधे घटे मे भी कम का है। तृतीय और चतुथ दृश्य का

---

(१) चन्द्र० : भूमिका . पृ० २७

(२) जीसटन १५ ४ मैक्क्रिडिल पृ० ३२७ ४०५

(३) चन्द्रगुप्त १ ७५

(४) मैक्क्रिडिल पृ० ३२७, ४०५

नवे दृश्य मे पुन. स्थान भेद है, नवे दृश्य का सम्बन्ध सातवें से है, चाणक्य मगध के बन्दीगृह से मुक्त होकर पर्वतेश्वर के राज्य पचनद पहुँच गया है, अत सातवें दृश्य और इसके बीच लगभग २० दिन का अन्तर मानना पडेगा। इस दृश्य में पर्वतेश्वर यवन युद्ध तैयारी करने के कारण चाणक्य को मगध विद्रोह के लिए अपने सैनिक भेजने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, और यह युद्ध लडा गया है, द्वितीय अक के तीसरे दृश्य मे। तब तक नाटक के अनुसार सिकन्दर की सेना उद्‌भाड मे सिन्धु तट पर ही है। स्मिथ का अनुमान है कि जनवरी ३२६ ई० पू० उद्‌भाड पर पहुँच कर सिकन्दर वहाँ एक माह तक रुका रहा। उसके उपरात वह एक माह तक तक्षशिला में रुका। मई मे वह झेलम तट पर पहुंचा और जुलाई में पुरु से उसका युद्ध हुआ। परन्तु यह निश्चित है कि पुरु ने यवन युद्ध की तैयारी तभी आरभ करदी होगी जब सिकन्दर उद्‌भाँड के तट पर ही होगा। अत. नवें दृश्य की घटना ३२६ ई० पू० जनवरी फरवरी की प्रतीत होती है। सम्पूर्ण दृश्य योजना बहुत ही कम समय की है।

दसवे दृश्य का सबध आठवें और नवें दोनो दृश्यो से है। अलका गाधार के राजमहल स निकलकर कानन पथ मे जा रही हैं। और चाणक्य पचनद से गाधार की ओर जा रहा है। यहाँ चन्द्रगुप्त भी उसी के साथ है। सिल्यूकस भी वही है अत' उक्त दृश्य की योजना गाधार मे ही की गई है। अलका गान्धार में ही है क्योकि अगले ही दृश्य में वह दाण्डयायन से गाधार छोडने की अपनी इच्छा प्रकट करती है। गाधार और पचनद की सीमा एक दूसरे से मिली हुई थी अत पचनद से गाधार की सीमा तक पहुँचने मे चाणक्य और चन्द्रगुप्त को अधिक से अधिक एक सप्ताह से भी कम समय लगा होगा। अत. नवें और दसवें दृश्य के बीच एक सप्ताह से भी कम अन्तर माना जा सकता है। घटना ३२६ ई० पू० के फरवरी माह की हो सकती है समस्त दृश्य दो घटे से अधिक का नही है।

ग्यारहवा दृश्य सिंधु तट का है। उक्त घटना भी ३२६ ई० पू० के फरवरी माह का ही हो सकता है। क्योकि दसवें दृश्य (कानन पथ) मे अलका गाधार छोडने के उपक्रम में है और ग्यारहवे मे वह अपना निर्णय दाण्ड्यायन के सम्मुख रखती है। इसी दृश्य में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की प्रथम भेंट होती है। चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके प्रथम परिचय (दसवें दृश्य के अग में) और इस द्वितीय परिचय के बीच कुछ व्यवधान अवश्य यहाँ होगा। सम्भव है कि इन दोनो दृश्यो के बीच एक सप्ताह का अन्तर रहा हो। यदि चन्द्रगुप्त सिल्यूकस सवाद को हटा दे तो अधिक से अधिक एक दिन का अन्तर हो सकता है। दाण्डयायन (ग्रीको का डडमिस, से सिकन्दर ने उस समय भेंट की थी जब वह तक्षशिला में था।[2] उक्त घटना ३२६ ई० पू०

---

(१) देखिये फुटनोट पृ–

(२) ऐन्सिएन्ट इण्डिया . मैक्रिकडल . ए० आर० आर० ७ : २, ३०, ३१
फोर व्हेन ही ऐराइव्ड एट तक्षीला एण्ड सो दि इण्डियन जिमनोसोफिस्ट्स ए डिजायर सीज्ड हिम टु हैम वन आफ दीज ग्रोट इन्टु हिज प्रेजेन्स . . ''

मार्च की प्रतीत होती है, क्योंकि सिकन्दर मार्च ३२६ ई० पू० मे तक्षशिला में आ गया था। दूसरे अक मे ऐसा प्रतीत होता है कि यवन सेना का शिविर उद्भाड के तट पर ही था। अत. प्रसाद के अनुसार या तो ग्रीक शिविर झेलम युद्ध लडने उद्भाड से हटाया ही नही गया अथवा दाण्ड्यायन से सिकन्दर की भेंट कुछ पूर्व ही करवादी गई। सम्पूर्ण दृश्य का काल अधिक से अधिक दो घटे का माना जा सकता है।

उद्भाड मे सिन्धु के किनारे ग्रीक शिविर के दृश्य से दूसरे अक के प्रथम दृश्य का प्रारम्भ ३२६ ई० पू० की बसन्त ऋतु मे होना चाहिए। किन्तु इसमे चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का सवाद भी है जिसने सिकन्दर के रुष्ट हो जाने के कारण चन्द्रगुप्त को ग्रीक शिविर से भागना पडा था। "चन्द्रगुप्त की भूमिका मे प्रसाद ने जस्टिन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर का रुष्ट कर दिया।[1] और स्वय प्रसाद के अनुसार यह घटना तक्षशिला में घटी।[2] पर नाटक का दृश्य उद्भाड का है, अतः यहा स्थान दोष के साथ साथ काल दोष भी है और स्वय नाटककार की ऐतिहासिक मान्यता से इसका विरोध भी। सम्पूर्ण दृश्य अनुमानितः ४ घण्टे के आसपास का है। प्रथम अक के अन्तिम दृश्य और द्वितीय अक के इस प्रथम दृश्य के बीच पर्याप्त दिनो का अन्तर होना चाहिये। इसी बीच चन्द्रगुप्त ने ग्रीक शिविर मे रहकर यवन रणनीति जान ली थी। स्मिथ का अनुमान है, सिकन्दर तक्षशिला से झेलम तट की ओर अप्रैल में प्रयाण कर चुका था।[3] प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त झेलम युद्ध मे पूर्व ग्रीक शिविर से चला आया था। अतः प्रथम और द्वितीय अक के बीच अधिक से अधिक एक माह का समय माना जा सकता है।

द्वितीय अङ्क की काल योजना

द्वितीय दृश्य की घटनाओ से ऐसा प्रतीत होता है, कि झेलम के एक तट पर ग्रीक शिविर लगा है और दूसरे तट पर पर्वतेश्वर का। सपूर्ण दृश्य की घटना प्रातःकाल की है। इसकी पहली रात को यवन सेना ने वितस्ता को पार कर लिया था।[4] पर्वतेश्वर और सिकन्दर का युद्ध इस दृश्य मे न होकर अगले दृश्य मे हुआ है पर घटना इसी प्रात.काल की है। स्मिथ घटना-सूची के अनुसार प्रथम और द्वितीय दृश्य में कम से कम तीन माह का अन्तर होना चाहिये। सिकन्दर ने अप्रैल में तक्षशिला से प्रयाण किया, मई में यह झेलम तट पर पहुँचा और जुलाई के प्रारम्भ मे उसने रातो रात झेलम पार कर पुरु से युद्ध किया।[5] दूसरे दृश्य की घटना युद्ध के कुछ ही घटे पूर्व की प्रतीत होती है। घटना का काल अधिक से अधिक दो तीन घटो का है।

---

(१) चन्द्र० : भूमिका : पृ० २८

(२) वही पृ० २८" . " (ई० पू० ३२६ में) उसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओ से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट, मार्ग मे झेलते झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था।'

(३) अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : स्मिथ : पृ० ११६

(४) चन्द्रगुप्त २, १२०

(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया . स्मिथः पृ० ११६

तृतीय दृश्य और दूसरे दृश्य के बीच सभवतः दो तीन घन्टा से अधिक का अन्तर नही। घटना युद्ध की है जो जुलाई ३२६ ई० पू० मे लडा गया था। युद्ध मे अधिक समय नही लगा। स्मिथ के अनुसार भी उक्त युद्ध का काल केवल एक दिन का है।[1] अत. अधिक से अधिक तीसरे दृश्य को भी एक दिन का माना जा सकता है।

चतुर्थ दृश्य मे चन्द्रगुप्त द्वारा यह उल्लेख हुआ कि विपाशा के तट पर यवन शिविर लगा हुआ है और वही पर यवन सेना में विद्रोह छा गया हे।[2] वस्तुतः झेलम के तट पर पुरु युद्ध के उपरान्त सिकन्दर ने चिनाव (एकेसाइनीज) नदी को पार किया और अगस्त में रावी (हाइड्रोओट्स) को पार कर कठ जाति के युद्ध किया। सितम्बर के आस पास वह व्यास (हाइफेसिस) के तट पर पहुंचा जिसका प्राचीन नाम विपाशा था।[3] स्मिथ के अनुसार सिकन्दर सितम्बर ३२६ ई० पू० मे व्यास के तट पर पहुंचा है। सितम्बर ३२६ ई० पू० की घटना इस दृश्य मे सूच्य रूप से आई है। अत. यह दृश्य इसके बाद का होना चाहिए। इसी दृश्य से ज्ञात होता है कि सैनिको के विद्रोह के कारण सिकन्दर ने रावी के जल मार्ग से लौटने का निश्चय किया।[4] यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि वस्तुत. सिकदर रावी (हाइड्रोओट्स) के जल मार्ग से नही लौटा था। सिकदर की सेना विपाशा से लौट कर झेलम (हाइड्रस्पस) के तट पर आ गई थी और वही से जल यात्रा का प्रारम्भ हुआ था।[5] स॰ (हाइड्रोओट्स) रावी और (हाइड्रस्पस)। झेलम के ध्वनि साम्य के कारण प्रसाद से उक्त भूल हो गई हो। कुछ भी हो यदि चतुर्थ दृश्य को सितम्बर ३२६ ई० पू० का मान लिया जाय तो तृतीय और चतुर्थ दृश्य के बीच लगभग दो माह का अन्तर हो जाता है। नाटक के घटना क्रम को देखते हुए इतना अन्तर उचित ही प्रतीत होता है।

चतुर्थ और पचम दृश्य मे स्थान भेद है। चतुर्थ दृश्य मालव का है और पचम पचनद का, और एक दोनो का ही काल मे घटित होना सभव माना जा सकता है। इस दृश्य में भी रावी पार करने का उल्लेख हुआ है। इसमें सन्देह नही कि उन दिनो मालवो का राज्य रावी के तट पर ही था, किन्तु पहले कहा जा चुका है कि सिकदर की जल यात्रा झेलम से प्रारम्भ हुई रावी से नही। सेना का अधिक भाग स्थल से चलता रहा।[6] जायसवाल का अनुमान है कि झेलम चिनाव के सगम के दक्षिण में झेलम के तट पर मालवो का और उसके उत्तर से क्षुद्रको का राज्य था।[7] अतः यदि सिकदर झेलम से लौटा तो भी मालव राज्य उसके मार्ग में अवश्य पडा होगा। झेलम के तट पर ही सिकन्दर' जल यात्रा से

(१) वही पृ० ८६,६०
(२) चन्द्र २,१२८
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया · स्मिथ : पृ० ११६
(४) चन्द्र० २,१२६
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया : स्मिथ : पृ० ११६
(६) ऐशिएट इडिया मेसन : ३३२
(७) हिन्दू पौलिटी :जायसवाल : पृ० ६६

पूर्व उत्सव मनाया गया था उसी मे पर्वतेश्वर और आम्भीक की मैत्री हुई थी।[1] स्मिथ के अनुसार उक्त घटना अक्टूबर मे हुई थी।[2] सम्पूर्ण दृश्य दो घन्टे से अधिक का नही है और चतुर्थ दृश्य की घटना सितम्बर की मान लेने पर दोनो के बीच एक माह का अ तर भी स्पष्ट हो जाता है।

पाचवें दृश्य के अ त मे सिहरण पचनद के बन्दीगृह से मुक्त कर दिया गया है और छठे ही दृश्य में वह मालवो के स्कधावार मे सिकन्दर के प्रति अभियान की तैयारी करता हुआ दिखाया गया है। और इसी बीच सिकन्दर भी झेलम से चलकर चिनाव के सगम तक पहुँच गया है। इन दोनो घटनाओ मे अनुमानत. १५ दिन का अ तर माना जा सकता है। अतः छठा दृश्य अक्टूबर अथवा नवम्बर ३२६ ई० पू० के आस पास का हो सकता है। सम्पूर्ण दृश्य का काल घटे भर से अधिक का नही प्रतीत होता।

सातवा दृश्य पुन. पचनद का है। इसमे सिकदर ने पर्वतेश्वर को रण निमन्त्रण भेजा है। स्मिथ के अनुसार जनवरी ३२५ ई० पू० में सिकदर का मालवो से युद्ध हुआ था। अत. यह रण निमन्त्रण दिसम्बर ३२६ ई० पू० के अ त मे अथवा जनवरी ३२५ ई० पू० के प्रारम्भ में भेजा गया होगा। सम्पूर्ण दृश्य कुछ ही मिनटो मे समाप्त हो जाता है। आठवा दृश्य वास्तविक युद्ध से कुछ ही पूर्व का प्रतीत होता है क्योकि उसमे मालवो द्वारा की गई युद्ध की समस्त तैयारियो का उल्लेख हुआ है। बहुत सम्भव है कि उक्त घटना भी दिसम्बर या जनवरी की ही हो सम्पूर्ण घटना का काल एक दिन से अधिक का नही यहाँ सिकन्दर की सहायता के लिए पर्वतेश्वर की सेना पहुंच चुकी है अत. सातवें और आठवें दृश्य के बीच आसानी से एक सप्ताह का अ तर माना जा सकता है, क्योकि यहाँ कथानक का अतर अधिक नही।

नवे दृश्य में 'विपाशा तट' का उल्लेख दुहराया गया है किन्तु साथ ही सिकदर द्वारा स्थल माग पर आक्रमण करने का उल्लेख भी हुआ है।[3] अतः उक्त दृश्य जनवरी ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। आठवें और नवें दृश्य के बीच १५, २० दिन का अ तर होना सम्भव है। दृश्य योजना दो घन्टे से भी कम की है। दसवा दृश्य मालव युद्ध का है, इसमें घायल होने के उपरात सिकदर ने मालव क्षुद्रको से सधि कर ली थी। उक्त घटना जनवरी ३२५ ई० पू० की ही माननी पडेगी। सम्पूर्ण दृश्य सध्या का है और चार पाच घटे अधिक समय उस युद्ध मे नही लगा होगा।

तृतीय अ क की घटनाओ मे कुल कितना समय लगा होगा इसमें मतभेद है। प्रसाद के अनुसार इस अ क की घटनाओ में चार वर्ष (३२५ ई० पू० से ३२१ ई० पू० तक) लगे, परन्तु स्मिथ के अनुसार इस अ क की घटनाएँ तीन ही वर्ष (३२५ ई० पू० से ३२२ ई० पू० तक) मे समाप्त हो जाती है। द्वितीय अ क का अ तिम दृश्य जनवरी ३२५ ई० पू० का है। कर्टियस से ज्ञात होता है कि भाले से घायल होकर सिकदर कई दिन तक

तृतीय अ'क की काल योजना

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया : स्मिथ : पृ० ९३
(२) वही :स्मिथ :पृ० ११६
(३) चन्द्र २, १४७,१४८

बीमार रहा और अंत मे शल्य क्रिया द्वारा भाले की अनी को निकाला गया।[१] इसमे यदि १५ दिन का समय मान लें तो अनुमानत. द्वितीय और तृतीय अंक के बीच इतना ही अंतर रहा होगा अत. तृतीय अंक फरवरी ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। इस दृश्य मे मैत्री उत्सव की ओर सकेत किया गया है।[२] सम्पूर्ण दृश्य दो घटे से अधिक का नही है।

दूसरा दृश्य उस उत्सव का है, जिसमे सिकन्दर ने मालव क्षुद्रकों से सधि की। कर्टियस[३] और एरियन[४] दोनो ने इस मैत्री उत्सव का उल्लेख किया है। प्रथम और द्वितीय दृश्य के बीच एक या दो दिन का अन्तर माना जा सकता है। अत. उक्त घटना भी फरवरी में हुई होगी, सपूर्ण दृश्य एक दिन का है। तीसरा दृश्य सधि के उपरात सिकन्दर के प्रयाण का है। अतः द्वितीय और तृतीय दृश्य के बीच एक सप्ताह का अंतर माना जा सकता है क्योंकि इतनी बड़ी सेना के प्रयाण की तैयारी मे कुछ समय लगना स्वाभाविक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल दो घन्टे से भी कम का है।

चतुर्थ दृश्य के समय का निर्णय करने के लिए फिलिप्स द्वारा चन्द्रगुप्त को भेजे गए द्वन्द्व युद्ध के निमत्रण का सहारा लिया जा सकता है सभव है कि निमत्रण मिलने के अधिक से अधिक एक माह के भीतर फिलिप्स मारा गया हो स्मिथ लिखता है कि जब सिकदर कारमेनिया मे ही था, उसे सूचना मिली कि फिलिप्स (फिलिपोस) की हत्या कर दी गई है और पजाब में विद्रोह हो गया है।[५] उसी से यह भी ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने फरवरी ३२४ ई० पू० मे कारमेनिया को पार किया था।[६] अतः यदि अधिक से अधिक दो माह का समय उसके पास उक्त समाचार पहुँचने में माना जाय तो फिलिप्स की हत्या दिसम्बर ३२५ ई० पू० मे हुई होगी, अतः चतुर्थ दृश्य को नवम्बर ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। यह स्वीकार कर लेने पर तृतीय और चतुर्थ दृश्य के बीच कम से कम दस माह का अन्तर पड जाता है। किन्तु इस अक के दूसरे दृश्य में यह उल्लेख हुआ है कि राजकुमारी कल्याणी सिकन्दर के प्रस्थान के दूसरे ही दिन मगध चली जाएँगी।[७] उनके साथ उनका मगध गुल्म भी गया होगा चतुर्थ दृश्य में राक्षस का चर आशा करता है कि मगध गुल्म मार्ग में ही मिल जायगा,[८] अतः इनके बीच अधिक से अधिक एक सप्ताह का अन्तर माना जा सकता है, नाटक में फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध के लिए प्रथम आह्वान उस समय होता है जब सिकदर भारत छोड रहा था और हम पहले निणय कर चुके है कि इतिहास के फिलिप्स की मृत्यु दिसम्बर ३२५ ई० पू० में हुई होगी। यदि इस दृश्य मे कल्याणी के मगध गुल्म को मार्ग मे ही पकड लेने की चर्चा राक्षस न करता तो इन दोनो दृश्यो के बीच इतिहास सम्मत १० माह का अंतर मानने मे कोई आपत्ति नही रहती। परतु उक्त प्रसग से

---

(१) कर्टियस ६, २३,२४ परिच्छेद : डेलफिन एडिशन :

(२) चन्द्र० ३,१५२

(३) कर्टियस ६ परिच्छेद २३,२४

(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ० ११४

(५) चन्द्र० ३,६२

(६) एरियन ६ १४

(७) वही पृ० १२०

(८) चन्द्र० ३,१६६

तिथिक्रम मे पर्याप्त गडबड तो गई है और १० माह की घटना को ७ दिन के भीतर ही दिखला दिया है। इसे प्रसाद की काल योजना की एक महत्व पूर्ण भूल माननी ही पडेगी। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नही।

पाचवें दृश्य मे राक्षस लौट कर मगध आ गया है। प्रसाद के अनुसार तो चौथे और पाचवे दृश्य के बीच अधिक से अधिक एक या डेढ माह का अन्तर होना चाहिए। चौथे दृश्य की घटना नवम्बर की है तो पाचवे दृश्य की घटना भी नवम्बर अथवा अधिक से अधिक दिसम्बर की मानी जा सकती हे। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नही। छठा दृश्य दिसम्बर ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। मगध में अलका चाणक्य के सामने चद्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व के फलाफल पर शका प्रकट करती है। किंतु चाणक्य इस सबध मे निश्चित है और उसने चद्रगुप्त को मगध बुलाया हे। अतः उक्त घटना मगध मे ठीक उसी समय घटी होगी जिस समय चद्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व हो रहा होगा। इसमे मगध विद्रोह की तैयारियो का उल्लेख भी हुआ है। किंतु इस दृश्य की घटना उससे बहुत पूर्व की है। सम्पूर्ण दृश्य एक दिन का हे।

सातवें आठवें और नवें दृश्यो की घटनाएँ एक ही दिन की हैं। नन्द सातवें दृश्य के अन्त में राक्षस को शीघ्र बदी बनाने की आज्ञा देता है। आठवें दृश्य मे सूचना दी गई है कि विवाह की वेदी से राक्षस को घसीट कर ले जाया गया हे और उसे बदी बनाया गया है। नवें दृश्य मे बदी राक्षस को नन्द के सामने उपस्थित किया गया है। आठवें में मगध विद्रोह की चर्चा हुई है और नवें मे विद्रोह के साथ साथ नन्द की हत्या हो गई हे और वही चद्रगुप्त का राज्याभिषेक होता है। स्वय प्रसाद के अनुसार चद्रगुप्त का राज्याभिषेक ३२१ ई० पू० मे हुआ था। छठा दृश्य दिसम्बर ३२५ ई० पू० का हे। अतः छठे और सातवे के बीच मे कम से कम तीन वर्षों का अन्तर अवश्य मानना पडेगा। यदि स्मिथ की काल योजना मानी जाय तो उक्त अन्तर दो ही वर्ष का रह जाता हे। सेना को वणिको के रूप मे कुसुमपुर मे एकत्र होते होते दो तीन वर्ष आसानी से लग सकते हैं। मगध का पतन इतना आसान भी नही था। अतः इतना साधारण अन्तर उचित ही कहा जा सकता है किन्तु छठा दृश्य कुसुमपुर के प्रात भाग का है और उसमे चाणक्य मालविका को नद की रगशाला मे पत्र लेकर जाने की आज्ञा देता है। सातवे दृश्य मे मालविका नद की रगशाला मे उपस्थित है। इस दृष्टि से इन दोनो दृश्यो के बीच एक सप्ताह का भी अ तर कठिनता से मानना पडता है। अत. इन दोनो दृश्यो के बीच की उक्त दोनो घटनाओ मे किसी प्रकार भी काल का सामजस्य नही बैठाया जा सकता। निश्चय ही प्रसाद ने तीन वर्ष की घटना को एक सप्ताह में पूरा कर दिया है। सातवा दृश्य अधिक से अधिक दो या तीन घटो का हो सकता है। आठवे दृश्य मे एक ओर आसन्न भूत की घटना के रूप द्वन्द्व में फिलिप्स के बध की चर्चा हुई है दूसरी ओर राक्षस के बदी हो जाने के उपरात मगध विद्रोह का उल्लेख हुआ है। पहली घटना दूसरी से ३ वर्ष पहले दिसम्बर ३२५ ई० पू० मे हुई थी। वस्तुतः इस रूप में यदि फिलिप्स वध की चर्चा यहाँ न हुई होती तो काल क्रम मे यह अव्यवस्था न आती। यह सम्पूर्ण दृश्य ४ या ५ घटो का है। नवें दृश्य मे नन्द की हत्या और चद्रगुप्त का राज्याभिषेक ये दोनो घटनाएँ प्रसाद के अनुसार ३२१ ई० पू० की

है। सपूर्ण दृश्य का काल चार घंटे से अधिक का नही हो सकता क्योकि उसी दिन के पूर्वार्द्ध में ही सातवें और आठवें दृश्यो की घटनाएं भी हुई है । यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा कि 'चद्रगुप्त' के तृतीय अ क की घटनाएँ काल की दृष्टि से जितनी अस्तव्यस्त है उतनी सभवतः अन्यत्र नही।

चतुर्थ अंक की काल योजना

हम पहले देख चुके है कि चतुर्थ अ क ३२१ ई० पू० से ३०५ ई० पू० तक लबे १६ वर्षों के काल को अपनी सीमा मे समेटे चलता हैं। चतुर्थ अ क के प्रथम दृश्य मे ही कल्याणी पर्वतेश्वर की हत्या स्वय आत्मघात कर लेती है। 'मुद्राराक्षस' से यह निश्चित रूप से पता नही चलता कि पवतेश्वर की हत्या चद्रगुप्त के सिंहासनासीन होने से पूर्व हुई अथवा उसके उपरात। किन्तु यह निश्चित है कि तब तक चद्रगुप्त ने नदभवन मे गृहप्रवेश नही किया था कालान्तर में पर्वतेश्वर की हत्या के उपरात उक्त गृह प्रवेश के मुहूर्त पर ही उसका भाई वैरोधक मगध का आधा राज्य पाकर चाणक्य की कूटनीति से मारा गया।[1] इससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि पर्वतेश्वर की हत्या और चद्रगुप्त के राज्याभिषेक के काल में विशेष अन्तर नही हो सकता।

तीसरे और चौथे अ क के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर हो सकता है। अत. चतुर्थ अ क का प्रथम दृश्य ३२१ ई० पू० का है। द्वितीय दृश्य मे राक्षस, कल्याणी की मृत्यु से उत्पन्न उत्तेजना की चर्चा करता है। अतः इन दोनो दृश्यो के बीच एक दो दिन का अन्तर हो सकता है। प्रथम दृश्य का काल एक घंटे से अधिक का नही है और दूसरे का उससे भी कम।

दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। तीसरे दृश्य मे एक ओर तो चन्द्रगुप्त दक्षिणापथ पर विजय प्राप्त कर लौट रहा है, दूसरी ओर सिकन्दर के पश्चिमी प्रान्तो को जीतकर सिल्यूकस पूर्वी प्रा तो की ओर बढा आ रहा है।[2] प्रसाद ने उक्त घटना का ३१६ ई० पू० होना स्वीकार किया।[3] उनके अनुसार ई० पू० ३२३ मे सिकन्दर मरा और ई० पू० ३२१ में सिल्यूकस बेबीलोन की गद्दी पर बिठाया गया। आटिगोनस के प्रभाव के कारण ३१६ ई०पू० की सधि मे सिल्यूकस लिसिमकास, टालेमी और बेबीलोन का शासक हुआ और ३१२ ई० पू० मे उसने अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया।[4] स्मिथ के अनुसार भी सिल्यूकस ३१२ ई० पू० 'पश्चिमी राजनीति मे पूर्णतया विजयी हुआ।[5] और ३१६ ई० पू० मे उसने पूर्वी प्रान्तो की ओर ध्यान दिया। अत. दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच ५ वर्ष का अन्तर है। सम्पूर्ण दृश्य की काल योजना एक दिन से भी कम की है।

तृतीय दृश्य के अन्त मे मालविका के कथन से यह मान लिया जाय कि चन्द्रगुप्त उसी दिन पाटलीपुत्र लौट आया था तो चतुर्थ दृश्य की घटना उसी रात्रि की हो सकती है। अन्यथा

---

(१) मुद्राराक्षस २,१६७,२११ पृ० २१ (हरिश्चन्द्र)

(२) चन्द्र० ४।२०३ (३) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ३६

(४) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ३७

(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया स्मिथ) पृ० १२४

इन दोनो दृश्य के बीच किंचित् अन्तर हो सकता है। सपूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नही है।

पाचवा दृश्य उसी रात्रि के उपरान्त आगत प्रभात का है। पिछले दृश्य में रात्रि में मालविका की हत्या की सूचना चन्द्रगुप्त को पाँचवे दृश्य में दी जाती है। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नही है। छठे दृश्य में सवत्र गान्धार की हलचल एव राक्षस के वाल्हीक जाकर सिल्यूकस की कन्या को पढाने की सूचना दी गई है। सातवा दृश्य 'कपिशा में एलेक्जेन्द्रिया के राजमन्दिर' का है।[1] यहाँ राक्षस कार्नेलिया को पढा रहा है। और इसी दृश्य में सिल्यूकस भारत विजय की चर्चा कर रहा है। प्रसाद के अनुसार सिल्यूकस ने सिन्धु को ई०पू० ३०६ मे पार किया था।[2] स्मिथ के अनुसार उक्त तिथि ई०पू० ३०५ है।[3] सिकन्दर ने लगभग ३२७ ई०पू० में काकेशश की तलहटी मे अलेग्जेन्द्रियाँ की नीव डाली थी।[4] और वह सिन्धु के तट पर ३२६ ई०पू० के जनवरी में पहुंचा था। यदि सिल्यूकस ने इतनी दूरी तय करने इससे (१ वष से) कुछ कम समय भी लिया हो तो भी छठा दृश्य ३०७ ई०पू० के आसपास का ही मानना उचित है। पाँचवे अक की घटना ३१६ ई० पू० में हुई थी। इसलिए पाँचवे और छठे दृश्य के बीच कम से कम ६ वष का अन्तर प्रतीत होता है। सातवा दृश्य छठे दृश्य का ही समकालिक है। दोनो में केवल स्थान परिवर्तन है। छठे दृश्य का कुल समय एक दिन का हो सकता है और सातवाँ दृश्य घटे भर से भी कम का है।

आठवें दृश्य से बारहवें दृश्य तक सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त का अभियान, सिंधुतट पर सिल्यूकस चन्द्रगुप्त का युद्ध, सिल्यूकस की पराजय और चाणक्य द्वारा प्रेपित सधि की शर्तों का उल्लेख है। इतिहास के अनुसार सिल्यूकस सिन्धु के तट पर ३०६ ई० पू० में जनवरी में पहुँचा। अत इन सभी दृश्यो की घटनाए ३०६ ई० पू० में ही घटी होगी। हा, यह कहना कठिन है कि सिल्यूकस के सिन्धुतट मे पहुचने और युद्ध मे पराजित होने में कितना समय लगा होगा। बारहवाँ दृश्य सन्धि का पूर्व सूचक है। स्मिथ के अनुसार उक्त सन्धि ३०३ ई०पू० में हुई थी।[5] और प्रसाद के अनुसार ३०५ ई० पू० में स्मिथ के अनुसार ही ३०६ ई० पू० के आसपास उस युद्ध का होना मान लिया जाय तो सधि का समय ३०३ ई० पू० मे मानने का कोई अर्थ नही। इतिहास में इस बात का कही उल्लेख नही मिलता कि वह युद्ध तीन वर्ष के दीघ काल तक लडा गया था। प्रसाद की मान्यता सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। सिल्यूकस को एलेग्जेन्द्रिया से सिन्धु तट पर पहुँचने में एक वर्ष का समय लग गया होगा। अतः सातवें और आठवें दृश्य के बीच १ वर्ष का अन्तर माना जा सकता है। आठवें दृश्य की घटना १० मिनट से भी कम की है। आठवें और नवें दृश्य के बीच अधिक अन्तर नही प्रतीत होता। काल वही है। सुवासिनी ग्रीक शिविर में बदी होकर आ गई है। इस योजना की सूचना छठे दृश्य म चाणक्य द्वारा दी गई थी। नवाँ दृश्य सन्ध्याकाल का है और अत में रात्रि के आगमान की सूचना दी गई है। दसवाँ दृश्य दूसरे

---

(१) चन्द्र० ४ २२४ (२) चन्द्र० (भूमिका) पृ०
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ० १२५ (४) वही (स्मिथ) पृ० ५२
(५) वही (स्मिथ पृ० १२५

ही प्रात:काल का है। नवम् दृश्य मे सिल्यूकस दूसरे ही दिन चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की योजना करता है और दशवे दृश्य मे वह युद्ध लडा गया है अत नवें और दसव दृश्य के बीच केवल एक रात का अंतर है। दसवाँ दृश्य एक दिन का है। दसवें दृश्य मे सिल्यूकस हार गया है और ग्यारहव मे वह ग्रीक शिविर मे पहुंच गया है। अत: ग्यारहवाँ दृश्य सभवत उसी दिन के अंतिम भाग का है।

बारहवाँ दृश्य सन्धि का है। सिल्यूकस की पराजय और चन्द्रगुप्त से उसकी सधि के बीच अधिक समय मानना न नाटक की काल योजना की दष्टि से सगत बैठता है, न इतिहास की दृष्टि से। यदि युद्ध ३०६ ई०पू० के अतिम दिनो मे लडा गया था ऐसा मान ले तो प्रसाद की दी हुई तिथि ३०५ ई०पू० युक्ति सगत मानी जा सकती है। लेकिन नाटक से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त घटना युद्ध के दूसरे ही दिन सपन्न हुई हो गई होगी।

तेरहवें दृश्य के अत में सिल्यूकस की अभ्यर्थना का और चौदहवें दृश्य मे सधि के स्वीकार किए जाने का उल्लेख हुआ है। अत घटना ३०५ ई०पू० की है। बारहवें और तेरहवे दृश्य के बीच कम से कम एक सप्ताह का अतर होना चाहिए, क्योकि सिल्यूकस को सधि की शर्तों पर विचार कर अतिम निर्णय करने में इतना समय लगा ही होगा। यह भी सभव है इसमे एक माह से अधिक का समय लग गया हो। किन्तु इसमें एक वर्ष का समय तो किसी प्रकार नही लग सकता क्योकि इतिहास कहता है कि ऐंटिगोनस के आक्रमण का समाचार सुनते ही सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से सधि कर ली और तुरन्त वापस लौट गया।[२] तेरहवा दृश्य तीन चार घटे से अधिक का नही है। तेरहवें दृश्य के अन्त में ही चौदहवें दृश्य के प्रारम्भ की सूचना है। अत: इन दोनो दृश्यो के बीच कालान्तर नही है। यह अन्तिम दृश्य सधि और कार्नेलिया के विवाह का सूचक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल दो या तीन घटे से अधिक का नही प्रतीत होता। इस प्रकार चतुर्थ अक ३०५ ई०पू० में समाप्त हो जाता है। समस्त अक में १६ वर्षों की लबी कथावस्तु की योजना करने में न तो इतिहास की रक्षा हो सकी है और न नाटकीयता की ही।

---

(१) चन्द्र० ४ २४८

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ० १२५

ध्रुवस्वामिनी का काल-निरूपण

ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है, किन्तु नाटक की मूल समस्या ऐतिहासिक न होकर सामाजिक है। उसमे जिन ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख किया भी गया है, उनके सबध मे न तो प्रसाद ने ही स्वय कोई ऐतिहासिक काल-योजना निर्धारित की है और न इतिहासकार ही किसी अन्तिम निर्णय तक पहुंच सके हैं। प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के सबध मे केवल श्री जायसवाल द्वारा मान्य एक तिथि का उल्लेख किया है। उक्त तिथि का सबध चन्द्रगुप्त और शकराज के युद्ध से है।[1] किन्तु ३७४ ई० से लेकर ३८० ई० के बीच के समय को हम निश्चित तिथि नही मान सकते। यह समय इतना दीर्घ है कि सम्पूर्ण नाटक की घटना का काल भी इससे कम प्रतीत होता है। रामगुप्त के सबध में साल्टोर ने कुछ निश्चित तिथियाँ दी हैं, उसका अनुमान है कि रामगुप्त ३७५ ई० मे गुप्त सिंहासन पर बैठा और उसने ३८० ई० तक शासन किया। मथुरा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३८०-८१ में सिंहासनासीन हुआ था। इतिहास की इस घटना के सबध में प्रायः सभी इतिहासकार एक मत है।[2] केवल राधाकुमुद मुकर्जी चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की उचित तिथि ३७५ ई० मानते है।[3] कुछ भी हो इसमें सन्देह नही कि आज का गुप्तकालीन इतिहास रामगुप्त के राज्य-काल को अस्वीकार नही कर सकता, क्योकि उसके लिए पर्याप्त प्रमाण मिल चुके हैं। ऐसी स्थिति में ३७५ ई० से लेकर ३८० ई० तक का काल ही समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच का रह जाता है, जिसे हम सरलता से रामगुप्त का शासनकाल कह सकते हैं।

ध्रुवस्वामिनी नाटक तीन अको का है और प्रत्येक अंक मे एक ही दृश्य है। सम्पूर्ण नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका घटना काल बहुत कम है। नाटक की घटना

ध्रुवस्वामिनि नाटक की कालावधि

रामगुप्त के राज्यकाल के अतिम दिनो की है। शकराज ने ध्रुवस्वामिनि की माग की और वह चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ। उस पराजय के ठीक बाद ही रामगुप्त की हत्या कर दी गई और चन्द्रगुप्त गुप्त-सिंहासन पर बैठा। अतः हम सम्पूर्ण नाटक की घटना को ३८० ई० की मान सकते हैं, क्योकि एक तो यह रामगुप्त के शासन-काल का अतिम वर्ष है और दूसरे चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का प्रथम वर्ष। जायसवाल ने शक युद्ध की

---

१ ध्रुवस्वामिनी (सूचना) पृ० ८

२. (अ) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसिएट इन्डिया (रे चौधरी) पृ० ४६५
   (आ) दि हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टन इन्डिया (बलाक) अध्याय ३-४

३. दि गुप्ता इम्पायर (मुकर्जी) पृ० ४५

जो दो तिथियाँ मानी हैं उनमे मे एक ३८० ई० भी है, अतः शक-युद्ध की तिथि भी यही मान लेने पर सब घटनाओं का काल समन्वित हो जाता है।

नाटक का प्रथम अक सन्ध्याकाल के कुछ ही पहले प्रारभ होता है। ध्रुवस्वामिनी और खड्गधारिणी के सवाद प्रारम्भ होने के कुछ ही देर बाद दासी सायकाल हो जाने की सूचना देती है। सम्पूर्ण अक मे एक ही दृश्य होने के कारण अन्य सूचनाओ के अभाव मे यही मानना उचित है जिस सन्ध्या-काल से घटना का प्रारम्भ होता है उसी रात्रि मे सामन्तकुमारो के साथ चन्द्रगुप्त शक-शिविर मे चला गया होगा। सारे अक की घटना चार पाच घटो की है।

प्रथम अंक की कालयोजना

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि प्रथम और द्वितीय अक के बीच कितना अन्तर माना जाय? प्रसाद के नाटक से तो इस सबध मे कुछ भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वस्तुतः इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि शक दुर्ग और रामगुप्त के पहाडी शिविर के बीच कितना अन्तर है। प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी में कोई भौगोलिक उल्लेख नही किया है। प्रथम अक में रामगुप्त के कथन से एव द्वितीय अक में खिंगिल के कथन से ज्ञात होता है कि रामगुप्त दिग्विजय के उद्देश्य से पार्वत्य-प्रदेश मे गया और वहा शको ने उसे घेर लिया अत. शक दुर्ग एव रामगुप्त शिविर के बीच अधिक अन्तर सभव नही, विशेषकर जब दोनो म युद्ध चल रहा हो। इस तर्क को ध्यान मे रखते हुए हम पहिले और दूसरे दृश्य के बीच अधिक से अधिक एक दिन का अन्तर मान सकते हैं।

दूसरा अक भी सन्ध्या का है—दूसरे अक के मध्य रात्रि के आगमन की सूचना से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते ह कि दूसरे अक की घटना भी सन्ध्या के आस पास प्रारभ हुई है। पहले अक में सन्ध्या के समय खिंगिल शकराज का सन्देश लेकर रामगुप्त के शिविर में उपस्थित है और सभवतः दूसरी ही सन्ध्या को रामगुप्त का उत्तर लेकर शकराज के पास आ उपस्थित हुआ। नर्तकियो का गीत भी सन्ध्याकाल की ही सूचना देता है। सन्ध्या से लेकर रात्रि के आगमन की सूचना तक शकराज नृत्य और सुरापान का उत्सव मना रहा है। धूमकेतु का प्रसग भी इस बात की पुष्टि करता है कि रात हो चुकी है। इसी रात्रि को स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को लेकर शक दुग में पहुंच जाता है और वहाँ शकराज का वध कर उसकी सेना का सहार कर रातो-रात शक-दुग पर अधिकार कर लेता है। विशाखदत्त के अनुसार भी यह सारी घटना रात्रि की ही है। सम्पूर्ण अक की घटना एक रात्रि की है।

द्वितीय अंक की काल योजना

दूसरे और तीसरे अको के बीच भी एक या दो दिन का ही अन्तर मानना पडेगा। शक दुर्ग से विजय की सूचना लेकर सैनिक रामगुप्त के शिविर तक गए होगे और रामगुप्त उक्त सूचना पाकर शक-दुर्ग मे आया होगा। यदि एक ओर के मार्ग को तय करने में एक दिन का समय भी लगे तो यह माना जा सकता है कि दूसरे और तीसरे अक के बीच लगभग दो दिन अथवा उससे कुछ कम समय का अन्तर है। किन्तु ध्रुवस्वामिनी के एक प्रश्न का उत्तर थोडी सी उलझन उत्पन्न करता है। ध्रुवस्वामिनी पूछती है—"कुमार के घाव अब कैसे हैं" सैनिक उत्तर देता है—"घाव चिन्ताजनक नही है, उन पर पट्टियाँ बध

तृतीय अंक की काल योजना

चुकी हैं। कुमार प्रधान मडप मे विश्राम कर रहे हैं"। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सवाद द्वारा प्रसाद ने दूसरे और तीसरे अक के बीच की घटना के अन्तर को पाट दिया है। कुमार चन्द्रगुप्त ने रात्रि मे युद्ध किया था। उस युद्ध मे लगे घावों के सबध से कुशल-प्रश्न युद्ध के शीघ्र बाद प्रात.काल के लगभग ही पूछा जाना उचित है। उन घावो की परिचर्या युद्ध के ठीक बाद ही की गई होगी। तीसरा अक सारा ही तीन चार घटे से अधिक का नही है।

उक्त काल योजना को स्वीकार करने पर समस्त नाटक का काल अधिक से अधिक चार दिन का माना जा सकता है। किन्तु हम ऊपर "ध्रुवस्वामिनी" के जिस सवाद का उल्लेख कर चुके हैं, उस पर थोडा विचार करना आवश्यक है। प्रसाद का यह नाटक रचना-तत्र की दृष्टि से एकाकी नाटको के रचना तत्र के अधिक समीप है। अत. यदि उस दृष्टि से नाटक की घटनाओ की गति को कुछ बढा दें, और उक्त सवाद के आधार पर स्थानो के अन्तर को कम से कम करदे तो सम्पूर्ण नाटक का काल एक रात्रि और एक दिन का माना जा सकता है। प्रथम अक सन्ध्या है। अब यदि प्रथम अक की घटना–गति को बढा दें तो उक्त अक की सम्पूर्ण घटना दो घटे से भी कम में समाप्त हो जाती है। सन्ध्या के आगमन के दो घटो से भी कम समय के उपरान्त चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी शक दुर्ग की ओर प्रयाण करते हैं और शक-दुग के द्वार बन्द होने से पूव वहाँ पहुँच जाते हे। यदि यह मान लें कि दुर्ग का द्वार लगभग दस बजे बन्द किया जाता होगा, तो समस्या और भी सुलझ जाती है और पहले अक की घटनाओ के साथ साथ वेश परिवर्तन इत्यादि के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। खिगल शक-दुर्ग मे ध्रुवस्वामिनी से पूर्व ही पहुंच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनी से कुछ पूछने के पूर्व ही रामगुप्त ने शिखरस्वामी की मत्रणा से "दूत से साक्षात् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान"[1] दिया होगा और खिगल की शर्ते स्वीकार करली होगी। और उसी समय खिगल शक दुर्ग के लिए रवाना हो गया होगा। उक्त घटना का काल प्रथम अक के प्रारम्भ मे ही है। स्थान का अन्तर अधिक है ही नही अतः खिगल तुरन्त ही वहाँ पहुँच गया होगा। ध्रुवस्वामिनी के आगमन की सूचना पाकर शकराज के दुर्ग मे सन्ध्या को ही नृत्य गीत का आयोजन हुआ होगा। ऐसी दशा मे काल की दृष्टि से प्रथम अक का उत्तरार्द्ध (रामगुप्त और शिखरस्वामी के पहली बार प्रस्थान करने से लेकर अन्त तक) और दूसरे अक का पूर्वार्द्ध (उत्सव समारोह तक) दोनो समकालीन होगे। दूसरे अक का उत्तरार्द्ध रात्रि मे घटित हुआ है। तीसरा अक युद्धोपरान्त प्रात.काल का है। उक्त अको को भी दो घटे का मान लेने पर सम्पूर्ण नाटक का काल पहली सन्ध्या के ६ बजे से लेकर दूसरे दिन प्रात.काल के १० बजे तक का माना जा सकता है।

प्रसाद का यह अकेला ही नाटक है जिसमे घटना का काल और स्थान से बडा सुन्दर समन्वय हुआ है।

---

(१) ध्रुवस्वामिनी पृष्ठ १८
(२) वही पृष्ठ ३८

''स्कंदगुप्त'' नाटक में काल योजना

''स्कदगुप्त'' भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग की घटनाओ को लेकर लिखा गया एक महत्वपूर्ण नाटक है। अन्य नाटको के समान ही इस नाटक में भी प्रसाद ने इतिहास के सुदीर्घ काल की घटनाओ को कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। अधिकाश इतिहासकारो का मत है कि कुमारगुप्त के शासन-काल की निश्चित पूर्वापर तिथियाँ ४१५ ई० से ४५५ ई० है।[1] स्कदगुप्त का राज्यकाल ४५५ ई० से लेकर ४६७ ई० तक माना जाता है।[2] आर० सी० मजूमदार स्कदगुप्त के शासन-काल की इस प्रथम तिथि को स्वीकार नही करते। उनका अनुमान है कि सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसे अपने अन्य भाईयो से युद्ध करना पडा था।[3] राखालदास बनर्जी स्कदगुप्त के शासन की अतिम तिथि ४८० ई० मानते है।[4] विसेंट स्मिथ के अनुसार भी कुमारगुप्त एव स्कदगुप्त के शासस काल की तिथियाँ क्रमशः ४१५-४५५ ई० तथा ४५५-४६७ ई० ही हैं।[5]

सम्पूर्ण नाटक की अवधि

स्कदगुप्त नाटक पुष्यमित्र-युद्ध के समय से प्रारम्भ होता है। प्रथम अक के पहिले ही दृश्य (?) में उक्त युद्ध का उल्लेख वर्तमान काल में किया गया है।[6] प्रथम दृश्य मे ही कपिशा के श्वेत हूणो द्वारा पादाक्रात किये जाने का भी उल्लेख किया गया है।[7] स्मिथ के अनुसार पुष्यमित्र-युद्ध का काल ४५० ई० है और कपिशा श्वेत हूणो के आक्रमण की घटना ४५५ ई० के आस पास की है।[8] हूणो की इसी बाढ को स्कदगुप्त ने पहली बार रोका था। अब यदि यह मान लें कि कपिशा पर हूणो का आक्रमण ४५५ ई० के प्रारम्भिक दिनो में हुआ तो स्कदगुप्त से उनका युद्ध ४५५ ई० के अतिम दिनो में हुआ होगा। कुमारगुप्त की मृत्यु ४५५ ई० के प्रारम्भ में हुई होगी और उन्ही दिनो स्कदगुप्त सिंहासन पर बैठा होगा। ''स्कदगुप्त'' नाटक के प्रथम अक के प्रथम दृश्य की घटना ४५५ ई० के प्रारम्भ की मान सकते हैं। परन्तु ऐसा करने पर पुष्यमित्र-युद्ध की समस्या शेष रह जाती है। इसका समाधान स्कदगुप्त के भिटारी के शिलालेख के आधार पर किया जा सकता है। जब स्कद पुष्यमित्रो से युद्ध कर उन पर विजय प्राप्त कर लौटा, तब उसके पिता का स्वर्गवास हो गया था और वह अश्रुपूर्ण नेत्रो से युक्त अपनी माता से उसी प्रकार मिला जिस प्रकार शत्रुओ को

---

(१) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसिएट इन्डिया (रे चौधरी) पृ० ३४६-५० (२) वही
(३) जर्नल आफ दि बगाल एशियाटिक सोसायटी १८८९ ई०
(४) दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज (बनर्जी) पृ० ५१-५६ ''करुणा'' भूमिका (चन्द्रधर शर्मा)
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया पृ० ३४५-४६ (६) स्कद० १।११-१२
(७) वही १।११ (८) अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया (स्मिथ) पृ० ३३४

मारकर कृष्ण देवकी से मिले थे।[1] शिलालेख में वर्णित इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्पमित्रो पर विजय-प्राप्ति और कुमारगुप्त की मृत्यु दोनो लगभग एक ही समय मे हुई होगी। यदि पुष्यमित्र-युद्ध का प्रारम्भ स्मिथ के अनुसार ४५० ई० माने तो यह युद्ध पाँच वर्ष चला होगा और ४५५ ई० के प्रारम्भ मे ही स्कद उन पर विजय पा सका होगा। शिलालेख में इसके उपरान्त हूण-आक्रमण का वर्णन किया गया है।[2] अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के समय अथवा उससे कुछ पूर्व कपिशा मे श्वेत हूणो ने अपना अधिकार कर लिया और ४५५ ई० के ही अन्तिम दिनो मे श्वेत हूणो की पहली बाढ को स्कदगुप्त ने रोका।

उक्त तिथियो को स्वीकार कर लेने पर यह माना जा सकता है कि "स्कदगुप्त" नाटक का प्रारम्भ ४५५ ई० के प्रारम्भिक दिनो में होता है। नाटक की अतिम तिथि का निर्णय करना भी कुछ कठिन है। वस्तुतः प्रसाद के नाटक मे श्वेत हूणो के तीन आक्रमणो का उल्लेख हुआ है। दूसरे आक्रमण में स्कदगुप्त की पराजय हुई और तीसरे मे उसकी विजय। यह कहना कठिन है कि हूणो के साथ स्कदगुप्त ने कितने युद्ध किये। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ४५५ ई० में हूणो की प्रथम पराजय हुई। इसी का उल्लेख भिटारी के शिलालेख मे हुआ है। इसके उपरान्त ४६५ ई० के लगभग हूणो ने गान्धार को विजय कर कुशान-शासको को उखाड फेंका और यहाँ बहुत ही अत्याचार किये। कुछ समय उपरान्त सभवतः ४७० ई० से कुछ पूर्व हूणो ने स्कदगुप्त के साम्राज्य के भीतर ही आक्रमण कर दिया।[3] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ४६५ ई० मे गुप्त साम्राज्य को गान्धार से हाथ धोना पडा किन्तु स्कदगुप्त ने हूणो को आगे बढने से रोक दिया। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का अनुमान है कि, ४६५ ई० के बाद हूणो ने फिर कई बार गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किये। लगातार बहुत दिनो तक युद्ध करने के कारण स्कद की शक्ति बहुत घट गई थी और अन्त में एक हूण-युद्ध मे ही उनके प्राण गये थे"।[4] कुछ भी हो किसी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव मे इतना अवश्य माना जा सकता है कि यदि ४६५ ई० के बाद हूणो के कई आक्रमण हुए हो, तो सभव है स्कदगुप्त की किसी आक्रमण मे पुनः विजय हुई हो। स्वय प्रसाद ने अपने नाटक में जिस अन्तिम विजय का चित्रण किया है उसमें स्कदगुप्त का हूण सेनापति को दिया गया आदेश महत्वपूर्ण है। स्कदगुप्त ने उसे आज्ञा दी कि वह सिन्धु के इस पार के देश मे कभी आक्रमण करने का साहस न करे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस युद्ध के पहले ही समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा विजय किए गए

(१) समुदित बल कोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा।
पितरि दिवमुपेते विप्लुता वश लक्ष्मी भुजबल विजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूय.
जितमित परितोषान्मातर सास्त्र नेत्रा हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत.

(२) हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता—स्कदगुप्त का भिटारी का शिलालेख सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स (सरकार) न० २८

(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया (स्मिथ) पृ०३२८

(४) करुणा (हिन्दी अनुवाद-भूमिका) (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)

प्रदेश का पश्चिमी भाग हूणो ने पादाक्रान्त कर लिया था। सभव है यह घटना ४६५ ई० के युद्ध की हो। इतिहासकारो के तर्क के आधार पर यह भी माना जा सकता है कि ४६६ ई० मे भी हूण आक्रमण अवश्य हुआ होगा। यहाँ यह भी कल्पना की जा सकती है कि उस आक्रमण मे सभव है स्कदगुप्त ने हूणो को सिन्धु से इस ओर न आने दिया हो, और ४६७ ई० के युद्ध में वह स्वय ही लडते लडते धराशायी हो गया हो।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 'स्कदगुप्त" नाटक की घटना का कुल काल ४५५ ई० से लेकर ४६६ ई० तक का ग्यारह वर्ष का काल माना जा सकता है।

स्कदगुप्त नाटक की कथावस्तु मे इतिहास इतना उलझा दिया गया है कि तिथिक्रम का निर्णय करना कठिन ही नही, अपितु असभव भी हो जाता है। नाटक का प्रथम अक उज्जयनी मे शक हूणो की सम्मिलित सेना के आक्रमण और उस पर स्कदगुप्त की विजय मे समाप्त होता है। इतिहास के अनुसार उज्जयिनी पर हूणो का आक्रमण बहुत बाद की घटना है और शको को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही उज्जयिनी से निर्मूल कर दिया था। शक हूण युद्ध की योजना ही अनैतिहासिक है। अत इसकी तिथि का प्रश्न उपस्थित ही नही होता। किन्तु यदि इसे केवल प्रथम हूण आक्रमण मानकर चलें तो प्रथम अक की घटना ४५५ ई० के सम्पूर्ण वर्ष को घेर लेती है। इस बीच कुमारगुप्त की मृत्यु हुई,[1] पुष्यमित्रो का युद्ध समाप्त हो गया[2] और प्रथम हूण-युद्ध मे स्कदगुप्त की विजय हुई। इन समस्त घटनाओ का काल एक वर्ष का होना चाहिए अन्यथा पूर्व तर्क के आधार पर ४५५ ई० मे ही इन सब घटनाओ की सगति नही बैठ सकती। अतः प्रथम अक ४५५ ई० के प्रारम्भ से ४५५ ई० के अत तक मानना पडता है। किन्तु यह मानना असभव है कि हूणो ने पश्चिमोत्तर प्रदेश पर विजय किए बिना ही तुरन्त भारत के दक्षिण मे स्थित उज्जयनी मे आक्रमण कर दिया होगा।

प्रथम अंक की अवधि

द्वितीय अक का प्रारम्भ स्वभावत. ४५५ ई० के अत से मानना पडेगा। यहाँ एक असगति की ओर बरबस ही ध्यान आकर्षित हो जाता है। इतिहासकारो का मत है कि प्रथम हूण-युद्ध स्कदगुप्त के सिंहासनासीन होने के उपरात लडा गया था। प्रसाद के नाटकों मे घटनाओ का क्रम उलट दिया गया है। अत तिथिक्रम का उलट फेर हो जाना स्वाभाविक ही है। द्वितीय अक जो घरेलू सघर्ष है वह अनुमानत. दो या तीन मास चला होगा। स्कदगुप्त के राज्याभिषेक के साथ ही द्वितीय अक समाप्त हो जाता है। उक्त घटना को भी हम ४५५ ई० मे सबसे अन्तिम दिनो की मान सकते है। किन्तु पुन यहाँ घटना क्रम मे उलट फेर है। स्कदगुप्त का राज्याभिषेक मगध मे न होकर उज्जयनी मे हुआ है। इतिहास इसका साक्षी नही। अतः उक्त घटना की तिथि का प्रश्न उठाना असगत होगा।

द्वितीय अंक की अवधि

तृतीय अक के प्रारम्भिक दृश्य की कथावस्तु काल्पनिक है, अत काल योजना का प्रश्न नही उठता। इस समय तक हूणो ने कपिशा के साथ साथ गान्धार तक को पादाक्रान्त कर लिया था। अत इस अक के आरम्भ की तिथि ४६५ ई० है। प्रसाद ने तृतीय अक मे गान्धार की घाटी और कुम्भा के युद्ध का उल्लेख किया है, इस युद्ध में स्कदगुप्त की हार हुई है। अत. निश्चय ही

तृतीय अंक की अवधि।

---

१. स्कद० १।३६ २ वही २।५२

तृतीय अंक का प्रारम्भ ४६५ ई० के कुछ ही पूर्व हुआ होगा। तृतीय अंक की समाप्ति उक्त गान्धार युद्ध में ही हुई है। अतः सम्पूर्ण तृतीय अंक का काल कम से कम दो-तीन महीने का माना जा सकता है, यद्यपि निश्चित रूप से यहाँ भी कुछ कहना कठिन है।

चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य की घटना का इतिहास से कोई संबंध नहीं अतः तिथिक्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। तृतीय अंक में दूसरे दृश्य को हम ठीक ४६५ ई० चतुर्थ या पंचम माह का मान सकते हैं इससे पूर्व हूण गान्धार में ही थे और इस अंक तक आते आते हम देखते हैं कि सप्तसिन्धु प्रदेश भी हूणों से पादाक्रांत हो चुका है।[1] फलतः चतुर्थ अंक का प्रारम्भ ४६५ ई० के बीच में कहीं हुआ होगा। उक्त अंक के अंत के संबंध में भी इतना ही संकेत मिलता है कि उस समय अन्तर्वेदी भी हूणों से पादाक्रांत हो चुकी थी। ४५७ ई० तक अन्तर्वेदी पर स्कंदगुप्त का अधिकार था, किन्तु यह कहना कठिन है कि उसके बाद कब वहाँ हूणों का अधिकार हो गया। संभव है उक्त घटना भी ४६५ ई० के अन्तिम दिनों की हो। अतः चतुर्थ अंक की समस्त घटना तीन या चार माह की मानी जा सकती है।

चतुर्थ अंक की अवधि।

तृतीय अंक के अंत में कुभा में बह जाने के उपरांत स्कंदगुप्त पुनः पंचम अंक के प्रारम्भ में ही प्रकट होता है। इससे पूर्व चतुर्थ अंक के अंत में हम उसे उद्भ्रांत और निराशामग्न पाते हैं। किन्तु वह स्वजनों के सामने पंचम अंक में ही प्रकट होता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद स्कंद को कितने समय तक अप्रकट रखना चाहते हैं। यह ऐतिहासिक घटना भी नहीं है। नाटक के घटना-क्रम के आधार पर यदि काल-निर्णय किया जाय तो तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक के प्रारम्भ तक एक माह से अधिक का अंतर मानना कथा प्रवाह की दृष्टि से उचित नहीं बैठता, ऐसी दशा में चतुर्थ अंक में केवल एक माह की घटना माननी होगी और उक्त घटना भी ४६५ ई० के मध्य की ही माननी पड़ेगी।

पंचम अंक की अवधि।

पंचम अंक का प्रारंभ ४६५ ई० के तृतीय चरण में माना जा सकता है। पंचम अंक की समाप्ति हूण-युद्ध में स्कंगुप्त की विजय के साथ होती है। उक्त घटना को हम ४६५ ई० की घटना मान चुके हैं। अतः पंचम अंक में ४६५ ई० के तृतीय चरण से ४६६ ई० के प्रारंभ तक का काल आ जाता है। 'स्कंदगुप्त' में हम ४५५ के प्रारंभ से ४६६ ई० तक की घटना मान चुके हैं। इस घटना में एक तो कई काल्पनिक प्रसंगों की योजना हुई है और दूसरे, इतिहास भी स्कंदगुप्त के राज्यकाल की अधिकांश घटनाओं के संबंध में मौन है। अतः यह कहना कठिन है कि प्रत्येक दृश्य का ऐतिहासिक घटना काल कौन सा है और दो दृश्यों के बीच कितना कालान्तर हुआ है? जहाँ तक दृश्यों का संबंध है। इसलिए नाटकीय घटना-काल को लेकर ही हम दृश्यों की काल योजना पर विचार करेंगे।

प्रथम दृश्य उज्जयनी में गुप्त साम्राज्य के स्कंधावार का है और इसका घटना-काल

---

(१) स्कंद० ४।१२२

अधिक से अधिक एक घटे का है। दूसरे दृश्य मे सामाजिक उज्जयनी से तुरन्त कुसुमपुर पहुँचा दिया गया है। सपूर्ण दृश्य का काल घटे भर से अधिक का नही है। तीसरा दृश्य कुसुमपुर का ही है। वहाँ 'काश्मीर मडल मे हूणो के आतक'' का उल्लेख हुआ है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि हूणो ने काश्मीर पर सब प्रथम कब अधिकार किया सभव है उक्त घटना ४५५ ई० के अन्त में हूण आक्रमण की हो। सपूर्ण तीसरा दृश्य एक घटे से अधिक का नही है।

प्रथम अंक की काल योजना

चौथा दृश्य कुसुमपुर के राजमदिर का है। स्थान वही है और समय रात्रि का है। द्वितीय पहर बीत चुका है। सपूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक की घटना नही प्रतीत होती।

चतुर्थ और पचम दृश्य के बीच कितने दिन का अन्तर है यह कहना कठिन है। पचम दृश्य भी कुसुमपुर का ही है। समय रात्रि का है। समस्त घटना उस अमावास्या के पहले प्रहर की है जिसका उल्लेख प्रपचबुद्धि ने चतुर्थ दृश्य में किया था। सम्पूर्ण दृश्य का काल एक प्रहर के लगभग माना जा सकता है। छटा दृश्य पुन मूल स्थान (राजधानी) अथवा नगर प्रात के पथ का है। अत इसे भी कुसुमपुर का ही दृश्य कहा जायगा। दृश्य दो तीन घटे का माना जा सकता है।

सातवा दृश्य भवती का है। यहाँ यह समझ में नही आता कि उज्जयनी में ही गुप्त-साम्राज्य के स्कधावार से अवन्ती पहुँचने में स्कदगुप्त को इतना समय क्यो लग गया कि वह समय पर अवन्ती दुर्ग की रक्षा के लिए नही पहुँच पाया ? यदि स्कदगुप्त प्रथम दृश्य के समय मगध में होता तो बीच के ये छ: दृश्य सामाजिक को मगध और अवन्ती की दूरी का अनुमान कराने के लिए बडे उपयुक्त होते और तब ठीक समय पर स्कदगुप्त को मालव रक्षा के लिए पहुँचा कर जिस कुतूहल की सृष्टि करने का प्रयास किया गया है उसका भी समर्थन किया जा सकता। यहाँ स्पष्ट ही काल दोष है। समस्त सेना के साथ सीमा से अवन्ती दुर्ग तक जाने में अधिक से अधिक एक सप्ताह का समय माना जा सकता है। सप्तम दृश्य दो घटे से लेकर ४–५ घटे तक का माना जा सकता है क्योकि युद्ध में लगे समय का ठीक ठीक अनुमान करना कठिन है।

द्वितीय अ क का घटना काल ४५५ ई० के अन्त का माना जा चुका है। प्रथम दृश्य शिप्रा तट का है। घटना प्रथम अ क के अन्त मे लडे गए शक हूण युद्ध के ठीक बाद की है। इसलिए दोनो अ को के बीच कोई विशेष अन्तर नही है। प्रथम दृश्य का घटना-काल घटे भर का है। द्वितीय दृश्य मठ का है। घटनाओ से ज्ञात होता है कि वह मठ कुसुमपुर में है। उस मठ में महादेवी देवकी की हत्या की योजना बन रही है। प्रथम दृश्य से यह पता चलता है कि स्कदगुप्त अभी उज्जयनी मे है और शीघ्र कुसुमपुर जा रहा है। पर इस दूसरे दृश्य में सहसा यह सूचना मिलती है कि युवराज कुसुमपुर पहुँच चुके हैं। इससे हमें इन दोनो दृश्यो के बीच की अवधि का अनुमान लगाने में आसानी होती है। उज्जयनी से कुसुमपुर आते आते लगभग एक मास का समय लग गया होगा। परन्तु इसमें एक बडा भारी नाटकीय दोष भी आ गया है। 'एक ही अ क में दूर-दूर देशो की घटनाएँ दिखलाना

द्वितीय अंक की काल योजना

उचित नही।" देश परिवर्तन का आभास, इस कौशल से दिखलाया जाता है कि सामाजिक को पता भी नही चलता। वस्तुत उज्जयनी और कुसुमपुर की दूरी को सूचित करने के लिए इन दो दृश्यो के बीच मे कुछ और दृश्यो का व्यवधान होना अत्यावश्यक था। दूसरे दृश्य का घटना काल एक घटे से अधिक का नही है। तृतीय दृश्य कुसुमपुर के बन्दीगृह का हे, दूसरे दृश्य में 'आज अर्द्धरात्रि में कारागार मे होने वाली घटना का उल्लेख हुआ है। तृतीय दृश्य मे वह घटना हो रही हे। इसलिए दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच दिन भर का अन्तर है। तृतीय दृश्य है, देवकी के राजमदिर के बाहरी भाग का और यह सारा दृश्य घटे भर से भी कम का हे। समय रात्रि का है। चतुर्थ दृश्य उसी रात्रि के तुरन्त बाद का है। रामा बदीगृह मे पहुच गई है और उसके पहुंचने के कुछ समय बाद ही भटाक और अनतदेवी भी वहाँ आ जाते ह। दृश्य के अत में सहसा स्कद भी वहाँ पहुँच जाता है। वस्तुत. दूसरे, तीसरे और चौथे दृश्यो की घटनाएँ एक ही दिन रात की हैं। दूसरा दृश्य दिन का हे और तीसरा व चौथा उसी रात्रि के। चौथे दृश्य का घटना काल लगभग एक घन्टे का हे।

पाचवा दृश्य अवती का है। उसमे यह सूचना मिलती है कि "सौराष्ट्र के शको को निर्मल करके परमभट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके है।" इसका अर्थ यह होता है कि चौथे दृश्य में कुसुमपुर मे अपनी माता की रक्षा करने के उपरात स्कद सौराष्ट्र गए, वहाँ शको को निमूंल किया और अब वहाँ से अवन्ती के लिए प्रस्थान कर चुके है। यहाँ पुनः देश और काल के इतने बडे व्यवधान को प्रसाद ने एक ही दृश्य मे सकुचित कर दिया है, जैसे मानो मगध सौराष्ट्र और अवती मे कोई दूरी ही न हो और ये सब घटनाएँ एक दिन में घटित हो गई हो ? वस्तुत. उन सब घटनाओ के सम्पन्न होने मे कम से कम ६ मास का अतर तो अपेक्षित है ही। समस्त दृश्य लगभग एक घटे का है। इस घटना की ऐतिहासिक तिथि का निर्धारण नही किया जा सकता। वस्तुत. सौराष्ट्र और मालव दोनो से शको को निमूंल करने का कार्य चद्रगुप्त विक्रमादित्य ३९५ ई में कर चुके थे। स्कदगुप्त के काल में पुनः ऐसी कोई घटना नही हुई। (स्मिथ ३०५)

छटा दृश्य उज्जयनी के पथ का है। दृश्य मे यह सूचना मिलती है कि स्कद का राज्याभिषेक होने वाला है, अत स्कद सौराष्ट्र से वहाँ पहुंच चुका है। स्पष्ट ही पाचवे और छठे दृश्यो के बीच भी देश और काल दोनो का पर्याप्त अतर है। अनुमानत. इसे एक मास की घटना मान सकते हें। किंतु भटार्क और उसकी माता का बिना किसी पूर्व सूचना के कुसुमपुर से वहाँ पहुच जाना विचित्र-सा लगता है। समस्त दृश्य का काल घटे भर से भी कम का है। सातवा दृश्य छठे दृश्य के ठीक बाद का है। इसमें स्कदगुप्त का राज्याभिषेक उज्जयनी में सम्पन्न हुआ है। उक्त दृश्य में पुनः शर्वनाग और कुमारदास का उज्जयनी में होना आकस्मिक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल दो तीन घटे से अधिक का नही। ऐतिहासिक दृष्टि से स्कदगुप्त का राज्याभिषेक ४५५ ई के अन्तिम दिनो में हुआ था। उन दिनो उज्जयनी मे बधुवर्मा गुप्त सम्राटो के करद राजा के रूप में राज्य कर रहा था। उसके राज्य त्याग का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही है। अतः उज्जयनी में स्कदगुप्त का राज्याभिषेक होना मान्य नही।

तृतीय अक के प्रथम और द्वितीय दृश्य सर्वथा काल्पनिक है और उनमें किसी भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर सकेत नही किया गया है। अतः इनके आधार पर यह निर्णय करना सभव नही कि दूसरे और तीसरे अक के बीच कितना समय बीता होगा। तृतीय अक की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है गान्धार तक हूणो का पवेश और हम यह पहले ही बतला चुके है कि हूणों का द्वितीय आक्रमण ४६५ ई० में हुआ था। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय और तृतीय अक के बीच १० वर्ष का अन्तर है। परन्तु नाटकीय घटनाए इस अन्तर को स्वीकार करने मे बाधा पहुँचाती है। तीसरे अक का पहला दृश्य तो स्पष्ट ही दूसरे अक के अन्तिम दृश्य के एकदम बाद का है। स्थान वही है और कालान्तर अधिक से अधिक एक दिन का। देवसेना और विजया का सवाद हमारे कथन की पुष्टि करता है। दृश्य का घटना काल लगभग एक घटे का है। दूसरे दृश्य की घटना पहले दृश्य के ठीक बाद की घटना है और दोनो के बीच में एक दो दिन का अन्तर हो सकता है। घटना काल लगभग १ घटे का है। तृतीय दृश्य में भटार्क उज्जयनी से सहसा मगध पहुँच गया है। इस बीच भटार्क और अनन्तदेवी ने हूणो से गुप्त सधि कर ली है और "स्कदगुप्त ने हूणो को एक बार भारतीय सीमा से दूर करने के लिए समस्त सामन्तो को आमत्रण दिया है।" और "कुसुमपुर की सेना जालन्धर से भी आगे बढ चुकी है।" ऐतिहासिक दृष्टि से हूणो के आक्रमण की यह घटना—चाहे द्वितीय अंक के बाद मानें अथवा तृतीय अक के दूसरे के दृश्य के बाद की है। परन्तु इस बीच परिस्थितियो में कही किसी प्रकार का अन्तर नही हुआ है। घटनाए या तो स्थिर सी है या उनकी गति अत्यन्त मद है। नाटकीय दृष्टि से इन घटनाओ के घटित होने में १० वर्ष तो क्या १० मास का भी अन्तर कठिनता से स्वीकार किया जा सकता है। विजया भटार्क को द्वितीय अक के अंतिम दृश्य मे वरण कर चुकी है। किन्तु अभी तक उस सन्देह है कि वह अपने बाहुपास में भी बाध सकेगी या नही? देवसेना अभी स्कदगुप्त के प्रणय के प्रथम राग मे ही रजित है। १० वर्ष की दीर्घ अवधि तक यह स्थिति सभाव्य नही। चौथे दृश्य में सामाजिक पुन. मगध से उज्जयनी में पहुँचा दिया जाता है। इस बीच सिन्धु तट पर हूण युद्ध में स्कदगुप्त की विजय हो चुकी है और "प्रवीर सम्राट स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है, और मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया गया है।" हूण युद्ध में कितना समय लगा यह इतिहासकार नही बताते। पर घटना ४६७ ई० की है। मातृगुप्त की घटना और उसकी तिथि का भी, कोई ऐतिहासिक आधार नही। समस्त दृश्य आधे घटे से अधिक का नही। पाचवे दृश्य में हूण युद्ध अभी चल रहा है। सिन्धु तट से हूणो को खदेडते हुए स्कदगुप्त ने उन्हे गान्धार की घाटी तक ढकेल दिया है। पाँचवें और छठे दृश्यो के युद्ध दोनो गान्धार की घाटी में लडे गये हैं। युद्ध से सबधित होने के कारण दोनो दृश्यो का घटना काल स्पष्ट नही किया जा सकता। गान्धार और कुभा के रणक्षेत्रो के युद्ध और कुभा के बाँध मे स्कद के बह जाने का कोई ऐतिहासिक आधार नही।

तृतीय अंक की काल योजना।

चतुथ अक मे ४६५ ई० के मध्य को लगभग एक मास की घटनाए हुई हैं—ऐसा हम पहले स्वीकार कर चुके है। तृतीय अक के अन्तिम दृश्य में कुभा का बाँध तोड दिये जाने

से स्कंदगुप्त और उसकी सेना के बहजाने की सूचना मिलती है। चतुथ अक के प्रथम दृश्य में अन्तर्वेद का विपयपति शर्वनाग "मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा है।" इसका अभिप्राय यह है कि एक तो अभी तक मगध मे स्कदगुप्त की पराजय के समाचार नही पहुँचे हैं और दूसरे अभी तक अन्तर्वेद हूणो से पदाक्रात नही हो पाई है। अत. या तो यह दृश्य तीसरे अक के अन्तिम दृश्य का समकालिक है या उसके थोडे ही समय के पश्चात का। प्रथम दृश्य का समय एक घटे से भी कम का है। दूसरा किस स्थान का है, यह नही कहा जा सकता। कुसुमपुर का दृश्य होता तो इसमें भटार्क के शिविर का उल्लेख न होता। किन्तु इस दृश्य मे महादेवी देवकी की उपस्थिति के कारण इसे गान्धार के युद्ध क्षेत्र का दृश्य भी मानने को जी नही करता। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से भी कम का है। तीसरे दृश्य का घटना स्थल सहसा काश्मीर बन गया है। काश्मीर का कथानक स्कदगुप्त से सबद्ध ऐतिहासिक घटना नही है, तथापि नाटक के इस दृश्य से हमें इतना ज्ञात होता है कि अबतक स्कदगुप्त का सहसा लुप्त होने के समाचार काश्मीर तक पहुंच गया है। पचनद पर हूणो का अधिकार हो गया है और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते है। पचनद पर हूणो का अधिकार हूणो के प्रथम आक्रमण (४५५ ई०) के १० वर्ष बाद हुआ था। इससे भी हमारी उपयुक्त तिथि की पुष्टि होती हे। समस्त दृश्य का घटना काल एक घटा है। चौथा दृश्य "नगर प्रात" का है। यह समझ मे नही आता कि "नगर प्रात" से प्रसाद किस स्थान का अर्थ ले रह हैं। हमने प्रसाद के नाटको के भूगोल पर विचार करते समय "नगर-प्रात" को कोई प्रदेश अथवा नगर नहीं माना हे। "नगरहार" को अवश्य "पारागर तत्र', "ह्वेनसाग के वृताल "और तुजक बाबरी" के आधार पर कुभा (काबुल) तथा उसकी एक अन्य सहायक नदी (सुर्खाब) के सगम के दाये किनारे पर माना है।[1] किन्तु नाटक का यह दृश्य "नगरहार" का नही हो सकता क्योकि इससे पूर्व के दृश्य में हूणो के पचनद पर अधिकार कर लेने की चर्चा हुई है। यहाँ यह भी ध्यान रखने की बात है कि चतुर्थ से लेकर ग्यारहवे दृश्य तक साधारणतया नगर-प्रात का अर्थ पाटलिपुत्र भी माना जा सकता है। यह मान लेने पर वहाँ महादेवी देवकी की समाधि की स्थिति एव ग्यारहवे दृश्य मे पुरगुप्त एव अनन्तदेवी देवी की उपस्थिति स्वाभाविक एव सरल प्रतीत होती है। हम पहिले कह चुके है कि चतुर्थ अक का दूसरा दृश्य पाटलिपुत्र के आसपास मानना ही सभाव्य प्रतीत होता हैं, क्योकि महादेवी देवकी की मत्यु सिन्धु के उस ओर किसी अज्ञात प्रदेश मे मानने की इच्छा नही होती। किन्तु इन सभी दृश्यो में किसी कनिष्क चैत्य[2] एव महाबोधि-बिहार[3] के उल्लेख किसी निश्चित स्थान की ओर सकेत करते प्रतीत होते हे। चैत्य को एक स्थल पर कनिष्क स्तूप[4] भी कहा गया है। इनके सबध में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि कनिष्क का प्रसिद्ध स्तूप और सलग्न चैत्य उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) मे थे। सोगयुन, फाहियान, ह्वेनसाग और अल्बरूनी सब ने इस "कनिक चैत्य" का उल्लेख किया

चतुर्थ अंक की काल योजना।

---

(१) देखिए "भौगोलिक विवरण" पृ०

(२) स्कद० ४।१२७ (३) स्कद० ५।१४८ (४) वही ४।१३१

है।[1] अतः निःसन्देह प्रसाद का अभिप्राय पुरुपपुर से ही होना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रसाद के भौगोलिक ज्ञान पर बहुत बडा आक्षेप लगाया जा सकता है। पचनद में हूणो के अधिकार हो जाने के उपरान्त पुरुपपुर में शेप दृश्यो की योजना का अर्थ यही हो सकता है कि प्रसाद पचनद को गान्धार के पश्चिम का प्रदेश मान लेते हैं, जो सर्वथा अमान्य और गलत है। पाचवें दृश्य में उक्त घटना से उद्भूत ब्राह्मण बौद्ध सघर्ष का चित्रण हुआ है। दृश्य मे नृशस हूणो द्वारा सप्तसिन्धु-प्रदेश के पदाकान्त किये जाने की चर्चा भी हुई है। उक्त घटना को हम ४६५ ई० में होना स्वीकार कर चुके हैं। सम्पूर्ण दृश्य लगभग घटे भर का है।

छठे दृश्य में प्रख्यातकीर्ति की उपस्थिति एव कनिष्क चैत्य के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाँचवे और छठे दृश्य के बीच विशेप अन्तर नही—यद्यपि इस सबध में निश्चित समय बतलाना शक्य नही। यह दृश्य भी पुरुपपुर का मानना पडेगा। घटना काल कुछ ही मिनटो का है।

सातवे दृश्य मे स्कदगुप्त का पुनः प्रवेश हुआ है। तृतीय अक के अन्तर में कुभा में वह बह जाने के उपरान्त प्रथम बार स्कदगुप्त के जीवित होने की सूचना उसने स्वय दी है। अतः तृतीय अक के अन्तिम दृश्य और चौथे अक के सातवें दृश्य के बीच अधिक अन्तर सभव ही नही हैं। सातवें दृश्य के स्थान का अनुमान लगाना भी कठिन नही। कनिष्क चैत्य का उल्लेख इस दृश्य में भी हुआ है।

पचम अक में ४६५ ई० से ४६६ ई० के बीच की ५-६ महीनो की घटना है। पचम अक के प्रथम दृश्य से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चतुर्थ और पचम अक के बीच काल का अन्तर नही के बराबर है। चतुर्थ अक के अन्त में कमला स्कन्दगुप्त को अपनी मा की मृत्यु का समाचार देती है और पचम अक के प्रथम दृश्य में ही मुदगल विजया को सूचना देता है कि "आज कमलादेवी के कुटीर से सम्राट वही अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं।" दृश्य कनिष्क चैत्य के पास का ही है। काल योजना घटे भर से भी कम की है।

पंचम अंक की काल योजना।

दूसरा दृश्य उसी दिन का है जिस दिन पहला दृश्य सम्पन्न हुआ है। महाराज स्कन्दगुप्त कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि मे फूल चढाने आते हैं। इसी दृश्य मे देवसेना स्कद के विवाह करना अस्वीकार कर देती है, स्कद के प्रणय-याचना में विफल होकर विजया आत्मघात कर लेती है। उसके लिए समाधि खोदते हुए भटार्क को रत्नगृह मिलता है। इन सब घटनाओ को देखते हुए इस समस्त दृश्य में लगभग ४" घटे का समय लग सकता है। विजया वाली घटना ऐतिहासिक न होते हुए भी उसके रत्नगृह का कनिष्क चैत्य के समीप पुरुपपुर में पाया जाना नाटकीय दृष्टि से भी अस्वाभाविक है और इस घटना को मालव की किसी प्रकार भी नही माना जा सकता। सातवा दृश्य उसी दिन का है। छटे दृश्य में स्तूप के पास जिस भीड की सूचना दी गई है वही भीड इस सातवें दृश्य मे है। इसका घटनाकाल कुछ ही मिनटो का है।

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया

आठवा दृश्य महाबोधि बिहार का है, किन्तु यहाँ भी यह कहना कठिन नहीं है कि प्रसाद का अभिप्राय किस स्थान के बिहार से है। हूरण सेनापति के एक कथन से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि दृश्य की घटना सिन्धु के इस पार के प्रदेशों में घटती है। साथ ही साम्राज्य स्कन्धावार के उल्लेख से यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि सिन्धु के ठीक पूर्व में के प्रदेश में कही इस दृश्य की योजना हुई है। यहाँ प्रसाद पुनः वही भौगोलिक भ्राति मे पड गए हैं। कनिष्क चैत्य निश्चय ही पुरुषपुर मे था। नवी शताब्दी तक उसके वहाँ होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं और पुरुषपुर सिन्धु के उस पार था इस पार नही। दृश्य की कालयोजना बहुत ही कम समय की है। नवा दृश्य रण क्षेत्र का है। यहाँ भी यह अनुमान लगाना कठिन है कि रण क्षेत्र कोन-सा है। यदि अपने पूर्व निष्कर्ष को ठीक मान लें तो सिन्धु के इस ओर सभवत. पचनद की सीमा पर कही नाटक का अतिम युद्ध लडा गया होगा। इस युद्ध का सभावित काल हम ४६६ ई० मान चुके है—यद्यपि ऐसा किसी ऐतिहासिक आधार पर नही किया गया है। युद्ध से सबधित होने के कारण निश्चित समय को दृश्य की काल सीमाओ मे नही बाधा जा सकता।

दसवा और अन्तिम दृश्य उद्यान का है, परतु यहाँ भी वही अस्पष्टता परिलक्षित होती है। यह निर्धारित करना असम्भव है कि उक्त उद्यान गाधार का है, पचनद का है, कुसुमपुर का है, काश्मीर का है, उज्जयनी का है अथवा किसी अन्य स्थान का। दृश्य का काल अधिक नही है। बहुत कम है। इतना अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारणतया नवें और दसवें दृश्यो के बीच एक या दो दिन मे अधिक का अ तर नही माना जा सकता।

'राज्यश्री' नाटक की काल-योजना

'राज्यश्री' में प्रसाद ने राज्यवर्द्धन के काल से लेकर हर्ष द्वारा आयोजित प्रयाग की धर्म-सभा तक के काल को अपने नाटक की घटनाओं का विषय बनाया है। नाटक की भूमिका में उन्होंने हर्ष के राज्यकाल की अवधि ६०५ ई० से लेकर ६४७ ई० तक मानी है।[1] उक्त दोनों तिथियाँ इतिहासकारों को सामान्यत. मान्य है। प्राचीन इतिहासकारो में स्वय स्मिथ ने ६०५ ई० मे राज्यवर्द्धन का जीवित होना स्वीकार किया है, और ६०६ ई० से हर्ष का काल माना है। हर्ष की मृत्यु उन्होंने भी ६४७ ई० में मानी है। प्रसाद ने अन्य तिथियो का उल्लेख नही किया है, किन्तु सामान्यत. उनके द्वारा मान्य तिथियो का स्मिथ की मान्यताओं से विरोध न होने के कारण यहाँ स्मिथ की मुख्य मुख्य तिथियो को ही आधार माना है। स्मिथ के अनुसार प्रयाग की धर्मसभा ६४३ ई० हुई थी।[2] उक्त आधार पर सम्पूर्ण नाटक का घटनाकाल ६०५ ई० से लेकर ६४३ ई० तक ३ वर्ष का माना जा सकता है।

संपूर्ण नाटक की कालावधि

प्रथम अक उस समय प्रारम्भ हो जाता है जब देवगुप्त कान्यकुब्ज के विरुद्ध षडयन्त्र कर रहा था और ग्रहवर्मा सीमा-प्रात में मगध के लिए जा रहा था। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस षडयन्त्र और ग्रहवर्मा की मृत्यु में कितना अन्तर रहा होगा। कम से कम समय मानने पर भी घटना का काल छः या सात माह से अधिक का नही माना जा सकता। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु का समाचार राज्यवर्द्धन को स्थाण्वीश्वर में मिला तब वह हूण-विजय कर लौट रहा था। जिन दिन वह लौटा उस दिन उसने कुछ भी भोजन नही किया। दूसरे दिन प्रात.काल अत्यन्त अनुनय विनय के उपरात भी उसने राज्य ग्रहण करना स्वीकार नही किया। उसी समय राज्यश्री के मृत्यु सवादक ने आकर ग्रहवर्मा की हत्या और राज्यश्री के बदी होने का समाचार सुनाया।[3] राज्यवर्द्धन उसी दिन देवगुप्त से युद्ध करने के लिए चल दिया।[4] उक्त आधार पर यह माना जा सकता है कि जिस दिन प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हुई, उसी दिन मौखरी

प्रथम अंक की कालावधि

---

(१) राज्यश्री—भूमिका पृ० ७ (२) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया—स्मिथ पृ० ३७३

(३) हर्षचरित—कावेल एण्ड थामस—छठा उच्छ्वास। २०३

(४) वही छठा उच्छ्वास। २०७

ग्रहवर्मा की भी हत्या की गई और कान्यकुब्ज पर अधिकार किया गया।[1] अतः यदि प्रथम अक को ६०५ ई० के प्रारम्भ से लेकर ६०५ ई० के मध्य तक मानें तो

द्वितीय अंक की कालावधि

द्वितीय अङ्क को ६०५ ई० के मध्य से लेकर देवगुप्त की मृत्यु तक अर्थात् ६०५ ई० के अन्त तक मानना उचित है। राज्यवर्द्धन को कान्यकुब्ज जैसे सुदृढ दुर्ग पर अधिकार करने में कुछ समय अवश्य लगा होगा-विशेष कर जब शत्रु सतर्क था। नाटक से तो ऐसा प्रतीत होता है कि भण्डि ने केवल एक दिन में ही दुर्ग पर विजय पा ली थी।[2] ऐसी दशा मे पहिले और दूसरे अक के बीच ही अधिक से अधिक एक माह का अन्तर मानकर दूसरे अक को भी ६०५ ई० के मध्य में ही मानना होगा दूसरे और तीसरे अक के बीच एक दो माह का अन्तर सरलता से माना

तृतीय अंक की कालावधि

जा सकता है। श्री गौरीशकर चटर्जी यह मानते है कि ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यवर्द्धन की हत्या के बीच पर्याप्त समय का अन्तर था।[3] हर्षचरित के उल्लेख 'अतिक्रातेषु च बहुषु वासरेषु'[4] से भी इसकी पुष्टि होती है। अब यदि ग्रहवर्मा की हत्या के एक माह के भीतर राज्यवर्द्धन कान्यकुब्ज पहुँच गया हो और एक ही दिन मे उसने दुर्ग पर अधिकार कर लिया हो तो राज्यवर्द्धन की हत्या उसके एक या दो माह बाद भी मानी जा सकती है। हर्षचरित के अनुसार कुन्तल हर्ष के पास आकर कहता है, 'कान्यकुब्ज और गौड युद्ध मे गुप्त नामक किसी कुलपुत्र ने राज्यश्री को बधन मुक्त कर दिया। वह राज्यवर्द्धन का मरण सुनकर विन्ध्याटवी की ओर निकल गई।'[5] यदि प्रसाद से नाटक के अनुसार राज्यवर्द्धन का कान्यकुब्ज दुर्ग पर अधिकार किया जाना मान लें तो राज्यवर्द्धन की हत्या की सूचना के बाद भी किसी अज्ञात कुलपुत्र द्वारा राज्यश्री को मुक्त करने का प्रश्न ही नही उठता। वहाँ राज्यवर्द्धन की विजयी सेना थी और था उसका विश्वस्त मत्री भडि। ऐसी स्थिति में राज्यश्री का विन्ध्याटवी को भाग जाने का कोई कारण नही। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कि कान्यकुब्ज दुर्ग पर अधिकार करने के पूर्व ही राज्यवर्द्धन की हत्या की जा चुकी थी। कुछ भी हो नाटक के अनुसार द्वितीय और तृतीय अक के बीच एक माह का अन्तर स्वीकार किया जा सकता है। तब भी तीसरे अक का प्रारम्भ ६०५ ई० के अत से है। नाटक के अनुसार तृतीय अक का अत चालुक्य हर्ष युद्ध के बाद का है। यहाँ प्रसाद ने ऐतिहासिक घटना क्रम में भी पर्याप्त अतर उपस्थित कर दिया है। फिर भी इस अक की सबसे महत्वपूर्ण घटना चालुक्य युद्ध है। स्मिथ के अनुसार उक्त युद्ध ६२० ई मे लडा

---

(१) 'यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इत्यभूदवार्त्ता तस्मिन्नेव देवो' आदि
छठा उच्छ्वास पृ० २५१

(२) राज्यश्री २।३६ (३) हर्षवर्द्धन—गौरीशकर चटर्जी (४) हर्षचरित पृ० २५४

(५) 'उक्तावाश्च बधनात् प्रभृति विस्तरत. स्वसुः कान्यकुब्ज गौड सभ्रमे गुप्तितो गुप्तनाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासन, निर्गतायाश्च राज्यवर्द्धन- मरण-श्रवण—'
—हर्षचरित पृ० ३३१

गया, किंतु पन्नीकर इस तिथि को ६३६ ई० मानते हैं।[1] एक तो चालुक्य के ६३६ ई पूर्व के 'एहोल' के शिलालेख मे हर्ष सम्बधी उल्लेख नही हे, दूसरे शशाक का गजम ताम्रपत्र ६१६-२० ई. का है। यह ताम्रपत्र इस बात का साक्षी है कि वह उस समय तक जीवित और सभवतः शक्तिशाली भी था।[2] ऐसी दशा में चालुक्य जैसे शक्तिशाली राजा से युद्ध करने के लिए युद्ध सभवत. स्वय प्रस्तुत न हुआ हो। पन्नीकर की तिथि स्वीकार कर लेने पर तृतीय अक ६३६ ई मे समाप्त होता है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि प्रसाद के नाटक मे समय इतना नही माना जा सकता क्योकि राज्यश्री की घटना को इतिहास के विरोध मे चालुक्य युद्ध के बाद रख देने से यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि राज्यश्री ३१ वर्ष तक विन्ध्याटवी मे भटकती रही हो। स्मिथ की तिथि स्वीकार कर लेने पर भी उक्त काल मे कुल १६ वर्ष का ही अन्तर उपस्थित होता है। तब भी यह स्वीकार करना कठिन है कि राज्यश्री १५ वर्ष तक भटकती रही।

तृतीय और चतुर्थ अक के बीच स्मिथ के तिथिक्रम को स्वीकार करने पर २३ वर्ष का और पन्नीकार की तिथि को ग्रहण करने पर ७ वर्ष का अन्तर रहता है। तृतीय अक

चतुर्थ अंक की कालावधि

ठीक कान्यकुब्ज के दान के उपरान्त प्रारम्भ होता है और प्रयाग के दान मे समाप्त हो जाता है। 'बील' से ज्ञात होता है कि कन्नौज की सभा बसन्त ऋतु मे हुई थी।[3] स्मिथ के अनुसार यह सभा ६४३ ई० के फरवरी-मार्च मे हुई थी।[4] यह दान कई दिन तक चलता रहा और उसके ठीक बाद ही प्रयाग का दान प्रारम्भ हुआ। प्रयाग का उत्सव ७५ दिन तक चलता रहा और सभवत अप्रेल के अन्त में इसकी समाप्ति हुई।[5] यह घटना भी ६४३ ई० की ही है। सम्पूर्ण चतुर्थ अक की घटना का काल तीन माह के लगभग होना चाहिए।

'राज्यश्री' मे ३८ वर्ष की दीर्घ काल की घटनाओ का चित्रण हुआ है किन्तु कालक्रम मे किसी भी प्रकार की योजना नही दीख पडती। न तो काल का अको में ही समुचित विभाजन हो सका है और न दृश्यो मे ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि एक दृश्य में कितनी घटना रखी जाय। अत इस नाटक मे विभिन्न दृश्यो की घटनाओ की काल-योजना पर विचार कर सकना सभव नही।

---

१ श्री हर्ष आफ कन्नौज (के० एम० पन्नीकर)

२ अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया पृ० ३७३

३ 'इट वाज नाट दि सैकिण्ड मन्त आफ स्प्रिंग टाइम'—रेकर्ड्स (बील) १।२१८

४. अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया स्मिथ) पृ० ३६२

५ अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया—(स्मिथ) पृ० ३६४

प्रसाद के नाटकों में काल-क्रम दोष

अधिकाश ऐतिहासिक नाटकों की तरह प्रसाद के नाटक भी काल-क्रम दोष से सर्वथा मुक्त नही है। उक्त दोष प्राय सभी प्रकार इन नाटको मे उपलब्ध हो जाते हैं। काल, घटना और वातावरण सभी में कही न कही प्रसाद व्यतिक्रम कर ही गये हैं। किन्तु इनके साथ साथ उक्त दोष के सबसे महत्वपूर्ण स्वरूप 'मनोवैज्ञानिक काल-क्रम दोष' से भी वे अपने आप को मुक्त न रख सके।

काल-क्रम

'अजातशत्रु' नाटक मे राजकुमार विरुद्धक को शाक्यो का सहार करते हुए चित्रित करके प्रसाद ने काल-क्रम सबधी एक महत्वपूर्ण व्यतिक्रम किया है। राजकुमार विरुद्धक ने अपने पिता प्रसेनजित के जीवन-काल में ही शाक्यो पर चढाई नही की थी। उक्त घटना बाद की है। 'चन्द्रगुप्त' में सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया का पूर्ण यौवनावस्था में (अथवा किशोरावस्था मे) सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में आना भी काल-दोप का ही स्वरूप है। कथानको पर विचार करते हुए हम देख चुके है कि कार्नेलिया (?) का चन्द्रगु [illegible] द्वारा सिल्युकस की पराजय के उपरान्त हुआ था। इन दोनों घटनाओ के बीच बाइस-तेईस वर्षों का अन्तर होने से इन दोनो घटनाओ के बीच काल की सभाव्यता नही रह जाती। 'स्कंदगुप्त' नाटक मे कुमारगुप्त के जीवन काल में ही मालवा में हूणो को आक्रमण करते हुए चित्रित किया है। हम देख चुके हैं कि हूणों ने मालवा पर बहुत बाद में आक्रमण किया था और वस्तुतः वहाँ उनका अधिकार स्कदगुप्त के जीवन-काल में नही हो पाया था। इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण दोष 'राज्यश्री' में भी पाया जाता है। यहाँ प्रसाद का घटना क्रम पूर्णतया इतिहास विरोधी हो गया है। कान्यकुब्ज के कारागार से मुक्त होकर देवी राज्यश्री विन्ध्याटवी में भाग गई थी। हर्ष और भडि का मिलाप कान्य-कुब्ज में हुआ और तुरन्त ही वह अपनी बहिन को खोजने निकल पड़ा। राज्यश्री की रक्षा के बहुत समय उपरान्त उसने उत्तर भारत को विजय किया और अन्त में चालुक्य से हार कर वापस लौटा। प्रसाद ने इस क्रम में इतना व्यतिरेक कर दिया है कि न तो वह इतिहास ही रह गया है और न उसमें घटनाओ की सभाव्यता की ही रक्षा हो सकी है। नाटक में हर्ष पहिले चालुक्य से लडता है और तब राज्यश्री को खोजने जाता है। इन दो घटनाओ के बीच काल का इतना अधिक अन्तर है कि घटनाएँ बराबर जुड ही नही पाती। इसी प्रकार दिवाकरमित्र और राज्यश्री के सबध में भी घटना-क्रम को बदल दिया गया है। मूल घटना में हर्ष एव दिवाकरमित्र दोनो साथ ही राज्यश्री की रक्षा के लिये पहुँचे थे। किन्तु नाटक में दिवाकरमित्र डाकुओं से राज्यश्री की रक्षा करते हैं और उसके उपरान्त उनके सामने ही वह अग्निप्रवेश करना चाहती है। इतनी विश्रुत ऐतिहासिक घटना में यह अनावश्यक काल-क्रम दोष अत्यत खटकने वाला है।

प्रसाद घटना और काल के साथ साथ ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा भी सर्वत्र नही कर सके हैं। काल क्रम सबधी एक दोष प्रसाद के सब नाटको मे पाया जाता है। हम सिद्ध कर चुके है कि द्वन्द्व युद्ध का जो स्वरूप प्रसाद के सभी नाटको में मिलता है वह १६वी शताब्दी के फ्रास मे उद्भूत पाश्चात्य पद्धति है, भारतीय नही। ऐसी दशा मे इस प्रकार द्वन्द्व-युद्धो का चित्रण एक ओर तो काल-सबधी दोष की सृष्टि करता है और दूसरी ओर वातावरण सबधी।

वातावरण

इसी प्रकार का एक दूसरा दोष अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री मे मिलता है। इसमें सन्देह नही कि सुरापान अत्यन्त प्राचीन प्रथा है किन्तु भारतीय वातावरण की रक्षा इसी में है कि सुरापान के पात्रो के नाम इत्यादि भारतीय हो। प्रसाद ने प्याला और सुराही जैसे फारसी नामो का प्रयोग कर उक्त वातावरण को क्षति पहुँचाई है। साथ ही 'नर्तकियो द्वारा प्याले भर कर देने की प्रथा मे भी फारसी 'साकी और जाम' का प्रभाव पर्याप्त रूप मे परिलक्षित होता है। इसी प्रकार तलवार, म्यान, रुपया, चुड़ैल, जैसे उल्लेख भी वातावरण-सबधी दोष के उदाहरण है।

सबसे बडा आक्षेप जो काल-क्रम दोष के सबध मे प्रसाद पर लगाया जा सकता है, वह यह है कि प्रसाद ने अपने कई पात्रो को पूर्णतया आधुनिक बना दिया है। इस सबध मे उनके कुछ नारी पात्रो की ओर विशेष सकेत किया जा सकता है। 'चन्द्रगुप्त की अलका, 'ध्रुवस्वामिनी' की मन्दाकिनी और 'स्कदगुप्त' की विजया के चरित्रो में प्रसाद ने आधुनिक राष्ट्रीय सग्राम में भाग लेने वाली भारतीय नारी की रूप-रेखा भर दी है। अलका जहाँ तक पिता के देशद्रोह से राज्य छोड देती है वहा तक तो वह ऐतिहासिक ही प्रतीत होती है, पर जब वह सिल्यूकस के आक्रमण के समय गान्धार मे जलूस का नेतृत्व करती हुई और जनता को राजा के विरुद्ध भडकाती हुई चलती है तब ठीक भारतीय स्वतत्रता सग्राम की नारी की प्रतिच्छाया-सी लगती है। इसी प्रकार मन्दाकिनी भी गाते हुए चन्द्रगुप्त और उसकी सेना के आगे आगे चलती है। स्कदगुप्त' की विजया मातृगुप्त के साथ उद्‌बोधन गीत गाती हुई सैन्य-सग्रह करती है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्राचीन भारत में भी स्त्रिया सेना के साथ होती थी वरन् युद्ध के लिये उनको उत्साहित भी करती थीं। यह ठीक तो है किन्तु अधिक अच्छा होता यदि प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' की मालविका की तरह इन स्त्रियो के युद्धोत्साह को एक सीमा मे ही रहने देते और उनको या तो भैषज्य और खान-पान का काम दे देते अथवा 'स्कदगुप्त' की देवसेना और जयमाला की तरह, या मालव दुर्ग में सिकदर के सैनिको से लडती हुई अलका की तरह उन्हे वीरता और साहस के प्रतीक भर बना देते जो आपत्तिकाल में अपनी रक्षा आप करने म समर्थ हो। किन्तु भारत की स्वतत्रता से पूर्व काग्रेस के 'वालन्टीयरो के आगे-आगे गीत गाती हुई चलने वाली नारी सुदूर इतिहास के कालो मे अपना अस्तित्व नही छिपा पाती। काल-क्रम-दोष का यह स्वरूप ससार के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटककारो में पाया जाता है, क्योकि कोई भी कवि या नाटककार अपन युग के प्रभावो से मुक्त नही हो सकता।

मनोवैज्ञानिक

ऐतिहासिक वातावरण



सामान्य भौगोलिक खंड

"अजातशत्रु" "स्कंदगुप्त" और "राज्यश्री" इन तीनो मे जम्बूद्वीप का प्रयोग हुआ है। "अजातशत्रु" में देवदत्त गौतम बुद्ध के प्रभाव को अभिव्यक्ति करने के उद्देश्य से उक्त शब्द का उल्लेख करता है। "यह राष्ट्र का शत्रु गौतम समग्र जम्बूद्वीप को भिक्षु बनाना चाहता है और अपने को उनका मुखिया। इस तरह जम्बूद्वीप भर पर एक दूसरे रूप मे शासन करना चाहता है।[1]" "स्कंदगुप्त" मे भी एक श्रमण तथागत की श्रेष्ठता और उनके गौरव की व्यापकता दिखाने के उद्देश्य से जम्बूद्वीप का उल्लेख करता है — 'तुम्हारी इसी हिंसा नीति और अहंकारमूलक आत्मावाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था ? क्यो नतमस्तक होकर समग्र जम्बूद्वीप ने उस ज्ञान रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की ?"[2] "राज्यश्री" मे देवगुप्त ने इसका उल्लेख गुप्त-कुल के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए किया है—"मधुकर। देवगुप्त उसी गुप्त-कुल का है, जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था[3]।"

जम्बूद्वीप

बौद्ध-धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के बाहर समस्त एशिया में महाद्वीप मे फैल गया था, जहा वह अब भी एक प्रधान धर्म के रूप में अवस्थित है। समुद्रगुप्त कृत दिग्विजय, चद्रगुप्त विक्रमादित्य कृत शक सहार, कुमारगुप्त कृत अश्वमेघ और स्कदगुप्त कृत हूण-पराभव आदि मे लक्षित होता है कि गुप्त-साम्राज्य का प्रताप प्रभाव भारत के बाहर समस्त एशिया महाद्वीप मे फैल गया था। प्रसाद ने एशिया के इस प्राचीन नाम जम्बूद्वीप का उल्लेख जान बूझकर किया है। अपने प्राचीन अर्थ मे जम्बूद्वीप लाख-योजन विस्तीर्ण है और पद्ममध्य-स्थित कोष की तरह स्थित है। यह पद्मपत्र की भाति गोल और लाख योजन समुद्र द्वारा वेष्टित है। यह द्वीप नौ खडो में विभक्त है। प्रत्येक खड नौ हजार योजन विस्तीर्ण और सीमापर्वतो द्वारा भली भाँति विभक्त है।[4] अपने मूल अर्थ मे जम्बूद्वीप समस्त एशिया महाद्वीप का ही अर्थ देता है। परन्तु प्रसाद ने प्राचीन वातावरण की सृष्टि करने मात्र के उद्देश्य से इस शब्द का प्रयोग किया है, किसी भौगोलिक रूपरेखा को ध्यान मे रख कर नही।

भरतखण्ड का एकमात्र उल्लेख "अजातशत्रु" मे हुआ है। छलना कहती है—"बच्चे मैने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हे भरतखण्ड का सम्राट देखूँगी और वीरसूती होकर एक बार गर्व से तुमसे चरणवदना कराऊँगी।[5]" अपने मूल रूप में "भरतखड" जम्बूद्वीप के नौ खण्डो में से एक है जो नौ हजार योजन विस्तीर्ण है। यह छः भागो में विभक्त है। जिसमें पाच खण्डो मे

भरतखंड

---

(१) अजातशत्रु १।३४ (२) स्कदगुप्त ४।११२ ३) राज्यश्री १।२५

(४) दि इन्साइक्लोपीडिया इ डिका (वसु) "जम्बूद्वीप" (५) अजात० २।१०७

म्लेच्छ और एक क्षेत्र में आर्य रहते हे।[1] । परतु ऐसा प्रतीत होता है कि जम्बूद्वीप की तरह ही भरतखण्ड का भी कोई स्पष्ट चित्र प्रसाद के नाटको से नही प्राप्त होता केवल परिपाटी के रूप मे प्राचीनता के वातावरण की रक्षा के लिए हा ग्रहण किया है। अजातशत्रु का साम्राज्य समस्त उत्तरी भारत में भी नही फैल सका था समस्त भारतखण्ड की तो बात ही दूर रही। प्रसाद ने स्वय ही अपने नाटक में मगध के साथ ही दो अन्य शक्तिशाली राज्य कौशल और कौशाम्बी का उल्लेख किया हे और कोई एसी सभावना न तो इतिहास में और न नाटक में ही दीख पड़ती है जिससे अजातशत्रु को भरतखण्ड का सम्राट देखने की छलना की इच्छा फलवती हो सकती। भरतखण्ड में सम्पूर्ण भारतवर्ष अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि छलना अजातशत्रु को केवल उत्साहित करने के उद्देश्य से भारतखण्ड का उल्लेख कर गई। भरतखण्ड केवल मगध साम्राज्य के विस्तार की भावना के प्रतीक के रूप में आया प्रतीत होता है, किसी अर्थ-विशेष मे नही।

भारत

भारत को ठीक उसी अर्थ मे प्रसाद ने लिया है जिस अर्थ मे वह दीर्घ काल से लिया जा रहा है। "विश्व का सबसे ऊँचा शृग इसका सिरहान और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणो के नीचे है।[2]" उक्त उद्धरण से भारत की उत्तरी और दक्षिणी सीमा का निर्देशन हो जाता है। अन्य सीमाओं के लिए स्कदगुप्त के आर्य-साम्राज्य की सीमा देखी जा सकती है। भीमवर्मा उसकी सीमा इस प्रकार बताता है, "लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओ मे भी सामगान होने लगा।[3]" अब यदि हम इस आधार पर भारत की मोटी मोटी सीमाएँ निर्धारित करे तो कह सकते हैं कि उत्तर मे हिमालय, दक्षिण में समुद्र, पूर्व में लौहित्य और पश्चिम में सिन्धु। ये चार मोटी मोटी प्राकृतिक सीमाएँ स्पष्ट हैं। पुराणो मे भी भारत की सीमा निर्धारित की गई है, जो इससे मिलती जुलती है।

हिमाह्व दक्षिण वर्ष भरताय ददौ पिता
तस्माच्च भारत वर्ष

उत्तर यत् समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणच्च यत्।
वर्ष तद्भारत नाम यत्रेय भारती प्रजा।[4]

उत्तर और दक्षिण की प्राकृतिक सीमाओ को मान लेने पर, पूर्व और पश्चिम की सीमाएँ और विशेष रूप से पश्चिमी सीमा को निश्चित नही किया जा सकता। यदि पूर्वी सीमा लौहित्य मान ली जाय तो भी पश्चिमी सीमा प्रत्येक ऐतिहासिक काल में कुछ न कुछ बदलती रही है। मौर्य काल में निषध पर्वतमाला को ही आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा न मान लिया गया था।[5] परन्तु यह नैसर्गिक सीमा सदा ही नही बनी रही। स्कदगुप्त ने सम्भवतः सिन्धु नदी को ही सीमा मान लिया था।[6] जब कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन

---

(१) दि इन्साइक्लोपीडिया इडिका (वसु) "भरतखण्ड" (२) स्कद० ४।११६
(३) स्कद० ३।६६
(४) "मार्कंडेय पुराण" इसाइक्लोपीडिया इडिका (वसु) वौल्यूम १३।३१४-१५
(५) चद्र० ४।२४१ (६) स्कद० ५।१५२

काल मे पश्चिमी सीमा बल्ख से भी आगे बढ गई थी।[१] बल्ख कुशान् साम्राज्य का दूरस्थ केन्द्र था।

प्रसाद ने अपने नाटको मे भारत की महिमा और इसके सौंदर्य का स्थान स्थान पर वर्णन किया है। 'यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल श्रेणी, हरी भरी वर्षा, गर्मी की चांदनी, शीतकाल की धूप, और भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएँ, . यह स्वप्नों का देश, त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।[२]"

"भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम पाश में आबद्ध है। अनादि काल के ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है एक स एक सुन्दर दृश्य प्रकृति के अपने इस घर मे चित्रित कर रहा है।[३]" अरुण यह मधुमय देश हमारा"[४] तथा 'हिमालय के आंगन मे उसे प्रथम किरणो का दे उपहार"[५] जैसे गीतो मे भारत के प्राकृतिक और उसकी श्रेष्ठता की स्पष्ट झांकी मिल सकती है।

आर्यावत शब्द का प्रयोग प्रसाद के नाटको में सर्वाधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष या भारत कहने से जिस भू-भाग का अर्थ मिलता है, आर्यावर्त कहने से उस सम्पूर्ण भू भाग की सांस्कृतिक अविच्छिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

आर्यावर्त

चाणक्य ने "मालव और मागध को भूलकर"[६] जिस आर्यावर्त की एकता का प्रचार किया था वह आर्यावर्त आर्यो की जन्मभूमि है। आर्य जाति कही बाहर से नही आई, वरन् यही भारतवर्ष या आर्यावर्त उनकी जन्मभूमि है।[७]

मनु टीका मे कुल्लूक भट्ट ने लिखा है 'जिस स्थान में आर्यो का पुनः पुनः जन्म होता है, वही आर्यावर्त कहलाता है।[८]"

प्राचीन ग्रीक लेखकों ने "एरिया" "एरियाना" जनपद का उल्लेख किया है,[९] जिसकी सीमा पूर्व में सिन्धुनद, दक्षिण मे भारत महासागर अर्थात् सिन्धु मुख से पारसीक उपसागर पर्यन्त जलभाग, पश्चिम में कास्पीयन सागर से कार्मेनिया (अर्थात् फारस मिश्र समस्त येजद और किरमान प्रदेश), तक और उत्तर मे परोपनीशस पर्वत अर्थात् भारत की उत्तर सीमा स्थित हिमालय सलग्न काकेशश गिरिमाला) है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी पंडित मूसो बुरनौफ के मतानुसार ग्रीक एरिया या एरियाना और फारसी ईरान संस्कृत "आर्य" शब्द के रूपान्तर है। अवस्ता में ऐर्जनवैजो अर्थात् आर्यावास) संस्कृत आर्यदेश नाम से परिचित है।[१०]

मनुस्मृति में आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार दी गई है —

---

(१) जनल आफ बिहार एंड ओडिसा रिचर्स सोसायटी-वौल्यूम १७ पृ० २९

(२) चंद्र० ३।१६० (३) स्कंद० ४।११६ (४) चंद्र० २।१०७

(५) स्कंद० ५।१५० (६) चंद्र० ।१६० (७) स्कंद० ५।१५० (गीत)

(८) "आर्या अयावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः" मनुस्मृति २।२२

(९) एंशिएंट इंडिया—टौलेमी (मैक्रिंडल) पृ० ३०५

(१०) दि इन्साइक्लोपीडिया इंडिका २।१६६०-६१ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्

"पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र पर्यन्त विस्तृत देश के अन्तराल प्रदेश मे, उत्तर दक्षिण गिरि के मध्यवर्ती स्थान को पडितो ने आर्यावर्त कहा है।[१]"

अमरकोष मे आर्यावर्त की सीमा इस प्रकार बताई गई है :—

"आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्य विन्ध्यहिमालयो."[२]

उपयुक्त विवरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि सभवत. आर्यावर्त शब्द का प्रयोग कभी सप्तसिन्धु के पश्चिमी देश के लिए, कभी सम्पूर्ण हिमालय और विन्ध्याचल के बीच बीच के उत्तरी भारतवर्ष के लिए होता था। परन्तु कालान्तर में जब उत्तर और दक्षिण के बीच का अन्तर क्रमशः कम होता गया तो सम्पूर्ण भारतवर्ष को आर्यावर्त कहने में किसी प्रकार की कठिनाई न रही। आधुनिक काल तक पहुँचते पहुँचते आर्यावर्त शब्द सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ मे रूढ हो गया। प्रसाद ने अपने नाटको में आर्यावर्त को इसी रूढ अर्थ में ग्रहण किया है।[३] आर्यावर्त,[४] आर्य जाति,[५] आर्यावर्त की बालिका,[६] आर्य क्रियाएँ,[७] आर्य लोग[८] जैसे शब्द एक रूढ पर सास्कृतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, जिसमें सम्पूर्ण भारत की एकता की भावना सन्निहित है। यद्यपि 'मध्य विन्ध्य हिमालयो" का अर्थ लने पर भी, प्रसाद के नाटको मे विरोध नही आ सकता।

आर्यावर्त की भाति उत्तरापथ[९] और दक्षिणापथ[१०] का प्रयोग भी प्रसाद ने बहुत किया है। पाणिनि ने भी उत्तरापथ का उल्लेख किया है। उत्तरापथ से लाई जाने वाली वस्तुओ के लिए (उत्तरपथेन आहृतम् च) तथा उक्त पथ के यात्रियो के लिए (उत्तरपथेन गच्छति। "औत्तरापथिक" का उल्लेख है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल उत्तरापथ उस प्राचीन मार्ग को मानते है जो पूर्वी भारत से गान्धार तक तथा गान्धार से सुदूर पश्चिम तक जाता था। "भारत की सम्पूर्ण ग्रैंड-ट्रक रोड जो भारत के बाहर वक्षु तक गई हुई थी, यूनानियो को उत्तरापथ (नौदर्न रूट) के नाम से ज्ञात थी।" यह विशाल राजमार्ग वाल्हीक, कपिशा, पुष्कलावती, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, कान्यकुज तथा प्रयाग जैसे प्रसिद्ध जनपदो और नगरो में होता हुआ जाता था।[११]

भारतवर्ष के दो विभाग :— (अ) उत्तरापथ

सम्भवतः अपने मूल रूप मे उत्तरापथ का यही अर्थ रहा हो। परन्तु प्रसाद ने उत्तरापथ का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। "चन्द्रगुप्त" नाटक में उत्तरापथ का सकुचित अर्थ है उत्तर पश्चिमी-भारतवर्ष जो उस काल में अधिकतर गणतन्त्रो से शासित था।[१२] केवल

(१) तयोरेवान्तर गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधा. (२।२२) (२) अमर कोष २।१८०

(३) "आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट्" और "आर्यावर्त प्यारा देश" जैसे प्रयोग द्रष्टव्य हैं। चन्द्र० ३।१५७ व चद्र० ४।२१७

(४) चन्द्र० १।५६, स्कद० २।५६ (५ वही १।५७, वही २।७६

(६) वही १।६२, (आर्य कन्याएँ) २।७६ (७) वही १।६६ (८) वही १।१०६

(९) चन्द्र० ३, १।५६ तथा अन्यत्र, स्कद० २।७२ तथा अन्यत्र, राज्यश्री ३।५७ तथा अन्यत्र।

(१०) वही ४।१६६ .., वही १।१५, वही ३।५८

(११) इडिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० २४४ (१२ चद्र० १।७४

आम्भीक और पर्वतेश्वर के राज्य ही गणतंत्र नहीं थे। उक्त परिभाषा के अन्तर्गत मगध "प्राच्यों का देश" है।[१] स्पष्ट है कि उत्तरापथ का यह अर्थ ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार लिया गया है। डा० राय चौधरी[२] ने सिकन्दर के समय के उत्तरापथ में तत्कालीन २८ राज्यों का उल्लेख किया है जिनकी सीमा प्रसाद के "उत्तरापथ" से ठीक मेल खाती है। बहुत कुछ इसी अर्थ में उत्तरापथ का उल्लेख काव्य मीमासा में भी हुआ है —

पृथूदकात् परत· उत्तरापथः (काव्यमीमासा[३]

कनिंघम पृथूदक का सबंध पेहोआ से जोडते है जो थानेश्वर से १४ मील पश्चिम की ओर है।[४]

स्कदगुप्त मे उत्तरापथ का स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी उपर्युक्त सकुचित अर्थ ही प्रतीत होता है "महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे"।[५] "उत्तरापथ के समस्त धर्म सघ'[६], "उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था"[७] तथा "समस्त उत्तरापथ का बौद्ध सघ"[८] जैसे वाक्यों में उत्तरापथ से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से उद्वेलित उत्तर-पश्चिमी भारतवर्ष का ही तात्पर्य ध्वनित होता है। परन्तु "राज्यश्री" मे उत्तरापथ का प्रयोग समस्त उत्तरी भारत के लिए किया गया है। हर्ष को पुलकेशिन ने उत्तरापथेश्वर कहा[९] है, और "उत्तरापथ के समस्त नरपति उसके चरणों में प्रणत है"[१०]। उसका राज्य कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक है।[११] फलतः उत्तरापथ की सीमाएँ भी ये ही मानी जा सकती है। "अपने नवीन और विस्तृत अर्थ मे यह शब्द समस्त आर्यावर्त का अर्थ देता है"। (कनिंघम नोट पृ० ६६७)

अपने मूल अर्थ मे दक्षिणापत भी दक्षिण की ओर फैले किसी राजमार्ग का द्योतक हो सकता है, क्योंकि भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार विन्ध्य से दो मार्ग उत्तरापथ और दक्षिणापथ, क्रमशः उत्तर और दक्षिण की तरफ जाते थे।[१२] परन्तु

(ब) दक्षिणापथ

प्रसाद ने सभी स्थलों पर दक्षिणापथ को दक्षिण भारतवर्ष के अर्थ मे लिया है। चन्द्रगुप्त विजय के लिए दक्षिणापथ जाने की आयोजना करता है[१३], उसको दक्षिणापथ मे अपूर्व सफलता मिलती है, पर सुदूर दक्षिण तक वह नहीं जाता।[१४] रेवा से दक्षिण की ओर महाराष्ट्र के सुशासक चालुक्य को हर्ष दक्षिणापथेसर[१५] के नाम से पुकारता है। काव्यमीमासाकार के अनुसार भी "माहिष्मत्याः परत दक्षिणा-पथ." । नर्वदा तट पर स्थित मान्धाता को ही माहिष्मती माना गया है।[१६] ह्वानच्वाग के

---

(१) चन्द्र० २।१४०

(२) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएट इंडिया (रे चौधरी) पृ० १५०–५१–५२

(३) काव्यमीमासा पृ० ९३

(४) ऐंशिएट जौग्राफी आफ इन्डिया (कनिंघम नोट्स) पृ० ६६७ (५) स्कद २।७२

(६) वही ३ ९३ (७) वही ३।९ (८) वही ५।१४८ (९) राज्यश्री३।३,५७

(१०) वही ३।६४ (११) वही ३।५८ (१२) इन्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० ६

(१३) चन्द्र० ४।१९६ (१४) चन्द्र० ४।२०३ (१५) राज्यश्री ३।५८

(१६) जौग्राफी आफ ऐंशिएट इन्डिया (कनिंघम)—नोट्स पृ० ७३४

समय में दक्षिणापथ नौ स्वतंत्र राज्यो मे विभक्त था। श्री रामचन्द्र की दक्षिणापथ की यात्रा की ओर भी प्रसाद ने संकेत किया है।[1]

पर्वत और नदियाँ

हिमालय

हिमालय का उल्लेख प्रसाद के प्रायः सभी नाटको में मिलता है, अतः भारतवर्ष के साथ हिमालय का अन्योन्याश्रित संबंध है। स्कंदगुप्त की विजय के साथ ही हिमालय की कन्दराओ में भी स्वच्छन्दता पूर्वक सामगान होने लगता है।[2] मातृगुप्त की कल्पना में, हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु और गंगा यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियो को अन्नदान देकर संतुष्ट करेगी।[3] और आर्यजाति अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किये विश्व को सदाचार के लिए सावधान करती रहेगी।[4] अपने ज्वालामुखियो को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है।[5] हिमवान की गलजाने वाली बर्फ से ही कुभा[6] तथा अन्य नदिया निकली है।

विन्ध्य और विन्ध्यपाद

विन्ध्य पर्वत का उल्लेख दो रूपो मे हुआ है। (१) विन्ध्य शैल "स्कंदगुप्त" नाटक म कमला स्कंद से कहती है, "तुम्हारे प्रचन्ड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विन्ध्य के समान कोई शैल उठ खडा होगा।[7] (२) विन्ध्यपाद "राज्यश्री" मे हर्ष की अनाथा दुखिया बहन राज्यश्री "विन्ध्यपाद" मे भागकर चली जाती है। विन्ध्य पर्वत वास्तव में वे प्रसिद्ध शैल श्रेणिया है जो भारतवर्ष को 'उत्तरापथ" और "दक्षिणापथ" इन दो भागो में विभाजित करती हैं और विन्ध्यपाद विशाल सतपुडा पर्वत श्रेणी का ही दूसरा नाम है जिससे नर्मदा, ताप्ती आदि नदिया निकलती हैं। कालिदास ने इसको "विन्ध्यापद" कहा है[8], और वाराह-पुराण मे भी इन श्रेणियो को विन्ध्यपाद के नाम से अभिहित किया गया है।[9] हर्षचरित के अनुसार राज्यश्री अपनी सखियो के साथ "विन्ध्यावटी" के अंतराल में जा छिपी थी।[10] प्रसाद ने 'विन्ध्यपाद" शब्द का प्रयोग विन्ध्याधट या विन्ध्याशैल के अर्थ मे किया है या विन्ध्याचल की विशिष्ट सतपुडा श्रेणियो के लिए, यह स्पष्ट नही होता।

निषध

निषध पर्वतमाला का उल्लेख केवल मात्र "चन्द्रगुप्त" में हुआ है। प्रसाद के अनुसार यह पर्वत माला आर्यावर्त की नैसर्गिक पश्चिमी सीमा थी।[11] "चन्द्रगुप्त" और "स्कंदगुप्त" दोनो नाटको से ज्ञात होता है कि यह नैसर्गिक सीमा सिन्धु के उस पार[12] गान्धार के पश्चिम[13] मे रही होगी। जब जगद्विजेता सिकन्दर की सेना निषध पर्वत तक पहुंच गई तभी उत्तरापथ के राज्यो में हलचल मचनी प्रारम्भ हुई।[14] आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने संधि की शर्तो मे यह प्रदेश सिल्यूकस

---

(१) स्कंद १।२५ (२) ,, ३।९९ (३) ,, ४।११-
(४) ,, ४।११८ (५) ,, ४।१२६ (६) ,, ४।११४
(७) स्कंद. ४।१३० (८) राज्यश्री ३।५६ (९ पूर्वमेघ २१ श्रो (१०) वाराह पुराण पृ ८५
(११ हर्ष चरित (बाण) पृ० ३३१ (काबिल-थामस) (१२) चन्द्र० ४ २४१
(१३) स्कंद० १।१६ (१४) चन्द्र० ४।२४१ (१५) चन्द्र० १।७८

से प्राप्त कर लिया था। निषध पर्वत का यह नाम अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में भी इस नाम का उल्लेख मिलता है।[1] ग्रीक ऐतिहासिकों के अनुसार गन्धमादन से पश्चिम और काबुल नदी से उत्तर की ओर जो "पैरोपनिसैडर" या "पैरोपनिसस" नामक पार्वत्य प्रदेश है, वही निषद पर्वत माला का भाग है। आजकल यह काकेशश के नाम से विख्यात है।[2]

प्रसाद के नाटकों में सिन्धु[3], सिन्धु सगम[4], सिन्धु तट[5], तथा सप्त सिन्धु[6] की घाटियों का प्रचुर उल्लेख हुआ है। "सिन्धु की प्रखर धारा ही यवन सेना को रोक सकती थी[7]," परन्तु उसमें सेतु बना दिया गया।[8] सिन्धु के तट पर ही महात्मा दाण्ड्यायन का आश्रम था[9], और सिन्धु के तट पर ही यवन शिविर लगे थे।[10] सिन्धु तट पर ही सेल्यूकस से चन्द्रगुप्त का युद्ध हुआ था।[11] सिन्धु की लोल लहरियों में से गुप्त साम्राज्य के सेनापति आर्य पर्णदत्त की वीरता की लेख माला लिखी जाती है।[12] सभवतः सिन्धु तट पर ही हूणों के साथ स्कदगुप्त का भयकर युद्ध हुआ था जिसमें हूणों की प्रबल हार हुई थी।[13] इतिहासकार प्लिनी के अनुसार सिन्धु काकेशश पर्वत के उस भाग से उभरती है जिसे पैरोपमिसस कहते हैं। इसका उद्भव सूर्योदय की दिशा की ओर है। यह १६ नदियों को सहायक नदियों के रूप में ग्रहण करती है।[14] वास्तव मे सिन्धु का उद्गम स्थान ग्रीस निवासियों को ज्ञात न था। सिन्धु की प्रमुख धारा पश्चिमी कैलाश से निकलकर, अपनी आधी लम्बाई तक उत्तर पश्चिम की ओर बहती है, पुनः काश्मीर के उत्तर-पश्चिम दरद प्रदेश तथा छोटे पामीर के दक्षिण से बढ़ती हुई दक्षिण की ओर ही मुड जाती है। जहाँ इसके तट पर सिन्धु के प्रसिद्ध स्थान बसे हुए है।[15]

सिन्धु

"सप्तसिन्धु" प्रदेश स्कदगुप्त क काल के हूणों से पादाक्रान्त हो गया था।[16] और गगा यमुना के समान ही सप्तसिन्धु प्रदेश की नदियाँ भी हिमालय से निकली हुई नदियाँ थी।[17] सप्तसिन्धु अत्यन्त प्राचीन नाम है। आर्यों ने सिन्धु, कुभा (सिन्धु के पश्चिम मे), वितस्ता, असक्नी, इरावती, शतुद्रि तथा सरस्वती इन सात नदियों के प्रदेश को सप्तसिन्धु की सज्ञा से अभिहित किया था। यह सभव है कि ऋग्वेद के काल मे कई बार सप्तसिन्धु तथा सप्तसिन्धु प्रदेश के नामों में परिवर्तन हुआ हो।[18] परन्तु कालान्तर में ये सात स्रोत ही सप्तसिन्धु नाम से चलते रहे और इनके सबधित भू-भाग सप्तसिन्धु कहलाया गया।

सिन्धु सगम तक के प्रदेश को विजय करने की इच्छा से सिकदर नौ बल लेकर आगे

---

(१) ऋग्वेद १।१०४।१ (२) ऐंशिएट इन्डिया (मेगास्थनीज, एरियन) (मैक्क्रिडल) पृ० १४३
(३) चन्द्र० १।६२ तथा अन्य, स्कद० १।६ तथा अन्य (४) वही २।१३६
(५) वही ४।२१३ तथा अन्य (६) स्कद० ४।११८ (७) चन्द्र० १।६२
(८) चन्द्र० १।८२ (९) चन्द्र० १।१०२ (१०) चन्द्र० २।१०७
(११) चन्द्र० ४।२३६ (१२) स्कद० १।६ (१३) स्कद० ५।१४८
(१४) ऐंशिएट इन्डिया—मेगास्थनीज—एरियन (मैक्क्रिडल) पृ० १४३
(१५) इन्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल। पृ० ४३ (१६) स्कद० ४।१२२
(१७) वही ४।११८ (१८) इन्साइक्लोपीडिया—(बसु) देखिऐ "सप्तसिन्धु"

बढा था[१] । सिन्धु-सगम का अर्थ उस स्थान से है जहाँ सिन्धु नदी समुद्र मे प्रवेश करती है । एरियन के अनुसार भारत की पश्चिमी सीमा सिन्ध नही है जो विशाल सागर तक इसका सीमा करती है और उसी में अपना प्रवाह मिला देती है । यह सगम दो धाराओ मे होता है, जो ईस्टर (डैन्यूब) की पाच धाराओ की तरह पास पास न होकर नील नदी की धाराओ के समान दूर दूर पर है, सिन्धु भी नील नदी द्वारा निर्मित मिश्र के डेल्टा के समान ही एक भारतीय डेल्टा बनाती है जो मिश्र के डेल्टा के आकार मे किसी प्रकार भी छोटा नही कहा जा सकता भारत की भाषा मे इस डेल्टा का नाम पट्टल है ।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु सगम के समीप ही यह पट्टल रहा होगा । सिकन्दर के बेडे के द्वारा पट्टल प्रदेश विजय सभवतः उसकी अतिम विजय थी ।

सिन्धु के उपरान्त उसकी दूसरी सहायक नदी वितस्ता है, जिसको ग्रीक इतिहासकारो ने 'हाइडैस्पस'[३] कहा है । आधुनिक काल मे इसका नाम झेलम है, और प्रसाद ने वितस्ता[४] और झेलम[५] दोनो ही नामो से इसे अभिहित किया है । वितस्ता का इतिहास सिकन्दर के आक्रमण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

वितस्ता

आम्भीक और पुरु के राज्यो की सीमा वितस्ता ही थी । पुरु ने प्राचीन सधियो के विरुद्ध वित्तता के दूसरी ओर एक चौकी बना दी थी ।[६] झेलम के पास ही पौरव ने कुछ सेना प्रतिरोध के लिए रखी थी ।[७] पर रातो रात वितस्ता को पार कर[८] यवन सेना ने पुरु से युद्ध किया था, जिसमे सिकदर को यह अच्छी तरह विदित हो गया था कि भारतीयो के खड्गो में कितनी धार है ।[९] चन्द्रगुप्त ने वितस्ता पार कर ही सिल्यूकस स्कधावार मे आक्रमण किया[१०] था । प्लिनी के अनुमार सिन्धु की उन्नीस सहायक नदियो में से हाइडैस्पस तथा अन्य दो तीन नदियाँ सबसे अधिक प्रसिद्ध है । वितस्ता की चार सहायक नदियो का उल्लेख भी उसने किया है ।[११]

प्लिनी के अनुसार वितस्ता से पूर्व की ओर सिन्धु की दूसरी प्रसिद्ध सहायक नदी चिनाव अथवा चद्रभागा (कैटेब्ना या ऐकीसाइनिस) है ।[१२] चिनाव से पूर्व की ओर सिंधु की तीसरी सहायक नदी रावी है जिसको ग्रीक इतिहासकारो ने हाइडैडस्पस कहा है ।[१३] सिकदर ने रावी के जलमार्ग से ही लौटने का निश्चय किया था ।[१४] रावी के तट पर ही मालवो का स्कधावार था जहाँ सिकदर का मार्ग रोकने के लिए उनकी हिस्त्रकाएँ सतर्क थी ।[१५] रावी तट पर ही विस्तृत शिविरो की रगभूमि में अलका का विवाहोत्सव मनाया गया था ।[१६] मालवो और क्षुद्रको से

रावी

---

(१) चन्द्र० २।१३६

(२) ऐंशिएट इन्डिया—मेगास्थनीज-एरियन (मैक्रिडल) पृ० १८७

(३) ऐंशिएट इडिया—मेगास्थनीज-एरियन मैक्रिडल पृ० १६०

(४) चन्द्र० १।६४ तथा अन्य (५) वही १।१०१ तथा अन्य (६) वही १।६४

(७) चन्द्र० ८।११० (८) वही २।१२० (९) वही २।१२२ (१०) चन्द्र० ४।२३२

(११) ऐंशिएट इन्डिया—मेगास्थनीज (मैक्रिडल) पृ० १४२ (१२) वही पृ० १४३

(१३) वही पृ० १४३ (१४) चन्द्र० २।१२६ (१५) चन्द्र० २।१४३ (१६) वही ३।१५५

मैत्री कर यवन बेडा रावी से ही भारत अभियान का विचार छोड वापस लोट पडा था।[१] रावी तक पहुँचने से पूर्व सिकदर को कठ जाति से भयानक युद्ध करना पडा था[२] जिससे उसकी सेना के सचमुच छक्के छूट गये होगे, और स्वदेश लोटने की भावना को दूसरी आहूति मिली होगी। रावी नदी का वैदिक नाम इरावती था।

सिन्धु की चौथी सहायक शाखा, विपाशा थी। इसका नाम ग्रीक लेखको ने हाइपैसिस लिखा है। वास्तव मे विपाशा के तट पर ही सिकदर के सैनिको ने आगे बढने का स्पष्ट विरोध किया था।[३] विपाशा और शतद्रु के मध्य के भू-भाग मे ही चन्द्रगुप्त ने अवरोध किया[४], फलतः सिकदर ने विपाशा को अपने आक्रमण की सीमा बना लिया।[५] उसके सैनिको ने विपाशा पार के इस सैनिक स्कधावार को प्राच्य दश के सम्राट का शिविर समझकर ही पार नही किया।[६] विपाशा का आधुनिक नाम व्यास है। प्लिनी ने इसको जल यात्रा के योग्य लिखा है।[७] विपाशा का उल्लेख पाणिनि ने भी किया हे।[८]

विपाशा

सिन्धु नदी की सबसे पूर्वी शाखा का नाम शतद्रु था। प्रसाद के अनुसार सिकदर की सेना को विचलित करने के लिए यह प्रचार किया गया था कि शतद्रु के तट पर मगध की लक्षाधिक सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध है।[९] यवन सेना शतद्रु को पार न कर सकी। शतद्रु वह सीमा बन गई थी जिसको पार करते ही मगध का नाश निश्चित माना जाता था।[१०] शतद्रु के तट पर ही नद व राक्षस के विरुद्ध षडयन्त्र की सृष्टि हुई।[११] ग्रीक इतिहासकारो ने इसका नाम हुफैसिस रखा है, कही कही हुपैनिस नाम भी मिलता है।[१२] शतद्रु का आधुनिक नाम सतलज है।

शतद्रु

गगा का उल्लेख मात्र ही इन नाटको में हुआ है। गगा के और शोण के तट पर मगध की राजधानी कुसुमपुर बसी हुई थी।[१३] हिमालय से निकली हुई गगा यमुना की घाटियाँ प्राणियो को अन्नदान देने मे समर्थ थी।[१४] गगा के तट पर ही सम्राट् हर्षवर्द्धन ने प्रयाग में सर्वस्व दान किया था।[१५] प्राचीन ग्रथो मे गगा का सर्वत्र उल्लेख मिलता है।

गंगा

प्रसाद ने शोण का भी उल्लेख मात्र कर दिया है। इसका आधुनिक नाम सोन है।[१]

---

(१) वही ३।१६४ (२) ऐंशिएट इन्डिया—(मैसन तथा) अन्य पृ० १३
(३ वही—(मैंसन) पृ० ३२ (४) चन्द्र० २।१२६(५) वही २।५४६
(६) वही २।१४७ (७) ऐशिएट इन्डिया—मेगास्थनीज-, मैक्क्रिडल पृ० १४३
(८) इन्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० ४४
(९) चद्र २।१२८ (१०) ,, ३।१५३ (११) ,, ३।१८०
(१२) ,, ऐशिएट इडिया—मेगास्थनीज (मैक्क्रिडल) पृ० ६३
(१३) ,, ४।१६३ (१४) स्कद ४।११८ (१५) राज्यश्री ४।६६

जहाँ यह गगा से मिलती थी वही प्राचीन पाटलिपुत्र या कुसुमपुर बसा हुआ था। गगा को भारतवर्ष की सबसे बडी नदी लिखकर एरियन, एरैनेबोरन

शोण

अथवा शोण को भारत की तीसरी बडी नदी लिखता है। उसके अनुसार अन्य देशो की सबसे बडी नदियो से यह बडी है, परतु जहाँ यह गगा से सगम करती है वहा उससे छोटी है।[1] शोण विन्ध्य पर्वत श्रेणियो से निकलती है। इसका प्राचीन नाम हिरण्यवाहा था जो पूर्वकाल में आधुनिक पटना के पास ही गगा से सगम करती थी।[2]

गुप्तकाल में वक्षु के तट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फहराई थी और गरुडध्वज वक्षु के रेतीले मैदान मे अपनी स्वर्ण प्रभा का विस्तार करता था।[3] यह स्थिति कुमारगुप्त के शासनकाल तक रही। स्कदगुप्त के शासन म सभवत

वंक्षु

यह समस्त प्रदेश हूणो ने पादाक्रान्त कर दिया था, और स्कदगुप्त ने पुनः वक्षु के तट तक उनकी पहली और दूसरी बाढ को रोककर खदेड दिया था।[4] वक्षु का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है जहाँ इसको "अक्षा" कहा है।[5] कालिदास ने रघुवश के चतुर्थ सर्ग मे रघु की दिग्विजय के सम्बध मे इसका उल्लेख किया है।[6]

वास्तव मे गुप्तकाल के इतिहासकारो को इतिहास के लिए कालिदास से यह सहायता मिली है। हूणो ने ४५० ई के आसपास वक्षु की घाटी में एक शक्तिशाली साम्राज्य बना लिया था। ई० ४५५ के आस पास जब स्कदगुप्त ने उनको प्रथम बार हराया तो भी वे "वक्षु" की घाटी में अजेय योद्धाओ के नाम से प्रसिद्ध थे।[7] वक्षु से प्रसाद का अभिप्राय भी ग्रीको द्वारा अभिहित औक्सस अथवा आधुनिक काल की आमू दरिया से है। भगवत शरण उपाध्याय औक्सस नदी को सबसे बडी शाखा अरबो की वक्शाव को ही कालिदास मे वर्णित वक्षु मानते ह।[8]

सरयू का उल्लेख बहुत कम हुआ है। सरयू के तट पर विकटघोष देवी की उपासना करता है और चीनी यात्री ह्वनच्वाग पर उसके सहयोगी डाकू आक्रमण करते हैं।[9] ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल मे जितने भी यज्ञ हुए वे गगा, यमुना,

सरयू

सरयू के तट पर हुए। समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ किया था। जिसकी प्रशस्ति प्रयाग मे गगा-यमुना के सगम पर चन्द्रगुप्त ने लिखवाई। गुप्तो की एक राजधानी सरयू तट पर स्थित अयोध्या थी। फलतः सरयू के तट पर यज्ञ

---

(१) वही—(मैक्डिल) पृ० ६३

(२) जनल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल १४।१३६ हर्षचरित सार पृ०

(३) स्कद. ३।६२ (४) प्राचीन भारत के आलोक स्तभ (भगवत शरण)—स्कदगुप्त विक्रमादित्य (५) ऋग्वेद १०।२७।१७ (६) रघुवश ४।६७

(७) सस्कृत ड्रामा (कीथ) डेट आफ कालिदास

(८) इ डिया इन कालिदास पृ. २२

(९) राज्यश्री ३।५६

प्रसाद ने स्कदगुप्त के समय के आर्य साम्राज्य की सीमा का दिग्दर्शन करने के उद्देश्य से सिन्धु के साथ लौहित्य का भी उल्लेख किया है।[1] मैंहरोली के लोह स्तभ लेख मे चन्द्र लौहित्य से लेकर वैंक्ट्रिया तक के प्रदेश को विजय करने की

लौहित्य

घोषणा करता है।[2] कदाचित् उक्त लेख के आधार पर ही प्रसाद ने स्कद के राज्य काल से लौहित्य को भी आर्य साम्राज्य की पूर्वी सीमा स्वीकार कर लिया है। लौहित्य ब्रह्मपुत्र नदी है, जो कालिदास के अनुसार प्राग्ज्योतिप राज्य की पश्चिमी सीमा थी।[3]

चद्रगुप्त ने शिप्रा के तट पर ही शको को मार भगाया होगा क्योकि आर्य पर्णदत्त की वीरता की लेखमाला शिप्रा की लोल-लहरियो से लिखी जाती

शिप्रा।

है।[4] प्रसाद के नाटको के आधार पर शिप्रा मालव की नदी है।[5] इसके तट पर महाकाल का प्रसिद्ध मदिर बसा हुआ है। जो कभी तान्त्रिको और योगाचारियो का भी केन्द्र रहा था।[6] सायकाल का दृश्य देखने के लिए शिप्रा तट पर लोग आया करते थे।[7] आज भी शिप्रा मालवो में बहती है, और इस ऐतिहासिक नाम से अभिहित की जाती है। कालिदास के अनुसार शिप्रा के तट पर ही उज्जयिनी वसी हुई थी। पर महाकाल का मदिर शिप्रा के तट पर नही किन्तु उसकी शाखा गधवती के तट पर बसा हुआ था। कालिदास ने शिप्रा की एक और सहायक नदी गम्भीरा का भी उल्लेख किया है।[8]

प्रसाद ने रेवा को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की विभाजक रेखा मान लिया है।[9] कुमार हर्षवर्द्धन और पुलकेशिव चालुक्य का युद्ध रेवा तट पर ही

रेवा।

हुआ है।[10] और अ त में हर्ष ने रेवा को ही अपने साम्राज्य की दक्षिणी सीमा मान लिया है।[11] कालिदास ने इसका नाम नर्मदा, गौतमी और मदाकिनी भी लिखा है।[12] रेवा आधुनिक नमदा ही है और यह अमरकटक पवत से निकलकर व खम्भात की खाडी में समुद्र से जा मिलती है।

इन नदियो के अतिरिक्त केवल एक स्थल पर "सरस्वती से शोणित जल" का उल्लेख केवल उपमान रूप में हुआ है।[13] भारत की अन्य नदियो के सम्बन्ध में नाटको से कुछ भी ज्ञात नही होता है।

---

(१) स्कद ३।६६ (२) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ २५४ ५५ (चतुर्थ सस्करण)
(३) इ डिया इन कालिदास पृ १६।४) स्कद १।६ (५) स्कद २।५० (६) स्कद ३।८४
(७) स्कद ३।८५ (८) इ डिया इन कालिदास पृ. १६ (६) राज्यश्री ३।५७-५८
(१०) वही ३।५८ (११) वही ३।५८ (१४) इ डिया इन कालिदास पृ.१६ (१३) स्कद ५।१४१

विभिन्न राज्य और उनकी सीमाएँ

बुद्ध काल मे वत्स-राष्ट्र की सीमा क्या थी, उसका भूगोल कैसा था और कौशाम्बी के चारो ओर वह कितनी दूर तक फैला हुआ था, इस विषय में इतिहास चुप ही है। प्रसाद ने भी अजातशत्रु की भूमिका मे 'कथा-प्रसग' के अन्तर्गत केवल इतना लिखकर सन्तोष कर लिया कि, "वत्स राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका खडहर जिला बादा (करवी सब डिवीजन) मे यमुना के किनारे "कोभस" नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था।[1]" अन्यत्र उन्होने बौद्धो के प्राचीन ग्रथो के अनुसार वह्व राष्ट्रो का उल्लेख किया है,[2] जिनमें "वत्स" का भी नाम है। भूमिका मे इतनी सूचना देने के उपरात समस्त नाटक में कही भी "वत्स" का उल्लेख नही है। उदयन के लिए भी वत्सराज के स्थान पर कौशाम्बी-नरेश[3] का प्रयोग किया गया है। जातक कथाओ में उदयन को वशराज[4] तथा वत्सराज[5] दोनो कहा है। कथासरित्सागर मे उदयन के वर्णन मे "वत्स" का उल्लेख इस प्रकार है, "एक देश वत्स के नाम से विख्यात है जिसकी राजधानी कौशाम्बी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता ने स्वर्ग के घमण्ड को चूर चर करने के लिए उसका विरोधी खडा कर दिया हो।[6]"

वत्स राष्ट्र

श्री शाह वत्स राज्य की स्थिति कोशल के दक्षिण और काशी के पश्चिम मे मानते हैं। कोशल, मगध, काशी और वत्सराष्ट्र परस्पर एक दूसरे के अत्यन्त निकट थे और वैवाहिक सबधो मे भी आबद्ध थे। इसी कारण सभवत. प्रसाद ने इन राज्यो की घटनाओ का उलझना स्वीकार किया है। काशी का प्रश्न उठने ही जीवन का यह वाक्य—"तो सुदत्त कोशल जा चुके हैं और कौशाम्बी मे भी यह समाचार पहुंचाना आवश्यक है,"[7] इस कथन को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। प्रसाद ने स्वय ही कालिदास का एक उद्धरण देकर वत्स सज्ञा की पुष्टि की है—"प्रद्योतस्य प्रिय दुहितर वत्सराजोऽत्र जह्रे।"[8] वत्स का नाटक मे कही उल्लेख न होने से वत्स राज्य से सबधित अन्य विशेषताएँ कौशाम्बी के साथ जोडना ही निर्देशित करनी उचित है।

प्रसाद के सभी नाटको में मगध राष्ट्र अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। "अजातशत्रु" की घटनाओ का तो वह केन्द्र ही है "चद्रगुप्त" नाटक की आधिकारिक कथावस्तु भी मगध

---

(१) अजात०—कथा प्रसग ६ (२) ,, ,, ८
(३) ,, १।५६ (४) जातक ४।२३६ (५) ,, ४।३७५
(६) ,, आस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पापशातये, स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इवक्षितो। कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी—लक्ष्मीविलास वसतिर्भूतलस्येव कर्णिका।" —कथासरित्सागर–कथामुख लम्बक–प्रथम तरग। ४,५
(७) अजात० १।३६ (८) अजात० कथाप्रसग पृ० ११

से ही सम्बद्ध है। गुप्त काल मे भी मगध का महत्व कम नही हुआ था। "राज्यश्री" का मगध के प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नही है किन्तु नाटक की घटनाओ मे सघर्ष की सृष्टि करने वाले नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त मगध के गुप्त-कुल के ही हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-युग में महाराज बिम्बसार और अजातशत्रु दोनो के शासनकाल मे मगध एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य बन गया था। प्रसाद ने मगध से तीन प्रमुख राज्यो के वैवाहिक सबधो का उल्लेख किया है। मगध की महारानी वासवी की पुत्री पद्मावती का सबध कौशाम्बी से है,[2] वह उदयन की रानी है।[3] मगध की राजमाता छलना की धमनियो में लिच्छवि-रक्त बडी शीघ्रता से दौडता है। इस प्रकार मगध का सबध वैशाली के लिच्छवि राज्य मे भी है। मगध की महारानी वासवी कोशल के महाराज प्रसेनजित की बहिन है।[4] सभवतः बिम्बसार के शासन काल मे ही मगध ने अपनी अच्छा प्रतिष्ठा बना ली थी। काशी का राज्य मगध का एक अ ग हो गया था, क्योकि कोशल ने उसे वासवी को दहेज मे दे दिया था।[5] मगध की राजधानी इस समय राजगृह थी।

"अजातशत्रु" में मगध।

इतिहास के अनुसार मगध को राजकीय शक्ति का प्रतिष्ठाता बिम्बसार ही था और नवीन राजगृह की स्थापना उसने ही की थी। उसने अ ग को विजय किया एव समीपवर्ती राष्ट्रो से विवाह-सबध किये, जिनमे कोशल और वैशाली मुख्य थे।[6] "अजातशत्रु" की भूमिका के अनुसार अजातशत्रु उत्तरी भारत में इतिहासकाल का प्रथम सम्राट् था क्योकि इसने अ ग और वैशाली पर विजय पाकर साम्राज्य का विस्तार किया था और अन्य राज्यो से मैत्री सबध स्थापित किया था।[7] परन्तु इतिहास के अनुसार अ ग विजय और समीपवर्ती राष्ट्रो से मैत्री सबध स्थापित कर मगध राज्य की प्रतिष्ठा बिम्बसार ने की थी और नवीन राजगृह का निर्माण भी उसी ने किया, नाटक में भी अजातशत्रु को मगध साम्राज्य का विस्तार करते हुए कही नही दिखाया गया है। काशी को लेकर मगध और कोशल के बीच जिन दो युद्धो का उल्लेख किया गया है वे भी घरेलू झगडो के ही रूप में सामने आते है—साम्राज्य विस्तार के निमित्त किए गए युद्धो के रूप मे नही।

छलना अजातशत्रु को "भरतखण्ड" का सम्राट् देखना और वीरप्रसू होकर उससे चरण वन्दना कराना चाहती है। उसकी यह इच्छा भी "अजातशत्रु उत्तरी भारत का सम्राट् था" प्रसाद की इस मान्यता की पुष्टि करती है। किन्तु इतिहास इस बात को स्वीकार नही करता। बौद्ध इतिहास के अनुसार स्वय अजातशत्रु के उत्तरभारत के एक प्रमुख राज्य कोशल से दो बार युद्ध किया था, पर उसे अपने साम्राज्य मे नही मिला सका।[8] कोशल राज्य अजातशत्रु के बहुत पीछे ई० पू० चौथी शताब्दी में मगध साम्राज्य में मिल सका था।[9] इसके अतिरिक्त स्वय प्रसाद ने अजातशत्रु के समकालीन कोशल और कौशाम्बी के

(१) राज्यश्री १।२५ (२) ,, ३।५१ (३) अजात० १।२५ (४) ,, १।४३ (५) ,, १।२६
(६) अजात० १।३७ (७) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ० ३३
(८) कथा-प्रसग—अजात० पृ० २० (९) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज पृ० ३१,३२
(१०) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ० ३७

स्वतंत्र राज्यो का उल्लेख किया है। बौद्ध इतिहास मे जिस समकालीन १६ महाजनपदो की चर्चा हुई है मगध भी उन्ही में से एक था।

चान्द अजातशत्रु को उत्तरभारत का प्रथम सम्राट् माने या न माने, इसमें सदेह नही उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रयत्न अवश्य किये थे। गगा के उत्तर से लेकर हिमालय तक फैले हुए वृज्जियो और लिच्छवियो के प्रदेश उसी ने मगध साम्राज्य मे मिलाये थे। वषकार की सहायता से उसने वैशाली पर अधिकार किया था। एक ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि अवती के चद्रप्रद्योत ने मगध पर चढाई करने की तैयारी की, परन्तु वास्तव में यह युद्ध हुआ था या नही इसकी कोई सूचना नही मिलती।[१] यद्यपि प्रसाद ने मगध साम्राज्य की सीमा और उसके भूगोल का स्पष्ट सकेत "अजातशत्रु" में नही किया है, तथापि छलना का उक्त गर्वमय कथन[२] यह स्पष्ट सूचित करता है कि मगध का राज्य अजातशत्रु के शासन-काल से अन्य सब राज्यो से शक्तिशाली और वृहत् था। अजात स्वय मगध राष्ट्र को शक्तिशाली बनाता है और उसकी उन्नति के लिए सतर्क है।[३] देवदत्त के कथन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि मगध साम्राज्य मे काशी के समान अन्य प्रदेश भी है, जो काशी की तरह ही सुरम्य और धनी भी हो सकते हे और सभवतः काशी के स्वतंत्र होने पर स्वय भी स्वतंत्र होने की चेष्टा कर सकते हैं।[४] उदयन जैसा शासक भी अनायास ही मगध की महत्ता को स्वीकार करता हुआ दिखाई देता है। पदमावती से उसका यह कथन "मगध की महत्ता का साक्षी है" तू मगध की राजकुमारी है। प्रभुत्व का विष जो तेरे रक्त मे घुसा है, वह कितनी ही हत्याएँ कर सकता हे।

"चन्द्रगुप्त" मे मगध साम्राज्य

"चद्रगुप्त" नाटक से मगध साम्राज्य की दो विभिन्न सीमाएँ निर्धारित की जा सकती है। एक तो वह सीमा जो नद के शासन काल में रही और दूसरी वह जो चद्रगुप्त की विजयो के उपरात बन गई। पर दोनो कालो मे उसकी राजधानी पाटलीपुत्र अथवा कुसुमपुर मे रही। पाटलीपुत्र नगर बुद्ध-कालीन मगध साम्राज्य के शासक अजातशत्रु ने बसाया था इसका समर्थन "चद्रगुप्त" की भूमिका मे स्वय प्रसाद ने किया हे।[५] परतु इतना तो निश्चय है कि चद्रगुप्त तक आते आते राजधानी पाटलीपुत्र अथवा कुसुमपुर बन गई थी। प्रसाद ने "विष्णुपुराण" से जो उद्धरण दिये हैं उनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि शिशुनाग वश के शासकों के उपरात मगध नदो के शासन में आ गया था।[६] नदो से उसे चद्रगुप्त ने ले लिया।

अपनी भूमिका मे प्रसाद ने कही भी नद शक्ति के अधीन मगध साम्राज्य के विस्तार का विवेचन नही किया, परतु घननद के खजाने[७] के उपाख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि मगध साम्राज्य धनी था। "उस समय क्षत्रिय राजकुल नदो की प्रधान शक्ति से आक्रात थे[८] "नदो की विशाल वाहिनी"[९] तथा "मगध राज्य का प्रचड प्रताप"[१०]

---

(१) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज—अजातशत्रु पृ० ३१–३२ (२) अजात० २।१०७
(३) अजात० २।६५ (४) अजात० २।६६ (५) चद्र० (भूमिका) पृ० ४२ फुटनोट
(६) चद्र० (भूमिका) पृ० ४३ (७) वही (वही) पृ० १३
(८) वही (वही) पृ० २५ (९) वही वही) पृ० २६ (१०) वही (वही) पृ० २६

जैसे वाक्य यह स्पष्टतया सूचित करते है कि उस समय मगध साम्राज्य ग्रत्यत विस्तृत एव प्रतापशाली रहा होगा।

समस्त नाटक में नदकालीन मगध का उल्लेख कई स्थानो पर हुग्रा है। परतु उसकी भौगोलिक सीमाग्रो का उसमें किंचिन्मात्र भी उल्लेख नही है। "महापद्म का जारज पुत्र नद—महापद्म का हत्याकारी नद" मगध का सम्राट् है,[1] इस धारणा को प्रसाद ने अपनी भूमिका मे प्लूटार्क[2] तथा डायडोरस सिल्यूकस[3] से उद्धरण देकर स्पष्ट कर दिया है। प्रसाद ने मगध को राष्ट्र कहा है।[4] "मगध का शासन प्रचड है"[5] मगध शस्त्रबल तथा कूटनीति से चल रहा है और वह साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है",[6] इन कथनो से ऐसा प्रतीत होता है कि नद के काल मे मगध का एक विशाल साम्राज्य रहा होगा और अ तिम नद ने भी अपने साम्राज्य की वृद्धि की होगी पचनद नरेश मगध को "प्राच्य देश" कहते ह और मगध के रहने वालो को प्राच्य मनुष्य। मेगास्थनीज का उद्धरण देते हुए प्रसाद लिखते है, "उस समय गगा के तट पर दो विस्तृत राज्य थे, एक प्राच्य (प्रासी) और दूसरा गगरिडीज। प्राच्य राज्य मे अवती, कोशल, मगध, वाराणसी, बिहार आदि देश थे और गगरिडीज गगा का समुद्र तटवर्ती भाग था। वह बगाल था। गगरिडीज गौड देश का ही दूसरा नाम था। गौड राज्य का राजा नद के आधीन था। अवती में भी एक मध्य प्रदेश की राजधानी थी, वह भी नदाधीन थी। इन देशो को नद काल में मगध साम्राज्य के अन्तगत मान लेने के लिए प्रसाद के सम्मुख दो अलग अलग प्रमाण हैं—प्लूटार्क लिखता है—"फौर दे वैर टोल्ड दि किंग आफ दि गैन्डेरीटस ऐण्ड प्रोसियन्स इक्सप्रैक्टेड दैम देयर विद एटी थाउजैंड हौर्सेज, टू हडेड थाउजैंड फुट, एट थाउजैंड आर्म्ड चैरियट्स ऐंड सिक्स थाउजैंड फाइटिंग।"[7] प्रसाद ने प्लूटार्क की पुस्तक "लाइम्ज" का गहरा अध्ययन किया था,[8] फलत. गगरिडीज और प्राच्य की सयुक्त सेना के उल्लेख से उनके लिए यह निष्कर्ष निकालना सरल था कि गगरिडीज प्राच्य राज्य के आधीन राजा गगरिडीज का होगा। स्मिथ के अनुसार चद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय मगध एक विस्तृत साम्राज्य था जिसके अन्तगत कोशल, तिरहुत (उत्तरी विहार,) वाराणसी, ब ग तथा मगध (दक्षिणी) सम्मलित थे।[9] सभव है अवती तथा उसके दक्षिण में भी नदो का अधिकार रहा हो, क्योकि स्मिथ १२ वी शताब्दी के एक लेख में एक जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार मगध साम्राज्य के कुन्तल का प्रान्त मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। इस कुन्तल प्रात मे दक्षिण भारत का पश्चिमी भाग तथा मैसूर का उत्तरी भाग सम्मलित है।[10] पचनद नरेश द्वारा नद की पुत्री के विवाह सबध को अस्वीकार किये जाने पर राक्षस कहता है कि शक्तिशाली मगध राष्ट्र का अपमान करके कोई यो ही नही बच जायगा,[11]

---

(१) चद्र० १।६६ (२) चद्र० (भूमिका) पृ० १२ (३) वही (वही) पृ०१२ फु०नो
(४) चद्र० १।६८ (५) वही १।७३ (६) वही १।७४
(७) "लाइम्ज" (प्लूटार्क) पृ० ५१८ (८) देखिए "रातदित" (विनोदशकर व्यास)
(९) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ० ४५
(१०) वही पृ० १५८ (११) चद्र० १।७६

पचनद पर अधिकार करते ही यवन सैनिक चद्रगुप्त को मगध का ईन्द्रजाली समझ कर उसे वहाँ की सेना का हाल पूँछते हैं।[१] अन्यत्र चद्रगुप्त मगध के एक सैनिक से कहता है कि "स्मरण रखना विपाशा पार करने पर मगध का साम्राज्य ध्वस करना यवनो के लिए बडा साधारण काम हो जायगा।[२]" यद्यपि इन कथनो से प्रसाद का स्पष्ट अभिप्राय क्या है, यह नही कहा जा सकता तथापि ध्वनि यही निकलती है कि पचनद के पूर्व की ओर जितना भी विशाल प्रदेश फैला हुआ है, उसमें सबसे शक्तिशाली साम्राज्य मगध का ही है। अत सम्भव है पचनद के बाद ही मगध की सीमा प्रारम्भ हो जाती हो। चाणक्य राक्षस से कहता है, तो "क्षुद्रको से कह दूँ कि तुम लोग बाधा न दो, और यवनो से भी यह कह लिया जाय कि वास्तव में यह स्कधावार प्राच्य देश के सम्राट का नही है, जिससे भयभीत होकर तुम पार होना नही चाहते, यह तो क्षुद्रको की क्षुद्र सेना है, जो तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड देने को प्रस्तुत है",[३] उक्त कथन इस बात की पुष्टि करता है कि यदि सिकन्दर मालव और क्षुद्रको पर विजय पाकर विपाशा पार करके गगा यमुना के प्रदेश की ओर बढता तो निश्चय ही मगध की साम्राज्य-सेना को उससे लोहा लेना पडता। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि पचनद के उपरात ही मगध साम्राज्य का सरक्षण पचनद से प्रारम्भ हो जाता था। राक्षस भी इस बात को स्वीकार करता है कि, "यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते तो मगध का नाश निश्चित था।"[४] चर राक्षस से कहता है कि प्रात दुर्ग पर अधिकार करके विद्रोह करने के अपराध मे आपको बदी बनाकर ले आने वाले को पुरस्कार की घोषणा की गई है।"[५] इससे यह भी प्रतीत होता है कि प्रसाद उस प्रात दुर्ग को पचनद की सीमा पर ही मानते हैं। मगध का मत्री राक्षस चाणक्य को तक्षशिला में मगध का गुप्त-प्रणिधि बना कर भेजना चाहता है।[६] सिकन्दर के आक्रमण से उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियाँ ही इसका कारण हो सकती हैं। सम्भव है चाणक्य के अस्वीकार करने पर मगध-गुल्म के साथ राक्षस स्वय भी वहाँ गया हो। अतः जिस प्रात दुर्ग पर अधिकार करने का आरोप राक्षस पर लगाया है उसे सीमा के पास ही कही होना चाहिए। भूमिका में प्रसाद ने नदकालीन मगध को जो भौगोलिक चित्र दिया है वह चद्रगुप्त नाटक मे स्पष्ट नही होता। इससे केवल इतना ही आभास होता है कि नद के समय का मगध भी एक विस्तृत साम्राज्य रहा होगा।

चद्रगुप्त मौर्य के समय का मगध साम्राज्य।

मगध के प्राचीन इतिहास की ओर कुछ सकेत प्रसाद ने "चद्रगुप्त" नाटक में किए है। यह तो मगध का पुराना इतिहास है जरासंघ का यह अखाडा है। यहाँ एकाधिपत्य की पटुता सदैव से अभ्यस्त है।"[७] "प्राचीन काल से मगध साम्राज्य रहा है।[८] इस तरह की भावना जनता में जागृत करके ही चन्द्रगुप्त को मगध का एकच्छत्र शासक बनाया गया। नन्दकाल में मगध साम्राज्य पर नागदत्त भी व्यंग करता है—"लिच्छवि और वृजिगण तत्र को कुचलने

(१) चद्र० २।११८ (२) चद्र० २।२६
(३) चद्र० २।१४७ (४) चद्र० ३।१५३ (५) चद्र० ३।१५३
(६) वही १।८८ (७) वही १।८५ (८) वही ३।१६१

वाला मगध।''[1] उक्त घटना अजातशत्रु के शासन काल की है,[2] यह इस बात की सूचना देती है कि मगध ने प्राचीनकाल से ही साम्राज्य का विस्तार किया। फिलिप्स को परास्त कर देने[3] पर सिकन्दर की क्षत्रपी का एक बहुत बड़ा भाग उसके अधिकार मे आ गया होगा। पर्वतेश्वर की हत्या[4] के परिणामस्वरूप पचनद का शासन सूत्र भी चन्द्रगुप्त के हाथ मे आ गया था। दक्षिणापथ को भी चन्द्रगुप्त ने विजय किया था। चाणक्य के निषेध करने पर यद्यपि उसने सुदूर दक्षिण प्रदेश पर विजय प्राप्त करने का विचार छोड दिया तथापि सीमात राष्ट्रो ने उसकी मित्रता स्वीकार कर ली थी।[5] प्रसाद ने सिल्यूकस युद्ध से पूर्व के मौर्य-कालीन मगध साम्राज्य की सीमा का उल्लेख चाणक्य के मुँह से इस प्रकार कहलवाया हे–'तुम जानते हो कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्णगिरी से पचनद तक, सौराष्ट्र से बग तक एक महान साम्राज्य स्थापित किया है उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतत्र मालव, क्षुद्रक और यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व मे इस साम्राज्य के अग है।''[6] इसके अतिरिक्त प्रसाद के अनुसार चाणक्य ने गान्धार और पचनद को सयुक्त कर अलका और सिंहरण के आधीन[7] कर दिया, और अलका के मुख से ही उस प्रदेश को चन्द्रगुप्त द्वारा सगठित आर्य साम्राज्य का एक अग बना दिया।[8]

उपर्युक्त उद्धरण सिल्यूकस विजय से पूर्व के मगध-साम्राज्य की सीमा इस प्रकार सूचित करते हैं—अजातशत्रु के समय से ही (लिच्छवियो के उपरान्त मगध साम्राज्य की उत्तरी सीमा "हिमालय" बन गई थी।[9] दक्षिणापथ की विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने स्वर्णगिरि की दक्षिणी सीमा बना लिया। चाणक्य के कथनानुसार पूर्वी सीमा बग थी और अलका के शब्दो से मगध की पश्चिमी सीमा गान्धार स्पष्ट है। गान्धार से प्रसाद का अभिप्राय पूर्वी गान्धार से है क्योकि तक्षशिला पूर्वी गान्धार की ही राजधानी थी।[10]

अशोक के शिलालेख सिद्ध करते हैं कि उसके राज्य काल मे तामिल राज्य उत्तरी साम्राज्य के स्वतत्र पडौसी थे, उसके अन्तर्गत ही स्वर्णगिरि मगध साम्राज्य के दक्षिणी-भाग के राज्यपाल की राजधानी थी।[11] इतिहासकार स्वय किसी प्रत्यक्ष निश्चय पर नही पहुँच सके है कि यह दक्षिण-विजय का कार्य किसने किया।[12] फलतः प्रसाद ने निस्सकोच स्वर्णगिरि को इस काल के मगध साम्राज्य की दक्षिणी सीमा मान लिया है। पूर्वी सीमा मे बग प्रदेश नन्दकालीन मगध का ही अग था।[13] पश्चिमी सीमा के लिए जस्टिन का उद्धरण

---

(१) चद्र० १।१३८
(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ० ३७
(३) चद्र० ३।१८२
(४) चद्र० ४।१९५
(५) चद्र० ४।२०३
(६) चद्र० ४।२१६
(७) चद्र० ४।२१९
(८) चद्र० ४।२२०
(९) देखिये मगध साम्राज्य—अजातशत्रु के समय में–पृ०
(१०) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (वा० श० अग्रवाल) पृ० ४९
(११) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५७
(१२) वही पृ० १५७
(१३) देखिये इसी परिच्छेद मे नन्दकालीन मगध।

देते हुए नीलकठ शास्त्री लिखते हैं–"देयरआफटर ही प्रिपेर्ड टु अटैक अलैकजैंडर्स प्रीफैक्ट्स, द लैटर वैर पुट टु डैथ ऐड दि योक आफ सांवड्यूक बज शेकन ओफ फ्रोम द नैक आफ इण्डिया आफटर अलैक्जेंडस डैथ (देट इज आफटर ३२३ बी० सी०)।"[1] नाटकीय कथोपकथन मे ठीक यही बात प्रसाद ने कही है।

नाटक के अनुसार सिल्यूकस से की गई सधि की शर्त सूचित करती हैं कि मगध की पश्चिमी सीमा निषद पवत बन गई थी।[2] अब सिन्धु से लेकर निषद पर्वतमाला तक हिरात का सम्पूर्ण प्रदेश मगध साम्राज्य का एक भाग बन गया।

सिल्यूकस से लिया हुआ मगध साम्राज्य का भाग।

स्कदगुप्त में भी प्रसाद ने इसका उल्लेख किया है कि "मौर्य साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने लिया था।[3]" इतिहासकारो के अनुसार चन्द्रगुप्त को सिल्यूकस से 'पैरोपेनिषद, अरिया तथा ऐरैकोसिया की क्षत्रपी का अधिकार मिला था जिसकी राजधानियाँ क्रमशः काबुल, हिरात और कांधार थी। गैड्रोसिया की क्षत्रपी अथवा कम से कम उसका पूर्वी भाग भी सभवतः उसके हिस्से मे आ गया था।[4] उक्त विवरण प्रसाद से मेल खाता है।

कुमारगुप्त के शासनकाल में ही सभवत. मगध की राजधानी का महत्व कुसुमपुर और अयोध्या दोनो मे बट गया था। स्मिथ लिखते है कि "साधारणतया पाटलीपुत्र ही राजधानी थी, परन्तु समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनो के समय में अयोध्या ही अधिकतर साम्राज्य की शासक का केन्द्र बन गई थी।[5] "स्कदगुप्त" की घटनाओ का केन्द्र तो उज्जयनी और पाटलीपुत्र ही है। पर यह सभव है कि प्रसाद गुप्तो का अयोध्या में ही मानते हो। "अयोध्या चलने का आपने कब निश्चय किया है, राज्यसिंहासन कब तक सूना रहेगा ?"[6]

गुप्त कालीन मगध साम्राज्य।

चक्रपालित का यह कथन भी मगध की राजधानी अयोध्या सिद्ध करता है। कुमारगुप्त के समय की मगध साम्राज्य की सीमा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही बन गई थी, क्योंकि कुमारगुप्त के समय मे पुष्यमित्रो के युद्ध के अतिरिक्त अन्य युद्ध नही हुए और उसमे कुमारगुप्त की विजय होने पर भी साम्राज्य की सीमा मे कोई अन्तर नही आया। स्मिथ के अनुसार "दि ईवैंट्स आफ दिस किंग्स रेन आर नौट नोन इन डीटेल, बट दि डिस्ट्रिब्यूशन आफ दि न्यूरस कंटैम्पोरेरी इस्क्रिप्शास ऐड कोइस परमिट्स आफ नो डाउट दैट ड्यूरिंग दि ग्रेटर पार्ट आफ हिज अनयूजुअली प्रोलौग्ड रूल दि एम्पायर सफर्ड नो डिमिन्युशन।"[7] पर्णदत्त की वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियो से लिखी जाती है।[8]

---

(१) जस्टिन ऐज कोटेड इन "दि एज आफ दि नन्दाज ऐड मौर्याज" (नीलकठ शास्त्री)

(२) चन्द्र० ४।२४१ (३) स्कद० १।१६

(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया स्मिथ) पृ १२५

(५) वही पृ. ३१० (६) स्कद २।५२

(७) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ ३१७ (८) स्कद १।६

इससे यह निश्चित है कि क्षिप्रा और सिन्धु दोनो तत्कालीन मगध साम्राज्य के अन्तर्गत रहे होगे। उज्जयिनी साम्राज्य के अन्तर्गत थी, क्योकि वहाँ गुप्त साम्राज्य का स्कधावार था और सम्राट का प्रतिनिधि स्कद स्वय वहाँ उपस्थित था।[1] पश्चिमी मालवा मगध साम्राज्य का आश्रित राज्य था और दशपुर उसकी राजधानी थी।[2] सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के समय मे मगध साम्राज्य मे मिल गया था।[3] परन्तु प्रसाद के अनुसार कुमारगुप्त के काल में सौराष्ट्र में शकराष्ट्र मडल पुन. स्वतन्त्र और शक्तिशाली हो गया था, यहाँ तक कि उन्होने सौराष्ट्र को पदाक्रान्त भी कर दिया था।[4] स्मिथ के उपर्युक्त उद्धरण से प्रसाद के इस मत का खडन हो जाता है। सुदूर दक्षिण में सिंहल मगध का मित्र राष्ट्र था। प्रसाद के अनुसार काश्मीर मडल कुमारगुप्त कालीन मगध साम्राज्य का एक अग ही था पर हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप साम्राज्य से अलग ही रहा था।[5] प्रसाद ने एक ओर कुमारगुप्त कालीन मगध को आर्य-अभ्युत्थान का स्मरणीय युग बताया है[6] साथ ही दूसरी ओर कुमारगुप्त के शासनकाल में ही मगध साम्राज्य की टूटती हुई सीमाओ की ओर भी सकेत किया है। स्कदगुप्त नाटक के अनुसार कुमारगुप्त कालीन मगध की सीमा इस प्रकार ठहरती है—पूर्वी सीमा समुद्रगुप्त के समय से ही लोहित्य थी[7], दक्षिण में मालवा और सौराष्ट्र थे, पश्चिम मे हूणो के आक्रमण से पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही सिन्धु के उस पार निषध पर्वतमाला थी[8] और उत्तर मे काश्मीर थी।[9] इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शको को पराजित कर मालवा, गुजरात एव सौराष्ट्र को अपने साम्राज्य मे मिला लिये थे[10] समतट-प्रवाक और कामरूप पूर्वी सीमा के अन्तर्गत मगध के करद राज्य थे।[11] मेहरौली लौह-स्तभ के अनुसार चद्रगुप्त ने वाल्हीक तक के प्रदेश पर अपनी वीरता का सिक्का जमा दिया था। अत. कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त के समय की साम्राज्य की सीमाएँ वही थी जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयो के फलस्वरूप बन गई थी। स्कदगुप्त के काल में मगध साम्राज्य की सीमा बढती घटती गई और प्रसाद के अनुसार उज्जयिनी गुप्त साम्राज्य की राजधानी बनी।[12] किन्तु राय चौधरी के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल मे ही उज्जयनी गुप्त साम्राज्य की राजधानी बन गई थी— "दि ओरिजनल गुप्ता मैट्रोपोलिस सीम्स टु हैव बीन ऐट पाटलीपुत्र बट आफ्टर हिज वैस्टर्न कानवैस्ट चन्द्र मेड उज्जयनी ए सैकन्ड कैपिटल।"[13]

---

(१) वही १।६ (२) वही १।१३

(३) स्कद १।१४ (४) स्कद १।१३ (५) वही १।२२ (६) वही १।२५

(७) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ ३०३ (८) स्कद १।३६ (९) स्कद १।२२

(१०) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ ३११ (११) इलाहाबाद पिलर आफ समुद्रगुप्ता २२ पक्ति, सलैक्ट इस्क्रिप्शस (१२) "यस्यो द्वृर्त्तयतः प्रतीप मुरसा शत्रून्समेत्यागता—

न्वगेष्वाहव वर्त्तिनोऽभिलिखिता खगेन कीर्तिर्भुजे।

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका

यस्याद्याप्यधि वास्यते जलनिधि र्वीर्यानिलैर्दक्षिणः।—सलैक्ट इस्क्रिप्शास न० १४ पृ. २७६

(१३) पौल हिस्ट्री आफ ऐशिएट इडिया (राय चौधरी) पृ० २४६

प्रसाद का स्कदगुप्त नाटक मुख्य रूप से इन दो राजधानियो को ही केन्द्र मानकर चलता है। यद्यपि एक स्थान पर अयोध्या को भी राजधानी के रूप मे स्वीकार किया गया है।

स्कदगुप्त कालीन मगध साम्राज्य की सीमाओ का उल्लेख करते हुए प्रसाद कहते हैं––"लौहित्य से सिन्ध तक हिमालय की कन्दराओ मे भी सामगान होने लगा है।"[1] उक्त कथन से तीन स्पष्ट सीमाए' ज्ञात होती है—पूर्व में लौहित्य, पश्चिम में सिन्धु और उत्तर मे हिमालय पर्वत। "काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तगत हो गया है।"[2] भीमवर्मा के इस कथन से प्रकट होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल में सभवतः काश्मीर मगध साम्राज्य के अन्तर्गत नही रह गया था। पर स्कदगुप्त ने काश्मीर से हूणो को पराजित कर मातृगुप्त को उसका शासक नियत कर दिया था। दक्षिण मे मालवा और सोराष्ट्र उसके साम्राज्य मे थे ही। नाटक की घटनाए यह सिद्ध करती है कि बीच में इन प्रदेशो का अधिकाश भाग हूणो से पादाक्रात हुआ। गाधार की घाटी (कुभा का रण क्षेत्र) मे हूणो से सघर्ष अवश्य हुआ, पर इस युद्ध में स्कदगुप्त की पराजय हुई।[3] अगले युद्ध मे स्कद ने हूणो को पराजित कर सिन्धु के पार खदेड दिया। "इस हूण को छोड दो और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र प्रदेश मे कभी आने का साहस न करे।"[4] स्कद के इस कथन से सिंधु ही स्कदगुप्त की पश्चिमी सीमा प्रतीत होती है।

हर्ष के समय मगध।

"राज्यश्री" में मगध का बहुत कम उल्लेख हुआ है। समस्त नाटक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि मगध का साम्राज्य नतफण मन्त्रमुग्ध सर्प है, और वह सब ओर से अपमानित है।[5] ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि गुप्त-कुल का कोई व्यक्ति परम-भट्टारक की उपाधि धारण किए हुए मगध का शासक है और अपने ही सबधी नरेन्द्रगुप्त शशाक की तेजस्विता से सशक होकर उसने नरेन्द्रगुप्त को मगध के आधीन दूरस्थ गौड प्रदेश में भेज दिया है।[6] इसलिए नरेन्द्रगुप्त कहता है कि गौड और मगध की समस्त शक्ति राज्यवर्द्धन के लिए प्रस्तुत है।[7] भण्डि के कथन से इतना और प्रकट होता है कि "महोदय" के साथ साथ मगध भी "वर्द्धनो" का मित्र है।[8] देवगुप्त कहता है––"देवगुप्त उसी गुप्त–कुल का है, जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था"[9]—इससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि मगध-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर गुप्त-कुल के राजकुमारो ने मगध साम्राज्य के छोटे-छोटे टुकडो पर अपना अधिकार कर लिया, और वहा के अलग-अलग एव स्वतत्र शासक बन बैठे।[10]

"अजातशत्रु" की समस्त घटनाए' मगध के उपरान्त कोशल, कौशाम्बी तथा काशी में घटित होती है। प्रसाद के अनुसार कोशल की राजधानी श्रावस्ती है।[11] "नही तो तू इस कोशल की विश्व-विश्रुत गाथा पर पानी फेर कर अपने पिता के साथ उत्तर

---

(१) स्कद ३।६६ (२) वही ३।८६ (३) स्कद २८१ (४) स्कद ५।१५२
(५) राज्यश्री ३।५७ (६) राज्यश्री ३।५२ (७) राज्यश्री २।३५ (८) वही २।३५ (९)
(१०) अजातशत्रु ३।१०० (११) वही १।५२

कोशल

प्रत्युत्तर न करता, क्या इसी कोशल मे रामचन्द्र और दशरथ के सदृश पुत्र और पिता अपना उदाहरण नही छोड गए है ?"[1] प्रसेनजित के इन उद्गारो द्वारा प्रसाद कोशल के प्राचीन इतिहास की ओर भी दृष्टिपात करते हैं। प्रसाद ने सेनापति बधुल के मुँह मे कोशल राज्य की केवल एक सीमा का उल्लेख करवाया है। "कोशल की विजयिनी पताका वीरो के रक्त में अपने अरुणोदय का तीव्र तेज दौडाती है और शत्रुओ को उसी रक्त में नहाने की सूचना देती है ? राजाधिराज ! हिमालय का सीमाप्रात बबर लिच्छवियो के रक्त से और भी ठडा कर दिया गया है। कोशल के प्रचड नाम से ही शाति स्वय पहरा दे रही है। अब विद्रोह के कारण भी नही है। विदेशी बर्बर शताब्दियो तक उधर देखने का भी साहस न करेंगे।"[2] उपर्युक्त सूचना चार विशेषताओ की ओर सकेत करती है :—

(१) कोशल ने प्रसेनजित के शासनकाल में सैनिक विजय की थी,

(२ कोशल ने लिच्छवियो को परास्त किया था और अपनी सीमा हिमालय की तराइयो तक बढा ली थी,

(३) कोशल को किसी विद्रोह का दमन करना पडा था, और

(४) इस विद्रोह में कुछ विदेशी बर्बर जातिया भी सम्मिलित थी।

सभव है कि प्रसेनजित के शासन-काल तक कोशल एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया हो। "कोशल का राष्ट्र अपने यौवन में पैर रख रहा है"[3], देवदत्तका यह कथन उसकी श्री और शक्ति का द्योतक है।

इतिहास भी कोशल की सीमाओ का स्पष्ट निर्देश नही करता। परन्तु जातको में सीमाप्रात के किसी विद्रोह का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसको दबाने के लिए "बन्धुल मल्ल" को भेजा गया था।[4] परन्तु कोशल ने लिच्छवियो पर विजय पाई थी इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता। यह कार्य वास्तव मे अजातशत्रु ने किया था।[5] वह कौन सी बर्बर विदेशी जाति थी जिसका उल्लेख प्रसाद ने किया है, यह नही कहा जा सकता। सभव है दूर हिमालय की घाटियो में रहने वाली किन्ही बबर जातियो से प्रसाद का अभिप्राय रहा हो।

कोशल के वैवाहिक सबध मगध[6] और शाक्यो से थे।[7] प्रसेनजित के शासन-काल में शाक्यो का राज्य कोशल का करद-राज्य रहा होगा।[8] काशी राज्य पहले से ही कोशल का अग बन चुका था और मगध से विवाह सबध होने पर देवी वासवी को स्त्रीधन के रूप मे दे दिया गया था। इसके लिए मगध और कोशल के बीच दो युद्धो का उल्लेख प्रसाद ने किया है। अन्तिम युद्ध के उपरात तो मगध और कोशल में पुन. एक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गया।[9] पावा के मल्लो को भी कोशल के सेनापति के हाथो हार खानी पडी।[10]

---

(१) वही १।५४ (२) वही १।५२ (३) अजात० २।६५ (४) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज पृ २६६ 'बधुल' (५) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ. ३७ (६) अजात १।५३ ५४ (७) अजात १।५२ (८ धम्मपद कट्ठकथा १।३३६, जातक १।१३३, ४।१४४ (९) अजात ३।१२८ (१०) अजात ३।७४-७५

और सभव है कि कोशल का आतक उन पर भी पड़ा हो। कौशाम्बी से भी कोशल राज्य के मैत्रीपूर्ण सबधो की सूचना रानी के इस वाक्य से मिलती है—"कौशाम्बी का दूत आया है, सभवतः कौशाम्बी और कोशल की सेना मिलकर अजातशत्रु पर आक्रमण करेगी"[१] और वसन्तक का कथन—"प्रसेनजित भी प्रस्तुत है। महाराज से मन्त्रणा ठीक हो गई है"[२], इस बात की पुष्टि करते हैं।

काशी प्रदेश मगध के पश्चिम मे था और काशी के उत्तर पश्चिम की ओर कोशल प्रदेश था। बौद्धो के सोलह महाजनपदो मे इसका दूसरा स्थान है। स्मिथ इसको आधुनिक अवध मानते हैं, उनके अनुसार ई० पू० छटी शताब्दी में कोशल का वही महत्व था जो कालान्तर में मगध का था और वह उत्तरी भारत के प्रधान राज्यो मे से प्रमुख था। इसीलिए कभी कभी इसका उल्लेख मगध विरोधी सत्ता के रूप मे किया जाता है।[३] प्रसाद का कोशल भी ऐसा ही शक्तिशाली राज्य प्रतीत होता है।

काशी का राज्य वासवी देवी को उनके पिता ने दहेज मे दिया था[४], फलतः उसको वे मगध साम्राज्य से बाहर मानती है।[५] काशी प्रान्त मगध को राजस्व देता था और वह उनका प्राप्य था।[६] उस राजस्व का सग्रह एक दण्डनायक करता था।[७]

काशी।

दहेज मे मगध के पास आ जाने पर भी काशी पर कोशल का विशेष प्रभाव है। प्रसेनजित मन्त्री से काशी की प्रजा के नाम इस आशय का पत्र लिखवाता है कि वह राजकर अजात को न देकर वासवी को दे।[८] और काशी की प्रजा दण्डनायक द्वारा समुद्रगुप्त को स्पष्ट शब्दो में कह देती है कि—"हम कोशल की प्रजा है"[९] "राजकर न देंगे"।[१०] ऐसा प्रतीत होता है कि काशी एक "सम्पन्न प्रान्त"[११] रहा होगा क्योकि वह एक "सुरम्य और धनी"[१२] प्रदेश है। मगध का उस पर "बहुत दिनो से अधिकार"[१३] रहा है, और वह "वासवी देवी का रक्षित धन भी है।"[१४] कोशल नरेश का अधिकार काशी पर इसमे भी स्पष्ट होता है कि बन्धुल को वहा का सामन्त बनाकर भेजते है[१५], और उधर अजातशत्रु भी समुद्रगुप्त को गुप्त प्रणिधि बना कर राजस्व प्राप्त करने के लिए भेजते हैं।[१६] इसमे यह स्पष्ट होता है कि मगध भी अपना प्राप्य अधिकार छोडने को तत्पर नही। बन्धुल राजकुमार विरुद्धक को—"काशी का सिंहासन दिलाने" का आश्वासन देता है।[१७] अत काशी एक महत्वपूर्ण राज्य होगा—इसमे सन्देह नही। काशी के लिए मगध और कोशल मे युद्ध हुए और अतिम युद्ध के उपरान्त जब मगध और कोशल पुनः वैवाहिक सबध में बध गये तो काशी का प्रान्त पुनः मगध को मिल गया।[१८] जातको से ज्ञात

---

(१) अजात० २।१०२ (२) अजात २।१०५ (३) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ० ३१
(४) अजात० १।३७ (५) वही १।३७ (६) वही १।३६
(७) वही १।३६ (८) वही १।५३ (९) वही २।६२
(१०) अजात० २।६२ (११) वही २।६६ (१२) वही २।६६
(१३) वही २।६६ (१४) वही २।६६
(१५) अजात० ३ ६६ (१६) अजात० २।६६ (१७) अजात० २।६९
(१८) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज़ -अजातशत्रु पृ० ३१, जातक २।२३७, ४०३, ४।३४२

होता है कि काशी एक महत्वपूर्ण प्रान्त था, क्योकि बनारस या काशी के राजा ब्रह्मदत्त को लेकर कई कथाएँ कही गई है। स्मिथ का विचार है कि प्राचीन ग्रथो मे इनकी प्रसिद्धि का कारण केवल शक्तिशाली पडोसी राष्ट्रो से सबध ही नही वरन् इसलिए भी है कि बुद्धधर्म-प्रवर्तन के इतिहास का यह सबसे पवित्र स्थान है[1] इसी सास्कृतिक महत्ता के कारण सभवतः इसका राजनीतिक महत्व भी बढ गया हो। और इसमें सन्देश नही कि काशी के कारण ही मगध और कोशल के बीच राजनीतिक सघर्ष होते रहे। काशी के इसी महत्व के कारण प्रसाद ने इसे एक सम्पन्न प्रदेश के रूप में चित्रित किया है।

काशी की भौगोलिक स्थिति के बारे मे मौन है।

गान्धार

गान्धार का उल्लेख सर्वप्रथम प्रसाद ने भावी गान्धार नरेश[2] कहकर आम्भीक के लिए किया है। तक्षशिला गान्धार की राजधानी थी। गान्धार नरेश ने पूर्ण रूप से यवनो के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया था।[3] क्योकि पर्वतेश्वर से उनका बद्धमूल वैर था।[4] उद्भाड पर बनने वाले पुल के मानचित्र को बनाने वाले को दड देने के लिए शिल्यूकस गान्धार-राज के पास पहुँचता है।[5] उक्त पुल स्वय आम्भीक की देख-रेख मे बन रहा था। इससे यह स्पष्ट है कि या तो गान्धार की एक सीमा उद्भाड में सिन्धु थी, जहाँ सेतु बन रहा है[6] या वह गान्धार का एक भाग था। पर्वतेश्वर से गान्धार की शत्रुता के दो कारण प्रतीत होते है— एक तो पर्वतेश्वर गान्धार से विवाह सबध करना नही चाहता था और दूसरे वितस्ता के इस पार उसने प्राचीन सधियो के विरुद्ध चौकी बना दी थी।[7] उक्त उद्धरणो से यह तो स्पष्ट ही है कि गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी और गान्धार की पश्चिमी सीमा सिन्धु और पूर्वी सीमा वितस्ता थी। प्रसाद के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त गान्धार और पचनद दोनो मित्र राज्य हो गये थे।[8] प्रसाद ने सेल्यूकस के आक्रमण के समय पहिले तो गान्धार को तटस्थ दिखलाने का प्रयास किया है[9] पर अन्त में गान्धार का शासन सूत्र अलका के हाथ में देकर[10] उसे आर्य साम्राज्य का एक अग बना दिया है।[11] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सिल्यूकस से युद्ध होने के पूर्व ही गान्धार भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक अंग बन गया था। अथवा यह भी सभव है कि आधीनस्थ होने पर चन्द्रगुप्त के दबाव से गान्धार ने सिल्यूकस के विरुद्ध तटस्थता का अभिनय किया हो।[12] कुछ भी हो अन्त मे चन्द्रगुप्त के साम्राज्य ने उत्तरापथ के अन्य राज्यो के समान ही गान्धार को भी मगध साम्राज्य में मिला ही लिया होगा—अलका का कथन इसका साक्षी है।[13] गान्धार का उल्लेख प्रसाद ने स्कदगुप्त में भी किया है। गान्धार की घाटी के रणक्षेत्र है[14] हूणो के विरुद्ध महाबलाधिकृत बन्धु वर्मा ने युद्ध किया था।[15] बन्धुवर्मा के एक कथन से यह भी ज्ञात होता है कि प्रसाद गान्धार की किसी विशेष नदी का

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया पृ० ३१
(२) चन्द्र० १।६० (३) चन्द्र० १।८४ (४) चन्द्र० १।८५ (५) चन्द्र० १।८६
(६) चन्द्र० १।८२ (७) वही १।६४ (८) वही २।१३३ (९) वही ४।२१७
(१०) वही ४।२१९ (११) वही ४।२२० (१२) वही ४।२२८, ४२२६, ४।२३६
(१३) चन्द्र० ४।२२० (१४) स्कद० ३।१०१ (१५) वही ३।१०१

उल्लेख करना चाहते है, जिसका नाम उन्होने नही दिया है । उसी नदी के तट पर हूण युद्ध लडा गया है । वह नदी कुभा से भिन्न है, क्योकि अन्यत्र "कुभा के रण-क्षेत्र" की चर्चा भी हुई है । कुभा के आसपास ही गान्धार की यह घाटी रही होगी जिसके युद्ध का नाटक मे वर्णन हुआ है ।

सत्यकेतु विद्यालकार के अनुसार गान्धार नाम के दो राज्य थे, पूर्वी गान्धार और पश्चिमी गान्धार । पूर्वी गान्धार सिन्ध और झेलम नदियो के बीच मे था, जिसकी राजधानी तक्षशिला सिन्धु के पूर्वी तट पर थी । सिन्ध नदी के पश्चिम मे पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुस्करावती थी ।[1]

स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त नाटक मे गान्धार से प्रसाद का तात्पर्य पूर्वी गान्धार से ही है, पश्चिमी से नही । राय चौधरी के अनुसार पूर्वी गान्धार का शासक ग्रीको का टैक्साइल्स था, जो तक्षशिलाधीश का ग्रीक रूपान्तर माना जा सकता है । उसका पुत्र ओम्फीस (प्रसाद का आम्भीक) था, जो उसकी मृत्यु के उपरान्त गद्दी पर बैठा ।[2] पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्कलावती थी । सिकदर के आक्रमण के समय इसका शासक हस्ति या अश्टक था ।[3] स्कदगुप्त मे जिस गान्धार का उल्लेख हुआ है वह पश्चिमी गान्धार प्रतीत होता है । कुभा के आस-पास का प्रदेश सिन्धु के पश्चिम मे ही होना चाहिए । ऐतिहासिक उपन्यास "करुणा" की भूमिका मे गुलेरी जी लिखते है—"हूण लोग पहली बार ही परास्त होकर नही बैठ गये थे उन्होने उत्तरापथ पर कई बार आक्रमण किये और प्राचीन कपिशा और गान्धार पर अधिकार करके यहाँ अपना नया राज्य कायम किया"[4] उक्त उद्धरण से भी स्कदगुप्त कालीन गान्धार से प्रसाद का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है ।

ग्रीक इतिहासकारो ने गान्धार का प्रयोग छोटे पुरु द्वारा शासित चिनाव और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश के लिए ही किया है, यह प्रदेश प्राचीन महाजनपद गान्धार का सुदूर पूर्वी भाग था । दोनो नाटको मे प्रसाद ने जिन २ गान्धारो का उल्लेख किया है वे प्राचीन महाजनपद गान्धार के पूर्वी पश्चिमी भाग थे । जो ग्रीक आक्रमण के समय दो भिन्न भिन्न भागो मे बट गये और पुष्कलावती तथा तक्षशिला राज्य के नाम से अभिहित किये जाने लगे । गान्धार महाजनपद का नाम बौद्ध-साहित्य मे सूचित षोडश महाजनपदो मे भी आता है । डा० त्रिपाठी इसको आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग मानते हैं और इसका प्रसार पश्चिमी पजाब और काश्मीर तक सभाव्य समझते है ।

"चन्द्रगुप्त" की भूमिका में वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती और विपाशा के विस्तृत

(१) आचार्य चाणक्य—(सत्यकेतु विद्यालकार) पृ० १४ स्थान परिचय
(२) पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐशिएट इन्डिया (रे० चौधरी) पृ० १५०
(३) टैक्सिलस मोफिस औम्फिस—पौलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐशिएट इन्डिया पृ० १५०
(४) करुणा (राखालदास बनर्जी) भूमिका चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

प्रदेश के अर्थ में 'पंजाब'' का प्रयोग करने पर भी[1] नाटक में पंचनद संकुचित अर्थ में ही आया है। सर्वप्रथम पर्वतेश्वर के लिए पंचनद-नरेश का प्रयोग दीख पड़ता है।[3] चाणक्य सिकन्दर के आक्रमण से सचेत करने के लिए पंचनद नरेश से मिलता हुआ मगध जाना चाहता है[4], मगध पंचनद नरेश से विवाह संबंध करना चाहता है[5], इससे यह प्रतीत होता है कि पंचनद एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण राज्य रहा होगा। पंचनद का राज्य पर्वतेश्वर का है।[6] पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए चाणक्य तक्षशिला में मगध का गुप्त प्रणिधि बनकर नहीं जाना चाहता।[7] इससे प्रतीत होता है कि तक्षशिला और पंचनद के बीच पुराना संघर्ष है, और मगध इससे लाभ उठाना चाहता है। पंचनद-नरेश लोक विश्रुत कुल के हैं।[8] वितस्ता पंचनद की एक सीमा है जिसके दूसरी ओर संधि के विरुद्ध पर्वतेश्वर ने एक चौकी बना ली है।[9] पंचनद की सीमा झेलम (वितस्ता) का उल्लेख सिकन्दर भी करता है। पंचनद नरेश से युद्ध करने के लिए यवन सेना ने रातों रात वितस्ता को पार कर[10] पर्वतेश्वर की सेना से संघर्ष किया था और पंचनद से मैत्री हो जाने पर यवन शिविर विपाशा के तट पर लग गया।[11] फलतः विपाशा पंचनद की दूसरी सीमा रही होगी। गान्धार और पंचनद दोनों सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त भी विशाल प्रदेश बने रहे होंगे। सिल्यूकस के आक्रमण के साथ ही गांधार की ही तरह यह पंचनद का प्रदेश भी आर्य साम्राज्य (चन्द्रगुप्त के राज्य) का अंग बन गया। ''गान्धार और पंचनद'' के सम्मिलित भू भाग को चाणक्य ''महाप्रदेश'' कहता है।[12]

पंचनद

चन्द्रगुप्त नाटक में पंचनद से प्रसाद का अभिप्राय पुरु के राज्य से है और इतिहास के अनुसार पुरु के राज्य की सीमा इस प्रकार है—''पंचनद झेलम और चिनाव के बीच का प्रदेश या मोटे रूप से यह आधुनिक काल के झेलम गुजरात और शाहपुर के जिलों का प्रदेश है। कैकेयों का प्राचीन प्रदेश भी इसमें सम्मिलित था। स्टावो के अनुसार यह एक विशाल और उर्वर प्रदेश था जिसमें लगभग ३०० नगर थे''।[13] उक्त सीमा और उसका विवरण प्रसाद से मिलता है। पंचनद और तक्षशिला की शत्रुता का उल्लेख प्रायः सभी ग्रीक इतिहासकारों ने किया है।[14] इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कि मगध ने उसकी सहायता की थी।

'स्कंदगुप्त' में पंचनद का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है। चर मातृगुप्त को सूचना देता है कि पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं।[15] इतिहास में पंचनद पर हूणों के आक्रमण का उल्लेख हुआ है। ४६५ ई पू

---

(१) ''मडेरिस''—(रे० चौधरी)

(२) प्राचीन भारत का इतिहास रमाशंकर त्रिपाठी) बौद्ध धर्म के उदय के शीघ्र पूर्व का भारत

(३) चन्द्रगुप्त (भूमिका) पृ० २८-२९-३० (४ चन्द्र० १।६० (५) वही १।६०

(६) वही १।७६ (७) वही १।७८ (८) वही १।८८—८९

(९) वही १। ४ (१०) वही १।९४ ११) वही २।१२० (१२) चन्द्र० ४।२१९

(१३) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएंट इण्डिया (रे चौधरी) पृ० १२०-२१

(१४) ऐज आफ दि नन्दाज और मौर्याज (के० ए० नीलकान्त शास्त्री) (१५) स्कंद ०४।११८

के आस पास, हूणो का एक नया दल पर दोड आया और उसने गान्धार अथवा उत्तर-पश्चिमी पजाब पर अधिकार कर लिया।[१] राखालदास बनर्जी के अनुसार सद्धर्म की उन्नति के लिए सम्राट् पुरुगुप्त ने वाल्हीक, कपिशा, गान्धार और पचनद हूणराज को देकर उनसे सधि कर ली थी।[२] "राज्यश्री" मे राज्यवर्द्धन पचनद से हूणो को विताडित कर चुकने की बात कहता है।[३] उदितराज को जालन्धर के स्कधावार में छोड आता है[४], इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पचनद हर्ष के आधीन अथवा कम से कम उसके मित्र-राज्यो में से था। कामरूप और बल्भी के शासको की तरह पचनद का शासक उदितराज भी प्रयाग के दान मे भाग लेने आता है।[५] भट्टि के "पचनद-गुल्म" के[६] उल्लेख से जान पडता है कि पचनद की सेना भी राज्यवर्द्धन की आधीनता मे देवगुप्त से युद्ध करने आई थी। यह तभी सभव है जब प्रभाकरवर्द्धन के समय से ही पचनद स्थाण्वीश्वर-राज्य के अधिकार मे हो अथवा कम से कम उसका मित्र हो। पर हर्ष-चरित में पचनद का उल्लेख कही नही है। यहाँ राज्यवर्द्धन हूणो से युद्ध करने के लिए उत्तरापथ की ओर अवश्य जाता है पर पचनद में नही।[७] इतिहास के अनुसार हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा विपाशा थी और जालन्धर उसके राज्य में था।[८]

सौराष्ट्र

सौराष्ट्र का उल्लेख "चन्द्रगुप्त" नाटक मे केवल एक स्थान पर सिल्यूकस विजय से पूर्व चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सूचित करने के लिए हुआ है।[९] ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम दिनो ही सौराष्ट्र के शक अपना सिर उठाने लगे थे[१०] और स्कदगुप्त के राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे स्कद को सौराष्ट्र में पुनः शको को निर्मूल करना पडा था।[११] शको को निर्मूल करने के उपरान्त सैनिक दृष्टि से सौराष्ट्र का स्थान महत्वपूर्ण था, और पर्णदत्त जैसे अनुभवी सेनापति को वहाँ की देख रेख का कार्य सौंपा गया था।[१२] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में सौराष्ट्र को भी हूणो ने पादाक्रान्त कर अपने अधिकार मे कर लिया था। विजया "मालवा और सौराष्ट्र को स्कद के लिए स्वतन्त्र करा देने की बात कहती है।[१३] जो उक्त अर्थ की पुष्टि करता है।

स्कदगुप्त के जूनागढ के शिलालेख मे सुराष्ट्र और उसके शासक पर्णदत्त का उल्लेख है—

सर्व्वेषु भृत्येष्वपि सहतेषु
यो मे प्रशिष्यान्निखिला-सुराष्ट्रान।

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३२८
(२) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृ० ३७१ (३) राज्यश्री २।३५
(४) राज्यश्री २।३५ (५) राज्यश्री ४।६६-६७ (६) वही २।३४
(७) हर्षचरित—पचम उच्छ्वास पृ० १५०
(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३५४ (९) चन्द्र० ४।२१६
(१०) स्कद १।१३ (११) वही २।८० (१२) स्कद० ५।१४१ (१३) स्कद० ५।१४१

आ ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ।।
एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो-रात-गणान्स्व-मत्या ।
यः सनियुक्तो र्थनया कथचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनि पालनाम ।।[१]

प्रसाद ने सौराष्ट्र मे पर्णदत्त के नियुक्त करने की घटना इतिहास से ही ली है। पर जहाँ तक सौराष्ट्र के शको को विजय करने का प्रश्न है, वहाँ तक यह कार्य इतिहास के अनुसार स्कदगुप्त का न होकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है।[२]

उपर्युक्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि उसकी राजनीति अवश्य चचल रही होगी। उसके सुशासन की व्यवस्था सम्राट् स्कदगुप्त के लिए सिरदद का कारण रही होगी, इसीलिए पर्णदत्त जैसे सुयोग्य व्यक्ति को सौंपा गया। सुराष्ट्र गुप्त साम्राज्य का विस्तृत और महत्वपूर्ण विषय रहा होगा।

"राज्यश्री" के अनुसार हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र थी। ह्वेन-साग सु-ला-च (सुराथ-सुराष्ट्र) को बलभी के अधीन मानता है।[३] इतिहासकारो का अनुमान है कि हर्ष द्वारा बलभी पर आक्रमण ही हर्ष और पुलेकेशिन के बीच युद्ध का कारण था।[४] इतिहासकारो ने बलभी नरेश और हर्ष के बीच वैवाहिक सबधो का उल्लेख भी किया है।[५] अत इसमें सन्देह नही कि सुराष्ट्र हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा होगी।

बग का उल्लेख "चन्द्रगुप्त" में केवल चन्द्रगुप्त के राज्य की पूर्वी सीमा निर्धारित करने के लिए हुआ है।[६] स्मिथ के अनुसार अशोक के साम्राज्य मे गगा के मुहाने तक का सम्पूर्ण बग देश सम्मलित था।[७] अतः निश्चय ही यह चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का भाग भी रहा होगा, क्योकि अशोक ने पूर्व में कोई विजय नही की थी।

बंग

---

(१) सैलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स—सरकार न० २५
(२) दि ग्रैटेस्ट फिलिट्री अचीवमैंट आफ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वज हिज ऐडवास टु दि अरेबियन सी थ्रू मालवा एण्ड गुजरात एण्ड हिज सबजुगेशन आफ दि पैनेन्सुला औफ सुराष्ट्र औफ काठियावाड व्हिच हैड बीन रूल्ड फौर सैन्चुरीज बाइ दि शक डाइनैस्टी ओफ फौरिन ओरिजिन नोन टु योरोपियन स्कौलर्स एज दि वैस्टर्न क्षत्रपस ।
—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३०७
(३) ऐंशिएट जौग्राफी आफ इण्डिया (कनिघम) नोट्स औन "सुराष्ट्र"
(४) हर्षवर्धन (गौरी शकर)
(५) भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ (भगवतशरण उपाध्याय-हर्ष)
(६) चन्द्र० ४।२६
(७) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १७१

मालवराज्य का उल्लेख सबसे पहले स्कदगुप्त नाटक मे हुआ है। उसके अनुसार शको के पतन काल मे महाराज सिंह वर्मा ने मालव का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था[१] और दशपुर इसकी राजधानी थी।[२] मालव और शक युद्ध मे गुप्त साम्राज्य ने मालव को सहायता पहुंचाई। युद्ध विजय के उपरान्त इन दोनो राज्यो मे सधि हुई उसके अनुसार मालवराज्य न गुप्तो की सरक्षकता स्वीकार करली।[३] कुमारगुप्त के शासन काल मे ही हूणो ने सौराष्ट्र को पदाक्रान्त कर लिया था जिससे पश्चिमी मालव अरक्षित हो गया था।[४] इसलिए तत्कालीन मालवराज बधुवर्मा ने उज्जयिनी के गुप्त स्कधार मे दूत भेजकर मालव की रक्षा के लिए स्कदगुप्त से सहायता मागी।[५] स्कदगुप्त ने सकट के समय हूणो और शको के हाथ से मालव की रक्षा की।[६] इसी कृतज्ञता के भार से दबकर और अन्तर्विरोध और बाह्य आक्रमण मे आर्यराष्ट्र के त्राण के लिए बधुवर्मा ने अपना पैतृक मालवराज्य स्कदगुप्त को समर्पण कर उज्जयिनी मे उनका राज्याधिषेक किया। अब उज्जयिनी भी गुप्त-साम्राज्य की राजधानी बन गई।[७]

मालव सवत् और दशपुर का उल्लेख मदसार मे स्थित कुमारगुप्त प्रथम और बधुवर्मा मालव के सम्मिलित शिलालेख में मिलता है :—

...

तस्मिन्नेव क्षितिपति ब्लिपे बधुवर्म्मण्युदारे
सम्यक्स्फीत दशपुरमिद पालयत्युन्नतासे
मालवाना गण-स्थित्या याते शत चतुष्टये
त्रिनवत्यधिके ( ) ब्दानाम्रितौ सेव्य घनस्तने
सहस्यमास शुक्लस्य प्रशस्ते ( ) ह्नि त्रयोदशे
मगलाचार विधिना प्रासादो ( ) य निवेशित :
बहुना समतीतेन
कालेनान्यैश्च पार्थिवै :
व्यशीर्यतैकदेशो ( ) स्य भवनस्य ततो ( ) नुक।[८]

इस शिलालेख मे व्यशीर्य ' भवनस्य' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है इस भवन का एक भाग नष्ट हो गया था, चाहे स्वतः टूट-फूट गया हो अथवा आक्रान्ताओ ने तोड दिया हो। दशरथ शर्मा का अनुमान है कि सवत् ४९६ के आसपास मालव पर हूणो के आक्रमण के समय यह टूटा होगा। पर सरकार इसका खडन करते हुए कहते ह कि यदि उक्त हूण युद्ध मालव में ४३६ ई० के आस पास हुआ होता तो इसके आसपास ही बधुवर्मा

---

(१) स्कद २७१ (२) वही २।७० (३) वही २।६८ (४) वही २।७०
(५) स्कद० २।६८ (६) वही २।७१ (७) वही २।८०
(८) सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शस—सरकार मंदसौर स्टोन इन्स्क्रिप्शन ओफ कुमारगुप्त वन एण्ड बधुवर्मा मालव न० २१ पृ० २९४

की मृत्यु हो गई होती। क्योंकि उस का हूण युद्ध मे मरना निश्चित है। इसलिए सरकार का कहना है यह युद्ध दशपुर पर होने वाली किसी अन्य आक्रमण की ओर संकेत करता है। मालव हूण युद्ध की ओर नही। यदि सरकार के इस निष्कर्ष को मान लिया जाय तो ४७३ ई० तक मालवराज बधुवर्मा के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। उक्त शिलालेख में मदिर के निर्माण के समय सम्राट कुमारगुप्त के शासन का उल्लेख नही। इस पर सरकार का अनुमान है कि तब कुमारगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी और इसके परिणाम स्वरूप गुप्त सिहासन के लिए पारस्परिक सघर्ष हो रहे थे। इसीलिए सभवत. शिलालेख के लेखक ने बधुवर्मा के साथ किसी सम्राट का नामोल्लेख नही किया।[1]

इतिहास के अनुसार कृत सवत् ४६१ मे (जो पहले मालव सवत् कहा जाता था) महाराज नरवर्म्मा पश्चिमी मालवा का शासक था। उसकी राजधानी दशपुर, आधुनिक मन्दसोर थी। वहाँ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि (पार्थिव) महाराज नरवर्म्मा (क्षितीश) सिहवर्म्मा का पुत्र और (नरेन्द्र , जयवर्म्मा का पौत्र है। केवल मात्र "महाराज" के प्रयोग से श्री बसाक ने यह अनुमान लगाया है। कि नरवर्म्मा चन्द्रगुप्त द्वितीय का आधीनस्थ राजा था।[2]

मन्दसोर का शिलालेख इस बात को पुष्ट करता है कि विश्ववर्म्मा भी गुप्त साम्राज्य मे केवल गोप्ता (गवर्नर) थे :—

"रणेषु य. पार्थ समान कर्म्मा,
बभूव गोप्ता नृप-विश्व वर्मा॥[3]

गान्धार के शिलालेख का उल्लेख करते हुए बसाक लिखते है कि मालवा के राजा विश्ववर्मा कुमारगुप्त के शासनकाल के पूर्वार्द्ध मे उसके आधीनस्थ राजा थे और उनके उपरान्त मालवा के नये शासक बधुवर्मा हुए।[4] जहाँ तक मालव की राजधानी दशपुर और मालव राज की वशावली का प्रश्न है वहाँ तक प्रसाद का कथन इतिहास सम्मत है। मालव को प्रसाद ने यत्रतत्र अवन्ती भी लिखा है।[5] अवन्ती मालव का प्राचीन नाम था। परन्तु मालव के प्रसग मे कई स्थलो पर प्रसाद उलझ से गये है। मालवा से शको को निर्मूल करने का कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है। इतिहास से चन्द्रगुप्त का समकालीन महाराज नरवर्मा प्रतीत होता है जो बसाक के अनुसार चन्द्रगुप्त का करद राजा था। तब 'शको के पतन काल मे" पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंह वर्मा के द्वारा एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने

---

(१) वही (सरकार पृ० २६५

(२) हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टन इ डिया (बसाक) पृ० ४२

(३) सैलेक्ट इ स्क्रिप्शस (सरकार) न १७ पृ० २६३

(४) "दिस वर्मन किंग आफ मालवा विश्ववर्मा वज एक फ्यूडेटरी ऑफ कुमारगुप्त वन, ड्यूरिंग दि फरस्ट पार्ट आफ दॉटर्स रेन, एँड वज लेटर ऑन (समव्हैर बिटइन दि नैनटीन्थ एटींन इयस) सक्सीडेड ऑन दि थ्रोन ऑफ मालवा बाइ हिज सन एँड सक्सैसर बधुवर्मा"

हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इ डिया (बसाक) पृ ४८-४६

(५) स्कद० ११३६ ११४० ११४५

की बात समझ मे नही आती। मालव और शक युद्ध में गुप्त साम्राज्य और मालवराज्य मे जिस सधि का उल्लेख प्रसाद करते है वह भी चन्द्रगुप्त के समय मे ही हुई, कुमारगुप्त के समय मे नही। कुमारगुप्त के समय मे शको से कोई युद्ध ही नही हुआ। इसलिए प्रसाद ने मालवा में हूणो और शको की सम्मिलित वाहिनी के जिस आक्रमण का उल्लेख किया है वह भी इतिहास सम्मत नही। पर यह प्रसाद की अपनी कल्पना नही—उन्होने जायसवाल के आधार पर ही शको और हूणो के सम्मिलित आक्रमण का उल्लेख किया है जिसे अन्य इतिहासकार स्वीकार नही करते।[1]

"राज्यश्री" के अनुसार देवगुप्त, मालव नरेश है।[2] "मालवेश्वर की सीमा महोदय की सीमा से मिली हुई थी,[3] और उसी सीमाप्रान्त मे मालव और मौखरी सेनाओ में युद्ध हुआ था।[4] मालवा का शासक स्वय गुप्तकुल का था।[5] सीमाप्रान्त के युद्ध में मालवा की विजय हुई[6] और अन्त मे कान्यकुब्ज मे भी मालवा का अधिकार हो गया।[7] राज्यश्री के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यवर्द्धन ने अत में मालवराज को परास्त कर[8] कान्यकुब्ज और मालव दोनो को साम्राज्य में मिला लिया था। हर्षचरित मे मालवराज का उल्लेख तो हुआ है पर मालवा तथा उसके शासक के विषय में बाण मौन है:—

"यती यस्मिन्नहन्यवनिपतिरुपरत इत्यभूद्वार्ता तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मन. सुकृतेन सह त्याजितः"।[9]

बसखेडा के ताम्रपत्र में राज्यवर्द्धन की प्रशसा इस प्रकार की गई है.—

"राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्री देवगुप्तादय. । कृत्वा येन कशाप्रहार विमुखास्सर्वे सम सयता."[10] इस में जिस देवगुप्त का उल्लेख हुआ हे उसका सबध इतिहासकार हर्षचरित के मालवराज से जोडते है। अतः देवगुप्त को मालव नरेश मानने के सबध में प्रसाद की मान्यता ऐतिहासिक है। मालवा की केवल एक सीमा का प्रसाद ने सकेत किया है, और वह मौखरी राज्य की भी सीमा है। ह्वेनसाग ने मो ला-पो या मालवा का विवरण दिया है, परन्तु उक्त मो-ला-पो के विषय में इतिहासकार एक मत नही हैं। इतना अवश्य है कि उज्जयनी मो ला पो में नही थी, क्योकि उज्जयनी का उल्लेख स्वय ह्वेन साग ने एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे किया है।[11] स्मिथ मो-लो पो को पश्चिमी मालवा मानता है। वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं –"डाक्टर व्हूलर ने मालवराज की पहचान देवगुप्त से की थी, जो सर्व सम्मत है, किन्तु मालवा को पजाब मे माना था जो असभव है। क्योकि बाण के समय में मालव लोग अवन्ती मे आग्रथेकेरच्चु औवन्तीप्रदेश मालव कहलाने लगा था (उज्जैन

---

(१) इम्परियल हिस्ट्री आफ इडिया (जायसवाल) देखिए हूण आक्रमण ।
(२) राज्यश्री १।१६ (३) वही १।१९
(४) वही १।२३ (५) वही १।२५
(६) वही १।२६ (७) वही १।२९
(८) वही २।४६ (९) हर्ष चरित षष्ठ उच्छवास पृ १८३
(१०) बसखेडा का ताम्रपत्र ।
(११) अर्ली इडिया हिस्ट्री आफ (स्मिथ) पृ० ३४४

की शिप्र नदी मे मालवी स्त्रियो का स्नान वर्णन—कादम्बरी वैद्य, १५) (पजाब से उख-डने के बाद मालवो को हम जयपुर रियासत के कर्कोट नगर मे पाते ह । वहाँ से आगे बढते हुए वे गुप्तकाल मे चौथी शती के लगभग मालवा मे आकर बसे होगे । राजनीतिक घटनाए इगित करती है कि जैसे ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अवन्ती से शकराजाओ का उन्मूलन किया वैसे ही मालव लोग अवन्ती मे आकर अधिष्ठित हो गए । सभव है कि इस कार्य मे वे चन्द्रगुप्त के सहायक भी रहे हो । मदसौर के लेखो (ई० ४०४ और ई० ४३६) मे मालव सवत् का उल्लेख होने से भी यदि विदित होता है कि मालव लोग पाँचवी शती से पहले मालवा में आ बसे थे । अतएव मालवाराज का सबध मध्यभारत मे स्थित मालवा से ही माना जा सकता है " ।[1] उपर्युक्त मत के प्रकाश मे प्रसाद के विचार भी स्पष्ट हो जाते है । प्रसाद ने सर्वत्र मालवा को मध्यभारत में ही माना है और उसका एक नाम अवन्ती रखा है ।

वल्लभी

दूत के अनुसार "नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है, इस कारण पश्चिमी मालवा भी अब सुरक्षित नही रहा[2]" तथा 'वल्लभी का पतन अभी रुका है"।[3] इन कथनो से यह प्रतीत होता है कि वल्लभी सोराष्ट्र और पश्चिमी मालव के बीच मे कही होगी । अन्यत्र कही भी वल्लभी का उल्लेख इसमे नही है । "राज्यश्री" मे भी केवल "वल्लभी के ध्रुवभट्ट"[4] का उल्लेख मात्र है जो प्रयाग मे हर्षवर्द्धन के सर्वस्व दान मे भाग लेने जा रहे थे ।

वल्लभी के सबध मे प्रसाद का उल्लेख इतिहास के अनुकूल है । स्मिथ लिखते है:—

"पूर्वी काठियावाढ में वल्लभी का राज्य मो-ला-पो एव सौराष्ट्र के बीच था। वहाँ का शासक ध्रुवभट्ट था . ६४३ ई० में हर्ष ने कन्नौज और प्रयाग की सभाए की । उनमे ह्वेनसाँग ने भाग लिया तथा वल्लभी का राजा ध्रुवभट्ट भी अपने श्वसुर के जलूस मे था ।[5]

सिंहल या लंका ।

सिंहल या लका की चर्चा केवल स्कदगुप्त नाटक मे हुई और वहाँ दोनो नाम एक ही अर्थ मे आये हैं । इससे केवल इतना पता चलता है कि लका जाने के लिए दक्षिणापथ से होकर जाना पडता था[6], लका के चारो ओर लहराता हुआ समुद्र था[7], लका के निवासी अर्थात् सिंहली "उज्जवलश्यामवर्ण के होते थे और उनके बाल घु घराले होते थे ।[8] यह वर्णन[9] आधुनिक लका से मिलता है । लका में कभी राक्षस भी रहते होगे इस ओर भी सकेत किया गया है ।[9]

---

(१) हर्ष चरित एक सास्कृतिक अध्ययन (अग्रवाल) "मालव"
(२) स्कदगुप्त १।१३ (३) वही १।१३ (४) राज्यश्री ४।६८
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ० ३४२
(६) स्कंद. १।१८ (७) वही १।२४
(८) वही १।२४ (९) वही १।१५

कुमारगुप्त के समय कुमारदास लका के युवराज थे–और स्कन्दगुप्त और मातृगुप्त (कालिदास ?) से इनकी मैत्री थी।[१] भारत और सिंहल के बीच गहरा सास्कृतिक सबध था। बौद्ध धर्म के आविर्भाव का स्थल होने के कारण लका निवासी भारत के प्रति पूजा भाव रखते थे।[२]

इतिहास मे ज्ञात होता है कि सिंहल और गुप्त-साम्राज्य के सास्कृतिक सबध अशोक के काल से ही थे समुद्रगुप्त के समय में मेघवर्ण सिंहल का शासक था और उसने समुद्रगुप्त के पास बौद्ध मठ के बनवाने की आज्ञा लेने के लिए उपहारो सहित एक शिष्ट मडल) भेजा था।[३] इसका समर्थन समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से भी होता है। सिंहल तथा अन्य द्वीपवासियो ने गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की सेवा—आत्मनिवेदन, दान और कन्योपायन द्वारा की :—

"यशसः देवपुत्रषाहिषाहानुषाहि — शक — मुरुण्डैः सैंहल कादिभिश्च सर्व्व — द्वीप — वासिभिरात्मनिवेदन—कन्योपायनदान—गरुत्मदकरव-विषय भुक्तिशासन (य) या चनाद्युपाय —सेवा — कृत–बाहु — वीर्य — प्रसर — धरणि — बन्धस्य पृथिव्याम् प्रतिरथस्य" — इत्यादि।[४]

काश्मीर का उल्लेख एकमात्र स्कदगुप्त नाटक मे ही हुआ है। प्रसाद के अनुसार "पृथ्वी की समस्त ज्वाला जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अचल से ढक दिया है उस हिमालय" मे काश्मीर बसा है। उसकी राजधानी श्रीनगर है[५] यह मातृगुप्त (कालिदास) की जन्मभूमि है।[६] कुमारगुप्त के शासनकाल तक गान्धारवशी राजा वहाँ राज्य करते थे।[७] हूणो के आतक से उस म्लेच्छाक्रान्त देश को छोडकर मातृगुप्त गुप्त साम्राज्य की राजधानी मगध मे चला आया।[८] स्कदगुप्त के शासन काल मे गान्धारवशी राजा वहाँ नही रहे अतः देवसेना की प्राणरक्षा में सहायता के उपलक्ष में स्कन्दगुप्त ने मातृगुप्त को वहाँ का शासक बना दिया।[९] और काश्मीर साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। स्कन्दगुप्त के समय भी काश्मीर पर हूणो के आक्रमण की तैयारी का उल्लेख है।

काश्मीर

काश्मीर के इतिहास के लिए प्रसाद निश्चय ही कल्हण की राजतरगिणी के ऋणी हैं। राजा सधिमत के ४७वें वर्ष मे " उसकी प्रजा उसके शासन से असन्तुष्ट रहने लगी, क्योकि आत्मिक शाति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने के कारण वह राज्य के कार्यों से विमुख हो गया था। अतः उसकी प्रजा के लोग एक नये और योग्य शासक की खोज मे थे। उन्ही दिनो युधिष्ठिर का प्रपौत्र गोपादित्य गान्धारराज के सरक्षण में था। उसका एक अत्यन्त सुयोग्य पुत्र मेघवाहन था। उसकी बढती हुई कीर्ति चारो और फैलकर काश्मीर तक जा पहुँची। काश्मीर के मन्त्रियो के आमन्त्रण पर मेघवाहन वहाँ आया और

(१) वही २।६१ (२) स्कद ४।११६
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया (स्मिथ) पृ ३०४
(४) सैलेक्ट इ स्क्रिप्शस पृ० २५४–५५ (५) स्कन्द० ४।११६
(६) वही १।२३ (७) वही ३।६८
(८) वही १।२२ (९) वही ३।६६

काश्मीर का शासक बना दिया गया। भीमवर्मा ने जिन गाधार वशी शासको का उल्लेख किया है, वे इसी मेघवाहन के वशज थे जो वस्तुत गान्धारवशी न होकर केवल गान्धार पालित थे।[१]

मेघवाहन के उपरान्त उसके पुत्र श्रेष्ठिसेन प्रवरसेन या तुजीर[२]) ने ३० वष तक राज्य किया।[३] तदुपरान्त हिरण्य[४] राजा बना। उसने किसी बात पर रुष्ट होकर अपने छोटे भाई तोरमाण को कैद कर लिया। ऐसी स्थिति मे ही ३९ वर्ष २ माह तक राज्य की रक्षा कर हिरण्य पुत्रहीन ही स्वर्गवासी हुआ। अपने पिता के निष्कासन से खिन्न होकर तोरमाण का पुत्र प्रवरसेन द्वितीय तीर्थाटन को चला गया था। इस प्रकार जब गान्धार वशी शासक न रहे तब पुनः योग्य शासक की खोज में उज्जयिनी के एकछत्र शासक महान सम्राट हर्ष विक्रमादित्य के पास गये। और उन्होने एक कवि मातृगुप्त पर प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक बना दिया।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद अक्षरशः राजतरगिणी का आधार लेकर चले है। केवल राजतरगिणी के सम्राट हर्ष विक्रमादित्य को प्रसाद ने स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य मान लिया है। फलतः हमें हर्ष विक्रमादित्य और स्कद विक्रमादित्य एक मान कर उसे उज्जयिनी का सम्राट मानना पडता है। इतिहासकार इन दोनो बातो से सहमत नहीं। स्कद का हर्ष नाम का कही उल्लेख नही है और न वह उज्जयिनी का राजा रहे। शासक-हीन काश्मीर को साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेने की कल्पना प्रसाद की अपनी है, पर तर्कयुक्त है। मातृगुप्त को वहाँ के शासक बना देना कल्हण के मतानुसार है।

हिरण्य के भाई तोरमाण का उल्लेख पहले हो चुका है। श्री आर० एस० पण्डित के अनुसार तोरमाण तुर्की नाम है।[६] इतिहास मे तोरमाण नामक एक हूण शासक का भी उल्लेख मिलता है[७] जिसने काश्मीर में शासन किया था (कब ?) सभवत. उस तोरमाण शब्द के कारण ही प्रसाद का ध्यान काश्मीर में हूणो के आक्रमण की ओर गया हो। प्रसाद ने काश्मीर पर हूणो के आतक की बात अवश्य लिखी है,[८] पर समस्त नाटक मे वहाँ हूणो का अधिकार हो जाने की कही भी चर्चा नही। इतिहास के अनुसार यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि काश्मीर पर हूणो का अधिकार कब हुआ था। सभवत स्कदगुप्त के समय मे अथवा उसके कुछ ही दिन बाद यह आक्रमण हुआ हो। यशोधर्मन के समय में हूण शासक मिहिरकुल यशोधर्मन से पराजित होकर काश्मीर के शासक की शरण में आया और उसने छल से काश्मीर मडल पर अधिकार कर लिया। तोरमाण इसी मिहिरकुल का पुत्र था। उक्त काश्मीर का शासक भी सभवत. हूण ही था।[९]

---

(१) राजतरगिनी, तरग २, पृ-५४-५५, श्लो. १४२-१४७ (पडित)
(२) कल्हण राजतरगिणी (आर० एस० पडित) पृ० ६६ श्लोक ९७ तृतीय तरग
(३) वही पृ० ६६ श्लोक १०१ ,
(४) वही पृ० ६६ ,, १०१ ,,
(५) वही पृ० १०५ ,, १२४ ,,
(६) वही पृ० ६६ फुटनोट १०२ ,,
(७) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३३४
(८) स्कद० १।२२ (९) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३३७

नगर और ग्राम

कथा-प्रसग के नाम से लिखी हुई अजातशत्रु की भूमिका के अनुसार वत्स राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका खडहर जिला बाँदा (करबी सब-डिवीजन) में यमुना किनारे "कोसम" के नाम से प्रसिद्ध है। उदयन, इसी कौशाम्बी का राजा था।[1] मुनि द्वारा दी गई "वीणा द्वारा हाथियो और शबरो की बहुत-सी सेना एकत्र करके उसने कौशाम्बी को हस्तगत किया और अपनी राजधानी बनाया।[2]" वररुचि ने यो सहस्रानीक से कौशाम्बी के राजवश का आरम्भ माना है। कहा जाता है इसी उदयन ने अवतिका को जीत कर उसका नाम उदयनपुरी या उज्जयनपुरी रखा।[3] "निचक्ष नामक पाँडव वशी राजा हस्तिनापुर के गंगा में बह जाने पर कौशाम्बी गये, उनसे उन्नीसवी पीढी मे उदयन हुए।[4]" गौतम ने अपना नवा चातुर्मास्य कौशाम्बी में, उदयन के राज्य-काल में व्यतीत किया ००० ०००।[5]"

कौशाम्बी

अजातशत्रु नाटक के अनुसार उदयन कौशाम्बी के राजा है[6] और मगध एव अवन्ती स उनका वैवाहिक सबध है।[7] कथासरित्सागर और भास कृत "स्वप्नवासवदत्ता" दोनो से इन वैवाहिक सबधो की पुष्टि होती है और प्रसाद न इस आधार को भूमिका (कथा-प्रसग) मे स्पष्ट कर दिया है। कौशाम्बी और कोशल भी आपस में मित्र राष्ट्र रहे होगे। कौशाम्बी की रानी पद्मावती के महल मे गौतम बुद्ध का सघ निमत्रित हुआ था और उदयन के अनुरोध पर उन्होने कुछ दिन रहकर वहाँ धर्म का प्रचार भी किया था।[8]

कौशाम्बी की स्थिति और उसके भौगोलिक या ऐतिहासिक स्वरूप पर सम्पूर्ण नाटक मे कही भी दृष्टिपात नही किया गया गया है। कौशाम्बी वत्स की राजधानी थी, ऐसा उल्लेख जातको मे भी मिलता है।[9] पर नाटक मे वत्सराष्ट्र का कही उल्लेख भी नही। उदयन वहाँ वत्सराज नही, किन्तु कौशाम्बी नरेश है। बुद्ध के समय मे कौशाम्बी अवश्य ही अत्यन्त महत्वपूर्ण नगरी रही होगी क्योकि आनन्द इसको बुद्ध के "परिनिब्बाण" के योग्य स्थानो मे से मानता है।[10] विनय पिटक[11] के अनुसार कौशाम्बी दक्षिण और पश्चिम से आने वाले कोशल और मगध के यात्रियो के लिए महत्वपूर्ण विश्रामस्थल था।

---

(१) अजात० (कथा-प्रसग)	पृ० ६	(५) वही	,,	पृ० १६
(२) वही ,,	पृ० ११	(६) वही	११४१	
(३) वही ,,	पृ० १२	(७) अजात०	११५०	
(४) वही ,,	पृ० १२	(८) वही	११४३	

(९) जातक ४।२८, ६।२३६ (१०) विनय १।२७७ (११) विनय १।२७७

मनोरथपूर्णी अगुत्तर" टीका[1] तथा "पटिसम्भिदामग्ग" टीका[2] मे लिखा है कि वक्कल निगल जाने वाली मछलियाँ यमुना से बनारस से कौशाम्बी तक ३० कोश तैर कर चली जाती थी। अतः कौशाम्बी बनारस से तीस मील पश्चिम में रही होगी।

बौद्ध ग्रथो मे कौशाम्बी नाम के दो कारण बताये गये है।[3] प्रथम और अधिक प्रचलित कारण यह है कि ऋषि कुसुम्ब या कुसुम्भ के आश्रम मे अथवा उसके आसपास कौशाम्बी बसाई गई थी। दूसरा यह कि विशालकाय (कौसम्बरुख)।[4] कोसम के वृक्ष नगर में चारो ओर प्रचुर परिमाण मे थे।

लका की प्राचीन पुस्तको मे भी कौशाम्बी प्राचीन भारत के १९ प्रमुख नगरो में से एक माना गया है।[5] बौद्ध-साहित्य में सूचित षोडस महाजनपदो में वत्स अथवा वश का उल्लेख करते हुए भी त्रिपाठी[6] भी कौशाम्बी या कोसम्बी को उसकी राजधानी मानते हैं और उसकी स्थिति इलाहाबाद से ३० मील दूर आधुनिक कोसम मे मानते हैं। प्रसाद ने भी इसे ही कौशाम्बी माना है।[7]

अजातशत्रु नाटक के अनुसार बुद्ध के जीवन काल मे श्रावस्ती कौशल की राजधानी थी।[8] श्रावस्ती मे बुद्ध और बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव था।[9] महाराज प्रसेनजित उन दिनो कोशल के राजा थे।[10] विष्णु पुराण के अनुसार श्रावस्ती का निर्माण सूर्यवशी राधा युवनाश्व के पुत्र राजा श्रावस्त ने किया था।[11] श्रावस्ती के इतिहास का विवरण देते हुए कनिंघम लिखते हैं—'बुद्ध के समय में यह महाकोशल के पुत्र राजा प्रसेनजित की राजधानी।"[12] श्रावस्ती का उल्लेख बहुत से जातको में भी मिलता है। यह बौद्ध-काल की सर्वश्रेष्ठ महानगरियो में से एक है। भगवान बुद्ध ज्ञान प्राप्ति से पूर्व एव उसके उपरान्त भी श्रावस्ती में रहे थे। राजा प्रसेनजित उनके अन्यतम भक्तो में से एक था।

श्रावस्ती।

पावा और उसके "अमृतसर" का उल्लेख केवल एक स्थान पर "अजातशत्रु" में हुआ है।[13] पावा मल्लो के राज्य में था, और उसका "अमृत सरोवर" पाच सौ प्रधान मल्लो से सदैव रक्षित रहता था। दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नही पीने पाता था।[14] पावा में ही बन्धुल ने सौ मल्लो से अकेले युद्ध किया और मल्लिका उस सरोवर का जल स्वेच्छा से पान कर कोशल लौट आई।[15]

पावा

---

(१) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज पृ ६९२ (२) वही—पृ ६९२
(३) वही—पृ. ६९२ (४) "मारगोसा ट्री"
(५) एशियट जौग्राफी आफ इडिया — कनिंघम पृ ४४८
(६) प्राचीन भारत का इतिहास—डा० रमाशकर त्रिपाठी
(७) अजात०—कथा प्रसग ९ (८) अजात० २।१००
(९) अजात० २।९९–१०० (१०) अजात० १।९१
(११) विष्णु पुराण (विल्सन) ४।२ (१२) ऐशिएट जौग्राफी आफ इडिया (कनिंघम) पृ. ३९८
(१३) अजात० २।७४ (१४) अजात० २।७४ (१५) वही २।७५

कनिंघम ने पावा के मल्लो के राज्य को वर्तमान पडरौना मे माना है ।[१] किन्तु अन्य ऐतिहासिको ने मल्लो की राजधानी कुशीनगर से पूर्वोत्तर १०-११ मील की दूरी पर सठियाव नामक स्थान के आसपास मानी है । अत पावा नगरी को भी वही होना चाहिए ।[२] लका के इतिहासकार ने पावा नगर को बुद्ध का अन्तिम निवास स्थान बताया है । वहाँ के कुशीनगर मे निर्वाण प्राप्त करने के पूव रुके थे ।[३] काश्यप के अनुसार लिच्छवि और वृजि सघ के अष्ट कुलो में से एक मल्ल भी थे । वे कशीनगर के रहने वाले थे और पावा उनकी राजधानी थी । प्रसाद ने जिस पावा को अमृतसर कहा है उसका उल्लेख जातको में इस रूप में मिलता है—" और उसकी (मल्लिका) की दोहद-कामना थी कि वह उस कमल-ताल मे प्रवेश कर उसका जलपान करे जिसका उपयोग वैशाली के राजकुमार अपने राज्यारोहण के समय ही कर सकते है । (उसकी इच्छा पूरी करने के लिए) बधुल उसे वैशाली ले गया " जब लिच्छवि राजकुमारो ने यह सुना तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होने बन्धुल के रथ का पीछा किया ।"[४] प्रसाद द्वारा सूचित सौ मल्लो के स्थान पर इसमें पाच सौ लिच्छवियो का उल्लेख है ।[५]

सभव है वैशाली के कमल ताल से ही प्रसाद ने पावा के अमृत-सर का सम्बन्ध जोडा हो ।

कपिलवस्तु का नामोल्लेख केवल एक स्थान पर अजातशत्रु नाटक में हुआ है । मल्लिका विरुद्धक पर दोषारोपण करती है—"तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियो का किस भूल पर निर्दयता से वध किया ।"[६] पर नाटक से इतना पता

कपिलवस्तु ।

अवश्य चल जाता है कि कपिलवस्तु शाक्यो की नगरी थी, वही विरुद्धक की ननिहाल थी ।[७] विरुद्धक माता राजकन्या न होकर एक दासी-पुत्री थी ।[८] शाक्यो ने प्रसेनजित के साथ छल किया । विरुद्धक ने अपनी माता के इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए शाक्यो का निर्दयता पूर्वक सहार किया ।[९]

कपिलवस्तु का उल्लेख जातको एव अन्य बौद्ध-ग्रथो में प्रचुर मात्रा मे मिलता है । कपिलवस्तु गौतम बुद्ध की जन्मभूमि थी और वहा शाक्य कुमार उन दिनो प्रसेनजित के आधीन थे ।[१०] कपिलवस्तु हिमालय की तराई मे बसा है ।

एक बार कपिलवस्तु जाने पर विरुद्धक को अनायास ही यह पता चला कि उसकी माँ दासी पुत्री थी और उसके पिता के साथ उसका विवाह धोखे से कर दिया गया था ।

---

(१) कनिंघम पृ ४९७-९८
(२) आदि भारत (कश्यप) पृ. १५८
(३) कनिंघम पृ. ४९७
(४) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज— 'बन्धुल" पृ. २६६
(५) वही पृ. २६६
(६) अजात ३।११९ (७) वही १।५२ (८) वही १।५२
(९) धम्मपद अट्ठकथा १।३३९ , जातक १।१३३ , ४।१४४
(१०) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्ज—विडूडभ—पृ. ८७६-७७

उसने इसका प्रतिशोध लेने का प्रण किया। सिंहासनारूढ होने पर जब वह एक बडी सेना लेकर कपिलवस्तु पर आक्रमण करने को बढा तो उसे तथागत शाक्य की सीमा में लगे हुए एक ठूठ-वृक्ष के नीचे खडे मिले। विरुद्धक की सीमा में एक बरगद का विशाल और छायादार वृक्ष था। विरुद्धक ने ठूठ के नीचे खडे तथागत से छायादार बरगद के नीचे बैठने की प्रार्थना की। तथागत ने कहा—"आप चिन्ता न करें मुझे अपने बान्धवो की छाया ही शीतलता प्रदान करती है।" इस पर विरुद्धक लौट गया। दूसरी बार भी यही बात हुई। तीसरी बार शाक्यो का विनाश अवश्यभावी जानकर तथागत उसके मार्ग से हट गये और उसने बिना विचार किये शाक्यवश के स्त्री बच्चो तक का सहार कर डाला।[1]

चन्द्रगुप्त नाटक में तक्षशिला का एक महत्वपूर्ण स्थान है। तक्षशिला भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा पर गाधार राज्य की राजधानी थी, जैसा पहले कहा जा चुका है।

तक्षशिला।

सिन्धु गाधार राज्य की पश्चिमी सीमा है।[2] और वितस्ता उसकी पूर्वी सीमा।[3] इन दोनो नदियो के बीच मे ही कही तक्षशिला की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। प्रसाद ने तक्षशिला को एक महान शिक्षा केन्द्र माना है। वररुचि और चाणक्य जैसे मेधावी इसी गुरुकुल के स्नातक थे।[4] इस गुरुकुल की ख्याति इतनी ऊँची थी कि तक्षशिला का स्नातक होना गौरव की बात समझी जाती थी। तत्कालीन राजनीति की दृष्टि मे भी तक्षशिला का महत्व कम नहीं था। गाधार भारत का द्वाररक्षक समझा जाता था[5], और इसकी राजधानी होने के कारण भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा का भार तक्षशिला पर ही था। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिलाधीश आभीक ने पुष्कल स्वर्ण पाकर आक्रमणकारियो का साथ दिया और इस प्रकार आर्यावर्त का यह भू-भाग द्वार विदेशियो के लिए खोल दिया। कालान्तर मे आर्यावर्त का यह चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का एक अग बन गया।[6]

तक्षशिला का उल्लेख महाभारत मे भी मिलता है। जनमजय ने इसको विजय किया था।[7] बुद्धकालीन षोडश जनपदो मे एक गाधार जनपद और उसकी राजधानी तक्षशिला की चर्चा हुई है।[8] प्लिनी के अनुसार तक्षशिला नगरी पुष्कलावती से ६० रोमन मील (अग्रेजी ५७ मील) दूरी पर एक निम्न समतल क्षेत्र पर बसे हुए अमन्द (Amanda) नामक जिले मे थी।[9] एरियन इसे सिन्धु और झेलम के बीच का प्रदेश का सबसे बडा नगर मानता है।[10] राय चौधरी इसका समर्थन करते हुए लिखते है कि तक्षशिला का राज्य गाधार के प्राचीन राज्य का पूर्वी भाग था। स्ट्राबो इस प्रदेश को

---

(१) धम्मपद अट्ठकथा १।३४६–६, ३५७–६१, अवदान कल्पलता ११वा पल्लव
(२) चन्द्र० १।८२ (३) वही १।६४ (४) वही १।५६, १।७७
(५) वही २।११३ (६) वही ४।२२०
(७) महाभारत (आदिपर्व) ३।६८२–८३ ८३२–३४
(८) प्राचीन भारत का इतिहास—(आर० एस० त्रिपाठी) पृ ४५
(९) प्लिनी ४।२३ (१० एरियन (इन्वेजन) पृ ८२—मैक्क्रिडल

अत्यन्त उपजाऊ और घना बसा हुआ मानते हैं ।[१] यूनानी इतिहासकारो के अनुसार ई० पू० ३२७ में "टैक्साइल्स" तक्षशिला के सिंहासन पर था और उसके पश्चात् "आम्फी" (आम्भीक) वहाँ का राजा हुआ ।

चन्द्रगुप्त की भूमिका में प्रसाद ने स्पष्ट लिख दिया है—"तक्षशिला नगरी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी । जहाँ का विश्वविद्यालय पाणिनि और जीवक ऐसे छात्रो का शिक्षक हो चुका था . . . ।[२] जातको के अनुसार भी तक्षशिला भारतीय शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र रही है ।[३] स्मिथ लिखता है— 'तक्षशिला उन दिनो पूर्व की सबसे बडी नगरियो में से थी और यहाँ उत्तरी भारत का एक प्रख्यात विद्यापीठ था जहाँ सभी जातियो के विद्वान शिक्षा प्राप्ति के लिए एकत्र होते थे ।[४]

चन्द्रगुप्त नाटक मे वररुचि पाणिनि को "शालातुरीय वैयाकरण" कह कर उनके जन्म स्थान "शालातुर" की ओर सकेत करते प्रतीत होते है ।[५] पाणिनि ने स्वय एक

शालातुर

सूत्र मे शालातुर का उल्लेख कर उक्त स्थान की प्राचीनता सिद्ध की है । इसी आधार पर इतिहासकार शालातुर को पाणिनि का जन्म स्थान मानते है ।[६] ह्वेनसांग ने इसको "सोलो-तु-लो" लिखा है और इसे उ-टो-किआ-हन-चो [ओ हिंद] के उत्तर-पूर्व तीस "ली" [३ मील] दूरी पर बताया है ।[७]

कुसुमपुर चन्द्रगुप्त एव स्कदगुप्त की अधिकाश घटनाओ का केन्द्र है । इन दोनो नाटको में प्रसाद ने कुसुमपुर के लिए पाटलिपुत्र का भी प्रयोग किया है । चन्द्रगुप्त नाटक

कुसुमपुर या पाटलिपुत्र ।

के अनुसार पाटलिपुत्र नगरी मगध साम्राज्य की राजधानी थी जो गगा और शोण के सगम पर बसी हुई थी । इस प्रदेश के लिए 'प्राच्य' देश और यहाँ के निवासियो के लिए 'प्राच्य' मनुष्य का प्रयोग भी प्रसाद ने किया है । अपनी समृद्धि और वैभव के कारण पाटलिपुत्र या कुसुमपुर "महानगरी कुसुमपुरी" कहलाती थी । नद सदृश्य राजा के कठोर शासन काल मे भी यह नगरी सगीत और कला का केन्द्र थी । कुसुमपुर के राजपथ, सरस्वती मंदिर, उपवनो और उद्यानो के उल्लेख से वहा के वैभव का चित्र नेत्रो के सामने स्पष्ट आ जाता है । "कुसुमपुर फुलो की सेज में ऊँघ रहा है"[८]—चाणक्य की यह उक्ति कुसुमपुर के विलास की सुन्दर व्यजना करती है । चाणक्य सैनिको को वणिको के रूप मे कुसुमपुर में प्रवेश कराना चाहता है ।[९] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह नगरी तत्कालीन भारत के वाणिज्य का केन्द्र रही होगी और वणिको को एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने

---

(१) स्ट्राबो (मैक्रिंडल) पृ ३४ (२) चन्द्रगुप्त (भूमिका) पृ २८
(३) जातक २।२२, ५६ (४) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया स्मिथ) पृ ६५
(५) चन्द्रगुप्त ४।२०४ (६) वही ४।१६३
(७) चन्द्र० १७६, २।११६
(८) चद्र० १।७० (९) चद्र० ३।१७२

की पूर्ण सुविधाएँ रही होंगी। कुसुमपुर का एक सुदृढ़ दुर्ग था और वहाँ सैन्य शक्ति भी अत्यन्त प्रबल थी। इसी से चाणक्य की कुटिल नीति के होते हुए भी अलका का उसके ध्वंस और नंद पराजय पर संदेह हुआ।[१]

स्कंदगुप्त नाटक के अनुसार भी कुसुमपुर मगध साम्राज्य की राजधानी थी।[२] कुसुमपुर के ऊँचे सौध मंदिर उनमें जलती हुई कालागुरु, पारसीक मदिरा के मद में उन्मत्त आनंद विलास, यहाँ के मणिरत्न भण्डार गुप्तकालीन कुसुमपुर की समृद्धि और उसके वैभव विलास की कहानी कहते हैं।[३] यहाँ के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं। प्रसाद के अनुसार गुप्तकाल में अयोध्या को भी मगध साम्राज्य की एक और राजधानी होने का गौरव मिल गया था और उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के राज्याभिषेक के साथ तो कुसुमपुर का महत्व बहुत कुछ कम हो गया था।[४]

कुसुमपुर और पाटलीपुत्र को समानार्थक सिद्ध करने के लिए प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में लिखा है—"त्रिकाण्डशेष और हेमचंद्र अभिधान में तथा मुद्राराक्षस में पाटलीपुत्र के दो और नाम पाये जाते हैं, एक कुसुमपुर और पुष्पपुर। चीनी यात्री भी इन नामों से परिचित था 'दि पिलग्रिमेज' और 'फाहियान' में इसका विवरण है।[५]

मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर पाटलीपुत्र की भौगोलिक स्थिति के बारे में प्रसाद लिखते हैं—"गंगा और शोण के तट पर मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र बसा था। नगर ८० स्टेडिया लम्बा और ३० स्टेडिया चौड़ा था। दुर्ग में ६४ द्वार तथा ५७० बुर्ज थे। सौध-श्रेणी राजमार्ग, सुविस्तृत पण्य वीथिका से नगर पूर्ण था और व्यापारियों की दुकानें अच्छी प्रकार से सुशोभित और सज्जित रहती थीं। भारत की केन्द्र नगरी कुसुमपुरी वास्तव में कुसुमपूर्ण रहती थी। सुसज्जित सुरंगों में धनाढ्य लोग प्रायः राजमार्गों में यातायात किया करते थे।"[६] हितोपदेश में लिखा है कि—"अस्ति भागीरथी तीरे पाटलीपुत्र नाम नगरम्।" पर ग्रीकों ने गंगा और हिरण्यवाहा के तट पर उसका होना लिखा है। इधर मुद्राराक्षस "शोण सिन्दूर शोणा मम गजपतय पास्यन्ति शतशः" से ज्ञात होता है कि वह शोण व गंगा के संगम पर था।[७]

यद्यपि नाटक में प्रसाद ने स्पष्ट ही गंगा और शोण के संगम पर पाटलिपुत्र की स्थिति मानी है तथापि भूमिका के उपयुक्त उद्धरणों से पाठक उलझन में पड़ जाता है कि यह गंगा तट पर था या गंगा या हिरण्यवाह के संगम पर या शोण तट पर कनिंघम की टिप्पणी के आधार पर पाटलिपुत्र की स्थिति गंगा और "एराना बोआस" के संगम पर मानी गई है। यह संगम पहले उस स्थल पर माना जाता था जहाँ गण्डक अथवा हिरण्यवती पटना के पास गंगा से मिलती है।[८] परन्तु रेवेनशा ने निश्चयात्मक[९] रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि गंगा से शोण का संगम पहले पटना के ठीक ऊपर होता था। अपने

---

(१) वही ३।१७३ (२) स्कंद० १।१० (३) वही १।२६
(४) स्कंद० २।७८—७९ (५) चंद्र० (भूमिका) पृ० ४३ (६) चंद्र० (भूमिका) पृ० ४०
(७) वही (भूमिका) पृ. ४३ (८) एँशिएंट जौग्राफी आफ इंडिया (कनिंघम) नोट्स पृ ५१८
(९) जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल—वौ० १४।१२७ (देखिये रैवेनशा का लेख)

विस्तृत पीले बालुकामय तट के कारण शोण को हिरण्यवाह भी कहा जाता है। अतः यूनानी शब्द "एराना थाग्रोस" अपनी स्थिति और नाम साम्य दोनो दृष्टियो से "हिरण्यवाह" का ही रूपातर प्रतीत होता है। शोण का हिरण्यवाह पर्याय हर्षचरित मे भी मिलता है। अतः नाटक मे प्रसाद की यह मान्यता इतिहास सिद्ध है कि पाटलिपुत्र "शोण और गगा के सगम पर" बसा था।

यूनानी इतिहासकार एरियन के अनुसार "प्रसियनो" (प्राच्यो) के राज्य मे स्थित "पलिबोथरा" (पाटलिपुत्र) भारत का सबसे विशाल नगर था। [1] एरियन के लेख पर अपनी टिप्पणी देते हुए मेक्रिडल लिखता है—'मोर्यवश के सस्थापक चन्द्रगुप्त का राज्य गगा के मुहाने से सिन्धु के उस पार सुदूरवर्ती प्रदेश तक फैला हुआ था। चन्द्रगुप्त इस समय भारत के एकक्षत्र सम्राट् थे। एरियन और स्ट्राबो ने मेगास्थनीज के आधार पर पाटलीपुत्र की भव्यता और विशालता का जो चित्रण किया है उससे यह ज्ञात होता है कि यह नगरी इस विशाल साम्राज्य की राजधानी होने के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। गगा और शोण के सगम पर तथा गण्डक के सगम के दूसरी ओर स्थित होने के कारण यह नगरी स्वभावतः वाणिज्य और व्यापार का महान् केन्द्र हो गई थी और उत्तरोत्तर इसके ऐश्वर्य और समृद्धि की वृद्धि होती जा रही थी।" [2] ऊपर एरियन ने मगधवासियो के लिए "प्रसियन" शब्द का प्रयोग किया है। पाटलीपुत्र के चतुर्दिक पलाशवृक्षो की प्रचुरता के कारण कनिघम "प्रासी" की व्युत्पत्ति "पलाश" शब्द से मानते हैं। (पलाश परास प्रास प्रासी) [3] पर प्रसाद ने स्पष्ट ही इसका प्रयोग "प्राच्य" अर्थात् पूर्वी के अर्थ मे किया है [4] साथ ही ग्रीक प्रयोग के अनुकरण मे भी। [5]

प्रसाद के समस्त ऐतिहासिक नाटको के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अजातशत्रु के काल तक कुसुमपुर का विशेष ऐतिहासिक महत्व नही हो पाया था। मौर्यकाल तक पहुँचते पहुँचते यह नगरी उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। गुप्तकाल में इसके ऐश्वय और समृद्धि मे तनिक भी कमी न आई। यह अब भी मगध साम्राज्य की राजधानी बनी रही पर अयोध्या और उज्जयिनी का महत्व कही अधिक बढ गया। इतिहास प्रसाद का समर्थन करता है। स्मिथ के अनुसार समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् मगध की राजधानी रहते हुए भी पाटलीपुत्र गुप्त शासको का निवास-स्थान नही रहा। [6] पाचवी-शती में अयोध्या गुप्त साम्राज्य का मुख्य नगर बन गया। [7] परतु इसका अर्थ यह नही कि पाटलीपुत्र के वैभव का जो चित्र "स्कदगुप्त" मे मिलता है वह ठीक नही। इतिहासकार स्पष्ट लिखते है कि गुप्तकाल मे पाटलीपुत्र की जनसख्या और वैभव मे कोई भी कमी नही

---

(१) एंशिएट इडिया—मैक्रिडल पृ० २०६
(२) वही पृ० २११—१२ फुट नोट
(३) कनिंघम—पृ० ५१८ (४) वही १।७६ (५) चन्द्र० ४।३२०
(६) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ० ३०६ (७) वही (स्मिथ) पृ० ३१०

आई ।[1] फाहियान ने पाटलीपुत्र के महत्व और वैभव का प्रचुर वर्णन किया है ।[2] पाटलीपुत्र को कनिंघम आधुनिक पटना मानते है ।[3]

"चन्द्रगुप्त" नाटक मे 'पिप्पली कानन' मौर्यों के स्थान का निर्देश करता है ।[4] भूमिका मे प्रसाद लिखते है,—"यह मोरियो का नगर पिप्पली-कानन था, और पिप्पली कानन के मौर्य नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर-भस्म के भाग लेने वालो में एक थे ।[5]" ह्वेन साग व फाहियान के यात्रा विवरणो के आधार पर कनिंघम लिखते हैं —"दोनो चीनी यात्री पिप्पली वन मे बुद्ध के भस्मावशेपो पर बने हुए स्तूप के दर्शनो के लिए गये । अवशेपो के लिए प्रार्थना करने मे विलम्ब हो जाने के कारण इस नगर के मोरियो को केवल बुद्ध के शरीर को भस्म लेकर ही सन्तोष करना पडा ।[6] अब इस नाम का कोई स्थान नही मिलता ।[7] प्रसाद इन मौर्यों की प्रथम राजधानी मानते है ।[8]

पिप्पली कानन ।

"चन्द्रगुप्त" नाटक मे उद्भाण्ड का केवल इतना ही उल्लेख है कि मालविका ने उद्भाण्ड मे सिन्धु पर पुल बनते देखा, और उसका मानचित्र ले लिया ।[9] स्पष्ट है कि गान्धार राज्य (तक्षशिला) की सीमा पर ही सिन्धु के तट पर कोई स्थान उद्भाण्ड कहलाता होगा, और सिकन्दर के आक्रमण के समय गान्धार से उसकी मित्रता हो जाने पर सिकन्दर की सेना ने उद्भाड में कोई पुल बनाया होगा जो गान्धार को सिन्धु के उस पार के ग्रीक उपनिवेश से मिलाता होगा ।

उद्भाण्ड ।

पाणिनि कालीन भारत पर विचार करते हुए डा० अग्रवाल उत्तरापथ के बीच पडने वाले स्थानो में उद्भाण्ड का उल्लेख भी करते हैं, जहा पर व्यापार का सामान (भाड, पाणिनि ३-१-२०) सिन्धु के पार पहुँचाने के लिए उतारा जाता था ।[10] उद्भाण्ड का विवरण कल्हण की राजतरगिणी मे भी मिलता है ।[11] कनिंघम के सम्पादक इसको सिन्धु के उत्तरी किनारे पर मानते ह । अत. यह नगर सिन्धु के पूर्वी और तक्षशिला के प्रदेश मे न होकर उसके राज्य की सिन्धु परवर्ती सीमा पर रहा होगा ।

एरियन सिकन्दर द्वारा सिन्धु पर एक पुल बाधे जाने का उल्लेख करता है ।[12] उस स्थान या नगर को "ओहिंद" माना गया है । कनिंघम के अनुसार वह पुल उद्भाण्ड पर ही बाधा गया था ।[13] प्रसाद ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है । पाणिनिकाल में उद्भाण्ड ही से सिन्धु के आरपार व्यापार होता था । अत वहाँ पर नावो का एक पुल भी था । अतः वहाँ पुल बनाया जाना बहुत स्वाभाविक है ।

---

(१) वही (स्मिथ) पृ० ३१० (५) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ११
(२) ट्रैवेल्स—फाहियान (गाइल्स) चैप्टर २७ (६) कनिंघम—देखिए 'पिप्पली-कानन"
(३) कनिंघम—पृ० ५१८ (७) वही
(४) चन्द्र १।६९ (८) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ११
(९) चन्द्र० १ । ८३ (१०) इडिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० २४५
(११) कल्हण–राजतरगिणी—(आर० एस० पडित) पृ० १७० श्लोक १५२-५५
(१२) ऐनाबसिस-एरियन ४ । २८ (१३) कनिंघम–पृ ६१ नोटस ६७७

गान्धार के उपद्रव के विषय मे चर्चा करते हुए कात्यायन ने वाल्हीक का उल्लेख भर किया है।[१] नाटक से इसके बारे मे और कोई विशेष परिचय नही मिलता है। वाल्हीक ग्रीको का बैक्ट्रिया-प्रदेश और आधुनिक बल्ख है। रघु की दिग्विजय के प्रसग मे कालिदास के टीकाकार क्षीरस्वामी लिखते है,—"बाल्हीकदेशज (वाल्हीकम्) यद्रघोरुत्तर दिग्जिये दुधुवुरवाजिनः स्कधात्लग्नकु कमकेसरान्"।[२] वाल्हीक मे वक्षु नदी प्रवाहित होती है जिसका विवरण नदियो के प्रसग म आ चुका है।[३] आगे चलकर गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने भी वाल्हीक को विजय किया था।

वाल्हीक।

"चन्द्रगुप्त" नाटक मे कपिशा का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख नही है। चतुर्थ अक के सातवें दृश्य की घटना "कपिशा मे ऐलेजेंड्रिया के राजमदिर" मे घटित होती है।[४] "स्कद गुप्त" नाटक मे भी "कपिशा को श्वेत हूणो ने पदाक्रान्त कर लिया" है।[५] केवल इतनी सूचना भर देने के लिए कपिशा का नाम आया है।

कपिशा

प्लिनी के अनुसार कपिशा प्रान्त की प्राचीन राजधानी कपिशा को फारस के राजा सिरस ने ध्वस कर दिया था।[६] टोलेमी कपिशा को काबुल के उत्तर मे बताता है।[७] पाणिनि के अनुसार भी काबोज के दक्षिण मे कपिशा राज्य की राजधानी कापिशी थी। डा० अग्रवाल हिन्दूकुश के दक्षिण पूर्व आधुनिक काफिरिस्थान को कपिशा कहते हैं।[८] अब प्रश्न यही होता है कि कपिशा मे एलेजेंड्रिया से प्रसाद का क्या अभिप्राय है ? ग्रीक इतिहासकारो के आधार पर कनिंघम लिखते है कि सिकदर ने हिन्दूकुश की घाटी मे एलेग्जेंड्रिया नगर बसाया था। एलेग्जेंड्रिया की ठीक स्थिति कही भी रही हो पर हिन्दूकुश के उल्लेख से इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि कपिशा मे ही कही सिकन्दर ने यह नगर बसाया होगा। प्लिनी के आधार पर कनिंघम ने कपिशा मे इसकी स्थिति को निर्धारित कर दिया है।[९] कपिशा को श्वेत हूणो ने पदाक्रान्त किया था यह बात भी इतिहास सम्मत है। हूण लोग ईस्वी सन् ४५५ तक वक्षु के तट पर बस चुके थे और उसी काल मे काबुल विजय कर उन्होने भारत पर भी आक्रमण किया। स्कदगुप्त ने हूणो के इस प्रथम आक्रमण को विफल कर उन्हे पुन. वक्षु तट तक खदेड दिया।[१०]

परसिपोलिस का एकमात्र उल्लेख सिकन्दर के इस वाक्य मे है—"एनिसाक्रटीज, फिर तो परसिपोलिस का राजमहल छोडने की आवश्यकता न थी" ० ० ०।[११] परसिपोलिस

(१) चन्द्र० ४।२१३ (२) इडिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० २१
(३) वही पृ० २१
(४) चन्द्र० ४।२२४ (५) स्कद १।११ (६) "केपिसीन"—प्लिनी ४।२४-कनिंघम
(७) देखिए कनिंघम पृ २१ (८) इडिया एज़ नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) ३७ पृ २१
(९) कनिंघम—पृ २५-२६-२७—एलैग्जेन्ड्रिया
(१०) "व्हाइट हुन्स आफ आक्सस वैली" ए डी. ४५५-८४"
—अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया (स्मिथ) पृ ३३४
(११) चन्द्र० २।१११

फारस की राजधानी थी। इस नगरी को ३३० ई पू मे सिकन्दर ने विजय किया था।[१] और डेरियस के सिंहासन पर बैठने के उपरान्त सिकन्दर ने परसिपोलिस पर अधिकार कर एथेंस की एक गणिका थाया के कहने से परसिपोलिस के राजमहल में आग लगा दी थी।[२]

परसिपोलिस।

चाणक्य के अनुसार "दक्षिणापथ का स्वर्णगिरि"[३] चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा है। स्वर्णगिरि का उल्लेख अशोक के शिलालेखो में मिलता है। स्मिथ उक्त नगर की स्थिति रायपुर जिले के मस्की नामक स्थान मे मानते है। वहाँ अशोक का एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। अशोक के समय मे वहाँ सम्राट के प्रतिनिधि का स्थान था।[४] पर यह तो निश्चय है कि यह दक्षिणी सीमा अशोक ने नहीं बनाई। इसका श्रेय या चन्द्रगुप्त को दिया जा सकता है या बिन्दुसार को। कुछ इतिहासकारो के आधार पर प्रसाद चन्द्रगुप्त को ही यह श्रेय देते है।[५]

स्वर्णगिरि।

"मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पक्ष मे खडी है, लौटना असभव है"।[६] हिरात मे आपके जो प्रतिनिधि रहेगे, उनसे समाचार मिलने पर और भी सहायता के लिये आर्यावर्त प्रस्तुत है"।[७] इन दो वाक्यो मे हिरात का उल्लेख हुआ है। प्रसाद के अनुसार सित्यूकस और चन्द्रगुप्त का युद्ध सिन्धु तट पर हुआ था। सिल्यूकस की सेना सिन्धु के पश्चिम में रही होगी तथा चन्द्रगुप्त की सेना उसके पूर्व में। अतः हिरात सिन्धु के पश्चिम का ही प्रदेश होगा। इतिहास के अनुसार हिरात ग्रीको का एरिया या एरियाना है। स्ट्राबो, एपियन, प्लूटार्क जस्टिन और प्लिनी सभी लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त से सधि हो जाने पर सिल्यूकस ने उसे आधुनिक काबुल (पैरोपनिसडी) हिरात (एरिया), कन्धार (एरेकोसिया) एव मकरान (गेडरोसिया) की क्षत्रपिया दे दी।[८]

हिरात

उज्जयिनी के सबध मे "स्कदगुप्त" नाटक से केवल इतना ज्ञात होता है कि यह शिप्रा के तट पर मालवा प्रदेश की एक प्रसिद्ध नगरी थी[९] और महाकाल का प्रसिद्ध मदिर यही था।[१०] मालवेश बधुवर्मा ने उज्जयिनी मे स्कदगुप्त का राज्याभिषेक कर त्याग का एक उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया। स्कदगुप्त नाटक में ही अन्यत्र मालव की राजधानी दशपुर का उल्लेख है और इसका समर्थन कुमारगुप्त[११] के मन्दसौर के शिलालेख से भी होता है। तब क्या उज्जयिनी भी मालव की राजधानी थी? प्रसाद इस सबध मे मौन है। परन्तु हम "मालवा" के प्रसग मे बतला चुके है कि उज्जयिनी मे गुप्त साम्राज्य के सम्राट् का प्रतिनिधि रहता था—प्रसाद ने भी इस बात का सकेत किया है।[१२] उज्जयिनी मालवा या अवन्ती की राजधानी के रूप

उज्जयिनी

---

(१) ऐंशिएड इडिया पृ० ३० (२) लाइव्ज—प्लूटाक (३) चन्द्र ४। २१६
(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५७— (५) वही पृ० १५६
(६) चन्द्र ४।२४० (७) वही ४।२४६ (८) अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ० १५८
(९) स्कद० २।७० (१०) वही २।७५
(११) सैलेक्ट इस्क्रिप्शस न० २१ पृ० २६० (सरकार) (१२) वही १।९

में सदा से विख्यात रही है, परन्तु जिस मालवा का प्रसाद ने उल्लेख किया है उसका सबध बन्धुवर्मा से है और बधुवर्मा कुमारगुप्त के शासन-काल मे दशपुर का शासक था। अतः प्रसाद का उज्जयिनी को गुप्त साम्राज्य का एक शासन केन्द्र मानना स्वाभाविक ही है। मौर्य-काल से ही उज्जयिनी सम्राट के प्रतिनिधि का स्थान रही है,[१] और प्रसाद के स्कदगुप्त की ही तरह अशोक अपने पिता के जीवन-काल मे वहा का शासक रहा। उनकी मृत्यु का समाचार भी उसे वही मिला था।[२]

उज्जयिनी को स्कदगुप्त की राजधानी बनाने का कारण भी स्पष्ट है। प्रसाद "स्कदगुप्त विक्रमादित्य" का सम्बन्ध शकारि विक्रमादित्य से जोडना चाहते है, जिसे कल्हण ने "हृर्ष विक्रमादित्य" लिखा है[३] और सभवत. जिस विक्रमादित्य के दरबार मे कालिदास रहता था।[४] मातृगुप्त[५] तथा शक और हूणो की सम्मिलित सेना[६] का उल्लेख उनके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

शिप्रा का उल्लेख-यत्र तत्र हुआ है।[७] उज्जयिनी के हिन्दुओ के सात पवित्र नगरो मे से एक है। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण महाकाल या "कालप्रिय नाथ" का प्रसिद्ध मदिर है।[८] उज्जयिनी के शक-क्षत्रपो को विजय करने का कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया था।[९]

स्कदगुप्त नाटक से नगरहार के सबध में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि नगरहार में हूण[१०] तथा स्कदगुप्त[११] दोनो के स्कधावार हे और नगरहार कुभा के रणक्षेत्र के पास कही है।[१२] आज की काबुल नदी ही कुभा है।[१३] स्कदगुप्त और हूणो के बीच नगरहार के युद्ध का उल्लेख और वही बधुवर्मा की मृत्यु का विवरण राखालदास बनर्जी ने अपने उपन्यास 'करुणा' मे किया है।[१४]

नगरहार

कनिंघम के सम्पादक के अनुसार बाबर इसे "नन्गेनेहार" लिखता है। यह सुर्खाब नदी के दाये किनारे पर है जहाँ वह काबुल नदी से सगम करती है।[१५] प्रसाद के कथन को इससे स्पष्ट आधार मिल जाता है। कुभा के रणक्षेत्र और नगरहार की स्थिति भी इससे स्पष्ट हो जाती है। ह्वेनसाग ने इसको ना कि-लो-हो लिखा है। जिसका अनुवाद वाटर्स 'नगरकोट'

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० १६३
(२) वही पृ० १६३
(३) कल्हण—राजतरगिणी (आर० एस० पडित) पृ० ६८, १२५
(४) स्कदगुप्त—पात्र परिचय "पुरुष पात्र" (मातृगुप्त—काव्यकर्ता कालिदास)
(५) स्कद १।२२ (६) वही १।४५
(७) (शिप्रा तट) महाकाल का उल्लेख—स्कद० ३।८४
(८) इपिग्राफिका इण्डिका ७ कैम्बे प्लेट्स
(९) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ) पृ० ६७४
(१०) स्कद० ३।९२ (११) वही ३।१०५ (१२) वही ३।१०४
(१३) देखिये "कुभा" इसी लेख मे (१४ करुणा (राखालदास) पृ० ३७८
(१५) कनिंघम (नोट्स) पृ० ६७४

करते हैं।[1] संस्कृत नाम नगरहार का उल्लेख पाराशर तंत्र में मिलता है।[2] नगरहार के आसपास स्कंदगुप्त का हूणो से संघर्ष संभव है, क्योंकि हूणो ने कपिशा और गांधार पर अधिकार करके वहाँ अपना नया राज्य स्थापित किया था।[3]

सेनापति खिंगल का चर चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों के साथ प्रतिष्ठान के दुर्गपति का उल्लेख भी करता है। इन सबको परिषद् की आज्ञा से स्कंदगुप्त से विद्रोह करने के लिए भेजा गया था।[4] कनिंघम के टीकाकार तीन प्रतिष्ठानो का उल्लेख करते हैं। एक काबुल में (चीनी यात्री का फो-लि-शि-सा-टाग), दूसरा यमुना पर और तीसरा गोदावरी पर।[5] निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यहाँ प्रसाद का तात्पर्य किन दुर्गों से है। परन्तु विद्रोह के लिए धन भेजे जाने के कारण यह माना जा सकता है कि अन्तर्विद्रोह के लिए यह सब किया गया हो। फलतः उनको मगध साम्राज्य के केन्द्र स्थानो मे मानने की इच्छा होती है। "करुणा" मे प्रतिष्ठान का उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि हूणो से स्कंदगुप्त का अन्तिम युद्ध गंगा यमुना और सरस्वती के संगम पर प्रतिष्ठान के पास हुआ।[6] स्पष्ट है कि प्रतिष्ठान इलाहाबाद के पास आधुनिक झूसी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संभव है प्रसाद का प्रतिष्ठान से यही अर्थ रहा हो। गोपाद्रि दुर्ग का उल्लेख भी करुणा में ही है, यह मालव के उत्तर में था और बनर्जी के अनुमान मे यहीं स्कंद ने हूणो पर विजय पाई थी।[7]

प्रतिष्ठान।

जालन्धर का उल्लेख मात्र "स्कंगुप्त"[8] और "राज्यश्री"[9] मे हुआ है। कनिंघम के अनुसार कांगड़ा के पार्वत्य प्रदेश का नाम जालन्धर था। सातवीं शताब्दी मे ह्वेनसांग के अनुसार उत्तर मे चम्बा, पूर्व मे नदि और सुखेत और सुखेत दक्षिण पूर्व मे शतद्रु जालन्धर मे सम्मिलित थे।[10] प्रसाद ने इस प्राचीन अर्थ में इसका प्रयोग किया है अथवा अत्यन्त आधुनिक अर्थ मे, यह नाटक से स्पष्ट नही होता।

जालन्धर

काश्मीर के न्यायाधिकरण मे मातृगुप्त नन्दीग्राम के दंडनायक देवनन्द से प्रश्न करता है।[11] स्पष्ट है कि नन्दी ग्राम काश्मीर का ही कोई ग्राम होना चाहिये। समस्त राजतरंगिणी में कहीं भी नन्दीग्राम का उल्लेख नही मिलता। नन्दी क्षेत्र का उल्लेख अवश्य मिलता है जो हरकुमुट (हरमुख) का एक तीर्थ है।[12] *सम्भव है प्रसाद ने नन्दी क्षेत्र को ही नन्दी ग्राम लिख दिया हो।*

नन्दीग्राम

---

(१) वाटर्स—वौल्यूम १ पृ० १८२-८७
(२) कनिंघम पृ० ६७४ (३) करुणा की भूमिका (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)
(४) स्कंद० ३।६२
(५) कनिंघम (नोट्स) पृष्ठ ६७२
(६) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ ३८३
(७) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ ३१८ (८) स्कंद० ३।६४
(९) राज्यश्री २।३५ (१०) कनिंघम पृ० १५६ ११) स्कंद० ४।११६
(१२) राजतरंगिणी—कल्हण (आर एस पंडित) १, ३६, ११३, १४८, १, १७०।

श्रीनगर

श्रीनगर काश्मीर का एक प्रसिद्ध नगर था।[१] कल्हण के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के संस्थापक सम्राट् अशोक थे। यह नगर आधुनिक श्रीनगर से तीन मील ऊपर था। आधुनिक श्रीनगर की नींव प्रवरसेन द्वितीय ने रखी थी।[२] प्रसाद का अभिप्राय प्राचीन श्रीनगर से ही होना चाहिए, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय मातृगुप्त के उपरान्त काश्मीर का शासक हुआ था।[३]

अयोध्या

प्रसाद ने अयोध्या का उल्लेख स्कंदगुप्त में केवल दो स्थानों पर किया है।[४] इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद गुप्त-शासकों का नई राजधानी की ओर संकेत करते हुए एक ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख कर रहे हैं। स्मिथ अयोध्या को ही गुप्त-शासकों की राजधानी मानते हैं।[५] इसकी चर्चा हम कुसुमपुर के संबंध कर चुके हैं।

दशपुर

"स्कंदगुप्त" नाटक के अनुसार दशपुर मालव की राजधानी है।[६] और बन्धुवर्मा वहाँ के शासक हैं।[७] कुमारगुप्त प्रथम तथा बन्धुवर्मा मालव के मन्दसोर के शिलालेख में दशपुर का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :—

लाट—विषयान्नगावृत—शैलाज्जगति—प्रथित—शिल्पा ते देश—पार्थिव—गुणपट्टता: प्रकाश मद्वादिजान्यविरलान्यसुखान्यवास्य: । जातादरा दशपुर प्रथम मनोभिरन्वा गतास्ससुत—बन्धु—जनास्समेत्य ।[८]

बसाक लिखते हैं—"राजा बन्धुवर्मा मालव संवत् ४६२ में मालव की राजधानी दशपुर के शासक थे यह राज्य कुमारगुप्त प्रथम के अधीन था"।[९]

प्रसाद का दशपुर के प्रति संकेत स्पष्ट है। वे निश्चय ही उसे पश्चिमी मालवा की राजधानी मानते हैं जिसके शासक बंधुवर्मा थे। दशपुर आधुनिक मन्दसौर ही है।[१०]

पुष्करण

पुष्करण का उल्लेख केवल एक स्थान पर "स्कंदगुप्त" नाटक में बंधुवर्मा द्वारा हुआ है "शकों के पतन काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था"। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने मैहरोली लोह-स्तंभ के चन्द्र को चन्द्रवर्मा मानकर उसे मन्दसौर शिला-लेख के नरवर्मा इत्यादि को सर्वप्रथम पुष्करणाधिपति बाद में मालवाधिपति माना है। पुष्करण या पोखरण मारवाड़ (राजपूताना) का प्रसिद्ध नगर था। यह २६°५५ उत्तर एवं ७१°५५ पूर्व देशान्तर में स्थित है।[११]

---

(१) स्कंद० ४।११६
(२) वही (आर एस पंडित) १, १०४ तथा फुटनोट
(३) वही ३।३२०, ३२१
(४) स्कंद० १।१०, २।५२
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
(६) स्कंद० १।१२
(७) स्कंद० १।१५
(८) स्कंद० सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शंस
(९) हिस्ट्री आफ नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया (बसाक) पृष्ठ ४८
(१०) कनिंघम—नोट्स पृ० ७२६
(११) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३०७ फुटनोट।

"राज्यश्री" के कथानक का एक बडा भाग कान्यकुब्ज म घटित हुआ । प्रसाद ने कही प्राचीन नाम 'कान्यकुब्ज'[१], कही 'महोदय'[२] और कही आधुनिक नाम 'कन्नोज'[३] का प्रयोग किया है। कान्यकुब्ज एक उर्वर प्रयोग था[४] और उस राज्य की सीमा मालवेश्वर की सीमा से मिली हुई थी ।[५] इस प्रदेश की राजधानी का नाम भी कान्यकुब्ज ही था। राज्यश्री का पति ग्रहवर्मा मौखरी वहाँ का राजा था। इस काल में कान्यकुब्ज अत्यन्त समृद्धिशाली राज्य था। इसके वैभव-विलास के प्रदर्शनो और उपकरणो का राज्यश्री में उल्लेख हुआ है ।[६]

कान्यकुब्ज कन्नौज या महोदय

उस समय उत्तरी भारत मे दो ही शक्तिशाली राज्य थे, एक मौखरियो का राज्य, दूसरे वर्द्धनो का राज्य, जिनकी राजधानी क्रमश. कान्यकुब्ज और स्थानवीश्वर थी। ये दोनों ही गुप्तो के गौरव को लुप्त करने के कारण हुए ।[७] कान्यकुब्ज के किसी दुर्ग का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है ।[८] जिस पर मालवराज देवगुप्त ने अधिकार कर लिया था ।[९] आगे चलकर राज्यवर्द्धन ने स्वय देवगुप्त के हाथ से कान्यकुब्ज का पुनरुद्धार किया ।[१०] परन्तु कान्यकुब्ज के भूगोल के सबध मे प्रसाद मौन हे। प्रयाग के दान-पर्व से पूर्व हर्ष ने जो एक महत्वपूर्ण दान-पर्व कान्यकुब्ज मे मनाया था, उस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करना वे अवश्य नही भूले है ।[११]

हर्षचरित के एक वाक्य 'भर्तृदारिकापि राज्यश्री कालायसनिगडयुगलचुम्बितचरणा चौरागनेव सयता कान्यकुब्ज कारायां निक्षिप्ता"[१२] से श्री मुखर्जी ने यह अनुमान लगाया है कि कान्यकुब्ज मौखरियो की राजधानी थी ।[१३] हर्षचरित मे "अन्यत्र गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशस्थले"[१४] में "कुशस्थल" के नाम से कन्नौज का उल्लेख हुआ है। हर्षकालीन लेख आधुनिक कन्नौज से बहुत दूर पर मिले ह । इस पर कुछ इतिहासकारो का अनुमान है कि जिस कन्नौज में राज्यश्री बदिनी थी वह मौखरियो की राजधानी न होकर उनके राज्य का एक भाग था ।[१५] शीलादित्य (हर्ष) के जो सिक्के कन्नोज के समीप आधुनिक फैजाबाद जिले में मिले हे उनके आधार पर ही मुकर्जी ने उक्त कथन का खण्डन किया है। प्रसाद ने कान्यकुब्ज को ही मौखरियो की राजधानी माना है और वहाँ राज्यश्री को कारागृह में बन्दी करवाया है ।[१६] यह कथन बाण और मुकर्जी दोनो के वर्णनो से मेल खाता है। कनिंघम के टीकाकार ने गाधिपुर, महोदय और कुशस्थल कान्यकुब्ज के ये तीन और नाम बतलाये

(१) राज्यश्री १।१४ (२) वही १।१५ (३) वही ३।२२
(४) वही १।१५ (५) राज्यश्री १।१६ (६) वही १।१६-१७
(७) राज्यश्री १।२५-२६
(८) वही १।२७-२८, २।३४
(९) १।२७-२९
(१०) वही ३।६५
(११) वही ४।६७
(१२) हर्षचरित (बाण) (शकर टीका) षट उच्छ्वास पृ० १६३ ।
(१३) रूलर्स आफ इण्डिया—आर० मुकर्जी (हर्ष)
(१४) हर्षचरित–सप्तम उच्छ्वास पृ० २२६
(१५) रूलर्स आफ इण्डिया—आर० मुकर्जी (हर्ष)
(१६) राज्यश्री २।४५

है।[११] पहले यह मौखरियों की राजधानी रही फिर हर्ष ने इसे अपनी राजधानी बनाया, और कालान्तर मे सभवतः यशोवर्म्मन ने भी इसे राजधानी बनाया था। भवभूति इसी यशोवर्म्मन का आश्रित था।[१२] कान्यकुब्ज के दान का उल्लेख ह्वेनसाग ने दिया।

स्थाण्वीश्वर। स्थाण्वीश्वर वर्द्धनो की राजधानी थी और क्रमशः प्रभाकरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन यहाँ के शासक रहे। कान्यकुब्ज से इस कुल का विवाह सबन्ध होने के कारण मैत्री थी।[१] उस काल मे स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज की सम्मिलित शक्ति तत्कालीन अनेक नरेशो की आँखो मे खटक रही थी।[२] हर्ष चरित मे बाण ने स्थाण्वीश्वर का विस्तृत वर्णन किया है[३] वहाँ के राजा पुष्पभूति थे[४] इन्ही से वर्द्धनो का वश चला था। हर्ष तक पुष्पभूति-वश की राजधानी स्थाण्वीश्वर रही। ह्वेनसाग के समय मे सा–टा–नि–शि–फा–लो या स्थाण्वीश्वर एक स्वतन्त्र प्रदेश की राजधानी थी। इसके किसी तत्कालीन राजा का उल्लेख नही हुआ है, पर यह कन्नोज के राजा हर्षवर्द्धन का आधीनस्थ प्रदेश माना गया है।[५] इससे यह ज्ञात हो जाता है कि ग्रहवर्मा की मृत्यु पर हर्ष ने अपनी राजधानी स्थाण्वीश्वर से हटाकर कान्यकुब्ज मे बना ली थी। कनिंघम सतलज से लेकर गगा तक के प्रदेश को स्थाण्वीश्वर के अन्तर्गत मानते है।[६] स्थाण्वीश्वर की महत्ता और उसके सौदय का जो वर्णन बाण ने किया है[७], वह स्पष्ट कर देता है कि प्रसाद ने स्थाण्वीश्वर की महत्ता के प्रति जो सकेत किया है वह उचित ही है। कनिंघम के अनुसार थानेश्वर सरस्वती और दृषद्वती के बीच कुरुक्षेत्र प्रदेश मे स्थित अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर था।[८] प्रसाद ने इसकी भौगोलिक स्थिति का कोई विवरण नही दिया है।

प्रयाग "राज्यश्री" मे गगातट पर प्रयाग मे हर्ष के दानपर्व का उल्लेखमात्र है।[९] भौगोलिक दृष्टि से गगा यमुना सरस्वती के सगम पर बसा हुआ तीर्थराज ही प्रयाग है। और हर्ष के दान की घटना भी ऐतिहासिक है। ह्वेनसाग इस दानपर्व के प्रमुख दर्शको मे था।

---

(११) कनिंघम—नोट्स पृ० ७०७ (१२) वही
(१) राज्यश्री १।२० (२) वही २।३५
(३) बाण—हर्षचरित–तृतीय उच्छ्वास पृ ९७–९८
(४) वही पृ १००
(५) कनिंघम पृ ३७६
(६) वही पृ ३७६
(७) हर्षचरित—बाण–तृतीय उच्छ्वास पृ ९७
(८) कनिंघम पृ ३७६
(९) राज्यश्री ४।६७

यातायात के साधन

प्रसाद के नाटकों में बहुत थोड़े से यातायात के साधनों का उल्लेख हुआ है। इनमें से अधिकांश साधन तो उसी रूप में आज भी व्यवहृत होते हैं। रथ इत्यादि कुछ साधन ऐसे अवश्य हैं जो आज के युग में अधिक प्रचलित नहीं। किन्तु आज भी देवकार्यों इत्यादि में ऐसे यातायात के साधन कभी कभी दीख ही जाते हैं।

नाटकों में सवारी के लिए 'रथ' का उल्लेख गिने-चुने स्थानों पर हुआ है। रथ रानियों,[1] राजकुमारों,[2] तथा राजकुल के अन्य व्यक्तियों[3] की सवारी के लिये प्रयुक्त हुआ है। सवारी के अतिरिक्त युद्धों के लिए भी उनका प्रयोग किया गया है।

रथ।

(सुदूर प्राचीन काल से ही भारत में रथ यातायात और युद्ध का महत्वपूर्ण साधन रहा है। अपने यौवराज्याभिषेक के अवसर पर राम 'वैयाघ्र रथ' पर बैठे थे।[4] प्राच्य देश के राजा ने युधिष्ठिर के लिए भेंट के रूप में वैयाघ्र-परिवारित रथ भेजा था।[5] जातकों में भी राजकुमारों, सम्भ्रान्त नागरिकों, श्रेष्ठियों और गणिकाओं की सवारी के लिये सुसज्जित रथों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है।[6] इस प्रकार साधारण यात्रा के लिये काम में आने वाले रथों के लिये कौटिल्य ने 'पारियाणिक' नाम दिया है[7] और युद्ध के रथों के विषय में वे लिखते हैं कि अपनी सेना की रक्षा करना, चतुरंग बल का प्रतिषेध करना, भिन्न संधान करना त्रास देना और भयानक रव करना, ये सब कार्य रथों के हैं।[8] वस्तुतः रथ चतुरंगिणी सेना के एक प्रधान अंग थे।

शिविका का उल्लेख प्रसाद ने केवल स्त्री जनों की सवारी के रूप में किया है। राजकुमारियाँ शिविका पर सवार होकर उद्यानों पर जाया करती थीं, और उन शिविकाओं के साथ रक्षी चलते थे। पर्वतेश्वर अलका से कहता है—"सिंहरण के लिये रथ आयेगा और तुम्हारे लिये शिविका।" इससे ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों सामान्यतः पुरुषों के लिये रथ की सवारी काम में आती थी और स्त्रियों के लिये शिविका। गुप्तकुल वधू ध्रुवस्वामिनी भी शिविका पर गुप्तकुल वधू ध्रुवस्वामिनी भी शिविका पर ही आई थी। शिविका का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में नहुष शिविकारूढ होकर ही इन्द्राणी से मिलने जाता है।[9] अर्थशास्त्र में यान वाहन के साथ दोलिका (शिविका) का उल्लेख भी हुआ है।[10] विष्णुपुराण में जडभरत के प्रसंग में शिविका की चर्चा हुई है।[11] जातकों में भी शिविका के पर्याप्त

शिविका।

---

(१) अजात० २।१०२ (२) अजात० ३।१४२ (३) चन्द्र० ४।२०२, २०३

(४) रामायण २।१६।८ (५) महाभारत—सभापर्व ५१।३३

(६) जातक ६।४८, ५० दीर्घनिकाय पृ० १२७

(७) अर्थशास्त्र २।३३।५ (८) अर्थशास्त्र १०।४।१६,

(९) महाभारत (१०) अर्थशास्त्र (११) विष्णुपुराण

उल्लेख मिलते है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि शिविका स्त्रियो को ही सवारी न होकर पुरुषो की भी थी। 'रक्षियो' का उल्लेख शाकुतल तथा अन्य सस्कृत ग्रन्थो मे भी मिलता है।[1] बौद्ध-ग्रन्थो से यह भी ज्ञात होता है कि यान-वाहनो के साथ रक्षी भी चला करते थे जो 'हटो, मार्ग दो' हटो, मार्ग दो कहा करते थे।

नाटको मे कुछ ही स्थलो मे घोडो का उल्लेख हुआ है। उनसे पता चलता है कि घोडा सवारी के काम भी आता था और युद्ध के काम भी। चन्द्रगुप्त चामरसज्जित अश्व पर सवार होकर ध्रुवस्वामिनी की शिविका के साथ आया था,[2] और पर्वतेश्वर एक हजार अश्वारोहियो की सेना लेकर सिकन्दर की सहायता के लिये गया।[3] घोडो का उपयोग अत्यन्त ही प्राचीन है।

अश्व।

कौटिय ने गति की दृष्टि से घोडो के तीन भेद किये है,—तीक्ष्णाश्व, भद्राश्व और मदाश्व और प्रयोग की दृष्टि से दो भेद—युद्ध सम्बधी घोडे और सवारी के घोडे।[4] तीक्ष्णाश्व को कौटिय ने तीव्रगामी और शीघ्रवाहना भी कहा है।[5] प्रसाद का 'तीव्रगामी अश्व'[6] कौटिल्य के तीक्ष्णाश्व के ही लिये आया हुआ प्रतीत होता है।

जलयानो के रूप में केवल नौका का उल्लेख इन नाटको मे हुआ है। नौकायें सामान्य यातायात के रूप मे काम मे आती थी और युद्ध के लिये भी। सिंहरण नौका पर सवार होकर मालव की ओर जाता है।[7] 'यवन-बेड' के उल्लेख से स्पष्ट है कि वह युद्ध मे सेना और युद्धोपकरण ले जाने के लिये बनाया गया था।[8] सिकन्दर का जल-युद्ध ऐतिहासिक सत्य है।[9] युद्ध नौकाओ के लिये प्रसाद ने 'हिंस्त्रिका'[10] का प्रयोग किया है, जो सम्भवतः अर्थशास्त्र के आधार पर है।[11] व्यापार सतरण के लिये उपयोग में आने वाली नौका को पाणिनि 'नाव्य' कहते है, जिसे जातको में 'नावटित्थ' कहा गया है।[12] कातान्तर के लेखो से ज्ञात होता है कि पाणिनि के स्थान शालातुर मे ही सिन्धु नदी पर सतरण के लिये नौका का स्थान (शलनौक्रम) था। इस स्थान के पास नावो का एक पुल था जिसके द्वारा वर्ष के आठ महीनो मे सिन्धु को आर पार किया जाता था। शेष चार महीनो में नावो से ही सिन्धु-सतरण होता था।[13] अर्थशास्त्र मे उल्लिखित 'नावध्यक्ष' प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में नावो का प्रचुर प्रचलन था।

नौका।

(१ शाकुतल अ० ४ (२) ध्रुव० १।२८ (३) चन्द्र० २।१४७

(४) तेषा तीक्ष्ण भद्र मद वशेन पृ० ८० सान्नाह्यमोपवाह्यक वा कर्म प्रयोजयेत— अर्थशास्त्र २।३०।३५ (५) वही—२।३४।११ (६) चन्द्र० ३।१६६ (७) चद्र० १।८५ (८) चद्र ३।१६१

(९) ही आर्डड दि क्रेटन निआर्कस टू गेट रेडी ए फ्लीट ह्विच विद इजिप्शियन फोनीसियन एड साइप्रिअट क्रूज शुड डिसेंड दि झेलम एड इडस टु बी दी सी—ऐहिएट इडिया (मैसन एड ब्रदर्स) चप्टर ३।३०-३१ (१०) चन्द्र २।१४३

(११) बौद्धकालीन (जनार्दन भट्ट) पृ० ४८

(१२) इडिया ऐज नौन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० १५५ (१३) वही (अग्रवाल) पृ० १५५

——*

सामाजिक परिस्थितियाँ

प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों मे प्रचीन-भारतीय समाज के ढाँचे का दिग्दर्शन हुआ है। यह मानते हुए भी कि भारतीय हिन्दू समाज का यह ढाँचा किसी काल विशेष से उतना ही अधिक सम्बन्ध नही रखता, वरन् सब कालों में बहुत कुछ एक सा ही है, यदि ध्यान से देखा जाय तो उसके विनाश विकास की स्पष्ट ऐतिहासिक झाँकियाँ इन नाटकों से मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू वर्ण व्यवस्था को लिया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से उक्त व्यवस्था हिन्दू समाज को अपने शक्तिशाली बन्धन मे बाँधे हुए है। मनु ने जो व्यवस्था विभिन्न वर्णों के लिए दी है, उसका किसी न किसी रूप में आज भी सम्मान किया जाता है। परन्तु यदि इतिहास के पृष्ठों को पलटा जाय तो ज्ञात होगा कि समय समय पर हिन्दू समाज ने इस कठोर वर्ण-व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए विद्रोह किया। बुद्ध और जैन धर्मों ने कुछ काल के लिए, इस परम्परा की शृंखला को ढीला कर ही दिया। गुप्त-काल में पुन ब्राह्मण धर्म अपने विकास की चरम-सीमा पर पहुँच गया और ये सामाजिक शृंखलाएँ दृढ हो गई। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का प्रवाह भले ही अविच्छिन्न रहा हो, परन्तु प्रसाद के नाटकों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि समय-समय पर उसमें शिथिलता अवश्य आती रही। 'अजातशत्रु' के समय मे सामाजिक व्यवस्था के पुरातन बन्धन ढीले दीख पडते हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन 'सार्वभौम ब्राह्मणत्व' का जयजयकार करता है, गुप्त-साम्राज्य मे, विशेषकर स्कदगुप्त के काल मे, सामाजिक सघर्ष हो रहे है और ढाँचा कभी जर्जर और कभी पुन. जागरूक शक्तिशाली दीख पडता है, पर है वह विनाशोन्मुख ही। हर्ष के समय तक आते आते समाज में एक सामजस्य-सा आता जान पडता है, जो इतिहास की दुर्दमनीय शक्तियो के आगे अधिक नही टिक सका। तब से आज तक वह बनता बिगडता और पुनः बनता हुआ चला आ रहा है। बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण 'अजातशत्रु' मे प्राचीन हिन्दू सामाजिक सगठन की ओर प्रसाद का विशेष ध्यान नही गया और फिर भी इसमें कई उक्तियाँ इस बात का स्पष्ट सकेत करती है कि तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो मे बँटा था। वसन्तक और विरुद्धक के कुछ वाक्य ब्राह्मण और क्षत्रियो के विशिष्ट गुण-कार्यों की ओर सकेत करते है।[1] अन्य नाटकों में समाज के सगम का विशिष्ट और स्पष्ट रूप मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से लेकर हर्षवर्द्धन के समय तक समस्त समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो मे विभक्त था। चद्रगुप्त में ब्राह्मणत्व को एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव कहा

सामाजिक ढाँचा

---

(१) अजात० २।१०५, २।७०

ब्राह्मण । गया है ।[1] चन्द्रगुप्त के काल मे चाणक्य ने ब्राह्मणत्व का एक 'शास्त्र प्रणेता और व्यवस्थापक'[2] की स्थिति पर ला खडा किया । 'ब्राह्मण न किसी के राज्य मे रहता हे और न किसी के अन्न से पलता हे, स्वराज्य मे विचरता हे और अमृत होकर जीता हे ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया स्तूपो को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिये अपने ज्ञान का दान देता है'—इन शब्दो मे आदर्श ब्राह्मण का चित्रण है । तपोनिष्ठ ब्राह्मण का वर्णन करते हुए शुक्राचार्य कहते हे—'तपोनिष्ठ वह हे जो जप, उपवास, नियम, कर्म, और ध्यान मे सदा रत रहकर दान्त, क्षमाशील तथा निस्पृह होता है'।[4] 'चद्रगुप्त' मे भी चाणक्य एक ऐसा ही तपोनिष्ठ ब्राह्मण हे और तभी वररुचि उसके क्रोध करने पर भी उसे त्याग और क्षमा का प्रमाण तपोनिधि ब्राह्मण मानता है ।[5]

ब्राह्मण का निवास झोपडी,[6] जीविका मृत और अमृत एव उसका भोजन फल-मूल और अजलि से जल-पान होता था ।[8] भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो सकता उसको नश्वर चमकीले प्रदर्शन नही अभिभूत कर सकते[9]—दार्शनिक ब्राह्मण के इस कथन मे ब्राह्मण की तेजोमय निर्भीकता[10] की ओर प्रसाद ने सकेत किया है । ब्राह्मण लोभ से, सम्मान से, या भय मे किसी के पास नही जा सकता ।[11]

ब्राह्मण विद्या के आचार्य होते थे ।[12] चाणक्य अर्थशास्त्र और दण्डनीति का आचार्य है,[13] वररुचि पाणिनि पर वार्तिक लिख रहा हे ।[14] दाण्डयायन के आश्रम मे सिल्यूकस की कन्या एक ओर तो दर्शन पढने जाती हे और दूसरी ओर भारतीय सगीत सीखती है ।[15]

ब्राह्मण राज्य करना नही जानता, करना भी नही चाहता । हाँ वह राजाओ का नियमन करना जानता है, राजा बनाना जानता है ।[16] ब्राह्मणत्व के इस जय जयकार के पीछे प्रसाद ने उस ब्राह्मणत्व की ओर सकेत किया है जो वैदिक ऋषियो की परम्परा में मत्र-द्रष्टा और धर्म का नियामक था ।[17] वह अपनी रक्षा के लिये, पुष्टि के लिये और सेवा के लिये इतर वर्णों का सगठन कर लेता था ।[18] 'वशिष्ठ का ब्राह्मणत्व जब पीडित हुआ था पल्लव, दरद, काम्बोज आदि क्षत्रिय बने थे ।'[19]

---

(१) चद्र० १।६६ (२) चद्र० १।८८ (३) चद्र० १।५६

(४) तपोपवासनियम कर्म ध्यानरतस्सदा ।
दान्त. क्षमी निःस्पृहश्च तपोनिष्ठ स उच्यते । —शुक्र० १ १।७५—७६

(५) चद्र० १।८८ (६) चद्र० १।६८ (७) चद्र० १।६८—तुलना कीजिये :
ऋतामृताभ्या जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ —मनुस्मृति ४।४

(८) चद्र १।१०३ (९) चद्र० १।१०२ (१०) चद्र० १।१०३

(११) चन्द्र० १।८८ (१२) चद्र १।१०५ (१३) चद्र १।१०३

(१४) चद्र० १।८८-८९ (१५) चद्र० २।११२ (१६) वही ३।१५७

(१७) वही १।६७ (१८) वही १।६७ (१९) वही १।६७

चाणक्य ब्राह्मण के जातिगत आदर्श का प्रतीक है—"चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द समुद्र में शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमल विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था सन्तोष धन था।'[1] और 'मेघ के समान मुक्त वर्षा या जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।'[2] कार्नेलिया भी ब्राह्मण को बड़ा तपस्वी और त्यागी कहती है।[3] 'राजा न्याय कर सकता है पर ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।'[4]

ब्राह्मण की महानता का कारण यही था कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति थे। इसी के बल पर बड़े बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे और वे तपस्वी ऋत और अमृत वृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए सायं प्रातः अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे —

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्।[5]

ब्राह्मण धर्मशास्त्र का मुख था।[6] वह केवल धर्म से भयभीत होता था। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता था।[7] वधिक भी उसे धार्मिक सत्य कहने से नहीं रोक सकते थे।[8]

ब्राह्मण के उपर्युक्त जय घोष से प्रसाद का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि ऐतिहासिक परम्परा में समस्त ब्राह्मण समाज ही ऐसा था। चाणक्य एक आदर्श ब्राह्मण है और उसकी ब्राह्मणत्व की परिभाषा एक वैदिक ऋषि की सी है। अन्य स्थलों पर ऐसे ही उल्लेख ब्राह्मणत्व को ध्यान में रखकर किये गये हैं। प्राचीन काल में ही नहीं वरन् आज भी ब्राह्मणत्व की महत्ता तो माननी ही पड़ेगी, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि आज वह महत्ता सहजात न होकर कर्मपरक है। शुक्राचार्य ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र एवं म्लेच्छ का भेद कर्म और गुण पर आश्रित है।[9] कर्मपरक होने के कारण ही प्रसाद ने स्थान स्थान पर ब्राह्मण के हीन कर्मों का उल्लेख भी कर दिया है। ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका कर रहे हैं। एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं। लोभ ने उन के धर्म का व्यवसाय चला दिया है। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष बेचने लगे धर्म को बचाने के लिए उन्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई,[10] इत्यादि। यह काल-विशेष में ब्राह्मणों के ह्रास का एक चित्र है। इसका विशेष अध्ययन 'धर्म' के साथ किया जायेगा।

---

(१) वही ४।२१० (२) वही ४।२२३
(३) वही ४।२२४ (४) वही ४।२४० (५) स्कंद ४।१२३
(६) ध्रुव ३।६१ (७) ध्रुव ३।६२ (८) ध्रुव ३।६२
(९) न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न, न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः।' शुक्रनीति। (१०) स्कंद० ४।१२२-२३

कुछ भी हो समस्त उद्धरणो से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का, विशेषकर एक आदर्श ब्राह्मण का स्वरूप और उसकी विशेषताए क्या थी। ब्राह्मण के धर्म की रक्षा करने का कर्त्तव्य राजा का था।[1] राजा की ओर से ब्राह्मणो को ब्रह्मवृत्ति भी सभवत: दी जाती थी।[2]

ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विवरण 'चन्द्रगुप्त' मे आये हैं। अतः यहाँ पर मौर्यकाल के ग्रीक इतिहासकारो के विचारो का भी उल्लेख आवश्यक है। ब्राह्मणो के विषय मे वे लिखते है कि—"भारतीय ब्राह्मणो मे दार्शनिको का एक सम्प्रदाय ऐसा है जो स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है। वे मास नही खाते और अग्निपरक भोजन नही करते। धरती पर गिरे हुए फलो से ही वे सन्तुष्ट रहते हैं, वृक्षो से उन्हे तोडते तक नही। टगवेना[3] नदी का जल पीते ह। यह शरीर भगवान ने आत्मा के आच्छादन के रूप में बनाया है, इस विचार के कारण वे जीवन भर नग्न रहते ह। वे ईश्वर को ज्योति-स्वरूप मानते हैं और मृत्यु से जरा भी भयभीत नही होते। भक्तिपूर्वक ब्रह्म का नाम लेते है और मत्रो द्वारा प्रार्थना करते हैं ' ।'[4] दार्शनिक ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे उपर्युक्त उद्धरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक के दाण्डयायन (ग्रीको के दाण्डमिस) जैसे ब्राह्मणो की विशेषताओ पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण बध से बडा कोई पाप नही, अतः ब्राह्मण बध का विचार तक नही करना चाहिए। राजा यदि चाहे तो अधिक से अधिक उनका सिर मु डवा देने का अथवा सर्वस्व समेत अक्षत शरीर देश-निकाले का दण्ड दिया जा सकता है।[5] प्रसाद ने नन्द के समय तक मनु के इसी आदेश के अनुसार ब्राह्मण को अवध्य माना है।[6] मनु ने ब्राह्मण के छ प्रधान कर्म—अध्ययन-अध्यापन, यजन याजन, दान और प्रतिग्रह बतलाए हैं, इनमें से अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह ये तीन कर्म जीविका के निमित्त हैं।[7]

---

(१) स्कद० ४।१२२ (२) चन्द्र० ३।१५७ ; १।६९ ; १।७९

(३) सभवतः 'तु गभद्रा' देखिए 'ऐ शिएट इ डिया'—(मैक्क्रिडल) पृ० १।२० फुटनोट

(४) ऐ शिए ट इ डिया—(मैक्क्रिडल) पृ० १२०-२१

(५) 'न ब्र ह्मणवधादभूयान्नधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वध राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥ मनु० ८।८१

(६) मौड्य प्रेणातिको दडो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषा तु वर्णाना दड प्राणातिको भवेत्॥
न जातु ब्राह्मण व हन्यात्सर्वपापेश्वपिस्थितम्।
राष्ट्रादेन बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्॥ ' मनु० ८।७९-८०

(७) 'अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा। दान प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः॥
षराणा तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥ '' मानव धर्मशास्त्र १०,७५-७६

प्रसाद ने अपने नाटको मे ब्राह्मण के प्रायः सभी कर्मों का उल्लेख किया है। चाणक्य[1], राक्षस[2], दाण्डयायन[3] सभी अध्यापन का कार्य करते थे। चाणक्य[4] और वररुचि[5] दोनो तक्षशिला के स्नातक थे। 'सरयू पर गढे हुए यज्ञ यूपो[6] का उल्लेख और बलि[7] करने के प्रयत्न ब्राह्मण के यजन-याजन कर्मों की ओर सकेत करते हैं। धर्म का नियामक[8] होने के कारण विवाह[9] इत्यादि सभी धार्मिक कृत्यो को वह कराता है, स्वस्त्ययन और शाति कर्म[10] का उल्लेख भी याज्ञिक सस्कारो की ओर ही सकेत करता है। ब्राह्मण दान देता था और दान लेता भी था। पर्वतेश्वर का चाणक्य से यह सभाषण—'इस मेरे अतिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो ?'[11] राजा से प्रतिग्रहण का उदाहरण है। ब्राह्मण के सबसे महत्वपूर्ण कर्म त्याग का सजीव उदाहरण 'दाण्डयायन' तथा 'अतिम' अक का निष्काम चाणक्य है।[12] राक्षस तक को आश्चर्य से कहना पडा—'आर्य साम्राज्य का महामन्त्री इस तपोवन मे।[13] दाण्डयायन की आवश्यकताए तो परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है,[14] वह फलमूल खाकर, अजलि से जलपान कर, तृण शय्या पर आख बन्द किए सो रहता है।[15] त्याग के ऐसे जीवन्त उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हे।

मनु ने आपद्धम मे ब्राह्मण का कृषि गौरक्षा और वाणिज्य को जीविका के रूप मे ग्रहण करने की अनुमति दे दी है।[16] दरिद्र ब्राह्मण चाणक्य भी जीविका के लिए शास्त्र व्यवसायी होने के बदले कृषक बनने की इच्छा प्रकट करता है।[17] यहाँ चाणक्य से प्रसाद ब्राह्मण के आपद्धर्म का ही उल्लेख करवाया है।

क्षत्रिय

मनुस्मृति के अनुसार 'प्रजा का रक्षण' क्षत्रिय का परम धम है।[18] क्षत्रिय की परिभाषा देते हुए शुक्राचार्य कहते है—जो प्रजा का रक्षण करने में निपुण हो, शूर और पराक्रमी हो, जो दुष्टो का दमन करने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय कहाता है।[19] क्षत्रिय अपनी जीविका शस्त्राशस्त्र द्वारा करता है। प्रसाद के नाटको के क्षत्रिय इन शास्त्रीय धर्मों का स्वय पालन कराते हे।[20]

---

(१) चन्द्र० १।५५, १।७८ (२) चन्द्र० ४।२२५ (३) चन्द्र० २।११२ (४) चन्द्र० १।७६
(५) वही १।७६ (६) स्कद० ४।७६
(७) स्कद० ४।१२१ (८) ध्रुव ४।१३१
(९) वही ३ ५२ (१०) वही ३।५१
(११) वही ३।५०, ३।५२ (१२) चन्द्र० ३।१५६
(१३) चन्द्र० ४।२४४ (१४) वही ४।२४५
(१५) वही १।१०३ (१६) वही १।१०३
(१७) कृषि गोरक्षमास्थाक जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् मनु० १०।८२ (१८) चन्द्र० १।७०
(१९) 'प्रजाना रक्षण'—मनु० १।८९
(२०) लोक सरक्षणे दक्षः शूरो दानः पराक्रमी दुष्ट निग्रह शीलेयः स वै क्षत्रिय उच्यते।
—शुक्रनीति १।४१

और अन्य वर्णों से भी धर्म-पालन कराते हैं।[१] जयमाला 'स्त्रियो की, ब्राह्मणों की, पीडितो और अनाथो की रक्षा में प्राण विसर्जन करना' क्षत्रिय का परम कर्तव्य समझती है।[२] बन्धुवर्मा कहता है—'क्षत्रिय का कतव्य है—आर्त त्राण परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओ की मुस्क्या कर अवहेलना करना और विपन्नो के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना'।[३] पर्णदत्त कामना करता है कि वह पवित्र क्षात्र धम का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटे।[४] क्षत्रिय कुमार होने के कारण विरुद्धक बाहुबल से उपार्जन करना और मृगया करना अपनी आजीविका मानता है।[५] चन्द्रगुप्त युद्ध को आजीविका और क्षत्रिय का परम धम मानता है।[६] पुलकेशिन क्षात्र-धम की परीक्षा के लिये युद्ध को अनिवाय समझता है।[७] चाणक्य कहता है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नही सुनाई पड़नी चाहिए।[८] प्रजा रक्षण करने और धर्म का पालन कराने की क्षमता के कारण क्षत्रिय 'राजपद' के उपयुक्त समझा जाता है।[९]

क्षत्रियो के साथ ही प्रसाद ने स्थान स्थान पर क्षत्राणियो के आदर्श का भी उल्लेख किया है। क्षत्राणियो से चिरसगिनी खड्ग-लता का चिर स्नेह होता था।[१०] विजया क्षत्राणियो को आग की चिनगारिया और ज्वालामुखी की सुन्दर लट कहती है।[११] युद्ध का सदेश क्षत्राणी के लिए शुभ समाचार माना गया है।[१२]

'मुद्राराक्षस' मे चन्द्रगुप्त को वृषल कहा गया है। इस वृषल शब्द के कारण कुछ इतिहासकारो ने मोर्यों को शूद्र मान लिया है। पर प्रसाद के अनुसार पिप्पली कानन के मौर्य क्षत्रिय थे। बौद्धो के प्रभाव आने के कारण उनके श्रोत सस्कार छूट गये थे, परन्तु उनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह न था।[१३] प्रसाद का मत है कि आर्य क्रियाओ का लोप हो जाने से क्षत्रियो को वृषलत्व प्राप्त हो जाता था।[१४] उनके इस निर्णय को शास्त्रीय आधार प्राप्त है। मनुस्मृति की कुल्लूकभट्ट की टीका के अनुसार क्षत्रिय, क्रियाओ के लोप मे और ब्राह्मण याजन, अध्यापन तथा प्रायश्चित्तादि के अभाव से शूद्रता को प्राप्त हुए। मनु के अनुसार क्रियालोप से और ब्राह्मण के अदर्शन से क्षत्रिय जाति वृषलत्व को प्राप्त हो गई। पौंड्रक, चौड्र, द्रविण आदि इसी कोटि के वृषलत्व को प्राप्त क्षत्रिय हे।[१५] मनु ने मौर्यों का उल्लेख नही किया है किन्तु प्रसाद ने उक्त सिद्धात का उपयोग सामान्य रूप से क्षत्रियो के वृषलत्व को स्पष्ट करने के लिए किया है।

---

(१) स्कद० ४।१२२, १३१ (२) वही १।४७-४८ (३) वही २।७२
(४) वही १।६ (५) अजात० २।७० (६) चन्द्र० १।१३०; ४।२३६
(७) राज्यश्री ३।५८ (८) चन्द्र० १।६७ ९, स्कद ४।१२२
(१०) वही १।४६ (११) वही १।४७ (१२) राज्यश्री १।२३
(१३) चद्र० १।६६ (१४) वही १।६६
(१५) शनैकस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः। वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।
पौड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदा पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः।
—मनु० १०।४३-४४

मनुस्मृति के अनुसार क्षत्रिय के लिए आपत्तिकाल मे भी भिक्षावृत्ति को कोई स्थान नही, भले ही वह वैश्य वृत्ति अपना ले।[१] प्रसाद ने भिक्षावृत्ति को क्षत्रिय का आपद्धर्म नहीं माना है। पर्णदत्त देश के दुर्दशाग्रस्त वीर हृदयो की सेवा के लिए भिक्षावृत्ति करता है और कहता है,—'मैं क्षत्रिय हूँ। मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा।'[२] यहाँ भिक्षावृत्ति को पाप माना गया है, यद्यपि परिस्थिति वश पर्णदत्त उसे भी आपद्धर्म मानने के लिए विवश हो जाता है।

वैश्य

वैश्य के सबध मे बहुत थोडे से ही उल्लेख इस नाटको मे मिलते है। चाणक्य के एक वाक्य से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण के पोषक वैश्य सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय है।[३] धनिक होने के कारण वणिक वर्ग को 'श्रेष्ठी' सबोधन किया जाता था।[४] विजया श्रेष्ठि-कन्या है[५] और उसकी 'स्वर्ण रत्न की चमक देखने वाली आँखें है।[६] वैश्यो के विषय मे अन्य जातिगत आदर्शों का प्रसाद ने कही उल्लेख नही किया है।

शूद्र।

शूद्र का कर्म सेवा करना है।[७] 'चन्द्रगुप्त' नाटक मे शूद्र की हीनता की अभिव्यक्ति कई स्थानो मे हुई है। चाणक्य नन्द के प्रतिहारी को 'शूद्र के अन्न म पले हुए कुत्ते'[८] कहता है। पर्वतेश्वर चाणक्य को 'शूद्र शासित राष्ट्र में रहने वाला ब्राह्मण'[९] कहकर निन्दित करता है। शूद्र के द्वारा निगड-बद्ध किये जाने और क्षत्रिय के द्वारा निर्वासित होने पर चाणक्य का पददलित ब्राह्मणत्व एक बार अपनी ज्वाला से जलना चाहता है।[१०] मनु के अनुसार शूद्र का एक मात्र कर्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा शुश्रूषा करना है।[११] प्रसाद के नाटको मे शूद्र की सेवावृत्ति और उसकी हीनता के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नही कहा गया है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो के विषय म इतनी सूचना देने के साथ साथ कही कही प्रसाद ने इनके सबध मे व्यग्यात्मक उक्तियाँ भी कही है। जैसे-'अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियो की दीवालो की चोट से गिर जाने मे और शूद्रो की हम तीनो की ठोकरो से मुक्ति ही मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी है सभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।"[१२] इन व्यगो के अतिरिक्त ब्राह्मण के क्रुद्ध होकर शाप देने[१३] और उनके पेटू[१४] होने की ओर भी सकेत किया गया है।

तत्कालीन समाज मे प्रचलित चार आश्रमो की ओर भी प्रसाद के नाटको मे यत्र तत्र सकेत मिलते है। चाणक्य के कथन 'सौम्य! कुलपति ने मुझे[१५] गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश

---

(१) मनु० १०।८३ (२) स्कद० ५।१२६ (३) चन्द्र १।६८
(४) अजात० २।७१ (५) स्कद० १।४६ (६) वही १।४६
(७) चन्द्र० १।६८ (८) चन्द्र० १।८१ (९) चन्द्र० १।९७ (१०) चन्द्र १।९७
(११) मनु० १।९१ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(१२) स्कद २।६१ (१३) स्कद० ३।९९ (१४) अजात० २।१०५
(१५) चन्द्र० १।५५

करने की आज्ञा दे दी है' से ज्ञात होता है कि स्नातको को गुरुकुल मे विद्याध्ययन करने तक ब्रह्मचर्याश्रम मे रहना पडता था। स्नातक होने पर गृहस्थ-जीवन प्रारम्भ होता था। परन्तु प्रसाद ने कही भी यह उल्लेख नही किया है कि ब्रह्मचर्याश्रम कितने वर्षों तक रहता था और कब से गार्हस्थ जीवन मे प्रवेश किया जा सकता था।

आश्रम। ब्रह्मचर्य।

मातृगुप्त के एक वाक्य 'किसी आर्य सद्‌गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आगन सी भूखी जाति के[1] निर्वासित प्राणियो को अन्नदान देकर सतुष्ट करेंगी' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रसाद सद्‌गृहस्थ उसको मानते है जो स्वच्छ और पवित्र जीवन व्यतीत करता हो और गृहस्थाश्रम मे दीन दुखियो को अन्नदान इत्यादि देकर सतुष्ट करता हो।

गृहस्थ।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम आता है। बिम्बसार के कथन के अनुसार प्रसाद इस प्रथा की ओर सकेत करते जान पडते है।[2] प्राचीन काल के क्षत्रिय राजा अपने पुत्रो को राज्य देकर अपनी रानियो के साथ वानप्रस्थ धारण कर तपोवन में चले जाते थे। मनु ने इस प्रथा का समर्थन किया है। वे कहते है कि जब गृहस्थ वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाय तब अपनी सन्तान को गृहस्थाश्रम का भार सौपकर वन मे चला जाय।[3] वानप्रस्थ की भावना के पीछे जो सहज मानवी प्रवृति कार्य करती है उसका उल्लेख प्रसाद इस प्रकार करते हैं—"जीवन की सारी क्रियाओ का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है। इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिये व्याकुल पिपासा जग उठे तब उसमे विलम्ब क्यो करें ?[4]

वानप्रस्थ।

वासवी के अनुसार सच्चा वानप्रस्थ तब आता है जब व्यक्ति में त्याग की भावना आती है और वह मानापमान से परे हो जाता है।[5] शाति की आवश्यकता होने पर वानप्रस्थ ग्रहण किया जाता था।[6] इसलिये चाणक्य भी विरक्त होकर शातिमय जीवन बिताने का निश्चय करता है।[7] चाणक्य ने बिना गार्हस्थ जीवन के ही वानप्रस्थ ले लिया। स्कदगुप्त भी पुरुगुप्त को सिंहासन देकर वानप्रस्थ ग्रहण करने की इच्छा करता है।[8]

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य का महत्व अत्यन्त ही अधिक होगा और चाणक्य तथा स्कदगुप्त जैसे आजीवन कौमार व्रत लेने वाले व्यक्ति अत्यन्त ही महान् समझे जाते होगे।

सन्यास का स्वतन्त्र उल्लेख प्रसाद ने कही नही किया है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के पिता को 'अपने अभिमान को मारने लिये' 'कापाय ग्रहण करने का' आदेश देता है। यहाँ 'कापाय ग्रहण' का प्रयोग 'सन्यास' आश्रम के लिये ही हुआ है। वैसे 'कापाय ग्रहण' का प्रयोग बौद्ध-भिक्षु बनने के अर्थ में प्रसाद ने अनेक बार किया है, पर वहा यह कापायग्रहण ब्राह्मण धर्म का स्वरूप नही है। अन्यत्र 'वैखानस' शब्द का प्रयोग भी सन्यास आश्रम के लिये हुआ है।[10]

सन्यास।

---

(१) स्कद० ४।११८ (२) अजात० १।३५ ३) मनु० ६।२ ४) अजात० १ । ३७
(५) अजात० १।३६ (६) चन्द्र० ४।२१० (७) चन्द्र० ४ । २५० (८) स्कँद० ५।१४४
(९) स्कँद० ५ । १४ (१०) चन्द्र० ४ । ४८ (११) चन्द्र ३ । १८६

प्रधान धर्म एवं देवी देवता

प्रसाद ने अपने नाटको मे भारतीय इतिहास के जिन कालो को लिया है, प्रायः उस सब में ही धार्मिक क्रातिया हो रही थी। अजातशत्रु का काल बौद्ध धर्म के उदय का काल था। जैन धम का उदय भी इस मे कुछ पूर्व ही हुआ था। ये दोनो धर्म कर्मकाडी ब्राह्मण धर्म के विरोध में उठ खडे हुए थे। अपनी सरलता एव जाति और वर्ण व्यवस्था के बधन से मुक्त होने के कारण इन धर्मों का प्रचार भी बहुत अधिक हुआ। बौद्ध-ग्रन्थो में प्रसेनजित और बिम्बसार सबन्धी जितने भी उल्लेख मिलते है, उससे यह ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म तत्कालीन शासको मे जीवन मे भी अपना पूर्ण प्रभाव डाल चुका था।[1] मौर्य काल मे चाणक्य को केन्द्र मानकर समस्त राजसत्ता और समाज उसके चारो ओर चक्कर काटते प्रतीत होते हैं। अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज का संगठन वर्णाश्रम तथा स्मृतिकारो के नियमो से पुन बाध दिया गया था।[2] यद्यपि निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में बौद्ध धर्म कितना शक्तिशाली था, तथापि अर्थशास्त्र और ग्रीक इतिहासकारो के प्रमाण के आधार पर उस काल में निश्चय ही ब्राह्मण धर्म और विशेषकर वेदो और उपनिषदो के धर्म की प्रधानता रही होगी। ग्रीक इतिहासकारो ने भारत के जिन तेजस्वी एव सूर्योपासक दार्शनिको का उल्लेख किया है,[3] वे ब्रह्म को ज्योति स्वरूप मानते थे। यह वर्णन ऋग्वेद के सूर्योपासना ब्राह्मण धर्म मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। 'गायत्री मत्र' सविता की वैदिक पूजा का सूचक है। किन्तु आगे चलकर इसी मौर्य काल की तीसरी पीढी में ही अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रताप मध्याह्न के सूर्य की भाति समस्त जम्बू द्वीप के आकाश में प्रसारित कर दिया। गुप्त काल मे भागवत धर्म राजधर्म बना और विष्णु के नाना रूपो की पूजा प्रारम्भ हुई। अश्वमेघ आदि यज्ञो तथा कर्मकाण्ड की अधिकता के कारण ब्राह्मण धर्म मे उपनिषद् कालीन दार्शनिक पक्ष की कमी हो गई। गुप्तो के शिलालेख ब्राह्मण धर्म के विकास के साक्षी है।[4] उनकी उपाधिया भी इस ओर स्पष्ट सकेत करती है।[5] परन्तु इस काल में इतिहास से यह भी ज्ञान होता है कि विनाशोन्मुख होते हुए भी बौद्धधर्म अपनी पूर्ण शक्ति से जीवित था।[6] हर्ष के काल मे पुनः बौद्ध धर्म का महत्व बढा। यद्यपि

---

(१) महावग्ग २०२५। धम्मपद अट्ठकथा ३. १८८ 'पवज्जया सुप्त'

(२) अर्थशास्त्र 'विनयाधिकारिक' ३. ऐंशिएट इ डिया ' मेंक्रिडल : पृ० १२०, २१

(४) 'गोविन्द पादार्पित जीवितेन' जूनागढ का लेख पक्ति २५ 'विष्णोश्च पाद कमले'

(५) 'परम भागवतो' 'परम वैष्णव' इत्यादि
समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, स्कदगुप्त का भीतरी लेख

(६) दि गुप्ता इम्पायर : राधाकुमुद मुखर्जी : पृ० १३८

धर्म के संबंध मे हर्ष समन्वयवादी समझा गया है तथापि ह्वानच्वाग के विवरणो से उसकी धार्मिक प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

प्रसाद के नाटको में दो प्रधान धर्मों का ही उल्लेख हुआ है। उनमे से ब्राह्मण धर्म तो अत्यन्त प्राचीन है और बौद्ध धर्म उसकी तुलना मे पर्याप्त नवीन। प्रसाद इतिहास के जिन विभिन्न कालो को लेकर चले हैं, उनमे कभी तो एक धर्म की प्रधानता दिखाई देती है और कभी दूसरे की। समय समय पर भारत के महत्वपूर्ण सम्राटो ने जिस धर्म को राज्याश्रय दिया अथवा वे स्वय जिस धर्म के अनुयायी बने, वही धर्म उस काल का प्रधान धर्म बनकर उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। 'अजातशत्रु' नाटक के बौद्ध धर्म के चरम उत्कर्ष का चित्रण हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' मे उपनिषदो के दार्शनिक पक्ष की प्रधानता है, उसमे 'सविता' की उपासना के उल्लेख का भी ऐतिहासिक महत्व है। बौद्ध ब्राह्मणो का प्रच्छन्न संघर्ष पूर्ण ऐतिहासिक सम्भावनाओ से युक्त है। वस्तुतः देखा जाय तो मौर्य काल ही बौद्ध धर्म के चरम उत्कर्ष का काल भी रहा है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे धार्मिक द्वन्द्वो का अभाव है किन्तु उक्त नाटक की समस्या का आधार ही ब्राह्मण धर्म का कर्मकाण्डीय पक्ष है। इसका स्पष्ट रूप 'स्कन्दगुप्त' मे खोजा सकता है। उसमें एक ओर तो 'चक्रपाणि' और 'विश्वम्भर' की अराधना की चर्चा हुई है, दूसरी ओर 'बलिदान' इत्यादि के माध्यम से कर्मकाण्ड की ओर भी संकेत किया गया है। इसके साथ साथ ब्राह्मण बौद्ध संघर्ष भी उस काल की विशेषता प्रतीत होती है। उक्त संघर्ष का आधार ऐतिहासिक है। स्कंदगुप्त के काल मे बाह्य संघर्षों से ही नही आन्तरिक संघर्षों से भी गुप्त साम्राज्य जर्जरित हो गया था। 'राज्यश्री' में बौद्ध धर्म के नव-जीवन का स्वरूप निखरा हुआ है।

ब्राह्मण धर्म के स्वरूपो मे समय समय पर परिवर्तन होते गये। प्रसाद ने अपने नाटको मे इन परिवर्तनो की ओर अधिक ध्यान नही दिया है, 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटको में ब्राह्मण धर्म के स्वरूपो मे कुछ अन्तर मिलता है। ग्रीक इतिहासकारो से ज्ञात होता है कि 'दार्शनिक' अथवा 'ज्ञानी' दो प्रकार के होते थे ब्राह्मण और श्रमण'। ब्राह्मण नगर के उपकंठ मे आश्रम बनाकर रहते, पर्ण और अजिन की शय्या काम में लाते, अल्पाहार करते ब्रह्मचर्य से रहते, मांसाहार का परित्याग करते, शास्त्र चिन्तन मे निरत रहते और दूसरो को भी तत्व विचार में सम्मिलित करते थे। विद्याध्ययन के उपरान्त ब्राह्मण अपने घर लौटकर विवाह करते, स्वतन्त्रता के साथ सांसारिक भोग भोगते, सुवर्ण भूषण और सूक्ष्म वस्त्र पहिनते और मांसाहार भी करते थे, किन्तु ग्राम्य पशुओ का मांस वे नही खाते थे।[1]

मेगास्थनीज ने दूसरे प्रकार के चिन्तको अर्थात् श्रमणो को 'प्रमानाई' कहा है जो तर्क में प्रवीण और विवादशील होने के कारण छिद्रान्वेषण मे चतुर होते थे। 'सरमेनस' शब्द संस्कृत के 'श्रमण' से बना है और मुखर्जी इसका अर्थ 'बौद्ध और भिक्षु' लेते है। 'स्त्रावो' इनके विषय में लिखता है कि ये ब्राह्मणो का उपहास करते थे।[2]

---

१. मेगास्थनीज अवतरण ४० स्त्रावो १५ सी ७११ २ वही १५ सी ७१६

'चन्द्रगुप्त में चाणक्य और दाड्यायन ब्राह्मण धर्म के जिस स्वरूप को मानते हैं उसमें दार्शनिक पक्ष की प्रधानता है, कर्मकाड की नही। दाड्यायन प्रकृति की चिरन्तन गतिशीलता का उल्लेख करता हैं, जिसमे कभी रुकना नही होता, 'पवन एक क्षण विश्राम नही लेता, सिन्धु को जलधारा बही जा रही है, बादलो के नीचे पक्षियो का झुण्ड उडा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण मे खिचे चले जा रहे है।'[1] उपरोक्त विचार धारा उपनिषदो के 'चरैवेति चरैवेति' के सिद्धान्त के अनुकूल है। 'स्कन्दगुप्त' मे प्राचीन ऋषियो के सम्बन्ध में इस दार्शनिकता की चर्चा हुई है। अन्यत्र वैष्णव भक्ति तथा ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड के स्वरूप का चित्रण हुआ है।[2]

ब्राह्मण धर्म के समान ही बौद्ध धर्म मे भी कई परिवर्तन हुए और क्रमश. धर्म के वे परिवर्तित स्वरूप ही बौद्ध सम्प्रदायो में परिणत हो गये। विशेष कर धार्मिक जटिलताओं से रहित मूल बौद्ध धर्म अशोक के काल तक प्रायः वैसा ही रहा, यद्यपि बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त उनके अवशेषो पर निर्मित स्तूपो का पूजन अवश्य होने लगा था। किन्तु २४० ई० पू० मे 'स्थविरवादी' और महासंधिक' स्वतंत्र हो गये। महायान के मूल 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रो का जन्म ई० पू० १६० मे हो गया था, यद्यपि स्वय 'महायान सूत्र' ई० पू० ८० मे लिखे गये' यही से महायान धर्म का विकास हुआ।[3]

जहा तक बौद्ध धर्म के बाह्य स्वरूप का प्रश्न है, प्रसाद के नाटको में यह विकास किसी न किसी रूप में स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रसाद ने बिम्बसार अजातशत्रु के शासन काल (५०० ई० पू० के लगभग) में भिक्षा का जो महत्व चित्रित किया है,[4] वह अन्य नाटको एव ऐतिहासिक कालो में उपलब्ध नही। इसका ऐतिहासिक आधार भी है। कालान्तर में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत भिक्षा मे अन्नग्रहण करने का वह उद्देश्य ही जाता रहा जो पूर्व काल में था। 'असग' ने अपने योगशास्त्र मे इसके लिये तर्क प्रस्तुत किये। अत. केवल भिक्षा मात्र पर ही निर्वाह न कर क्रमशः विहारो और संघरामो में रहकर भिक्षु धन संपति, स्वर्ण तथा रेशमी वस्त्र तक का व्यवहार करने लगे।[5] प्रसाद ने 'राज्यश्री' मे हर्ष के शासन काल (७वी शती के प्रारम्भ में) में दान और भिक्षा संबधी प्रचुर उल्लेख किये है।[6] किंतु स्पष्ट ही उक्त उल्लेखो का उद्देश्य हर्ष राज्यश्री की दानशीलता का परिचय देना है। भिक्षु और भिक्षुसघ के कठोर नियमो की कोई सूचना उससे नही मिल पाती।

'बोधिसत्व' की कल्पना का विकास महायान के साथ साथ हुआ था। प्रसाद ने इनका उल्लेख 'स्कन्दगुप्त'[7] और राज्यश्री[8] मे ही किया है, 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में नही। इस प्रकार यहाँ भी ऐतिहासिक क्रम के अनुरोध की रक्षा ही की गई है।

---

(१) चन्द्र १ १०८ (२) स्कद०
(३) 'बुद्धिज्म' · ऐडवर्ड कोंजे, चार्ट पृ० ६९ तथा एपेन्डिक्स (४) अजात० १ ८३
(५) बुद्धिज्म पृ० ५७ (६) राज्यश्री
(७) स्कन्द० (८) राज्यश्री

बौद्ध धर्म मे तान्त्रिक क्रियाओ का विकास ५०० ई० के आसपास हुआ था। स्कदगुप्त का का शासन काल ४५५ ई० से ४६७ तक माना गया है।[1] इस प्रकार तन्त्रयान का काल स्कन्दगुप्त के ३० वर्ष बाद माना गया है। किन्तु प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में बौद्ध तान्त्रिक प्रपचबुद्धि[2] का चित्रण किया है, साधारणतया तन्त्रयान के विकास से कुछ पूर्व होने के कारण काल दोप भी बन सकता है। किन्तु यदि योगाचार के विकास से लेकर तन्त्रयान तक के मध्यवर्ती काल मे तान्त्रिक क्रियाओ के विकास को स्वीकार करलें, तो एक ओर तो योगाचार के विज्ञानवाद और शून्यवाद के तान्त्रिक आचारो के बीच की कडी जुड जाती है और दूसरी ओर स्कन्दगुप्त का राज्यकाल बौद्ध-तन्त्र के विकास का केन्द्र बिन्दु बन जाता है। वस्तुतः यही मत प्रसाद के अनुकूल भी है।

'चन्द्रगुप्त' मे चैत्य पूजा[3] का उल्लेख हुआ है। यह इतिहासानुकूल है क्योकि बुद्ध के निर्वाण के ठीक बाद ही चैत्य निर्माण और चैत्य पूजन प्रारम्भ हो गया था। राज्यश्री में विकट घोप या शातिभिक्षु[4] जैसे भिक्षुओ का उल्लेख बौद्ध धर्म के विनाश की सूचना देते है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' मे अहिसा करुणा और शुद्ध सात्विक धम का जयजयकार मिलता है, वैसा अन्य नाटको मे नही मिलता। जैसा हम पहले कह चुके हैं यह बौद्ध धर्म के इतिहास से अनुमोदित है।

प्रसाद के नाटको में इस प्रकार काल भेद के कारण विभिन्न धर्म सबंधी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट विवरण उपलब्ध होते है, परन्तु प्रधानता या तो बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो एव दर्शन की है अथवा ब्राह्मण धर्म के लौकिक एव दार्शनिक पक्षो को, अन्य धर्मों से सबध रखने वाले उल्लेख प्रायः नही है। इन नाटको मे निम्नलिखित देवी देवताओ का उल्लेख पाया जाता है :—

देवी देवता

देवी

सरस्वती,[5] छिन्नमस्ता,[6] लक्ष्मी,[7] तारा,[8] देवी की उग्र मूर्ति[9] (सभवतः काली) शची,[10] एवम् सिंहवाहनी[11] (दुर्गा)

देवता

इन्द्र,[12] सविता,[13] रुद्र,[14] कुबेर,[15] वामन,[16] चक्रपाणिभगवान,[17] विश्वम्भर,[18] महाकाल,[19] शेष पर्य्यंकशायी,[20] राम,[21] वटपत्रशायी[22] और कृष्ण।[23]

---

(१) मालवीय कौमोमरेशन वौल्यूम डॉ० भण्डारकर का लेख पृ० २०५, भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ (स्कन्दगुप्त) (उपाध्याय)
(२) स्कन्द० (३) चन्द्र० (४) राज्यश्री
(५) चन्द्र० १ ७३ (६) ध्रुव० १,२८ (७) स्कद० १ २ व ४,१२६
(८) वही १,२६ व ३ ८४ व ३ ८७, (९) राज्यश्री ३ ६१
(१०) स्कद० ५ १४४ (११) वही १,३३ (१२) अजात०२,८३ चन्द्र ४,२२०
(१३) चन्द्र० ४ २४४ (१४) स्कन्द० १ ४६ (१५) ध्रुव० १ २०
(१६) ध्रुव १ २१ (१७) स्कद० १,१८ (१८) वही २,६८
(१९) वही २,७५ (२०) वही ४ ११८ (२१) वही ४ १२२ व १ १५, व ४ १३०
(२२) वही ४ १२८ (२३) वही ४ १२८

प्रसाद ने अप्सरा,[1] सुर सुन्दरियाँ,[2] अपदेवता,[3] तथा यक्ष[4] का नामोल्लेख किया है, इनको अर्द्ध देवताओ की कोटि म रखा जा सकता है, गणो में भैरव,[5] भैरवी[6] इत्यादि भी इसी श्रेणी मे रखे जायेगे ।

अर्द्ध-देवता

चन्द्रगुप्त नाटक में सरस्वती की चर्चा 'सरस्वनी मदिर के समाज' प्रसग में हुई है, सरस्वती वैसे तो ज्ञान की अधिष्ठात्री वैदिक देवी है और ऋग्वेद एव यजुर्वेद दोनो मे उनका उल्लेख हुआ है[7] किन्तु इस प्रसग मे सरस्वती की चर्चा कामसूत्र के आधार पर हुई है, वात्स्यायन के अनुसार 'सरस्वनी-भवन में' यक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वो के अवसर पर समाज' हुआ करते थे,[8] यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि चन्द्रगुप्त के काल में सरस्वती पूजन का कितना प्रचलन था, किन्तु कामसूत्र के आधार पर यह तो माना ही जा सकता है कि सरस्वती के मदिर होते थे और उनमें सगीत नृत्य इत्यादि हुआ करता था, भट्टाचार्य के अनुसार ई० पू० तीसरी शती से लेकर पहली शती ईसवी तक देवी के विभिन्न रूपो की उपासना का पर्याप्त प्रचार हो चुका था,[9] उक्त आधार पर मौर्यकाल मे सरस्वती पूजन होना स्वीकार किया जा सकता है ।

सरस्वती

वाजनेयी सहिता में वर्णित रुद्र की भगिनी अम्बिका कालान्तर में उनकी पत्नी बन गई और उनका सबन्ध मातृकाओ से जोड दिया गया, तैत्तरीय आरण्यक और कनोपनिषद् में उमा और पार्वती का उल्लेख मिलता है। महाभारत के भीष्मपर्व और विराटपर्व मे भी उमा के कई नये नामो का उल्लेख हुआ है, हरिवश में उसे ही कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चडी, कालायनी, कराला, विजया कौशकी और कातारवासिनी कहा गया है,[10] बौद्ध, जैन और हिन्दू तन्त्रो का विकास गुप्त काल में ही हुआ होगा क्योकि कौजे के अनुसार तत्रयान की प्रथम तिथि ५०० ई० पू० है ।[11] इन तत्रो में इसी देवी के अन्य कई नामो का उल्लेख हुआ है, छिन्नमस्ता को चामुँडा तत्र में विद्या श्यामा रहस्य में महाविद्या और विश्वसार तत्र में सिद्ध महासिद्ध विद्या माना गया है अम्बिका के विभिन्न नामो के विकास के उपर्युक्त ऐतिहासिक क्रम को स्वीकार कर लेने पर 'ध्रुवस्वामिनी' के गुप्तकालीन कथानक में छिन्नमस्ता का उल्लेख अनुचित नही प्रतीत होता ।

छिन्नमस्ता

---

(१) वही २ ६२ (२) वही ३ १०१ (३) राज्यश्री १ २७ (४) राज्यश्री २ ४३
(५) स्कन्द० १ ४८ (६) वही १,४६ (७, प्राणो देवी सरस्वती वाजोभिर्वाजिनीवती, धीनामवित्र्यस्तु, ऋग्वेद १० ६१ २१ (८) 'पक्षस्य मासस्यव प्राख्याते हृति सरस्वत्या भवने नियुक्ताना नित्य समाज ।—

कामसूत्र नागरक वृत्त प्रकरण ।

(९) माइनर रिलीजस सेक्टस् (एच डी भट्टाचार्य) एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ४७०
(१०) वही पृ. ४६७ (११) बुद्धिज्म (कौजे) वाइड चार्ट पृ ६६ एण्ड ऐपेन्डिक्स

'परम भागवत' गुप्तों के काल में लक्ष्मी और विष्णु की उपासना के प्रचलन में आश्चर्य नहीं किया जा सकता। स्कन्दगुप्त नाटक में 'स्वर्ग की लक्ष्मी' के रूप में विष्णु प्रिया लक्ष्मी की ओर ही संकेत है। जिस प्रकार सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री मानी गई है, उसी प्रकार लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी। भारत की अत्यन्त प्राचीन वस्तु और शिल्पकला में कमल दल

लक्ष्मी

निवासिनी 'श्री अथवा 'लक्ष्मी' का पर्याप्त अंकन किया गया हुआ है, भरहुत स्तूप तक में लक्ष्मी के अनुकूल ही श्री का अंकन किया गया है।[1] 'श्री' देवी अथवा 'लक्ष्मी' का उल्लेख जातकों में मिलता है।[2] गुप्तकालीन शिलालेखों एवं मुद्राओं में कमल दल से युक्त लक्ष्मी का बहुत अंकन हुआ है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ के शिलालेख 'लक्ष्मी' स्वयंय वरत्याचकार के द्वारा स्कन्दगुप्त के राज्य एवं ऐश्वर्य की ओर ही संकेत किया गया है।[3] ध्रुवस्वामिनी गुप्त कुल लक्ष्मी है। स्कन्दगुप्त के ही भिटारी के शिलालेख में कुल लक्ष्मी की चर्चा हुई है। 'बिचलित कुल लक्ष्मी स्तभनाद्योद्यनेन'[4] में कुल लक्ष्मी का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ देता है। इस सम्बध में भट्टाचार्य लिखते हैं जब लक्ष्मी की पूजा का स्वरूप सौंदर्य पूजन के स्थान पर ऐश्वर्य पूजन में परिवर्तित हो गया तो वह सम्राटों की वन्दनीय हो गई और इस प्रकार क्रमश. 'नगर लक्ष्मी' और 'राज लक्ष्मी' का पूजन भी होने लगा।[5] वन लक्ष्मी[6] का प्रयोग वन देवी के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। यहाँ भी लक्ष्मी की पूजा के प्रसरण का उपर्युक्त स्वरूप परिलक्षित होता है। संस्कृत ग्रन्थों में वन देवियों का उल्लेख भी मिलता है।[7]

तारा का उल्लेख स्कंदगुप्त में कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर उसे "शव चिता पर ताडव नृत्य करती हुई शक्ति के संहारकारी रूप में चित्रित किया गया है[8] अन्यत्र इसे ही 'उग्रतारा' भी कहा है, जिसकी साधना से विकट से विकट कार्य सिद्ध होते हैं।[9] एक और स्थल पर इसे 'प्रज्ञापारमिता स्वरूपा तारा[10] भी कहा गया है। तारा का सम्बन्ध बौद्ध धर्म के वज्रयान और तन्त्रयान से है। एडवर्ड कौजे प्रज्ञापारमिता और तारा को प्रथम स्वतन्त्र बौद्ध देवियाँ मानते हैं। उनके अनुसार तारा की उपासना बौद्ध धर्म में १५० ई० के लगभग प्रारम्भ हुई। तारा शब्द

तारा

संस्कृत 'तारयति' से बना है। जिसका अर्थ 'रक्षणकर्त्री' अथवा 'पार लगाने वाली' है, और जो भय को दूर कर मनोकामनाओं को पूर्ण करती है। तारा साधारण बुद्धि की उपज

(१) माइनर रिलीजस सेक्ट्स (एच डी. भट्टाचार्य) पृ ४७०
(२) श्री कालकरणी जातक (३) सैलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स (सरकार) न० २५
(४) सैलैक्ट इन्सक्रिप्शन्स : सरकार : न० २८
(५) वही : एच डी भट्टाचार्य : पृ० ४७१
(६) राज्यश्री ३।५५
(७) अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक ४ पृ० ५० : का. ग्र० :
(८) स्कंद० १।२६ (९) वही ३।८४ (१०) वही ३।८७

थी। प्रज्ञापारमिता की धारणा थोड़े से साधु विचारकों के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई थी। महायान धर्म में प्रज्ञापारमिता का उल्लेख एक गुण विशेष, ग्रंथ विशेष अथवा मंत्र विशेष के रूप में ही नहीं वरन् एक देवी के रूप में भी हुआ है। पारमिता बुद्धि को संभवतः प्रथम शताब्दी ईसवी के आसपास मूर्त रूप दिया गया होगा। 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' में उसे 'सब बुद्धों की जननी कहा गया है[1] अन्यत्र इस देवी के भयंकर स्वरूप की कल्पना का कारण बताते हुए कौंजे लिखते हैं, योगी अपने अहं के विनाश के लिए जो सुदृढ़ संहारात्मक मानसिक प्रयत्न करता है, उन्हीं के मूर्त स्वरूप को वह शक्ति (देवी) के भयंकर रूप में स्वीकार कर लेता है।[2] शक्ति के इस भीषण रूप की साधना श्मशान में की जाती है[3] कौंजे ने तारा को प्रथम स्वतंत्र बौद्ध देवी[4] कहकर अभिहित किया है। किन्तु तारा बौद्ध तंत्र की ही देवी नहीं वरन् हिन्दू तंत्र की देवी भी है। 'चामुंडा तंत्र' में काली और तारा को महाविद्या कहा गया है। षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता और धूमावती 'विद्या' हैं, बगला, मातंगी और कमला 'सिद्धविद्या' हैं।[5] श्यामा रहस्य' में इन दसों को 'महाविद्या' कहा गया है।[6] विश्वसार तंत्र में काली और तारा 'महा महा सिद्ध विद्या' हैं तथा अन्य 'सिद्ध महासिद्ध विद्या' हैं।[7]

दक्ष यज्ञ में योगाग्नि से प्राण त्याग करने के उपरांत सती ने अपना विकराल रूप शिव को दिखाकर भयानक अट्टहास किया। शिव भयभीत होकर भाग चले तो उन्होंने अपने उक्त स्वरूप को अपनी विभिन्न शक्तियों में विभाजित कर दिया और शिव को घेर लिया। अन्त में देवी द्वारा अभय मिलने पर शिव ने कहा 'हे जगद्धात्री देवी यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे बताइये कि आपके ये भिन्न भिन्न स्वरूप किन नामों से पुकारे जाते हैं। देवी ने अलग अलग सबका वर्णन किया। महातारा के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, 'जो तुम्हारे ऊपर श्याम वर्ण की देवी है वह महाविद्या तारा है और महाकाल की पूर्ण कृति है।[8] महाकाल के स्वरूप की भयंकरता से हिन्दू तंत्र में भी महाविद्या तारा' के स्वरूप की भयंकरता का अनुमान किया जा सकता है। अतः प्रपंच- बुद्धि ने शव चिता में ताण्डव नृत्य करती हुई जिस तारा की ओर संकेत किया है वह बौद्ध तंत्र की तारा के अनुकूल न होकर ताण्डव नृत्य करते हुए 'महाकाल की पूर्ण प्रतिकृति' के रूप में है।

तारा तिब्बत की राष्ट्रीय देवी 'सग्स्र्यस्स्प्यनम्' उच्चारण, सग यय चन म् है। इसका अर्थ है, जो बुद्ध के नेत्र की है।[9] इस प्रकार तिब्बत में तारा को बुद्ध की आंख की

(१) बुद्धिज्म : ऐडवर्ड कौंजे : पृ० १६२ (२) वही . ऐडवर्ड कौंजे . पृ० १६४

(३) 'दि आइडिया आफ डिस्ट्रक्शन अवेकन्स नैचुरली दि एसोशियेशन विद दि बरियल ग्राउंड व्हेर दि मैटीरियल बौडी इज डिस्ट्रौइड'।

डा० पी० एच० पोट : ऐज कोटेड बाइ कौंजे इन बुद्धिज्म : पृ० १६४

(४) 'फर्सट औटोनोमस बुद्धिस्ट डीटीज' वही पृ० १६२

(५) प्रिंसिपल्स औफ तंत्र : आर्थर एवेलन : पृ० ४१६

(६) वही वही पृ० ४२६ (७) वही वही पृ० ४१६ (८) वही वही पृ० ३१७

(९) दि टिबटन बुक औफ दि डैड : डब्ल्यू वाइ० इवान्स तथा वेन्टस पृ० १०८

पुतली माना गया है। नेत्र का सम्बन्ध ज्ञान से है, जो प्रज्ञा है। बुद्ध की प्रज्ञा बुद्ध होने के कारण पारमिता है। अतः तारा का सम्बन्ध प्रज्ञा पारमिता से सीधा जुड़ता प्रतीत होता है। तिब्बती धर्मग्रंथों में तारा के १०८ नाम है। जिनमे उसे 'मामकी' और 'डोलमा' भी कहा गया है।[१] तन्त्रयान सम्बन्धी अपनी पूर्व मान्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्कदगुप्त मे तारा का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन है।[२]

वस्तुतः काली का नामोल्लेख प्रसाद के नाटको मे नही पाया जाता किन्तु दस्युराज देवी की जिस उग्र मूर्ति के सम्मुख चीनी यात्री ह्वेनसाग की बलि देना चाहता है, वह सम्भवत. काली ही होगी, क्योकि वाममार्गी साधको एव दस्युओ की प्रधान आराध्या काली ही रही है, और इन्हे ही तत्रो मे महाविद्या कहा गया है।[३] हर्ष कालीन हिन्दू एव बौद्ध दोनो धर्मों तान्त्रिक क्रिया कलापो की प्रचुरता हो चली थी। बाण वस्तुत इस काल में महायान की तन्त्रयानी शाखा अपने चरम उत्कर्ष मे थी। बाण और ह्वेनसाग दोनो के विवरणो मे तान्त्रिक सिद्धियो का उल्लेख हुआ है। हर्षचरित मे भैरवाचार्य की तन्त्र साधना की आराध्या लक्ष्मी है काली नही। किन्तु बाण के ही 'चडी शतक' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काली की उपासना का पर्याप्त प्रचार था। बाण ने स्वय काली के बीस नामो का उल्लेख किया है।[४]

काली

ह्वेनसाग सम्बन्धी उक्त घटना का आधार ऐतिहासिक है। जब चीनी यात्री अयोध्या से पूर्व की ओर जल यात्रा कर रहा था तब कुछ डाकुओ ने नौका पर आक्रमण कर चीनी यात्री को बदी बना लिया, और अपनी आराध्या देवी के सम्मुख उसकी बलि देने लगे।[५] अतः इसमे किसी प्रकार भी सन्देह नही किया जा सकता कि हर्ष के काल मे काली की उग्र साधना का प्रचार था।

यहाँ पर दो शब्द नर बाल के सम्बन्ध में भी लिखना आवश्यक है। प्रसाद के दो नाटको में नर बलि की चर्चा हुई है। स्कदगुप्त नाटक में प्रपचबुद्धि महाश्मशान मे देवसेना की बलि देने का उपक्रम करता है और राज्यश्री में दस्युराज चीनी यात्री को बलिदेवी पर खडा करता है। यह कहना कठिन है कि स्कदगुप्त के काल मे नर बलि की प्रथा का प्रचलन था अथवा नही। वस्तुत' गुप्तकालीन ध्रुव अथवा चल इतिहास किसी से भी इस विषय से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध नही होती। उत्तरगुप्तकाल (हर्ष पूर्व से हर्ष के बाद तक)

---

(१) 'डोरमा : सी० तारा : सेवियरेस शी इज दि डिवाइन कनसर्ट ऑफ अवलोकितेश्वर। देअर आर नाउ टू रिकोग्नाइज्ड फौर्म्स ऑफ दिस गौडेस। दि ग्रीन डोलमा, ऐज वर्शिप्ड इन टिबैट ऐंड दि व्हाइट डोलमा ऐज वर्शिप्ड चीफली इन चाइना ऐंड मगोलिया।' प्रिंसिपल ऑफ तत्र : आर्थर ऐवेलन : पृ० ११६ फुट नोट

(२) देखिए इसी परिच्छेद में 'बौद्ध-धर्म'

(३) प्रिंसिपल ऑफ तन्त्र : आर्थर ऐवेलन : पृ० ४१६

(४) चडी शतक : बाण : १।२६७

(५) दि लाइफ ऑफ ह्वेनसाग : शमन्स हुइ ली ऐंड ऐन चुग : पृ० ८६, ८६

में नर बलि की प्रथा के प्रमाण मिलते है। हर्षचरित म प्रभाकरवद्धन के रुग्ण होने पर राजकुमारो द्वारा खुले मार्ग में नर मास बेचने का उल्लेख हुआ है।[१] ह्वेनसाग के अनुभव इस प्रथा की ओर स्पष्ट सकेत करते है।[२] भवभूति (७००-७५० ई०) के 'मालती माधव' मे श्मशान मे नरमास बेचता हुआ माधव किसी स्त्री की चिल्लाहट सुनता है। वहाँ जाकर देखता क्या है कि कापालिक अघोरघट, कराला देवी को मालती की बलि देने को तत्पर है।[३] वस्तुतः स्कदगुप्त की घटना मालती माधव की इस घटना के समीप है। कुछ भी हो यह कहना कठिन है कि प्रसाद ने किन प्रमाणो के आधार पर गुप्तकाल में नर बलि की प्रथा का वर्णन किया है। अत इस दृष्टि से इन पर विचार करना आवश्यक है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सिंहवाहिनी दुर्गा की उपासना का ई० पू० पहली शती में पूर्ण प्रचार था। हुविष्क के सिक्को में उमा की मूर्ति और एजेस प्रथम के सिक्को में सिंहवाहिनी अम्बिका अथवा दुर्गा का अकन हुआ है।[४] छठी सातवी शती और उसके उपरात दुर्गा पूजा सम्बन्धी पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। दुर्गा सप्तशती, चडी महात्यम एव मार्कण्डेय पुराण मे दुर्गा के महत्व की चर्चा हुई है।[५] अत. 'स्कदगुप्त' मे दुर्गा का उल्लेख अनुचित नही कहा जा सकता। जहाँ तक शची का प्रश्न है, वह इन्द्राणी है और उसकी नगरी अमरावती है।[६] इतिहास के किसी भी काल मे शची पूजन का महत्व नही प्रतीत होता। प्रसाद ने इसका उल्लेख इस अर्थ मे किया भी नही है।

प्रसाद के नाटको मे दो बार इद्र का नामोल्लेख हुआ है, और दोनो स्थानो में इन्द्र के दो विभिन्न स्वरूपो की ओर स्पष्ट सकेत मिलता है। 'अजातशत्रु' नाटक में

इन्द्र

इन्द्र का उल्लेख बौद्ध धर्म की उपासिका मल्लिका करती है और 'चन्द्रगुप्त' मे ब्राह्मण चाणक्य। मल्लिका तथागत के उपदेशो की प्रशसा करते हुए करती है 'कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की'।[७] इस वाक्य मे इन्द्र शब्द का प्रयोग निश्चय ही बौद्धो के 'सिक्के' (शुक्र) के अर्थ में हुआ। चाणक्य पाणिनि के सूत्र 'श्वयुपघोनामतद्धिते' पर तर्क करते हुए इन्द्र का उल्लेख करता है कुत्ता कुत्ता ही रहेगा, इन्द्र इन्द्र। ' नीचे के हाथ में इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है, उसे मैं भोग रहा हूँ'।[८] यहाँ इन्द्र वैदिक देवराज इन्द्र है। इन दोनो ही उल्लेखो से इन्द्र की गरिमा ध्वनित होती है।

चाहे बौद्धो का सक्क हो अथवा ब्राह्मणो का इन्द्र, दोनो का मूल वैदिक देवता इन्द्र ही है। समस्त ऋग्वेद के एक चौथाई मत्रो का सम्बन्ध इन्द्र से है। सामवेद में भी 'पुरुहूत पुरुष्टुत गाथान्या सनश्रु तम् इन्द्र इति ब्रवीतन' द्वारा इन्द्र की महत्ता का आभास मिलता

(१) हर्षचरित : बाण : पृ० १३५, १३५
(२) दि लाइफ ऑफ ह्वेनसाग : हुइ ली ऐड गेच चुग . पृ० ८६, ८६
(३) मालती माधव : भवभूति : अक ५
(४) माइनर रिलीजस सैक्टस : भट्टाचार्य : पृ० ४६७ ५) वही : वही : पृ० ४६७
(६) 'पुलोमजा शचीन्द्राणी नगरीत्वमरावती' अमरकोष १।१
(७) अजात० २।८३ (१) चन्द० १।८१

है। ब्राह्मण और बौद्ध दोनो के देवराज इन्द्र है।[1] प्रसाद स्वय इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम अभिषिक्त सम्राट मानते है।[2] नीचो के हाथ मे इन्द्र के अधिकार की चर्चा इन्द्र के सार्वभौम शासकत्व की ओर ही सकेत करती है। बौद्ध काल मे इन्द्र की पर्याप्त चर्चा थी। उक्त अनुमान का आधार जातक ग्रथो मे 'सक्क' सम्बन्धी अगणित उल्लेखो से होता है। किन्तु इन ग्रथो मे सक्क की स्थिति कुछ विचित्र सी है। वह वैदिक इद्र के समान असुरो का सहार करने वाला, गायो की रक्षा करने वाला और सोमपान कर जल बरसाने वाला देव नही है। यहाँ उसकी स्थिति पौराणिक काल के इन्द्र के अधिक समीप है। उसके लिए वह आदर का भाव नही जो वैदिक मत्र द्रष्टा ऋषियो के मन मे था। वह अधिक से अधिक बुद्धो का सेवक सा प्रतीत होता है। उसे अपने अधिकार के चले जाने का भय रहता है[3] और उसकी शक्ति भी सीमित है[4] कुछ भी हो अजातशत्रु मे इन्द्र की चर्चा का होना समीचीन है। हम पहले ही कह चुके है कि ब्राह्मण धम के दार्शनिक पक्ष का स्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य के काल मे विकसित हुआ था ऐसी स्थिति मे नाटक मे वैदिक देवताओ का उल्लेख अस्वाभाविक नही।

तपोवन में बैठा हुआ चाणक्य सविता की प्रार्थना करता है, "भगवान सविता, तुम्हारा आलोक जगत का मगल करे"[5] यह वाक्य सविता के वैदिक स्वरूप और गायत्री मत्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। सविता वेदो के तीन प्रमुख देवताओ मे से एक है। कही कही उसे ही सूर्य, सावित्री और आदित्य भी कहा गया है। कही तीनो को अलग-अलग भी माना गया है। कही वह 'द्यौ' का पुत्र है और कही अदिति का। एक मत्र में 'उपस्' उसकी प्रिया है और अन्य मे वह ऊपा का पुत्र कहा गया है।[6] प्रसाद का उपर्युक्त वाक्य ईशावास्योपनिषद के इस मत्र के कितने समीप है।

सविता

पूपन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन समूह
तेजो यत् ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि
यो सावसौ पुरुष. सो हमस्मि।

मौर्य काल मे सविता की उपासना का प्रचार या ब्राह्मण धम पर विचार करते हुए हम दिखला चुके हैं कि ग्रीक इतिहासकारो ने भारतीय ब्राह्मणो को सविता का उपासक बताया है।[7] सविता की उपासना का स्वरूप सातवी शती ई० तक भी अत्यत प्रचलित था। हर्ष के सबंध मे कहा गया है कि वह सूर्य की उपासना भी करता था। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि वैदिक काल से लेकर बहुत बाद तक सूर्य की उपासना होती रही है। कुछ प्राचीन मुद्राओ एव भरहुत के एक धातु पत्र मे सूर्य मानुषी मूर्ति का

(१) शिव जातक ५।४६६ (२) 'भारतवर्ष का प्रथम सम्राट' नागरी प्रचारिणी पत्रिका
(३) 'अय में सक्कता चावेय्य' अलम्बुस जातक ५।५२२
(४) 'महाराज अह सक्को अह देवराजा' ति न परेस चक्खु दातु सक्कोमि'
सिवि जातक ५।४६६
(५) चन्द. ४।२४५ (६) एक्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माईथौलोजी: डाइसन: पृ. ३१०
(७) देखिये इसी परिच्छेद में 'ब्राह्मण धर्म'

अ कन हुआ है। उसमे कमल के मधु कोप सूत्रो मे सूर्य की किरणो का भाव अ कित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ई० पू० तीसरी शती मे सूय की पूजा का पर्याप्त प्रचार था।[१] चन्द्रगुप्त मौय का काल भी ई० पू० तीसरी शती चौथी शती ही है। मौय काल मे सूर्योपासना के इस स्वरूप को देखते हुए चाणक्य द्वारा सविता के आवाहन मे ऐतिहासिक परपरा का यथातथ्य निर्वाह हुआ है।

'ध्वसमयी महामाया प्रकृति के निरतर सगीत' के सबध मे प्रसाद ने रुद्र का उल्लेख किया है।[२] इससे तुरन रुद्र के रौद्र और सहारकारी स्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित होता है। ऋग्वेद मे रुद्र साधारण श्रेणी के देवता है। समस्त ऋग्वेद

रुद्र

मे केवल तीन मत्रो मे ही उनका उल्लेख हुआ है। यहाँ वे भूरे रग, उज्जवल काति और सुन्दर अधरो से युक्त है। उनके हाथो मे वज्र और धनुषबाण है। यही इन्द्र के क्रोध का उल्लेख भी हुआ है। वे आँधी तथा विनाश के देवता है।[3] यजुर्वेद के काल तक आते आते रुद्र देवताओ की कोटि मे आ गये। कालान्तर मे रुद्र पूजा का समस्त भारत मे प्रचार हो गया और उनका सम्बन्ध शिव से जोडा जाने लगा। 'आप सतभ गृह्य सूत्र' एव कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे रुद्र को अधिक महत्व नही दिया गया है। अतः स्पष्ट है कि ई० पू० चौथी शती तक रुद्र की महत्ता स्थापित नही हुई थी।[४] गुप्त काल मे तथा उसके उपरान्त रुद्र अथवा शिव के मुखलिगो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के सिक्को मे शिव या रुद्र की नादी युक्त आकृतियो का अ कन मिलता है। उत्तर कुशान, कालीन मूर्तियो मे नादी के सहारे खडे हुए शिव और पार्वती की एक मूर्ति अत्यन्त ही प्रसिद्ध है।[५] अत. स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ईसवी मे रुद्र पूजा का प्रचार हुआ है और गुप्तकाल तक आते-आते वे महत्वपूर्ण देवता हो गये। वैष्णव होते हुए भी गुप्त शासको की एक उपाधि 'परम माहेश्वर' थी। यह उपाधि उनकी शिव भक्ति की ओर भी सकेत करती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र के जिन शको को पराजित किया वे शिव भक्त थे। सौराष्ट्र के उत्तर कालीन क्षत्रपो के सिक्को मे सर्वत्र शिव की मूर्तियाँ बनी हुई है।[६] अतः 'स्कदगुप्त' नाटक मे रुद्र की चर्चा किसी प्रकार भी इतिहास विरोधी नही कही जा सकती। अत. गुप्त काल मे रुद्र और उसके साथ साथ शिव का उल्लेख तर्क पूर्ण प्रमाणिक है।

इसी प्रसग मे 'महाकाल' सबधी चर्चा भी समीचीन है। 'स्कदगुप्त' नाटक मे ही 'उज्जयनी के महाकाल मदिर'[७] का उल्लेख हुआ है। शिव के नामो में से महाकाल भी एक

---

(१) माइनर रिलीजस सेक्ट्स : ऐच० डी भट्टाचाय : पृ० ४६५

(२) स्कद० १।४६

(३) इ टैलिजेंट मैन्स गाइड टु इ डियन फिलौसोफी : पाड्या। पृ० ३२,३३

(४) शैविज्म : टी० ऐम० पी० महादेवन, पृ० ४५३ ऐज ओफ इम्पीरियल यूनिटी

(५) वही : महादेवन : पृ० ४६१

(६) अर्ली हिस्ट्री आफ इ डिया : स्मिथ : पृ० ३१६

(७) स्कद० २,७५

है। रुद्र के सबध में लिखते हुए हम बतला चुके हैं कि वैदिक देवता रुद्र का सबध कालातर मे शिव से जुड गया और शिव स्वय प्रधान हो गए, रुद्र उनका एक विनाशकारी स्वरूप मात्र रह गया। कथासरित्सागर मे 'विषय शील लम्बक' मे उज्जयिनी के शिव का उल्लेख हुआ है और विक्रमादित्य को उसी का प्रसाद स्वरूप माना है।[1] कालिदास ने मेघदूत मे उज्जयिनी के महाकाल की आरती का जो मधुर चित्र खीचा है,[2] उससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि गुप्तकाल में 'उज्जयनी के महाकाल' की उपासना का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। यहाँ इससे कोई अन्तर नही पडता कि कालिदास ई० पू० प्रथम शती में थे अथवा प्रसाद की मान्यताओ के अनुसार स्कदगुप्त (ईसवी ६ शती) के समय में।

गुप्तकाल मे विष्णु का पूजा का सर्वाधिकार प्रचार था। गुप्त शासक स्वय भागवत धर्म मानते थे। वस्तुत. गुप्तकाल मे भागवत धर्म का प्रचार समुद्रगुप्त के काल से हुआ होगा क्योकि 'गया के ताम्रपत्र' में उसकी उपाधि 'परम भागवत महाराजाधिराज'[3] है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के एव गढवा के शिलालेखो[4] एव नालन्दा की कुछ मुद्राओ[5] में उसकी उपाधि 'परमभागवत' है।

चक्रपाणि भगवान

इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के भिटारी[6] और गढवा के शिलालेखो[7] एव स्कद के बिहार के शिलालेख[8] मे 'जितम् भागवत' एव 'परमभागवत' शब्दो का प्रयोग हुआ हे।

वैष्णव धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वैदिक विष्णु और वासुदेव कृष्ण का एकीकरण हे।[9] ई० पू० दूसरी शती मे ग्रीक शासक अन्तौऐलकिडस के राजदूत हैलियोडोरस ने विदिशा में गुरुडध्वज स्तभ का निर्माण किया था। उक्त ग्रीक शासक स्वय वासुदेव का भक्त था।[10] अतः इसमे सदेह नही कि गुप्त काल तक आते आते वासुदेव, कृष्ण, नारायण और वैदिक विष्णु एक हो गए और वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म मे इन सबकी उपासना समान रूप से प्रचलित हो गई। हुविष्क की कुछ मुद्राओ मे शख चक्र गदा तथा आवर्त (कमल के स्थान पर) साधारण किये हुए विष्णु का अकन हुआ हे।[11] हुविष्क का काल दूसरी शती ईसवी है[12] अतः इस सम्बध में कोई सन्देह नही किया जा सकता कि

---

(१) कथासरित्सागर . सोमदेव : विषमशील लम्बक

(२) अप्यन्यस्मिन्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्य ते नयन विषय यावदत्येति भानु :
कुर्वन्सध्या बलिपटहता शूलिनः श्लाघनीया
मान्द्राणा फलमविकल लप्स्यसे गर्जितानाम्   पूर्व मेघ ३८

(३) फ्लीट : ६० : पृ० २५६   ४) वही : २ पृ० २७ :७: पृ० ३७

(५) मैंमोइर्स औफ प्राकेलोजिकल सर्वे आफ इडिया:हीरानन्द शास्त्री:न० ६६ पृ० ६४,६६

(६) फ्लीट : ८ : पृ० ४० (७) वही . ६ : पृ० ४१ (८) वही : १२ : पृ० ५०

(६) वैष्णविज्म : डी० सी० सरकार पृ० ४३५

(१०) वही : वही ' पृ ४३२ : दि एज औफ इम्पीरियल युनिटी :

(११) वही : वही : पृ० ४३६   (१२, अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया पृ० २८७

दूसरी शती में विष्णु के चक्रपाणि एव चतुर्भुज स्वरूप के पूजा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। स्कदगुप्त के जूनागढ के शिलालेख का प्रारम्भ ही विष्णु की प्रार्थना से हुआ है, और उसमें उन्हे 'कमलनिलयनाया (शाश्वत धाम लक्ष्म्या, स जयति विजितार्त्तिविष्णुरत्यन्त जिष्णु, कहा गया है।[1]

विष्णु के ही इतर स्वरूपो में 'शेष पर्यंकशायी' एव 'वटपत्रशायी विष्णु' के उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। मातृगुप्त के एक काव्य में 'शेष पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ' का उल्लेख हुआ है।

शेष पर्यंकशायी वटपत्रशायी

गुप्त काल 'भागवत धर्म में विष्णु के सभी अवतारो एव सभी रूपो की उपासना का प्रचार हो चला था। 'जगत् के एकार्णनी हो जाने पर भगवान विष्णु कल्यान्त तक शेष शय्या मे योगनिद्रा के वशीभूत रहते है।[2] मार्कण्डेय पुराण के इस उल्लेख मे शेष पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ विष्णु ही है। कालिदास के रघुवश मे विष्णु के शेषशायी स्वरूप की चर्चा हुई हैं।[3] इसी प्रकार 'वट पत्र शायी' विष्णु का पूजन भी गुप्त काल में अवश्य ही प्रचलित रहा होगा।

प्रसाद ने स्कंदगुप्त नाटक में ही विष्णु के अन्य अवतारो में से राम और कृष्ण का उल्लेख भी किया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि गुप्त काल भागवत् धर्म के अभियुत्थान का

राम और कृष्ण

काल था, फलत विष्णु और उनके अवतारो की पूजा और चर्चा उस काल की धार्मिक स्थिती के सहज परिचायक हैं। भागवत धर्म की सबसे बडी विशेषता ही विष्णु और वासुदेव कृष्ण की अभिन्नता थी। कालिदास के रघुवंश में राम कथा का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।[4] उसी में कौस्तुभ मणि से युक्त कालियमर्दन करने वाले कृष्ण की चर्चा भी हुई है।[5] कालिदास ने स्वय 'गोपवेषय विष्णो'[6] लिखकर कृष्ण का विष्णु से सीधा सम्पर्क स्थापित कर दिया है।

अप्सरा और सुरसुन्दरियो की कल्पना भारत की अत्यन्त प्राचीन कल्पना है। ये स्वर्ग की नर्तकियाँ हैं। वेदो में उषा की भी नर्तकी से उपमा दी गई है[7] पौराणिक कथाओ में तो

अप्सरा

अप्सराओ का प्रचुर उल्लेख मिलता है। भरत के नाटयशास्त्र से ज्ञात होता है कि नाटक में स्त्री पात्रो के लिए अप्सराओ की सृष्टि की गई थी।[8] कुछ भी हो अप्सराओ की कल्पना का गुप्तकाल में भी प्रचलन रहा होगा। प्रसाद ने उवशी और रम्भा की चर्चा की है इन दोनो अप्सराओ का उल्लेख कालिदास के 'विक्रमोवशीय' नाटक मे हुआ है।

---

(१) सलैक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, सरकार न० २५

(२) 'योगनिद्रा यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पान्ते भगवान प्रभु.'

(३) भोगिभोगासनासीन ददृशुस्तत दिवोकस तत्फणामण्डलोदर्चिः मणिद्योतित विग्रहम् (रघुवश) १० ७ योग निद्रात विशदै पावनैरवलोकनै (रघुवश) १० १४

(४) रघुवश सर्ग ६ (५) त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणि विसृष्ट यमुनौकसा य वक्ष.स्थल व्यापि रुचद धान सकौस्तुभ ह्रेपयतीव कृष्णम् (रघुवश) ६ ४६

(६) मेघदूत (७) ऋग्वेद (८) नाट्यशास्त्र

मानवेतर जातियो यक्ष भी अप्सराओ की ही कोटि में माने जाते हैं।[1] अप्सराओं की तरह यक्ष कल्पना भी प्राचीन है। बौद्ध जातको मे यक्ष सबधी प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।[2]

यक्ष

उपाध्याय इस सबध मे लिखते हैं कि व्यवस्थित यक्ष उपासना मौर्य काल के आसपास विकसित हो चुकी थी। भारतीय मूर्तिकला का सर्व प्राचीन नमूना ही एक यक्ष की विशालकाय मूर्ति है। उनका अनुमान है कि कम से कम गुप्त काल तक यक्ष की पूजा का बराबर प्रचार रहा होगा।[3] प्रसाद ने यक्ष का उल्लेख एकमात्र 'राज्यश्री' मे किया है। इतिहास की दृष्टि से हर्ष का काल उत्तर गुप्त काल ही माना जायगा। उक्त उल्लेख में यक्ष की शक्तियो की भी चर्चा हुई है। उसे बाण मारने पर वह लौट कर आ जाता है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद ने यक्ष की शक्तियो का उक्त स्वरूप पचाधुप जातक' से लिया है। उक्त जातक से ज्ञात होता है कि 'बोधिसत्व ने हलाहल विष से बुझा तीर चढाकर छोडा। वह जाकर यक्ष के रोमो में ही चिपक गया'''यक्ष ने उन सभी तीरो को तोड मरोड कर अपने पैरो के नीचे गिरा दिया और बोधि-सत्व के समीप आया।

भैरव भैरवी

भूतनाथ शिव के कई गणो मे से भैरव और भैरवी भी है। दक्ष यज्ञ मे सती के भस्म हो जाने की सूचना जब नन्दी के द्वारा शकर को मिली तो उनके क्रोध से भयकर स्वरूप वाला भैरव उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वीरभद्र था। इसी वीरभद्र ने दक्ष यज्ञ का ध्वस कर दक्ष का वध किया। तन्त्रो में जगदम्बा की अनेक शक्तियो मे से भैरवी भी एक मानी गई है।[5] यह कहना कठिन है कि गुप्तकाल मे भैरव भैरवी का क्या स्थान था। इतना अवश्य माना जा सकता है कि सभवतः महाकाल, रुद्र और शिव की पूजा के साथ भैरव की पूजा भी होती हो, अथवा तन्त्र सिद्धियों के लिए भैरवी चक्र की साधना में भैरवी का भी पूजन किया जाता हो।

अपदेवता

इनके अतिरिक्त राज्यश्री में 'अपदेवता' का उल्लेख भी हुआ है। सभवतः इससे प्रसाद का अभिप्राय अपकार करने में सतत उद्यत रहने वाले भूत प्रेतो से हो। तन्त्र ग्रन्थो मे भूत पिशाच, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व एव भैरव सभी अपदेवता माने गये हैं।[6] हम यह मान चुके हैं कि यक्ष और भैरव सबधी उल्लेख इतिहासानुमोदित हैं अतः यह सभव है कि उत्तर गुप्त काल में अन्य लोकविश्वासो की तरह अपदेवता सबधी विश्वास भी अत्यन्त प्रचलित रहा हो। स्वय प्रसाद ने अपने नाटको में यत्र तत्र पिशाचिनी,[7] चुडैल,[8] पिशाच,[9] प्रेत[10] इत्यादि का उल्लेख किया है। वस्तुत ये लोक विश्वास परम्परागत है, और आज भी प्रायः अपने मूल स्वरूप में ही विद्यमान हैं। चुडेल' की कल्पना अवश्य बहुत बाद की प्रतीत होती है।

---

(१) 'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षो गधर्व किन्नरा' अमरकोश (२) जातक १ ६. ५५

(३) 'ए रेग्युलर यक्ष कल्ट सीम्स टु हैव डैवलप्ड ऐज अर्ली ऐज दि मौर्यन पिरियड ऐंड न्यू-मैरस इक्सटेंट इमेजेज औफ दि यक्षाज सपोर्ट दि व्यू देट देयर वर्शिप हैड स्प्रैड ओवर ए लोग रेंज औफ टाइम गउन टु दि गुप्ता पीरियड'।—इंडिया इन कालिदास पृ० ३१८

(४) राज्यश्री (५) प्रिंसिपल औफ तन्त्र : आर्थर ऐवेलन : पृ० ४१६

(६) चिदम्बर सहिता योग रत्नावली, देवी कवच : सप्तशती : (७) स्कंद० २०६४

(८) राज्यश्री १४७ (९) स्कद० २.६३, ६४ (१०) वही २.६६

लोक-विश्वास

सभी कालो और सभी देशो मे लोगो में कई प्रकार के लोक-विश्वास पाये जाते हैं। इस प्रकार के लोक-विश्वास स्वर्ग-नरक की कल्पनाओ से लेकर शकुन अपशकुन तक को अपने मे समेटे चलते हैं। प्राचीन भारतवर्ष मे भी इस प्रकार के तर्क-शून्य अन्धविश्वासों अथवा प्रचलित लोक-विश्वासो की कमी नही थी, और न आज ही ऐसा है। प्रसाद के नाटको में कई प्रकार के लोक विश्वासो का उल्लेख हुआ है।

वाराहमिहिर के अनुसार धूमकेत आदि केतुओ का उदय और अस्त मनुष्यो के लिए उत्पात रूप होता है। ये धूमकेतु कई रगो के होते है और विभिन्न रगो और आकार के

(१) धूमकेतु

अनुसार अलग अलग फल देने वाले होते है। 'धूम्र-ताम्र की-सी कातिवाला धूमकेतु अनिष्ट फल देता है। राजमहल, वृक्ष और पर्वत पर प्रकट होने वाला धूमकेतु राजाओ का नाश करने वाला होता है।[१] प्रसाद ने धूमकेतु को 'नील लोहित रग का'[२] और 'भयावनी पूँछ वाला'[३] माना है। यह 'आकाश का उच्छृखल पर्यटक है'[४]–कब इसका उदय और अस्त होता है यह कोई नही कह सकता। धूमकेतु का उदय राष्ट्र या देश के लिये असगल सूचक है, और इसके अशुभ का निवारण करने के लिये शान्ति कराना आवश्यक माना है। शकराज के दुर्ग की ओर भयानक सकेत' करने वाला धूमकेतु उसके विनाश का पूर्व सूचक बना। अन्यत्र भी लाक्षणिक रूप में धूमकेतु का प्रयोग प्रसाद ने किया है।[५] नारद और बाराह-मिहिर इत्यादि ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में उदय होने वाले केतुओ के विभिन्न देशो पर पडने वाले प्रभाव की चर्चा के साथ साथ, उनकी शान्ति के उपाय भी बताये हैं। कालिदास ने तारकासुर को 'लोक की अशान्ति' के लिए धूमकेतु कहा है।[६] बाण ने स्थाण्वीश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के पूर्व होने वाले जिन सोलह प्रकार के महोत्पातो का वर्णन किया है, उनमें धूमकेतु का उदय भी एक है। राजा के अनिष्ट की सूचना देने वाला धूम्रावेष्टित अग्निज्वाल से युक्त धूम्रकेतु आकाश में उदय हुआ।[७] स्पष्ट ही

---

(१) बृहत्सहिता—(वाराहमिहिर) वी० सुब्रह्मण्य शास्त्री

पश्चात् सन्ध्याकाले सवर्तो नाम धूम्रताम्रशिखः।
आक्रम्य वियत्त्र्यंश शूलाग्रावस्थितो रौद्रः॥
यावन्त्येव मुहूर्त्तान् दृश्यो वर्षाणि हन्ति तावन्ति।
भूपान् शस्त्र निपातैरुदयर्क्षं चापि पीडियति। —११।५१—५२

(२) ध्रु०व० २।४४ (३) वही २।४४ (४) वही २।४४
(५) स्कन्द० ३।८६ (६) कुमार सभव २।३२ (७) हर्षचरित ५।१४४

धूमकेतु सम्बन्धी लोक-विश्वास का सम्बन्ध ज्योतिष के एक अङ्ग से जो पर्याप्त प्राचीन है—इतिहासकारो के अनुसार कम से कम गुप्त-कालीन तो है ही। धूमकेतु के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण प्रसाद से मिलता जुलता है।

(२) उल्कापात

कभी कभी जलते हुए डण्डे या मुग्दर की आकृति के पिण्ड आकाश से पृथ्वी की ओर गिरते हुए दिखाई देते हैं। इनकी लपक नीले रग की होती है। इन्हे ही उल्कापात कहते हैं।[१] ये उल्कायें भी कई प्रकार की होती हैं और धूमकेतु के समान ही विनाश की सूचक है।[२] प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' मे अमावस्या के दिन नीलगगन से भयकर उल्कापात' की सूचना देकर कुमारगुप्त की मृत्यु की ओर सकेत किया है।[३] लाक्षणिक रूप में भी स्कन्दगुप्त विजया को अपनी सुखशर्वरी का उल्कापिंड कहकर अपनी आजीवन अशान्ति की सूचना देता है।[४] हर्ष-चरित में भी ठीक इसी प्रकार उल्कापात को महोत्पात कहा गया है।[५]

दिग्दाह।

धूमकेतु के समान ही दिग्दाह भी अपशकुन, विप्लव और विनाश का सूचक माना गया हे। दिशाओ की यह अग्नि यदि पीली हो तो राजा का और अग्निवर्ण हो तो राष्ट्र का और यदि ललाई से युक्त हो तो धान्य का नाश होता है।[६] 'लाल बादलो में दिग्दाह का धूम' नन्द वश विकाश का सूचक है।[७] बाण गिनाए हुए सोलह उत्पातो मे दिशाओ दिग्दाह से लोहूलुहान हो जाना भी एक है।[८]

(४) प्रतिमा का हंसना

प्रतिमा सबधी अपशकुन भी पर्याप्त प्राचीन है। वाराहमिहिर ने अलग अलग प्रकार की प्रतिमाओ में किसी भी प्रकार के अस्वाभाविक लक्षण प्रकट होने पर उनके शुभाशुभ का निर्णय कर उनकी शाति का विधान किया हे।[९] हर्षचरित में 'प्रतिमा के केशो का धु धुआना' भी एक उत्पात माना गया है।[१०] मानस के एक व्याख्याकार ने इस सबध में एक टिप्पणी इस प्रकार दी है—"जिस देश में कुए गरजते हैं और प्रतिमा हसती हे, उस देश का नाश होता है—ऐसा मुनियो का मत है। यहाँ वे हंसने और मुस्कराने मे अन्तर मानते हुए मूर्ति के ठठाकर हसने को अपशकुन मानते है।[११] 'राज्यश्री' में ग्रहवर्मा की विजय के निमित्त प्रार्थना करने के

---

(१) बृहत्सहिता ३३ श्लोक १—३०

(२) दिविभुक्तशुभफलाना पतता रूपाणि यानि तान्युल्काः
धिष्ण्योल्काशनिविद्यु त्तारा इति पचधा भिन्ना : ॥—बृहत्सहिता ३३।१

(३) स्कन्द० १।२६, १।३३ (४) स्कन्द० ३।८६

(५) हर्षचरित ५।१४४ (६) दाहो दिशाराजभयाय पीतो देशस्य नाशाय हुताशवर्णः।
यश्चारुणः स्यादपसव्यवायु स स्यस्य नार्श स करोति हष्ट ।—
—बृहत्सहिता (वाराहमिहिर) ३१।१

(७) चन्द्र० २।१७४ (८) हर्षचरित ५।१४४

(६) हत्साहित अ० ६४। श्लोक ६ (१०) हर्षचरित ५।१४५

(११) गर्जन्ति कूपाः प्रतिमा हसन्ति। तद्देश नाशो मुनियोः बदन्तिः।
मानस पीयूष (शीतला सहाय) वालकाण्ड २३५

लिये राज्यश्री मन्दिर में जाती है, पर सहसा अट्टहास सुनकर प्रतिमा के हसने की अपशकुन की आशका से वह मूर्छित हो जाती है। उसी समय सचमुच ग्रहवर्मा की मृत्यु का समाचार भी मिलता है।[१]

भविष्यवाणी

प्राचीन काल में सिद्ध-महात्माओं के मुख से नि.सृत भविष्यवाणियों पर लोगों का बहुत विश्वास था। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार भारत के कई ब्राह्मण सही सही भविष्यवाणियाँ किया करते थे। यदि दैवत् किसी की वाणी ठीक नहीं उतरती तो वह आजन्म मौन धारण कर लेता था।[२] कालिदास ने 'दैवचिंतकों' के रूप में जिन भविष्यवाणियों का उल्लेख किया है। उनका सबध ज्योतिष शास्त्र से है।[३] 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दाड्यायन अलक्षेन्द्र को सावधान करते हुए चन्द्रगुप्त के भावी भारत सम्राट होने की भविष्यवाणी करता है।[४] सिकन्दर जैसे विदेशी और वीर पुरुष को भी 'भविष्यवाणियों' के प्राय: सत्य होने में विश्वास है।[५]

(६) ज्योतिष

कालिदास के दैवचिन्तक के समान ही शुक्रनीति में ज्योतिष के लक्षण और कर्त्तव्यों का उल्लेख मिलता है।[६] इन ज्योतिषियों में एक प्रकार के ज्योतिषी 'मौहूर्तिक' कहलाते थे। इनका कार्य मुहूर्त का शुभा-शुभ विचार करना होता था। इसके अतिरिक्त सभवतः वे विवाह के लिये वर कन्या की कुंडली का मिलन भी किया करते थे। अर्थशास्त्र में मौहूर्तिक का उल्लेख मिलता है। ऐसे मौहूर्तिक राज भृत्य होते थे और उन्हे एक सहस्र मुद्रा वार्षिक वेतन मिलता था।[७] 'हर्षचरित' में गणक[८] और मौहूर्तिक[९] दो प्रकार के ज्योतिषियों का उल्लेख हुआ है। राज्यश्री के विवाह के लिये कुण्डली मिलाने की चर्चा तो उसमें नहीं है किन्तु गणक द्वारा लग्नशोधन का उल्लेख अवश्य किया किया है।[१०] किंतु वात्स्यायन ने विवाह के निर्णय के लिये वर और कन्या के विभिन्न प्रकार के साम्य निश्चित करने की चर्चा की है।[११] वात्स्यायन का युग भारतीय नक्षत्र विद्या तथा ज्योतिष शास्त्र दोनों के विकास और उत्थान का काल था। और उसी समय वाराहमिहिर जैसे आचार्यों ने उक्त शास्त्र का विस्तार किया।[१२] अतः विवाह के सम्बध में ग्रह विचार को यदि प्राचीन मान लिया जाय तो कोई विशेष आपत्ति नहीं।

तान्त्रिक ।

बौद्ध धर्म के पतन काल में तन्त्रयान का विकास हुआ और तन्त्र सिद्धि में लोगों का विश्वास होने लगा। स्कदगुप्त नाटक प्रपचबुद्धि वस्तुत ह्रासोमुख बौद्धधर्म का प्रतिनिधि है। वह प्रज्वलित कठोर नियति का नील आवरण उठाकर झाँकने वाला है।[१३] भूत, भविष्य और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा है।[१४]

---

(१) राज्यश्री १।२३ (२) एंशिएट इंडिया (मैक्रिंडल) पृ० १९६-१७ (मेगास्थनीज, एरियन)
(३) मालविक ४।६ (४) चन्द्र० १।१० (५) चन्द्र० २।१११
(६) शुक्रनीति २।८० (७) अर्थशास्त्र ५।३।१४ (८) हर्षचरित ४।१४२
(९) हर्षचरित ४।१४६ (१०) गणनाभियुक्त गणक ग्रह्यमाण लग्न गुणम्। —वही ४।१४२
(११) कामसूत्र (स्टडीज इन—प० कल्चर) पृ० १२६ (१२) वही पृ० १२६
(१३ स्कद० (१४) वही २।६०

कुमारगुप्त की मृत्यु उसके मारण-प्रयोग का परिणाम है और इस प्रयोग के लिए वह भाद्रपद की अमावास्या का दिन चुनता है ।[१] अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह महाश्मशान मे उग्रतारा की साधना करता है और यस के लिए नरबलि देने में भी नही हिचकता ।[२] प्रचीन भारत में इस प्रकार के ताँत्रिक और उनकी मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि अभिचार क्रियाओ पर लोगो का पूरा विश्वास था । बाइ सर के बुद्ध धर्म सबधी विवरणो में ४०० ई० के आसपास एक काश्मीरी भिक्षु का उल्लेख मिलता है जो अपनी तान्त्रिक सिद्धि के बल पर राज्यो के सबध में भविष्यवाणियाँ किया करता था । और उसके ये भविष्यकथन अधिकतर सत्य होते थे ।[३] ह्वेनसाँग के वर्णनो से ज्ञात होता है कि देवी के उपासक तान्त्रिको मे नरबलि की प्रथा थी ।[४] हर्षचरित्र में भैरवाचार्य के क्रिया-कलापो के अतिरिक्त नरमास विक्रय के उल्लेखो से तान्त्रिको-सिद्धियो एव नरबलि की ओर प्रत्यक्ष सकेत किया गया है ।[५]

---

(१) स्कद० १।२६ (२) वही ३।६१ (३) बुद्धिज्म (रेडवर्ड कौज पृ० ७६)
(४) लाइफ आफ ह्वेनसान पृ० ८६ (५) हर्षचरित .. तृतीय और पचम उच्छ्वास ।

प्रणय विवाह

प्रसाद के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों में प्रणय तथा विवाह के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई है। परन्तु प्रणय के सम्बन्ध में प्रसाद ने अपने पात्रो को जितनी अधिक स्वतन्त्रता दे रखी है, उतनी स्वतन्त्रता कम से कम प्राचीन भारतीय समाज मे भी मिलनी कठिन थी। प्रसाद स्वतन्त्र प्रेम को अपना लक्ष्य मानकर चले हैं। स्वभावतः उनकी नारियाँ भी उसी आधार को लेकर प्रणय के क्षेत्र में आँख मूंदे चल पडी है। "बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता, न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्य किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि। बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने, पुत्राणा भर्तरि प्रेतने भवेत्स्त्रीस्वतन्त्रताम्"।[1] लिखने वाला समाज का अधिष्ठाता पता नही प्रसाद के प्रेमी प्रेमिकाओ के विषय में क्या मन्तव्य प्रगट करेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्मुक्त प्रेम के जिन नाना स्वरूपो को चित्रित कर सकने में प्रसाद सफल हुए हैं वे सभी प्रसाद की स्वच्छन्द प्रेम सम्बन्धी भावनाओ के परिचायक तो अवश्य है किन्तु प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित प्रणय सम्बन्धी परिस्थितियो के यथातथ्य अकन नही हैं। यहाँ सामान्यता एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवि एव नाटककार ने अपने काव्य और नाटको में भी उन्मुक्त और उद्दाम प्रणय के मनोरम चित्र खींचे हैं और इसमें उन्होने भी सस्कृत के प्राचीन कवियो द्वारा प्रस्तुत शृगार योजना की परम्परा का ही निर्वाह किया है। अतः यह मानना अनुचित नही कि प्राचीन भारतीय समाज प्रणय सम्बन्धी स्वतन्त्रता का पक्षपाती रहा होगा। किन्तु यहाँ दो बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। जहाँ तक काव्यग्रथो का प्रश्न है, उनमें कवि स्वतन्त्र्य और कवि कल्पना को धरती का क्रोड छोडकर आकाश में उन्मुक्त विहार करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। अधिकाश नाटक ग्रथो मे भी कथानको के पौराणिक अथवा दत कथाओ के लिखित स्वरूप से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्ति सम्बन्धी प्रणय की स्वच्छन्दता का चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए कथासरित्सागर के उदयन सम्बन्धी एक ही कथानक को लेकर लिखे गए भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' और श्री हर्ष की 'रत्नावली' को लिया जा सकता है। इन दोनो नाटको में उदयन के ऐतिहासिक चरित्र की ओर इतना ध्यान नही दिया गया है। उसका प्रणय व्यापार ही नाटककार का लक्ष्य है। साथ ही इस प्रकार के नाटको में नायक के धीरोदात्त होते हुए भी उसको एक सम्माननीय सस्था का स्वरूप देने का प्रयास नही किया गया है। यही बात कालिदास* तथा सस्कृत के अन्य बहुत से नाटककारो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसके ठीक विपरीत विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' एव 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में ऐतिहासिक पक्ष की प्रधानता होने के कारण तत्कालीन समाज द्वारा निर्धारित एव सयत शृगार एव प्रणय का अकन मिलता है। प्रसाद के नाटक रचना-तन्त्र की दृष्टि से दूसरी कोटि के हैं, अर्थात् ऐतिहासिक हैं, अतः इन नाटको मे चित्रित प्राचीन भारतीय समाज मे स्वच्छद प्रणय की चर्चा नाटक के ऐतिहासिक स्वरूप को कुछ भ्रष्ट अवश्य कर देती है।

---

(१) मनुस्मृति ५।४७, ४८

किन्तु कालिदास जैसे नाटककारो की रचनाओ पर भी सूक्ष्म विचार करने के उपरान्त यह निष्कर्ष अच्छी तरह निकाला जा सकता है कि कालिदास के काल मे भी स्वच्छन्द प्रणय की सभावनाएं अधिक नही थी। अभिज्ञान शाकुतल मे दुष्यत कहता है 'सुना जाता है (श्रूयते) कि अनेक राजकन्याओ का विवाह गाधर्व पद्धति से हुआ और उनके माता पिता ने इस प्रकार के विवाह का अनुमोदन किया'।[1] इससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक गाधर्व विवाह जैसी स्वतत्र विवाह की पद्धति की मान्यता कम हो चली थी।[2] श्लोक मे 'श्रूयते' (सुना जाता है) शब्द यही सूचित करता है कि उस समय उन्मुक्त प्रेम के फलस्वरूप होने वाले विवाह अधिक प्रशसनीय नही माने जाते थे। अतः प्रसाद के नाटको के किसी भी काल मे स्वतत्र-प्रेम जन्य विवाह सामाजिक रिवाज के रूप मे प्रचलित नही थे, भले ही कही एकाध इस प्रकार होते रहे हो। स्मृति ग्रन्थकारो द्वारा ही नही वरन् कामसूत्र प्रणेताओ द्वारा भी समाज मे स्वच्छन्द और उन्मुक्त प्रणय सम्बन्ध वाछनीय नही माना है।[3]

प्रसाद के नाटको मे प्रणय के दो रूप मिलते हैं। एक समाज मे स्वच्छन्द प्रेम, जिसमे देश, काल, जाति वर्ग का कोई भेदभाव नही। उदाहरण के लिए श्रेष्ठी कन्या विजया का स्कद, भटार्क तथा कही-कही पुरगुप्त के प्रति प्रेम,[4] शातिभिक्षु की महारानी राज्यश्री के प्रति आसक्ति[5], मालवराज देवगुप्त का सुरमा मालिन के प्रति प्रेम,[6] सिन्धु देश की साधारण कन्या मालविका का महाराज चद्रगुप्त के प्रति प्रेम,[7] लिये जा सकते हैं। यह इस प्रकार का उच्चश्रृखल प्रेम प्रतीत होता है जिसे समाज ने मान्यता दे दी हो, और समाज का एक सामान्य व्यापार हो। प्रणय का दूसरा प्रकार समान कुलशील और स्थिति के व्यक्तियो मे विवाह से पूर्व प्रेम सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए बाजिरा अजातशत्रु[8], चन्द्रगुप्त कार्नेलिया[9], अलका सिंहरण[10], स्कद देवसेना[11], का प्रेम लिया जा सकता है। इसमे सदेह नही कि इस प्रकार के प्रेम सम्बन्धो पर कोई आक्षेप नही किया जा सकता। ये सब सास्कृतिक एव ऐतिहासिक सभाव्यताएं होने के साथ-साथ प्राचीन नैतिकता एव सामाजिक नियमो के विरोध मे भी नही हैं।

---

१. अभिज्ञान शाकुतलम् (कालिदास) ३ २०

. 'दि कस्टम हैड लौग बिकम ओबसोलीट ऐंड फ्रौम दि ऐवव इन्जक्शन्स ओफ दि पोयट इट इज इविडेन्ट दैट इट वाज ऐटलीस्ट नौट प्रिवेलैंट ड्यूरिंग दि टाइम ओफ दि पोयट, इक्सेप्ट परहैप्स इन केस ओफ ए फ्यू लौक्सिटीज व्हिच ही सीम्स टु डैप्रिकेट।'

इन्डिया इन कालिदास (भगवतशरण उपाध्याय)

पृ० १८२

(३) कामसूत्र (वात्स्यायन)

(४) स्कद० २।५१, २.७५, ३।६४

(५) राज्यश्री १।२४

(६) राज्यश्री १।२२

(७) चद्र० ४।२०७

(८) अजात० ३।११४

(९) चद्र० १।६२

(१०) चद्र० २।१५६

(११) स्कद० ३।६७

प्रसाद के द्वारा चित्रित समाज मे स्त्री पुरुष का स्वतन्त्र प्रणय चाहे वह कालान्तर मे विवाह सम्बन्ध के रूप में परिणत हुआ हो, अथवा न हुआ हो अन्यत्र प्रचुर परिमाण मे मिलता है, और ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह उस काल के समाज में सहज था। वह प्रणय कभी स्त्री की ओर से मुखर होता है और कभी पुरुष की ओर से। वाजिरा[1], कोमा[2], विजया[3] सुवासिनी[4] और कल्याणी[5] का प्रणय नारी की ओर से मुखर हुआ है। अलका[6], कार्नेलिया[7], मालविका[8], ध्रुवस्वामिनी[9], देवसेना[10] तथा सुरमा[11] का प्रणय या तो पुरुष की ओर से मुखरित हुआ है, या दोनों के सम्बन्धो के क्रमिक विकास से। इससे प्रतीत होता है कि विवाह से पूर्व प्रेम के सम्बन्ध मे पुरुष और स्त्री दोनो स्वतंत्र थे। उन दिनो जाति-पाँति और देश काल मे परे पारस्परिक प्रेम का ही अधिक महत्त्व प्रतीत होता है। चाहे स्त्रियाँ कुलीन राजकुमारियाँ हो चाहे वे साधारण मालिन दोनो ही उन्मुक्त और स्वतंत्र प्रेम का आश्रय लेती है, और समाज इसमे किसी भी प्रकार का अवरोध उपस्थित नही करता। इस समाज के नारी पुरुष के प्रणय का अन्त विवाह मे ही हो यह आवश्यक नही, वरन् प्रणय केवल प्रणय के लिये भी किया जाता है। प्रेम और प्रणय का कोई देश काल नही होता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे उसके स्वरूप मे भिन्नता भले ही हो, परन्तु वह किया अवश्य जाता है। प्रसाद के नाटको मे विवाह से पूर्व प्रणय का कोई निश्चित स्वरूप नही मिलता। कही कही तो प्रथम दर्शन मे ही स्त्री पुरुषो मे प्रणय अकुरित हो जाता है और कालान्तर मे परिस्थितियो के कारण घट बढ जाता है। कही बाल्यावस्था के परिचय से प्रेम का विकास दीख पडता है, कही केवल सौन्दर्य और कही कला प्रणय के माध्यम रहे हैं। विजया और अलका का प्रेम प्रथम प्रकार का प्रेम है, सुवासिनी विष्णुगुप्त, कल्याणी चन्द्रगुप्त और कोमा शकराज का प्रेम दूसरे प्रकार का है, देवसेना और कार्नेलिया का प्रेम तीसरे प्रकार का है, वाजिरा का प्रेम सौन्दर्यशक्ति है और सुवासिनी तथा राक्षस का प्रेम अन्तिम प्रकार का है। प्रेम के इन प्रकारो का इतिहास साक्षी नही हो सकता। हाँ विवाह से पूर्व के प्रणय के महत्त्व का साक्षी 'आपस्तम्ब गृह्य सूत्र[12], का यह वाक्य है 'जिससे मन और चक्षु आबद्ध हो जाय उसी से ही विवाह करना वाछनीय है। किन्तु इसका अर्थ यह नही, प्राचीन भारतीय सास्कृतिक इतिहास मे अनुराग और प्रणय के स्वरूप उपलब्ध नही होते। जातक ग्रथो, नाटको, काव्य ग्रथो एवं सास्कृतिक इतिहास की अन्य सभी उपलब्ध सामग्री मे इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी नारी और पुरुष के इस स्वाभाविक आकर्षण की मधुरता यथावत् थी। ऊपर 'आपस्तम्ब गृह्य सूत्र' का जो वाक्य उद्धृत किया गया है वह तो केवल उक्त आकर्षण को

(१) अजात० ३।११४, ११५
(२) ध्रुव० २।३५,३६,३७
(३) स्कद० ५।१४१,१४२,१४३
(४) चद्र० १।७२
(५) चद्र० ४।१६५,१६६
(६) चन्द्र० २।१३४
(७) चन्द्र० २।११०, ४।२४१
(८) चन्द्र० ३।१७२, ४।२०७, २।१३१
(९) ध्रुव० १।२८,३१
(१०) स्कद० ५।१३९,१४०
(११) राज्यश्री १।२३,२४
(१२) आपस्तम्ब गृह्य सूत्र १।३,२० 'यस्या मनस्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्या मृद्धिनेतरामा द्रियेतेत्येके'।

नैतिकता और सामाजिक स्वीकृति भर प्रदान करता है। प्रसाद का यह वाक्य इसका समर्थन करता है कि 'प्रणयी को कन्या के रूप और गुण का ग्राहक, सच्चा ग्राहक होना चाहिए।'[१]

विवाह

प्रत्येक देश, जाति और समाज मे विवाह के स्वरूपो मे भिन्नता होती है और यह भिन्नता भी काल क्रम के अनुसार परिवर्तित होनी रहती है। भारत के सास्कृतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे विवाह-पद्धति साधारणतया सरल थी। स्मृतियो के काल तक आते-आते उसमे पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित हो गए और विवाह के कई प्रकार भी बन गये। स्मृति के इन नियमो का प्रभाव कालान्तर के इतिहास मे दूर तक चलता रहा, इसकी पद्धतियो मे भी कभी शिथिलता आती रही और कभी सकोच। किन्तु इसमे सन्देह नही कि नामो के न रहने पर भी विवाह की पद्धतियो और प्रकारो मे बहुत बाद तक भी अन्तर नही हुआ।

प्रसाद के अनुसार 'विवाह एक सामाजिक नियम का बन्धन है।'[२] परन्तु साथ ही 'स्त्री और पुरुष के बीच, परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग होना आवश्यक है।[३] 'यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह एक खेल है।'[४] इसी उद्देश्य को सामने रखकर सभवत. प्राचीन धर्म ग्रथो में 'धर्म पत्नी' और 'सहधर्मचर्या'[५] जैसे प्रयोगो का महत्त्व होगा। 'सहोभौ-चरता धर्ममिति वाचानुभाष्यच[६] मे भी 'सहोभो' जैसे प्रयोग इस दृष्टि से अत्यन्त सार्थक जान पडते हैं।

विवाह के प्रकार

राक्षस विवाह

प्रसाद के नाटको मे विवाह के विभिन्न प्रकारो का स्वतत्र रूप से उल्लेख नही हुआ है। केवल एक स्थान पर 'राक्षस विवाह'[७] का नामोल्लेख अवश्य किया गया है। उक्त विवाह के विषय मे यह ज्ञात होता है कि कन्या विजयोपहार के स्वरूप गुप्त कुल मे आई है,[८] और अग्नि की वेदी के सामने सुख-दुख मे साथ न छोडने की प्रतिज्ञा[९] और कुल पुरोहित द्वारा पढे गए मत्रो से यह विवाह सम्पन्न[१०] हुआ है। मनुस्मृति मे राक्षस विवाह की परिभाषा इस प्रकार है 'रोती चिल्लाती हुई कन्या का उसकी और उसके माता-पिता की इच्छा के विपरीत बलपूर्वक हरण कर ले जाना राक्षस विवाह है।[११] परन्तु उक्त परिभाषा की कसौटी पर कसने पर ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का यह विवाह राक्षस विवाह नही ठहर पाता।

---

(१) चन्द्र० ४।१६७
(२) वही ४।१६७
(३) ध्रुव ३।५२
(४) ध्रुव० ३।५२
(५) कौटिल्य अर्थशास्त्र २।३
(६) मनुस्मृति ३।३०
(७) ध्रुव० ३।५२
(८) ध्रुव० १।२३
(९) वही १।२४
(१०) वही ३।५१
(११) मनुस्मृति ३।३३ 'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशती रुदती गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।

क्योकि ध्रुवस्वामिनी का बलात् अपहरण नही किया गया था। किन्तु इसमे भी संदेह नही कि कन्या प्रणय के कारण गुप्त कुल मे नही आई थी। अन्य की वाग्दत्ता[1] होने के कारण इस विवाह में उसकी अनिच्छा ही रही होगी। इस विवाह में उसके माता पिता की इच्छा भी नही जान पडती क्योकि नाटक मे इस विवाह को माता-पिता के प्रमाणो मे विहीन कहा गया है।[2]

राक्षस-विवाह का उल्लेख करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं, 'अन्य ग्राम अथवा उद्यान में जाती हुई कन्या के सहायको और रक्षको को डराकर अथवा मारकर कन्या का बलात् अपहरण करना राक्षस विवाह है'।[3] ध्रुवस्वामिनी बलात् अपहृत तो नही है किन्तु प्रसाद ने उसके गुप्त कुल मे आने का कारण यह माना है कि समुद्रगुप्त की दिग्विजय मे वह उपहार स्वरूप दी गई थी।[4] अतः वह अपहृता अवश्य है, इस अपहृता कन्या का अग्नि की साक्षी में विधिपूर्वक जो विवाह सस्कार कराया गया है, वह भी शास्त्र सम्मत है। बौधायन[5] और वशिष्ठ[6] दोनो का मत है कि बलात्कार करी हुई कन्या का यदि विधिपूर्वक मत्रोच्चार से विवाह न किया गया हो तो वह कुमारी के समान मानी जायगी। देवल भी गान्धर्व, पैशाच और राक्षस तीनो प्रकार के विवाहो में अग्नि साक्षी द्वारा वैवाहिक विधि आवश्यक मानते हैं।[7] इस द्वितीय सस्कार के उपरान्त फिर कन्या कुमारी नही मानी जाती।[8] अतः प्रसाद ने जिसे राक्षस विवाह बतलाया है, उसमे विवाह की पूर्ण सफलता के लिये अग्नि की साक्षी तथा मत्रोचार आवश्यक है। इन दोनो का उल्लेख नाटक में किया गया है।

प्रसाद ने अन्य प्रकार की विवाह पद्धतियो का नाम नही लिया है। परन्तु शास्त्रोक्त लक्षणो से मिलते-जुलते पैशाच और गाधर्व विवाह का सकेत अवश्य मिलता है।

मनु के अनुसार सोती हुई उन्मत्त कन्या के साथ एकान्त में बलात्कार पैशाच विवाह कहलाता है और यह सबसे निकृष्ट विवाह है।[9] इस प्रकार पैशाच विवाह प्रसाद के नाटको में

पैशाच

वस्तुत. कही हुआ नही है, "पर (पर्वतेश्वर) मुझे भ्रष्ट करके अपनी सगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त"[10]

कल्याणी के इस कथन से पैशाच विवाह की ध्वनि अवश्य निकलती है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न

---

(१) ध्रुव० ३।५५ (२) ध्रुव० ३।६२

(३) 'ग्रामान्तरमुद्यान वा गच्छन्ती विदित्वा सुसवृतसहायो नायकरत्तदा रक्षिणो वित्रास्य हत्वा वा कन्यामपहरेदिति विवाह योगा'

'कामसूत्र' पृ० २२२ (बनारस सस्करण दामोदरलाल गोस्वामी)

(४) ध्रुव० १।२६

(५) बौधायन धर्म सूत्र ४।१,१५ बलाच्चेत प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न सस्कृता।

(६) वशिष्ठ १७।७३ अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैवमा।

(७) गाधर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधि (कर्त्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णै) समयेनाग्निसाक्षिक देवल (कुलूकभट्ट मनुस्मृति में) ८।२२६ (८) मनुस्मृति ८।२२६

(९) 'सुप्ता मत्ता प्रमत्ता वा रहोयत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहाना पैशाचश्चाष्टमोऽधम'

मनुस्मृति ३।३४ (१०) चद्र० ४।११५

उठाया जा सकता है कि कल्याणी न तो सुप्ता थी, न मत्ता और न प्रमत्ता, अत. पैशाच विवाह की चर्चा असगत है । किन्तु वह असहाय और बन्दी थी ।[1] अरक्षिता कुमारी से बलात्कार करके उसे सगिनी बनाने का प्रयत्न पैशाच विवाह के अन्तर्गत ही आ सकता है ।

यद्यपि प्रसाद ने गान्धर्व विवाह का भी उल्लेख नही किया है, तथापि उनके नाटको मे कुछ विवाह गान्धर्व विधि से हुए ज्ञात होते है । गान्धर्व विवाह का लक्षण मनु ने इस प्रकार दिया है, 'कन्या और वर दोनो की इच्छा से होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते है, और यह विवाह कामनामूलक होता है' ।[2] इस विवाह का स्पष्ट रूप वाजिरा और अजात का एक दूसरे को माला और अगूठी पहिनाने मे दीख पडता है, और गाधर्व विवाह की पारस्परिक प्रतिज्ञा का स्वरूप इन वाक्यो में स्पष्ट झलकता है, वाजिरा "तब प्राणनाथ मैं अपना सर्वस्व तुम्हे समर्पित करती ! ।" 'अजात "मैं अपने समेत उसे तुम्हे लौटा देता हूँ । प्रिये हम तुम अभिन्न है । यह जगली हिरन इस स्वर्गीय सगीत पर चोकडी भरना भूल गया है । अब यह तुम्हारे प्रेमपाश मे पूर्ण रूप से आबद्ध है ।"[3] यह सवाद तुरत ही हमारा ध्यान कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की ओर आकृष्ट करता है जहा कण्व ऋषि की अनुपस्थिति मे शकुन्तला और दुष्यन्त का इसी प्रकार का गाधर्व विवाह हुआ है । कन्या आत्मसमर्पण कर चुकी है, अतः एक प्रकार से यह विवाह वही हो चुका है । कालान्तर मे माता-पिता की आज्ञा से 'वर वधू का वेश'[4] धारण करना भी गाधर्व विवाह का एक अग है । इस प्रकार के विवाह के सम्बन्ध में वात्स्यायन का कथन है कि 'अपनी अभीष्ट कन्या को किसी प्रकार बुलाकर नायक किसी श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाए और कुशासन मे बैठकर, अग्नि में आहुति देकर तीन बार दोनो उसकी परिक्रमा करें । तदुपरात माता-पिता को इसकी सूचना दे दें ।[5] प्रसाद ने अग्नि की तीन परिक्रमाएं न कराकर अगूठी और माला पहिना दी है । इस प्रकार इसमें आधुनिक सस्कारो की भी कुछ छाया प्रतीत होती है ।

गान्धर्व

और भी कई विवाहो का वर्णन प्रसाद के नाटको मे आया है, पर न तो उनके नाम प्रसाद ने ही दिये हैं और न उनके विषय मे स्पष्ट सकेत ही मिलते हैं । किन्तु इतना स्पष्ट है कि अन्य सभी विवाह या तो कन्या के माता पिता की आज्ञा से अथवा भाई की इच्छा से ही सपादित हुए । अलका के विवाह में आभीक के पास से स्वय निमन्त्रित होकर, परिणय सपादन

---

(१) चद्र० ४।१६४

(२) 'इच्छयान्योन्य सयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गाधवः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः काम सभवः
मनुस्मृति ३।३२,

(३) अजात० ३।११६

(४) अजात० ३।१२८

(५) 'प्रतिपन्नामभिप्रेतावकाशवर्तिनी नायकः श्रोत्रियागारादग्निमानाय्य कुशानास्तीर्य यथास्मृति हुत्वा च त्रिः परिक्रमेत् । 'ततो मातरि पितरि च प्रकाशयेत्' ।
कामसूत्र : वात्स्यायन : पृ० २१६,२२०

कराने, दल बल के साथ सिकन्दर भी आवेगा"[१] इस वाक्य से ज्ञात होता है कि आम्भीक ही अलका के विवाह का संपादन कर रहा है। सुवासिनी का राक्षस से प्रणय होते हुए भी वह विवाह के लिये पिता की अनुमति आवश्यक मानती है।[२] इसी प्रकार कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह मे भी सिल्यूकस अपनी प्रसन्नता प्रकट कर दोनो का हाथ मिलाता है।[३] कहना न होगा कि 'हाथ मिलाना' पाणिग्रहण का अर्थ देता है किसी विशेष ग्रीक पद्धति मे इसका सम्बन्ध नही है। उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाह मनु द्वारा प्रशंसित ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहो मे से किसी एक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। ऐसा समझने के कई कारण हैं। एक तो उनके विषय मे विधि विवाह मे पूर्व अन्य किसी भी प्रकार के सांकेतिक विवाह अथवा बल प्रयोग इत्यादि का उल्लेख नही मिलता, दूसरे ये विवाह गुरुजनो की अनुमति से हुए हैं, और तीसरे पिता के द्वारा कन्या संप्रदान[४] तथा परिणय मे आचार्य[५] का उल्लेख भी इनमें से कुछ विवाहो के प्रसंग मे हुआ है। एक और प्रकार का विवाह 'आसुर विवाह' कहलाता है, जिसमे कन्या के माता पिता तथा कन्या को धन देकर विवाह किया जाता है। प्रसाद ने स्पष्टत: किसी आसुर विवाह का उल्लेख नही किया है किन्तु यदि प्रसाद सुरमा तथा देवगुप्त और मागधी तथा उदयन के विवाहो का उल्लेख करते तो ये विवाह आसुर विवाह कहे जा सकते। क्योंकि देवगुप्त और उदयन दोनो राजा हैं, सुरमा मालिन है[६] और मागधी स्वयं अपने आप को दरिद्र[७] कन्या बतलाती है। कन्या अथवा कन्या के ज्ञातियो मे महत्त्वाकांक्षा और वैभव की इच्छा इस प्रकार के विवाह मे सहायक होते हैं।[८]

'स्कंदगुप्त' नाटक में एक विचित्र प्रकार की विवाह पद्धति का निर्देश हुआ है। विजया अनपेक्षित ही राजसभा में कह देती है कि 'मैंने भटार्क को वरण किया है'।[९] इतने मात्र से यह विवाह मान लिया गया है। इसीलिये महादेवी देवकी की समाधि पर भटार्क स्पष्ट ही अपने को उसका पति बतलाता है।[१०] इस वरण को घोषित करने के पूर्व न तो विजया और भटार्क के प्रेम की सूचना कही मिली है, न कही उन दोनो के प्रेमालाप की। वीरत्व व्यंजक मनोहर मूर्ति[११] पर वह आकृष्ट हुई है सही, पर यह आकर्षण एक पक्षी है। दूसरे गोविन्दगुप्त द्वारा भटार्क के बन्दी[१२] किये जाने के कारण उन दोनों में इससे पूर्व विवाह सम्बन्धी किसी चर्चा का होना भी संभव नही। 'मैंने भटार्क को वरण किया है' से कामसूत्र की स्वयप्रार्थिता कन्या[१३] का स्मरण हो आता है जिसके अनुसार यदि वह मातृ-पितृ-हीन

---

(१) चन्द्र० ४।१६७ (२) चन्द्र० ४।२५१ (३) चन्द्र० ३।१५६
(४) चन्द्र० ३।१५६ (५) वही ४।२१५
(६) राज्यश्री १।१२ (७) अजात० १।४४
(८) 'ज्ञातिभ्यो द्रविणंदत्वा कन्यायै चैव शक्तित:।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते। मनुस्मृति ३।३१
(९) स्कंद० २।८२ (११) स्कंद० २।७५
(१०) वही (१२) वही २।७५
(१३) 'मन्दापेशा गुणवत्यपि कन्या धनहीना कुलीनापि समानैरयाच्यमाना मातापितृवियुक्ता वा ज्ञातिकुलवर्तिनी वा प्राप्तयौवना पाणिग्रहणं स्वयमभीप्सेत्। कामसूत्र पृ० २१३

कुलीन गुणवती किन्तु धनहीन प्राप्त यौवना कन्या का वरण समान कुलशील का व्यक्ति नही करता तो कन्या स्वय अपना वर चुन लेती है। किन्तु स्वय प्रार्थना होने पर भी विजया का यह कार्य प्रतिहिंसा के आवेश मे हुआ है,[1] धनहीना होने के कारण नही।

प्रायः सभी विवाहो की पृष्ठभूमि में प्रणय का उल्लेख है। केवल दो विवाह इस प्रकार के है जिनमे प्रणय के लिए विशेष स्थान नही। एक तो ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त का और दूसरे विजया भटार्क का, और दोनो की परिणति असफलता मे रही है। इसका अर्थ यह है कि प्रसाद विवाह के पूर्व प्रणय को महत्त्वपूर्ण मानते है। यह उनकी व्यक्तिगत मान्यता है, इतिहास से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नही।

इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ भी विवाह से पूर्व स्वतन्त्र प्रणय की चर्चा हुई है वहाँ प्रसाद ने प्रायः सभी स्थलो पर स्वीकार करने या अस्वीकार करने का पूरा अधिकार स्त्री को दिया है। कन्या के द्वारा प्रणय प्रस्ताव ठुकराये भी जा सकते थे। यूनान की कन्या ने फिलिप्स के प्रेम प्रस्ताव को ठुकरा दिया,[2] और अलका[3] ने भी 'पर्वतेश्वर की कई रानियो में से एक' बनना अस्वीकार कर दिया। अतः यह निश्चय है कि प्रसाद के अनुसार प्राचीन भारत मे विवाह के सम्बन्ध मे कन्या की सम्मति भी आवश्यक होती थी। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के विवाह में साइवर्टियस राजकुमारी की सम्मति भी आवश्यक समझता है।[4]

अध्ययन समाप्त कर गुरु दक्षिणा चुकाने पर ही गुरु की आज्ञा से स्नातक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था। चाणक्य को उसके कुलपति ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने की आज्ञा दी थी।[5] सिंहरण और चन्द्रगुप्त के विवाह भी स्नातक होने के बाद ही हुए है। याज्ञवल्क्य कहते है 'वेद और व्रत दोनो में अथवा एक में पारगत होकर ही ब्रह्मचारी सुलक्षणा स्त्री से विवाह करें।'[6] मनु ने भी स्नातक को गुरु की आज्ञा से ही सवर्णा और सुलक्षणा स्त्री से विवाह करने का विधान किया है।[7] कामसूत्र का 'श्रुतवान शीलयेत्'[8] भी इसी ओर संकेत करता है। अतः वर्णाश्रम धर्म के वय क्रम को स्वीकार कर लेने पर विवाह के लिए पच्चीस वर्ष की वय ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

वय

प्रसाद के नाटको में एक ओर उच्च कुल से विवाह सम्बन्ध के महत्त्व का निर्देश किया गया है, दूसरी ओर हीन और असमान कुल से भी अनेक विवाह हुए है। इनमें से कुछ विवाहो के पीछे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और कुछ प्रसाद की स्वतन्त्र मान्यताएँ हैं। ये मान्यताएँ प्राचीन सामाजिक परम्पराओ के अनुकूल तो हैं, पर कही इनमें ऐतिहासिक सत्य का अंश है और कही नही। अजातशत्रु और वाजिरा दोनो ही कुलशील और सामाजिक स्थिति में समान हैं।[9] किन्तु पर्वतेश्वर अपने 'लोक विश्रुत कुल'[10] की कुमारी का विवाह कायर आभीक

विवाह और कुल परम्परा

---

(१) स्कन्द० २।८३
(२) चन्द्र० २।१०६
(३) वही २।१३३
(४) चन्द्र० ४।२४१
(५) चन्द्र० १।५५
(६) याज्ञवल्क्य संहिता १।५१,५२
(७) मनुस्मृति ३।४
(८) कामसूत्र पृ० १८४
(९) अजात० ३।११५
(१०) चन्द्र० १।६४

तो है किन्तु जिसके लिए वाग्दान हुआ है, उसकी मृत्यु हो जाने के उपरान्त ही यह सभव है।* किन्तु अपने नाटक मे प्रसाद ने रामगुप्त की जीवितावस्था मे हो वाग्दान के सकल्प तोडकर ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त की पत्नी बना दिया है। यह कहना कठिन है कि यह कभी एक प्रथा के रूप मे प्रचलित था अथवा नही, क्योकि इतिहास मे इस प्रकार की घटनाए कम ही देखने को मिलती हैं।

दहेज की प्रथा

दहेज शब्द का प्रसाद के नाटको मे कही भी प्रयोग नही है, किन्तु काशी का राज्य 'आचल में मिला है'[१] 'पीहर से मिला है'[२] और 'रक्षित धन[३] है', अजातशत्रु नाटक मे इन शब्दो द्वारा स्त्री धन की ओर अवश्य सकेत किया गया है। कौशल ने काशी का प्रात पहले वासवी को दहेज रूप में दिया था। फलतः काशी प्रात का राजस्व उसका और उसके पति का प्राप्य था।[४] कालान्तर में काशी के लिए कई सघर्ष हुए और अत मे यही प्रात पुन. कौशल की राजकुमारी वाजिरा को स्त्री धन के रूप मे प्रदान किया गया। वस्तुतः ये दोनो घटनाएँ जातको से ली गई है।[५] अतः इन दोनो को इतिहास का समर्थन प्राप्त है। 'स्कदगुप्त' नाटक मे देवसेना के एक कथन मे दहेज की ओर स्पष्ट सकेत किया गया है। 'लोग कहेगे कि मालव देकर देवसेना का विवाह किया जा रहा है'।[६] इस वाक्य में वस्तुतः यौतुक की ही चर्चा जान पडती है। स्त्री धन के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्र का मत स्पष्ट है। साथ ही उसमे स्त्री धन के उपयोगो की भी चर्चा हुई है। कौटिल्य लिखते है, वृत्ति "कही पर सुरक्षित रखा हुआ धन" और आवध्य "आभूषण इत्यादि" स्त्री धन हैं। परिवार पर आई हुई किसी विपत्ति इत्यादि के प्रतिकार में पति या पत्नी इस धन को खर्च कर सकते है।[७] अजातशत्रु नाटक मे वासवी ने स्त्री धन की माँग इसीलिए की है कि उसे और बिंबसार को सपत्नी पुत्र के भिक्षान्न पर जीवन निर्वाह न करना पडे।[८] कालिदास ने भी अज और इदुमति के विवाह में यथासामर्थ्य यौतुक का उल्लेख किया है।[९] इससे स्पष्ट है कि यौतुक प्रथा का प्रचलन भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से है और प्रसाद के सकेत प्रामाणिक हैं।

बहुविवाह

प्रसाद के प्रायः सभी नाटको से ज्ञात होता है कि उन दिनो बहुविवाह प्रथा का प्रचलन रहा होगा। नाटको में पटरानी[१०], छोटी रानी[११] तथा सपत्नी[१२] जैसे प्रयोग इसके साक्षी है। राजा दो-दो, तीन-तीन ही नही कई विवाह एक साथ कर सकते थे। बिंबसार ने दो ब्याह किये तो उनके दामाद उदयन ने तीन।[१३] पर्वतेश्वर की कई रानियाँ थी।[१४] नये-नये राज्य विजय

---

* 'यस्या म्रियते कन्याया वाचा सत्ये कृते पति (तामनेन विधानेन निजो विन्देत दैवर)
मनुस्मृति ९।७०

(१) अजात० १।३७ (६) स्कद० ३।६६ (७) अर्थशास्त्र ३।१६,२०
(२) वही १।३६ (८) अजात० १ ५३ (९) रघुवश ७।३२
(३) वही २।६६ (१०) अजात० १।२६ (११) वही १।३१
(४) वही १।३६ (१२) वही ३।१४० (१३) वही १।५०
(५) जातक २ २३७, ४।३४२ (१४) चन्द्र० २।१३३

करने के समान ही नये-नये विवाह की भी एक प्रथा सी चल पडी थी।[1] किन्तु बहुविवाहो का उल्लेख प्राय, क्षत्रिय राजाओ के ही प्रसग में है। ये बहुविवाह राजनीतिक कारणो से भी हुए है और विलास-साधना के निमित्त भी। बिंबसार[2] और उदयन[3] के दोनो विवाहो का राजनीतिक महत्त्व इतिहास ने भी स्वीकार किया है। बौद्ध इतिहास से ही इस बात की पुष्टि हो जाती है कि उदयन का मागधी से जो तीसरा विवाह हुआ है, वह विलास-साधना के निमित्त है। अन्यथा सभवतः दरिद्र ब्राह्मण की कन्या से विवाह न होता।[4] राखालदास बनर्जी के अनुसार कुमारगुप्त का अनता से विवाह भी केवल विलास-साधना के निमित्त हुआ था। उनकी मान्यता है कि वह नट की कन्या थी।[5] स्कदगुप्त नाटक मे अनन्तदेवी का चित्रण विलास की सहचरी के रूप मे हुआ हैं। बहुविवाह प्रसाद की कल्पना मात्र न होकर इतिहास और तत्कालीन साहित्य से पुष्ट होते है।

क्षत्रियो के लिए बहुविवाह तो शास्त्र-सम्मत है ही, साथ ही इसका राजनीतिक महत्त्व भी स्वीकार करना ही पडता है। ब्राह्मण के लिए चारो वर्णों की कन्याओ से विवाह का विधान है।[6] किन्तु प्रसाद के नाटको में ब्राह्मण पात्रो के बहुविवाह कही नही हुए हैं। केवल एक स्थान पर चाणक्य कात्यायन एक ब्याह और सही कहकर उपहास मात्र करता है।[7] जहाँ तक स्मृतियो और शास्त्रो का प्रश्न है ब्राह्मण को बहुविवाह के सम्बन्ध में और वर्णों से भी अधिक सुविधा दी गई है। पर यही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि शास्त्र विहित होते हुए भी ब्राह्मण के लिए एक पत्नीव्रत ही प्रशस्त है। प्रसाद ने ब्राह्मण का जो उच्चादर्श उपस्थित किया है उसके अनुसार यही प्रतीत होता है कि वे स्वय भी ब्राह्मण के लिए बहुविवाह उपयुक्त नही मानते हैं। चाणक्य तो आजन्म ब्रह्मचारी ही रहा है। ग्रीक इतिहासकारो के अनुसार भी उस समय के दार्शनिक कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।[8]

विवाह मोक्ष

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक मे प्रसाद ने विवाह सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण समस्या 'विवाह मोक्ष' को उठाया है और उसका उचित समाधान भी किया है। शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रमाणो से प्रसाद ने यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीन भारतीय समाज में विवाह मोक्ष की प्रथा प्रचलित थी।[9] क्या प्राचीन क्या आधुनिक समाज में इस प्रकार की समस्या सदा से रही है। यदि विवाह में परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग का महत्त्व माना जाय तो उसके

---

(१) राज्यश्री २।४०
(२) सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट : आक्सफोर्ड : १।१२,१५,२२ पृ० १९३,२५६
(३) कथासरित्सागर (सोमदेव) २ परिच्छेद ६, वासवदत्ता १।५ के बाद
(४) डिक्सनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स पृ० ५६६,५६७ धम्मपद १।१६६, ३।१६१ व ४।१
(५) करुणा (उपन्यास) : राखालदास बनर्जी।
(६) मनुस्मृति ३।१२,१३
(७) चन्द्र० ४।२१४
(८) मेगास्थनीज अवतरण ४०, स्ट्रिबार्कस एव स्मावो १५ सी ७१८
(९) ध्रुव० (भूमिका)

अभाव में मोक्ष का अधिकार होना स्वाभाविक ही नही आवश्यक भी है। यदि प्रणय के अभाव में कन्या की इच्छा या अनिच्छा पर विचार किये बिना ही उसका विवाह कर दिया जाय तो मोक्ष के अधिकार का महत्त्व और भी बढ जाता है, विशेषकर आसुर, राक्षस और पैशाच विवाहो मे। ध्रुवस्वामिनी मे विवाह मोक्ष के समर्थन के लिए परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं। ध्रुवस्वामिनी विजयोपहार के रूप में कुल मे आई[1] और चन्द्रगुप्त से उसका वाग्दान हो गया।[2] रामगुप्त ने 'छल और बल स' उससे विवाह किया।[3] उस विवाह मे अग्नि को साक्षी कर मत्र भी पढे गए[4], और पति ने सुख दुख में साथ न छोडने की प्रतिज्ञा भी की।[5] किन्तु पति रामगुप्त अपनी भार्या का सरक्षण करने में असमर्थ रहा और उसने उसे कापुरुष की तरह शकराज की शय्या के लिए क्रीत दासी की तरह भेज दिया।[6] अपनी इस कायरता को ढकने के लिए रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी पर चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी होने का दोषारोपण किया।[7] इस प्रकार तिरस्कृता, धर्षिता और लाछिता ध्रुवस्वामिनी ने 'धर्मशास्त्र के मुख'[8] पुरोहित से अपना निर्णय माँगा कि वह वास्तव मे रामगुप्त की सहधर्मिणी है या नही। पुरोहित ने अपना निर्णय इस प्रकार दिया 'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रातिपूर्ण बधन मे बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस प्रकार पददलित नही किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नही सकते। परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणो से भी विहीन है। और भी, यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नही पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और आचरण से राजकिल्विषी क्लीव है।[9] वह 'क्लीव' की व्याख्या इन शब्दो मे करता है 'अपनी स्त्री को दूसरे अकशायिनी बनने के लिए भेजने में जिसे कुछ सकोच नही वह क्लीव नही तो और क्या है'।[10] इस प्रकार 'धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है'।[11] विवाह मोक्ष के इस निर्णय के साथ ही नाटक की समाप्ति हो जाती है। चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न का अत में उन दोनो की जय-जयकार कर सकेत भर दे दिया गया है।[12]

इतिहासकारो ने ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की घटना को ऐतिहासिक मान लिया है, अतः सामाजिक दृष्टि से उक्त प्रथा के प्रचलन को भी सभाव्य मान लेना पडेगा। प्राचीन काल में विवाह मोक्ष शास्त्र-सम्मत था या नही इस प्रश्न पर प्रसाद ने नाटक की भूमिका मे यथेष्ट विवेचन किया है। नारद और पाराशर के जो उद्धरण दिये गये हैं, उनमें पुनर्विवाह का विधान स्पष्ट मिलता है, किन्तु विवाह मोक्ष का केवल अनुमान भर किया जा सकता है। प्रसाद का यह तर्क समीचीन है कि इन प्रमाणो पर केवल मृत स्थिति मे ही पुनर्लग्न के लिए

---

(१) ध्रुव० १।२३
(२) वही ३।५५
(३) वही ३।६१
(४) वही १।२४
(५) वही १।२४
(६) वही ३।५७
(७) वही ३।६१
(८) वही ३।६१
(९) वही ३।६२
(१०) वही ३।६२
(११) वही ३।६२
(१२) वही ३।६२

विवाह मोक्ष की आवश्यकता नही होगी। पति के नष्ट, प्रव्रजित, क्लीव तथा पतित होने पर तो बिना विवाह मोक्ष के पुनर्लग्न सभव ही नही।[१] परन्तु कौटिल्य[२] के श्लोक मे 'मृत का उल्लेख ही नही' और 'त्याज्य' शब्द के द्वारा उपयुक्त परिस्थितियो मे उन्होने 'विवाह मोक्ष' का स्पष्ट विधान कर दिया है। पाराशर और कौटिल्य की गिनाई हुई शर्तों म से प्रसाद ने पाराशर की तीन—नष्ट, क्लीव और पतित—और कौटिल्य की चार—नीच, क्लीव, राजकिल्विषी और पतित : शर्तों को विवाह मोक्ष का आधार बनाया है, और इन शब्दो की अपनी स्वतन्त्र व्याख्याएँ भी की हैं। पति 'मृत और प्रव्रजित तो नही, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव' है। गुप्त कुल के विधान को तोड़ने के कारण रामगुप्त को राजकिल्विषी कहा गया है। 'अपनी स्त्री को दूसरे की 'अकगामिनी' के लिये भेजने में जिसे सकोच नही वह क्लीव नही तो और क्या है' यहाँ 'क्लीव' शब्द का उसी व्यापक अर्थ मे प्रयोग हुआ है जिसमें गीता के 'क्लैब्य' शब्द का हुआ है। नष्ट, पतित और राजकिल्विषी की उक्त व्याख्या तो स्वीकार की भी जा सकती है, पर क्लीव शब्द का जो अर्थ प्रसाद ने माना है, वह पाराशर और कौटिल्य के अर्थ से प्रत्यक्ष ही मेल नही खाता। वस्तुत 'क्लीव' शब्द से इन दोनो का अभिप्राय 'नपुसक' से है और इसका समर्थन नारद के 'क्षेत्र बीजवते देय नाबीजी क्षेत्र महति' तथा विशाखदत्त के 'पत्यु : क्लीव' जनोचितेन चरितेने, लज्जा कोप विषाद भीत्यरतिभि : 'क्षत्रीकृता' तथा 'रम्या चारितिकारिणी' से हो जाता है।[३]

अर्थशास्त्र के 'धर्मस्थीय प्रकरण' मे जहाँ 'मर्म (पति द्वारा पत्नी के भरण-पोषण का प्रसग आया है वहाँ कौटिल्य कहते हैं 'यदि श्वसुरकुल में प्रवेश करने पर जो पत्नी पति से स्वतत्र रहना चाहे) विभक्ताया उसे भरण पोषण देना पति के लिए आवश्यक नही।[४] यहाँ इस स्थल पर मोक्ष का उल्लेख तो नही है, पर इसमें सदेह नही कि उक्त परिस्थिति मोक्ष की पहली सीढी है। इसी प्रसग में आगे चलकर कौटिल्य ने मोक्ष का कारण 'परस्पर द्वेष' बतलाया है।[५] मोक्ष के लिये दोनो पक्षो मे परस्पर द्वेष भाव होना आवश्यक जान पडता है। क्योकि एक ही ओर से द्वेष होने पर दूसरे की इच्छा के अभाव में मोक्ष की सभावना कौटिल्य भी नही मानते।[६] परन्तु यदि एक का द्वेष हो और दूसरा मोक्ष के लिए प्रस्तुत हो जाय तो ऐसी स्थिति में यदि स्त्री के प्रति द्वेष भाव से पुरुष मोक्ष की इच्छा करे तो जो कुछ स्त्री से प्राप्त हुआ, वह उसे लौटाकर मोक्ष पा सकता है। और यदि पुरुष के प्रति द्वेष से स्त्री मोक्ष की इच्छा करे तो जो कुछ स्त्री को प्राप्त हुआ है उसे लौटाना पुरुष के लिए आवश्यक नही।[७] इन दोनो सूत्रो में 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है और सभवतः प्रसाद भी इस शब्द के लिये कौटिल्य के ही ऋणी हैं।

---

(१) ध्रुव० (भूमिका) (२) वही (भूमिका)

(३) वही (भूमिका)

(४) 'श्वसुरकुल प्रविष्टाया विभक्ताया वा नाभियोज्य (पति) अर्थशास्त्र ३।७

(५) 'परस्पर द्वेषान्मोक्षः' अर्थशास्त्र ३।१६

(६) वही ३।१८ (७) वही ३।२०,२१

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार धर्म विवाहो में साधारण द्वेष विवाह मोक्ष का कारण नही हो सकता।[१] प्रसाद ने सभवतः इसीलिए ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के विवाह को 'माता-पिता के प्रमाणो से विहीन'[२] और छल-बल से किया हुआ राक्षस विवाह' सिद्ध किया है।[३] नाटक मे द्वेष दोनो पक्षो में है। पत्नी पति को 'क्लीव', 'कापुरुष' और 'स्त्री की लज्जा लूटने वाला दस्यु' कहती है और पति उसे 'पर पुरुष मे में अनुरक्त', 'कालसर्पिणी सी स्त्री' कहता है। द्वेष के कारण भी स्पष्ट है। पहला कारण तो यह है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी और उसी से प्रेम करती थी। दूसरा कारण यह है कि शकराज ने ध्रुवस्वामिनी की माग की और अपनी कायरता के कारण रामगुप्त ने अपने बचाव के लिए विवाहिता पत्नी को क्रीतदासी की तरह दूसरे की अकशायिनी बनाने के लिए भेजना स्वीकार कर लिया। तीसरा कारण जिसे प्रसाद स्पष्ट बतलाना नही चाहते, वह है 'रामगुप्त का नपुसकत्व'। नाटक में कई स्थलो पर इसका व्यक्त सकेत है, पर इसे स्पष्ट शब्दो मे कहते हुए प्रसाद झिझकते से है। वस्तुतः द्वेष का और इसी कारण विवाह मोक्ष का भी यही प्रबलतम कारण है, और पाराशर और कौटिल्य के मत के पूर्ण-अनुकूल भी है। यद्यपि नाटक मे जो सघर्ष हुआ है वह परस्पर द्वेष-जन्य है तथापि यहाँ केवल एक पक्ष ध्रुवस्वामिनी ही मोक्ष के लिए उत्सुक है। रामगुप्त तो अन्त तक 'अपने न्यायपूर्ण अधिकार'[४] को नही छोडना चाहता और पत्नी को 'धर्म का भय'[५] दिखाता है। इस प्रकार यहाँ कौटिल्य का 'परसार द्वेषान्मोक्षः' वाला नियम लागू नही हो पाता। इसीलिए प्रसाद के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे रामगुप्त को नष्ट, पतित, क्लीव और राजकिल्विषी सिद्ध कर मोक्ष का कारण उपस्थित करें।

मनु, वात्स्यायन तथा कालिदास इत्यादि सभी मोक्ष की प्रथा के सबध में मौन हैं। पर सभवत. प्रसाद के स्वय के शब्दो में ही इसका उत्तर भी सन्निहित है। 'जिस प्रथा के लिए विधि और निषेध दोनो तरह की सूचनाएँ मिलें, तो इतिहास की दृष्टि से वह उस काल में सभाव्य मानी जायगी'[६]।

उक्त प्रसग मे प्रसाद ने एक और महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख किया हे। 'मैं स्वीकार करती हूँ कि आजतक तुम्हारे विलास की सहचरी नही हुई',[७] 'मुझे राजा से कभी सरल सभाषण करने का अवसर ही नही मिला',[८] ध्रुवस्वामिनी के ये दो कथन कुछ साभिप्राय है और कुछ विशेष सकेत करते जान पडते हैं। 'अर्थमणानु' देवं कन्या अग्निभयक्षते[९] इस पाणिग्रहण मत्र मे 'अक्षत योनि' कन्या को जो महत्त्व दिया गया है, सभवतः प्रसाद इसी महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए ध्रुवस्वामिनी को 'अक्षत योनि' सिद्ध करना चाहते हैं।

---

(१) अर्थशास्त्र ३।२२ (२) ध्रुव० ३।६२ (३) वही ३।६१
(४) ध्रुव० ३।६२ (५) वही ३।५८ (६) ध्रुव० (भूमिका) पृ० ५
(७) ध्रुव० १।२६
(८) ध्रुव० ३।५१
(९) मनु० ८।२६ कुल्लूकभट्ट की टीका से उद्धृत

यह भी सभव है कि क्लीव' शब्द को महत्त्व देने के लिए इसका प्रयोग किया गया हो अथवा नाटक के अन्त मे पुनर्विवाह के उद्देश्य से (जो ऐतिहासिक घटना है) प्रसाद ने कन्या के महत्त्व को बढाने के लिए उसे 'अक्षत योनि' रखा हो।

मनु विधवा विवाह को स्पष्ट शब्दो में अस्वीकार करते है[१], किन्तु यदि विधवा अक्षत योनि हो तो उसके विवाह सस्कार का विधान उन्होने भी किया है[२]। ध्रुवस्वामिनी को 'अक्षत योनि' मानकर उसके पुनर्लग्न को प्रसाद ने मनु विहित सिद्ध कर दिया है। कौटिल्य ने पति के मरने के उपरान्त देवर से विवाह मान्य ठहराया है[३]। इसका समर्थन अथर्व वेद, बौधायन धर्मसूत्र पाराशर, नारद और आपस्तब धमसूत्र ने भी किया है। इस कारण से भी चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न मे कोई आपत्ति नही हो सकती।

प्रसाद के नाटको में कही-कही सती प्रथा का उल्लेख हुआ है। कोमा, ध्रुवस्वामिनी से शकराज के शव के लिए प्रार्थना करती है। इस पर ध्रुवस्वामिनी कहती है, 'जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम शव को ले जाकर जलो'।[४] राज्यश्री का सती होने को प्रस्तुत होना 'हर्ष चरित' के अनुसार एक ऐतिहासिक घटना है।[५] उक्त

सती की प्रथा

घटना का उल्लेख करते हुए प्रसाद 'सती होना स्त्रियो' का पवित्र कर्त्तव्य 'पालन करना मानते है'[६] प्रसाद ने तो गुप्त काल और उत्तर गुप्तकाल मे ही इस प्रथा का उल्लेख किया है। सती प्रथा भारत की अत्यन्त प्राचीन प्रथा है। कालिदास के 'पतिवत्मगा'[७] तथा 'स्वामनुयायि'[८] जैसे उल्लेखो से यह अनुमान करना आसान है कि गुप्त काल मे तो अवश्य ही सती प्रथा प्रचलित रही होगी सती के महत्त्व का उल्लेख कालिदास ने इस प्रकार किया है 'जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ कौमुदी मुद जाती है, मेघ के विलीन होने के साथ ही विद्युत भी विलीन हो जाती है, उसी प्रकार स्त्री को पति के मार्ग की अनुगामिनी होना चाहिए'[९]।

प्रसाद के नाटको की नारी पुरुष के समान ही स्वतन्त्र है। शक्तिमति सेनापति को आदेश देती है[१०]। छलना मगध का शासन करती है।[११] मौर्य पत्नी भरे राजदरबार मे अपने

---

(१) 'न विवाहविधायुक्त पुन:' मनुस्मृति ९।६५

(२) 'सा चेदक्षतयोनि: स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेनभर्त्रा सा पुन: सस्कारमर्हति' मनु० ९।७६

(३) 'तत: पति सोदर्य गच्छेत' अर्थशास्त्र ५।४५ (४) ध्रुव० ३।५३

(५) हर्षचरित अष्टम उच्छ्वास : शकर टीका : पृ० २४१

(६) राज्यश्री ३।६२

(७) कुमार सभव : कालिदास : ४।३३

(८) ,, ,, ४ २१

(९) 'शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडिल्लीयते प्रगदा.
पतिवत्मगा: इति प्रतिपन्न हि विचेतनैरपि। कुमार सभव ४।३३

(१०) अजात० ३।१२३ (११) वही ३।१११

पति और पुत्र की मुक्ति के लिए प्रार्थना करती है[1]; अलका तक्षशिला के नागरिकों को उत्तेजित करती है[2] और मदाकिनी सामन्त कुमारो को उत्साहित करती है।[3] परन्तु अत.पुर के लिए अवरोध शब्द का प्रयोग कुछ और ही कहानी कहता है। 'अत.पुर की मर्यादा बडी कठोर अथवा फूल से कोमल होती थी और उसकी रक्षा महत्त्व का विषय समझा जाता था''।[4] 'अजातशत्रु' नाटक में केवल झरोखे (गवाक्ष) से झाँकने के कारण पद्मावती पर सन्देह किया जाता है[5]। इस विरोधाभास का समर्थन जातक ग्रन्थो तथा अन्य सभी प्राचीन ग्रन्थो से हो जाता है। जातको मे जहाँ एक ओर स्त्रियाँ उत्सवो तक मे पुरुषो के साथ नृत्य कर सकती है, केसर के रग के वस्त्र पहिन कर पतियो के गले से लग कर कार्तिक मास की रात्रि के उत्सव मे विचरण कर सकती है,[6] वही दूसरी ओर गवाक्षो से झाँकने के अपराध मे दड भी प्राप्त करती है।[7] इतिहास से ज्ञात होता है कि नारियाँ अन्त'पुर मे रहती थी, फिर भी उन पर कोई विशेष सामाजिक बधन नही थे। कालिदास कालीन स्त्री समाज का चित्र इसका समर्थन करता है। भगवत-शरण उपाध्याय लिखते है कि 'कालिदास के युग मे स्त्रियो के स्नान करने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियो पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नही होता था। परन्तु इसका अभि प्राय यह नही कि उन्हे सबके सामने बेरोकटोक निकलने की स्वतन्त्रता थी। लज्जा उनका एक अनिवार्य गुण माना जाता था। कभी कभी 'अवगुठनवती' और असूयम्पश्या' जैसे शब्दो का प्रयोग भी मिलता है[8]। प्रसाद ने 'स्कदगुप्त' नाटक में केवल एक स्थान पर ही 'अवगुठन' की चर्चा की है। मालिनी न्यायाधिकरण मे अवगुठन धारण किए हुए आती है[9]। पर यहाँ यह अवगुठन प्रथारूप न होकर विशिष्ट प्रयोजन मात्र से है। कुछ भी हो, यह तो कहना ही पडेगा कि स्त्रियो के जीवन के जिस विरोधाभास[10] को प्रसाद ने अपने नाटको में चित्रित किया है, वह भारतीय सस्कृति के अनुरूप ही है।

अंतःपुर

प्रसाद के नाटको में पिता और पुत्र के सबध मे बहुत कुछ कहा गया है। राम और दशरथ को वे पुत्र और पिता का आदर्श मानते हैं। पुत्र के व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने के लिए पिता और माता दोनो की शिक्षा को वे आवश्यक समझते है[11]। आर्य पद्धति मे पुत्र की गणना पिता से होती थी[12]। परन्तु इतना होते हुए भी दासी पुत्र त्याज्य माना जाता था और साधारणतया राजसिंहासन का अधिकारी नही होता था[13]। मनु भी पुत्र की गणना पिता से ही मानते है[14]। वे एक ओर

अन्य संबंध

---

(१) चन्द्र० ३।१७८
(२) वही ४।११८
(३) ध्रुव० १।३३
(४) स्कद० १।२७
(५) अजात० १।५६
(६) पुष्फरत्त जातक २।१४७
(७) धम्मपद अट्ठकथा १।१९९, ३।१९३, ४।१
(८) इ डिया इन कालिदास : बी० ऐस० उपाध्याय : पृ० १९०
(९) स्कद० ४।११६
(१०) अजात० १।५२
(११) वही ३।१४३
(१२) वही ३।१३१
(१३) वही ३।१३१
(१४) 'भर्तुः पुत्रं विजानन्ति' मनु० ९।३२

तो कहते हैं कि शूद्रा पुत्र को पिता की संपत्ति के दसवें भा । से अधिक नहीं मिल सकता[1] दूसरी ओर यह भी कह देते है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न शूद्रा पुत्र सपत्ति का अधिकारी नही होता। यदि उसका पिता उसे कुछ दे दे तो वह उतने का ही अधिकारी होता है[2] मनु ने ही अन्यत्र द्विजाति से दास का कार्य कराने वाले ब्राह्मण को छ सौ पण दड देने का विधान किया है।[3] अत. द्विजाति को दास नही माना जा सकता। शूद्र के दासत्व को उन्होने स्वाभाविक बतलाया है,[4] अत उत्तराधिकार के लिए गौतम की दासी पुत्री और मनु की शूद्रा समानार्थ मानी जा सकती है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धमशास्त्र के अनुसार दासी पुत्री से उत्पन्न औरस पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नही हो सकता, चाहे उक्त दासी पुत्री परिणीता पत्नी ही क्यो न हो। 'अजातशत्रु' नाटक मे गौतम ने पिता की गणना पुत्र से होती है' इस सिद्धान्त के आधार पर विरुद्धक को राज्याधिकार दिला दिया है। यह एक अपवाद कहा जा सकता हे।

'भर्तुः पुत्र विजानति वाला मनु का सिद्धान्त दोनो ओर लागू होता है। 'महापद्मादि शूद्रागर्भादि्भव होने पर भी नद वशी कहलाये'।[5] महापद्मानद की रानी से नापित (शूद्र) द्वारा उत्पन्न पुत्र भी महापद्म का 'जारज पुत्र' माना गया।[6] इस प्रकार मनु ने दोनो स्थितियो मे पुत्र की गणना पिता से ही मानी हे और उसके लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है 'अपने उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट क्षेत्र मे स्वय बीज बोने पर फल का अधिकारी क्षेत्र स्वामी हो होगा और दूसरे के क्षेत्र में किसी अन्य के द्वारा बीज बोये जाने पर भी फल का अधिकारी क्षेत्र स्वामी ही होगा'।[7]

पिता पुत्र के सबधो के अतिरिक्त प्रसाद के नाटको मे भाई बहन, देवर-भाभी, भाभी-ननद सौतेला पुत्र और सौतेली माँ, भतीजा, भ्रातृपुत्र :, भागिनेय और मातुल इत्यादि का भी उल्लेख हुआ है।

---

(१) मनु० ६।५४

(२) 'उदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धन भवेत्' मनु० ९।५५

(३) मनु० ८।१२

(४) 'निसर्गज हि तत्तस्य कस्तस्यात्तदयोपहति' मनुस्मृति ८।१४

(५) चन्द्र० (भूमिका) पृ० २२

(६) चन्द्र० १।६९, ३।१८५, ३।१७८

(७) 'तथैवाक्षेत्रिणो बीज परक्षेत्र प्रवापिण.
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थ न बीजी लभते फलम्।
मनु० ५।६१

खान-पान

प्रसाद के नाटको में खान-पान संबधी विवरण बहुत ही कम आए हैं। कुछ तो इसलिये कि प्रधान घटनाएँ राजनीतिक कुचक्रो और सघर्षों को लेकर चली हैं और कुछ इस कारण कि प्रसाद ने जीवन के साधारण दृश्यो से इतवृत्तो को न ग्रहण कर असाधारण परिस्थितियो के सृजन की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त नाटक मे ये सब विवरण आ भी नही सकते थे। भरत ने जिन दृश्यो की रगमच पर वर्जना की है उनमे से एक खान-पान भी है। प्रसाद ने यद्यपि युद्ध और मृत्यु जैसे दृश्यो की योजना तो की है, किन्तु खान पान का निषेध उन्होने अशतः स्वीकार कर लिया हे। फिर भी सुरापान के दृश्य प्रायः उनके सभी नाटको मे मिलते है। कुछ खान पान सबधी उल्लेख सवादो मे आ गये है, कुछ विवरण कथानक के साथ अभिनय के अ श बनकर आये हैं और कुछ का सकेत मात्र है।

सुरा के लिये प्रसाद ने निम्नलिखित नामो का प्रयोग किया है आसव,[1] मदिरा,[2] हाला,[3] सुरा,[4] कादम्ब,,[5] द्राक्षासव,[6] पारसीक मदिरा,[7] या पारस्य देश की मूल्यवान मद्य[8]। इन समस्त नामो मे से मदिरा, सुरा, आसव और मद्य, जैसे कुछ नाम तो आज भो

सुरा

अत्यन्त प्रचलित हैं। कादम्ब का प्रयोग अप्रचलित है। इतना तो स्पष्ट है कि ये सारे सभो शब्द प्राचीन काल मे सुरा के लिये प्रयोग में लाये जाते थे। पाणिनी ने मद्य और सुरा का उल्लेख तो किया ही है साथ ही सुरा के विशेष प्रकारो मे से मैरेय और कपिशालिनी का भी उल्लेख किया है[9]। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में छः प्रकार की सुरा का उल्लेख किया है,[10] साथ ही 'मैरेय' बनाने की पूरी विधि भी बतलाई है[11]। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब नाम सुरा के विभिन्न प्रकारो को सूचित करते थे। आगे चलकर ये नाम सुरा के पर्याय समझे जाने लगे। अमरकोश मे मदिरा, हाला, मद्य, सुरा और कादब (कादबरी) ये सुरा के (१३) तेरह पर्यायो में

---

(१) अजात० १।४१

(२) वही १।४४, चन्द्र० १।६३, स्कद० २।५१, ध्रुव० १।१३, राज्यश्री ३।५६

(३) अजात० १।४४

(४) वही २।६७

(५) चन्द्र० १।६६, स्कद० १।३० पृ० ११५

(६) चन्द्र० ३।१६६, ध्रुव० १।२४

(७) स्कद० १।२८

(८) स्कंद० ४।१२३

(९) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि : (अग्रवाल)

(१०) अर्थशास्त्र २।२५

(११) अर्थशास्त्र २।२५

से है। आसव एक विशेष प्रकार की मदिरा का नाम है[1]। प्रसाद ने इन शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची शब्दो के रूप में ही किया है। कालिदास के नाटको मे वारुणी, कादम्बरी और सीधु के अतिरिक्त अन्य आसवो का उल्लेख भी मिलता है[2]। मेघदूत मे 'हाला' का भी प्रयोग हुआ है[3]। पारस्य देश की मूल्यवान मदिरा से प्रसाद का अभिप्राय मदिरा विशेष से है जो सभवत फारस या ईरान से मँगाई जाती होगी। पाणिनी की कपिशालिनी को इसके समकक्ष रखा जा सकता है। प्राचीन काल में कपिशा में अत्यन्त मूल्यवान अगूरी सुरा बनाई जाती थी और दूर-दूर तक उसका निर्यात होता था। ई० पू० तीसरी शताब्दी मे बिन्दुसार ने सम्राट एन्टिओकस से अगूरी सुरा मँगवाई थी[4]। जातको से भी यह ज्ञात होता है कि उस काल मे अधिकाश मनुष्य सुरा पीते थे और 'सुरा उत्सव' भी मनाये जाते थे[5]।

सुरा पात्र

सुरा पात्रो में प्रसाद ने पान पात्र,[6] मदिराकलश,[7] चषक,[8] सुराही[9] तथा प्याली[10] का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि सुराही और प्याला अत्यन्त आधुनिक प्रयोग है। जिस काल के नाटक प्रसाद ने लिखे है उस काल में सुराही और प्याला दोनो अप्रचलित थे। ये दोनो ही मुगलकालीन नाम है। चषक का उल्लेख कालिदास ने भी किया है[11]। अमरकोश में 'पान-पात्र' को 'चषक' कहा गया है[12], मदिरा पात्र को प्रसाद ने एक स्थान पर 'स्वर्ण कलश'[13] भी कहा है। स्पष्ट है कि राजदरबारो के वैभव को ध्वनित करने के लिए ही स्वर्ण कलश का उल्लेख हुआ है।

पान प्रथा

प्रसाद के चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सुरापान की कोई रोक टोक न थी। प्रसाद के सम्राट, उनके सामत, अनुचर, दस्यु तथा उनकी नारियाँ यहाँ तक कि बौद्ध भिक्षु भी सुरापान करते हैं। राजा रामगुप्त 'मदिरा मे उन्मत्त'[14] रहता है। शकराज को 'स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए।'[15] उसके सामन्तो को 'नर्तकियाँ सानुरोध पान' कराती है।[16] राज्यवर्द्धन के अनुचर सब 'मदविह्वल' थे।[17] विकटघोष को लगता है कि 'सुरमा के हाथो में आकर कड़वी मदिरा भी मीठी और हल्की हो जाती है'।[18] शासको में रामगुप्त, शकराज, राज्यवर्द्धन, उदयन और देवगुप्त ये सभी सुरापान करते है। यह ठीक है कि अधिकाश वे ही शासक सुरापान करते हैं जो विलासी प्रकृति के हैं या क्रूर

---

(१) अमरकोश २।१०।३९, ४०

(२) इण्डिया इन कालिदास : उपाध्याय : पृ० १९७ (३) पूर्वमेघ ५२

(४) फ्रगमैंटा हिस्टोरिकोरम ग्रिकोरम : मूलर : वौल्यूम ४ पृ० ४२१

(५) सिगाल जातक २।१४२ (६) अजात० १।४२ व चन्द्र० ३।१६९

(७) चन्द्र० १।६३ व ध्रुव० २।३९ (८) चन्द्र० १।६३

(९) स्कद० २।६४ (१०) ध्रुव० २।३७

(११) इण्डिया इन कालिदास : उपाध्याय : पृ० १९६ (१२) अमरकोश २।१०।४३

(१३) ध्रुव० २।३८ (१४) ध्रुव० १।१३ (१५) वही २।३७

(१६) वही २।३२ (१७) राज्यश्री ३।६१ (१८) वही ३।५९

हैं। परन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि राजप्रासादो से लेकर साधारण अनुचरो तक को सुरापान करने की स्वतन्त्रता थी।

प्रसाद की नारियाँ भी खुलकर सुरापान करती हैं। उदयन की रानी मागन्धी को दासी नवीना पान कराती है।[१] वेश्या श्यामा का पान करना तो स्वाभाविक ही है।[२] सुवासिनी 'न सभाल सकने' तक पीती है।[३] विलासी युवक और युवतियाँ वसतोत्सव में भाग ले रहे हैं 'परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे समाज मे अभाव है फिर आमोद कैसा ?[४] यहाँ इन शब्दो द्वारा इस ओर स्पष्ट सकेत किया गया है कि उत्सवो में स्त्री पुरुष साथ साथ पान भी करते थे।

प्रसाद ने सैनिको के सुरापान करने की ओर भी सकेत किया है। शर्वनाग मदिरोन्मत्त अवस्था मे कादम्ब, कामिनी और कचन का उल्लेख करता है।[५] बौद्ध कापालिक प्रपचबुद्धि शवनाग के साथ मदिरा पान करता है और उससे महादेवी देवकी की हत्या का दुष्कर्म करवाने के लिये सुरापान का आश्रय लेता है।[६] यहाँ मदिरा के लिए 'लाल मदिरा'[७] का प्रयोग केवल रूढिमात्र है। मदिरा का रग सदा ही लाल नही होता।

मदिरापान के विषय में सम्भवतः और भी दो एक विशेप प्रथाओ की ओर प्रसाद का ध्यान गया है। अधिकाश स्थलो पर जहाँ पुरुप और नारियाँ साथ हो, वहाँ नारियाँ ही पान पात्र भरकर पुरुषो को देती हैं। उदयन को मागन्धी मदिरा पिलाती है। समुद्रगुप्त श्यामा से तीव्र मादक पिला देने की आकाक्षा करता है। राक्षस को गाने के मूल्य के रूप में एक पात्र कादम्ब चाहिये और सुवासिनी उसे पात्र भरकर देती है। नन्द को भी सुवासिनी पात्र भर कर देती है। शकराज के लिये कोमा स्वर्ण के कलश मे मदिरा लेकर आती है। सामन्तो को नर्तकियाँ पान कराती हैं। अनन्तदेवी के सकेत पर विजया ही पुरगुप्त को मदिरा पिलाती है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि तब कोई ऐसी प्रथा रही होगी जिसकी ओर प्रसाद ने सकेत किया है। तथापि यह सम्भव है कि दासियो एव नर्तकियो की स्थिति नही वरन् पत्नी, प्रियतमा में और मित्र की स्थिति में नारी ही इस कार्य को करने में अधिक शोभनीय लगती हो।

कालिदास के नाटको मे मदिरापान का उल्लेख करते हुए उपाध्याय लिखते है[८], "सुरापान अत्यन्त प्रचलित जान पडता है, कालिदास में सुरापान के उल्लेख प्रचुर सख्या में हुए हैं पुरुप ही नही वरन् स्त्रियाँ भी सुरापान करती थी। कुमार सम्भव में शिव सुरापान करते हैं और अपनी पत्नी को भी कराते हैं। यह कहा जा सकता है कि विवाहित दम्पति नित्यप्रति सुरापान करते थे। अभिज्ञान शाकुन्तल में नागरिक और उसके सैनिक सुरापान करते हैं। रघुवश के अनुसार रघु की समस्त सेना 'नारिकेलासव' पीती है" अन्यत्र वे लिखते

---

(१) अजात० १।४२ (२) अजात० २।६७ (३) चन्द्र० १।६४
(४) वही १।६३ (५) स्कंद० २।६२
(६) वही २।५८ (७) वही २।६२
(८) इण्डिया इन कालिदास : उपाध्याय · पृ० १९६

है 'यह सम्भव है कि क्षत्रिय सुरापान करते थे पर ब्राह्मण नही, 'कुछ भी हो कवि के उल्लेखों से इस आशय की स्पष्ट और पर्याप्त साक्षी मिल जाती है कि साधारण व्यक्तियो मे भी सुरापान का अत्यन्त ही प्रचलन रहा होगा।[१]

युआनचाग के उल्लेखो मे ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु भी सुरापान किया करते थे।[२] विक्रमशील के विहार में मैत्री नामक एक तान्त्रिक भिक्षु के पास मद्य पाई गई थी। उसका कहना था कि वह उक्त मद्य को बौद्ध योगियो के लिये लाया है।[३]

प्रसाद ने आपानक शब्द का प्रयोग भी किया है। "आपानक"[४] 'और' आपानको का समारोह[५] दोनो ही 'पीने वालो के व्यवस्थित समूह' का अर्थ देते हैं। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में जिस तरह की काकटेल पार्टीज हुआ करती है, 'आपानक' कुछ कुछ इसी तरह का अर्थ देता है। 'समापानकम्[६] का उल्लेख उक्त अर्थ मे कामसूत्र मे भी उपलब्ध है। अमरकोश में आपानक के लिये 'पानगोष्ठी'[७] पर्याय उपयुक्त अर्थ का समर्थन करता है।

इन नाटको में भोजन के विविध पदार्थों का उल्लेख नही के बराबर ही हुआ है, जो दो एक नाम आए हैं, वे भी किसी विशेष अर्थ को ध्यान में रखकर नही लाये गये हैं।

भोजन

वसन्तक के द्वारा वैवाहिक उपहारो के सम्बन्ध मे लड्डू[८] का उल्लेख हुआ है। पर वह विदूषक के पटु स्वभाव के प्रदर्शन मात्र के लिये है, अन्यथा वह व्यर्थ ही है। ऐसा ही एक उल्लेख स्कदगुप्त मे भी मिलता है, परन्तु वह भी महत्त्वहीन सा ही है। स्कदगुप्त में 'शूल पर के मास'[९] का और रोटियो[१०] का उल्लेख दोनो निरर्थक से हैं, क्योकि दोनो का उद्देश्य अर्थ की दृष्टि से किसी भोजन विशेष की ओर सकेत करना नहीं है। अमरकोश[११] में शूल पर सिका हुआ मास भी खाद्य पदार्थों में गिनाया गया है और इसके तीन प्रकार 'शूलाकृत', 'भटित्र' और 'शूल्य' माने गये ह। रोटियो के स्थान पर कोई अन्य प्राचीन शब्द उपयुक्त होता।

भोजन के सम्बन्ध में भिक्षा[१२] का उल्लेख कुछ महत्त्व रखता है। मल्लिका सारिपुत्र और आनन्द के पैर धुलाती है। दोनो बैठते है और भोजन करते हे।[१३] यह परम्परा से चली आई हुई भारतीय भोजन-पद्धति का चित्रण है और बौद्ध आचार का यह एक अ ग थी।[१४] यही भोजन के लिए स्वर्णपात्र का उल्लेख भी प्रसाद कर गये हैं।

---

(१) इडिया इन कालिदास : उपाध्याय : पृ० १६८

(२) लाइफ औफ ह्वेनसाग वौल्यूम १, पृ० २१५

(३) इण्डियन पडित्स इन दि लैंड औफ सौरो पृ० ११-१२

: देखिये दास हिस्ट्री औफ इण्डियन फिलौसोफी :

(४) स्कद० १।१८ (५) वही ३।६४

(६) कामसूत्र सूत्र २६ पृ० ४६ (७) अमरकोश २।१०।४२

(८) अजात० ३।१३५ (९) स्कद० ४।१२६

(१०) वही ५।१३६ (११) अमरकोश २।६५

(१२) अजात० २।८३ (१३) वही २।८३,८४

(१४) ए रिकर्ड औफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन : इट्सिंग : पृ० ४०

दाण्ड्यायन के कथन में तपस्वियो के भोजन फल मूल का उल्लेख हुआ है ।[1] इसी प्रकार बंदियो के भोजन का संकेत भी चाणक्य और शकटार के कथनो में हुआ है ।[2] चाणक्य एक मुट्ठी चने और शकटार पानी से मिले सत्तू का उल्लेख करते हैं । परन्तु ये भी निकृष्ट आहार के प्रतीकमात्र जान पडते हैं ।

पाकशाला[3] और पान्थशाला[4] के नाम भी प्रसाद के दो पात्रो ने लिये है । पान्थशाला का प्रतीकात्मक उल्लेख अलका द्वारा हुआ है और पाकशाला का नाम विदूषक लेता है ।

''ध्रुवस्वामिनी' मे 'पान' और 'पान के डिब्बे'[5] का उल्लेख हुआ है । इसमें सन्देह नही कि पान भारतीय संस्कृति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा है । देवताओ के पूजन मे भी इसके बिना काम नही चलता । वात्स्यायन कहते है कि प्रातःकाल नागरिक पान खाकर अपने कार्य मे लग जाय ।[6] कालिदास ने ताबूलवल्ली का उल्लेख किया है ।[7] फ्लीट के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के काल मे प्रसाधन और सौदर्य वृद्धि के लिए ताबूल चर्वण किया जाता था ।[8] बाण ने कादबरी मे 'ताबूल करक वाहिनी' का प्रयोग कई बार किया है ।[9] किन्तु इन सभी स्थलो पर ताबूल का ही प्रयोग हुआ है, पान का नही । इसका कारण यही कहा जा सकता है कि प्रसाद देश (बनारसी पान) काल से प्रभावित होकर ही ताबूल शब्द को भूलकर गुप्तकाल म भी 'पान' शब्द का प्रयोग कर बैठे हे । यही बात 'पान के डिब्बे' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, क्योकि प्राचीन काल मे 'ताबूल करक' और 'पटलाधार' जैसे शब्दो का प्रयोग हुआ है । वस्तुतः ताबूल की चर्चा हमे 'प्रसाधन' के अन्तर्गत करनी चाहिए थी, किन्तु चर्वण के उपरात ही ताबूल 'प्रसाधक' होता है अतः इसकी चर्चा इसी प्रसग मे करना उपयुक्त प्रतीत होता है ।

---

(१) चन्द्र० १।१०३

(२) वही १।८७

(३) स्कद० १।१८

(४) चन्द्र० १।६६

(५) ध्रुव० १।१६,२०

(६) 'गृहीत मुखवास ताम्बूलः कार्यान्यनुतिष्ठेत्' कामसूत्र सूत्र १६ पृ० ४५ देखिए सूत्र २१

(७) रघुवश ६।६४

(८) कौर्पस इंस्क्रिप्शनस् इंडिकारम : १८ : पृ० ८२

(९) कादम्बरी : बाण :

—*—*—

वस्त्र और आभूषण

प्रसाद के नाटको में वस्त्र और आभूषणो के नाम भी बहुत कम आए हे। कही-कही प्रसाद ने ऐसे सकेत अवश्य दिए हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल की नारी भी वेष-भूषा और बनावट-सजावट से अपने पतियो को प्रसन्न करती थी।[१] सहज सुन्दर रूप होते हुए भी वेश भूषा की ओर विशेष ध्यान रखा जाता था।[२] किन्तु विभिन्न अवसरो के उपयुक्त वेष-भूषा की ओर भी प्रसाद ने कोई सकेत नही किया है, केवल एक दो स्थानो पर 'वर वधू के वेष'[3] का उल्लेख मात्र कर दिया है। वैवाहिक वस्त्र प्राचीन काल में भी विशेष प्रकार के होते थे। मालविका विवाह के समय विशेष प्रकार के वस्त्राभूषणो से सुसज्जित की गई थी। वह सिर पर एक छोटी सी ओढनी ओढे हुए थी और नीचे से ऊपर तक अनेक प्रकार के अलकारो से सजी हुई थी।[४] उपाध्याय के अनुसार वर वधू दोनो के वैवाहिक वस्त्र रेशम के होते थे और उनमें हस कढे हुए होते थे।[५] हर्षचरित मे राज्यश्री के विवाह के अवसर पर कई प्रकार के वैवाहिक वस्त्रो का विस्तृत विवरण मिलता है।[६] भारत में न जाने किस काल से नारी के अलकारो को महत्त्व प्रदान किया गया है। वात्स्यायन तो कहते है कि एकान्त में भी पत्नी पति के पास अलकाररहित होकर न जावे।

'नायकस्य च न विमुक्ता भूषणा विजने सदर्शने तिष्ठेत'[७]

इस पर टिप्पणी करते हुए चकलदर लिखते है कि यह विचारधारा वैदिक युग में भी प्रचलित थी।[८]

प्रसाद के नाटको में जिन वस्त्रो का उल्लेख मिलता है वे ये हैं: उत्तरीय, कचुक, उष्णीष, परिच्छद, कमरबद।

ध्रुवस्वामिनी स्वर्णखचित उत्तरीय में सब अग छिपाए हुए आती है।[६] इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तरीय पर्याप्त लम्बा चौडा होता था और उससे समस्त अग ढके जा सकते थे। उसका स्वर्णखचित होना उसके कलात्मक सौन्दर्य और उसकी बहुमूल्यता को सूचित करता है।

उत्तरीय

प्राचीनकाल में सामान्यतः दो वस्त्र काम में लाए जाते थे। कटि के नीचे के अगो के ढकने के लिए जो वस्त्र उपयोग में आता था उसे अधोवस्त्र (धोती) कहते थे और कटि के ऊपरी भाग के लिए उत्तरीय काम में लाया जाता था। कालिदास

---

(१) अजात० १।४२ (२) वही १।४२ (३) अजात० ३।१२८, चन्द्र० ३।१५६
(४) मालविका ५।७ (५) इडिया इन कालिदास : उपाध्याय ' पृ० १६६
(६) हर्षचरित : बाण ' समय उच्छ्वास (७) कामसूत्र : वात्स्यायन . सूत्र १३ पृ० २२६
(८) स्टडीज इन कामसूत्र : हारानचन्द्र : पृ० १७४ (६) ध्रुव० २।४६

के 'दुकूलयुग्म' मे एक उत्तरीय है[1] जिसे आधुनिक 'शाल' का पूर्वज कह सकते हैं।[2] बाण ने भी उत्तरीय का उल्लेख किया है 'कुकुमराग कोमलोत्तरीयान्तरितोत्तमाङ्गश्च'[3] इससे पता चलता है कि उत्तरीय से उत्तमाग (सिर) भी ढका जाता था। हर्षचरित की शाकरी टीका में 'आच्छादनमुत्तरीयम' से यह भी पता चलता है कि शरीर के ऊपरी भाग मे कचुकादि और वस्त्रो के ऊपर भी इसे ओढा जाता था।[4] उत्तरीय पुरुष और स्त्री दोनो ही धारण करते थे। प्रसाद ने केवल स्त्रियो के ही उत्तरीय का उल्लेख किया है। स्त्रियाँ आवश्यकता पडने पर उत्तरीय से अवगुठन का भी काम लेती थी।[5] बौद्ध ग्रन्थो में इसे उत्तरासग[6] कहा गया है। वात्स्यायन ने नागरिक के दो परिधान गिनाये है वासस् (वस्त्र) तथा उत्तरीय। 'तत्र महाहगन्ध उत्तरीय' से जान पडता है कि यह उत्तरीय महर्घि (मूल्यवान) एव गधयुक्त होता था।[7]

गाधार राजकुमारी अलका अपने कचुक मे मानचित्र छिपा लेती है।[8] इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कचुक नाम का कोई वस्त्र पहनती थी। साल्टोर महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के वस्त्रो मे 'कचुक' का उल्लेख करते हैं।[9] कचुक का उल्लेख मालती के वस्त्रो के वर्णन में बाण ने किया है। हर्षचरित से जान पडता है कि मालती ने एक अत्यन्त निर्मल श्वेत कचुल से भी पतला कचुक पहिन रखा था जिससे उसका सारा शरीर आच्छादित था। उसके भीतर उसका चन्दन चर्चित शरीर स्पष्ट दिखाई पडता था।[10] बौद्ध ग्रन्थो से जान पडता है कि 'स्त्रियाँ और पुरुष दोनो कचुक पहिनते थे। शायद यह कुरता जैसा कोई वस्त्र रहा हो, लेकिन यह कहना कठिन है कि यह वस्त्र आगे से खुला रहता था अथवा बद।[11] बाण के आधार पर ही सारटोर लिखते हैं कि यह आगे से बाँधा जाता था।[12] सम्भवतः कचुक का रूप आजकल का बगलबन्दी के समान रहा हो। पुरुषो के कचुक का उल्लेख भी बाण ने किया है।[13] सस्कृत नाटको की कचुकी अथवा काचुकीय का नामकरण ही 'कचुक' के आधार पर किया गया है। कचुकी एक लम्बा कचुक धारण किया करता था।

कंचुक

---

(१) इडिया इन कालिदास : उपाध्याय : पृ० १६६
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज : साल्टोर : पृ० ३६५
(३) हर्षचरित : बाण : सप्तम उच्छ्वास पृ० २०७
(४) वही : शकर टीका : पृ० २०७ (५) शाकुतल ५।८१३
(६) महावग्ग ८।१३. ४,५ (७) कामसूत्र २१ पृ० २६१ (८ चन्द्र० १।८२
(९) लाइफ इन दि गुप्ता एज : सारटोर : पृ० ४०७
(१०) हर्षचरित : बाण : प्रथम उच्छ्वास
(११) प्राचीन भारतीय वेश भूषा : डा० मोतीचद : पृ० ३७
(१२) लाइफ इन दि गुप्ता एज : साल्टोर : पृ० १११
(१३) हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास पृ० २०६

अजातशत्रु में 'उष्णीष का फूल बनाया'[1] जैसे वाक्य मे उष्णीष शब्द पगडी के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल मे पुरुष कभी कभी स्त्रियाँ भी सिर पर उष्णीष बाँधती थी। उष्णीष के सम्बध में डा० मोतीचद लिखते ह उष्णीष शब्द का पगडी के अर्थ मे प्रयोग सबसे पहिले अथर्ववेद (१५, २ १) और पचविंश ब्राह्मण (१७ १ १४) के प्रात्य प्रकरण मे आया है। ऐतरेय (६ १) और शतपथ (३, ३ २ ३) मे इस शब्द का प्रयोग राजाओ और व्रत्यो के पहरावो के सम्बध में आया। राजा लोग वाजपेय (श० ब्रा० ५ ३ ५, २३) और राजसूय मैत्रायणी सहिता ४ ४, ३) के अवसरो पर उष्णीष धारण करते थे। इन्द्राणी साम्राज्ञी की हैसियत से उष्णीष पहनती थी (श० ब्रा० ५ ३, ५ २३) व्रात्यो का उष्णीष सफेद होता था। सूत्रो के अनुसार उष्णीष मे कई फेंटे होते थे, और वह जरा एक तरफ झुका कर बाँधा जाता था (कात्यायन श्रौ सू २१,४) यज्ञ के अवसर पर उष्णीष के दोनो आगे लाकर उसकी तहो मे खोस दिए जाते थे (श० ब्रा० ३ ५ २०) लगता है कि राजाओ के उष्णीष के छोर बाहर लटके रहते थे।[2] कालातर मे उष्णीष का व्यवहार सम्भवतः पुरुषो तक ही सीमित रह गया होगा क्योकि गान्धार और मथुरा शैलियो की मूर्तियो में स्त्रियाँ सिर पर फूल मालाएँ अथवा मुक्ता मालाएँ पहनी हुई दिखाई देती हैं।[3]

उष्णीष

मालविका चद्रगुप्त का परिच्छद पहन कर 'उसी की शैया पर लेटी थी।'[4] यहाँ परिच्छद से शयन के समय पहने जाने वाले वस्त्रो का बोध होता है। आप्टे महोदय ने परिच्छद के कई अर्थों में एक अर्थ परिधान या वस्त्र भी दिया है[5] और इस अर्थ के पोषण के लिए उन्होने किरातार्जुनीय (७, ४०) का उद्धरण दिया है। पहनने योग्य वस्त्रो के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग नही के बराबर हुआ है।

परिच्छद

मल्लो के कमरबद के बधन'[6] का उल्लेख अजातशत्रु मे हुआ है। परतु छठी शती तक कटि के लिए 'कमर' शब्द का प्रयोग नही हुआ था। इसमें सदेह नही कि योद्धा कटिबध बाँधते थे। इसका प्रमाण बौद्ध ग्रथो मे ढूँढा जा सकता है।[7] बौद्धकाल में भिक्षु भिक्षुणियो के 'कायबध' का उल्लेख मिलता है जो सामान्य कटिबध से भिन्न होता था। 'ये कायबध सादी और फेरदार बनावट की पट्टियो से बनते थे। इन कायबधो के किनारे फटने के डर से उलट कर सी दिए जाते थे। कायबधो मे हुक भी लगते थे। पर ये बीढ (हुक) सदा हड्डी सख और डोरे के बने होते थे. भिक्षुओ के लिए सोने चाँदी के बीढ वर्जित थे।[8]

कमरबन्द

---

(१) अजात० १।५६

(२) प्राचीन भारतीय वेशभूषा : डा० मोतीचन्द : पृ० १६,२०

(३) लाइफ इन दि गुप्ता एज : साल्टोर : पृ० ३६५,६६

(४) चद्र० ४।२११

(५) सस्कृत अँग्रेजी कोष : आप्टे : पृ० ५६३

(६) अजात० २।७५

(७) जातक

(८) प्राचीन भारतीय वेश-भूषा (मोतीचंद) पृ० ३५,३६

आभूषण

प्रसाद के नाटको मे बहुत ही कम आभूषणो का उल्लेख हुआ है और वे भारत मे आज भी प्रायः उसी रूप मे व्यवहृत होते है। ऐसा एक भी आभूषण प्रसाद ने नही गिनाया है जो केवल प्राचीन काल मे ही व्यवहार मे लाया जाता होगा। आभूषणो में प्रसाद ने केवल कुडल, अगूठी ककरण और नूपुर का उल्लेख किया है।

कुंडल

प्रसाद ने 'मोतियो के कुडल' का उल्लेख किया है। धनिक लोग इन कुडलो को अपने कानो में पहिना करते थे।[१] कालिदास के समय मे भी विविध प्रकार के आभूषणो से कानो को सजाया जाता था, जिन्हे 'कर्णभूषण' 'कर्णपूर' 'कुडल' तथा 'मणिकुडल' कहा गया है।[२] हर्षचरित के 'प्रिय कथा एव सुभगा कर्णालिकारा आडबर कुडलादि'[३] मे भी कुडल का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में कुडलो का प्रयोग पुरुष और स्त्री दोनो ही किया करते थे। अजता के भित्ति चित्रो मे पुरुष और स्त्री दोनो ही कुडल धारण किए हुए है।

अंगूठी

'अजातशत्रु' में बदी अजातशत्रु वाजिरा को अपनी अगूठी पहिनाता है।[४] और 'चन्द्रगुप्त' में अमात्य राक्षस की 'अगुलीय मुद्रा' से नन्द के हृदय मे राक्षस के प्रति सन्देह का बीजारोपण किया जाता है।[५] अभिज्ञान शाकुतल' मे शकुतला से विदा होते समय दुष्यत ने स्वनामाकित जो अगूठी पहिनाई थी, उसके लिए 'अगुलीयक'[६] और 'मुद्रा'[७] का प्रयोग हुआ है अगूठी प्राचीन काल मे नागरिक का अत्यत प्रचलित आभूषण रहा है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे इसका यत्र तत्र उल्लेख किया है।[८] 'ललित विस्तर' के 'अनेक शत सहस्त्र मूल्यमगुलीयकम्'[९] से अगुलीयक की महर्घता की सूचना भी मिलती है। 'अगुलीय मुद्रा और उसके राजनीतिक उपयोग की चर्चा 'मुद्राराक्षस मे हुई है। अन्यत्र भी नामाकित अगुलीयक' या 'मुद्रा' के राजकार्यों में विशेष अवसरो पर काम में लाए जाने के दृष्टान्त मिलते हैं।[१०]

---

(१) राज्यश्री २।३७

(२) रघु० ७।२७, ऋतु० ३।१६, ऋतु० २।२०

(३) हर्षचरित : बाण : तृतीय उच्छ्वास ६८

(४) अजात० ३।११६, चन्द्र० १।८३

(५) चन्द्र० ३।१६३ (६) शाकुतल ६।११३

(७) शाकुतल ६।११२ (८) कामसूत्र : सूत्र २० पृ०

(९) ललित विस्तर : लेफमैन : १ ३।१४२

(१०) शाकुतल ६।१२, मालविका ४ पृ० ३२२ :का० श्रा०:

'अजातशत्रु' में वासवी अपना कंकण उतार कर दान दे देती है।[1] यह कंकण हाथो में पहिना जाने वाला अत्यन्त प्राचीन आभूषण है और बाण ने इसका उल्लेख किया है।[2] शंकर टीका में इसका एक और पर्याय 'प्रतिसर' भी मिलता है।[3]

कंकण

'स्कन्दगुप्त' में 'नूपुरो की झंकार'[4] के द्वारा विलास और कलाओ की ओर संकेत किया गया है। नूपुर और उनकी झंकार का विशद् वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलता है। 'हर्षचरित' में राज्यवर्द्धन के जन्म के समय नृत्य करती हुई नर्तकियो के मणिनूपुरो की झंकार से दिशाएँ मुखरित हो उठी थी। ये नीलम मणि से जड़े हुए मुखर नूपुर पैरो मे पहिने जाते थे।[5]

नूपुर

'शृंगार मंजूषा'[6] और 'रत्न मंजूषा'[7] के उल्लेख भी प्रसाद ने किए हैं। दोनो के नामो से स्पष्ट है कि इन दोनो पिटारियो मे से प्रथम तो शृंगार सामग्री रखने के लिए काम मे आती थी और दूसरी रत्नो को सुरक्षित रखने के लिए। प्राचीन काल में इस प्रकार की पेटियाँ शृंगार इत्यादि के लिए व्यवहार में लाई जाती थी। बौद्ध जातको मे इस प्रकार की 'मंजूषा' का उल्लेख हुआ है।[8] वात्स्यायन ने इसी प्रकार की एक अन्य पेटिका 'सौगन्धि पुटिका' का उल्लेख किया है।[9] उक्त पेटी में भिन्न-भिन्न प्रकार के इत्र रहा करते थे। और प्रत्येक नागरिक उक्त पुटिका को अपने पास 'शृंगार मंजूषा' के रूप मे रखता था। कालिदास ने भी 'शृंगार पेटिका'[10] का उल्लेख किया है, 'रत्न मंजूषा'[11] का वर्णन भी 'मालविकाग्निमित्र' में हुआ है।

शृंगार और रत्न मंजूषा

पुष्पाभरणो का उल्लेख प्रसाद के नाटको में कई स्थलो पर हुआ है। मालविका चन्द्रगुप्त को पुष्पमाला पहिनाती है।[12] सुरमा मालिन 'राजा की विलास मालिका'[13] 'मल्लिका का बाल व्यजन'[14] बनाने तथा अन्य प्रकार की 'पुष्प रचना'[15] के कार्यों में अत्यंत पटु है। देवगुप्त उसकी 'शिल्प कुशलता' की प्रशंसा भी करता है।[16] पुष्प और पुष्प मालाओ से शृंगार करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जातकग्रन्थो में पुष्पमालाओ एवं पुष्पाभरणो का उल्लेख मिलता है।[17] कानो मे कर्णिकार और कमल के फूल स्त्रियाँ ही नही पुरुष भी लटकाया करते थे। कालिदास ने आपीड (जूडे) में चम्पा के फूलो की माला

पुष्पाभरण

---

(१) अजात० १।४० (२ हर्षचरित :चतुर्थ उच्छ्वास: पृ० १४३

(३) 'कंकण प्रतिसर' शंकर टीका पृ० १४३

(४) स्कन्द० ३।६४ (५) हर्षचरित चतुर्थ पृ० १३०

(६) अजात० (७) स्कन्द० (८) जातक (९) कामसूत्र सूत्र ७ पृ० ४४

(१०) विक्रमोर्वशीय ६।१२१ (११) मालविका ३।७३

(१२) चन्द्र० (१३) राजयश्री १।११

(१४) वही १।१३, १।१४; १।१७ (१५) वही १।१३; १।१४

(१६) वही १।१४ (१७) कुत्तिल जातक २।१०।१४३

लपेटने[१] या कुरबक के फूल खोसने या अलको मे अशोक के फूल गू थने[२] और नव मल्लिका की माला धारण करने की चर्चा की है।[३] वात्स्यायन ने नागरिक के वास गृह मे अन्य साम ग्रियो के साथ 'माल्यम्' 'तथा' 'कुरटक मालाश्च' का भी उल्लेख किया है।[४] पुष्परचना अनेक प्रकार से की जाती थी। जिनमे से वेष्टित' वितत, सघाट्य, ग्रथिमन, आलविक्त, मुक्तक, मजरी और स्तवक ये आठ प्रकार प्रधान थे।[५] अपने निमल श्वेत वर्ण और भीनी भीनी सुगन्ध के कारण मल्लिका का पुष्प, पुष्परचना के लिए अधिक काम में लाया जाता था।[६]

'मैं वही हूँ जो अश्वमेध पराक्रम कुमारगुप्त से बालो को सुगन्धित करने के लिए गध पूर्ण जलवाती थी'।[७] अनन्तदेवी के इस वाक्य द्वारा प्रसाद ने स्त्रियो के श्रृ गार की एक प्राचीन पद्धति का निर्देश किया है। केशो के अगर चन्दन इत्यादि से

अन्य प्रसाधन

सुगन्धित किए जाने का उल्लेख कालिदास में भी हुआ है।[८] उक्त उल्लेखो से ज्ञात होता है कि स्नान के उपरान्त बालो को सुखाने एव उन्हे सुगन्धित करने के लिए स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के गधो के धूप का उपयोग करती थी। पति पत्नी या प्रिय प्रियतमा के बीच स्नेहातिरेक अथवा क्रीडा विलास की भावना की अभिव्यक्ति शकु तला के प्रति दुष्यन्त के इस कथन में हुई है।

कि शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातै,
सचालयामि नलिनीदल तालवृ तम
अ के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
सवाहयात्रि करमोरु यथासुख ते[९]

अनन्त देवी की उपयुक्त गर्वोक्ति मे कुमारगुप्त के क्रीडा विलास का ही सकेत है, किसी विशेष प्रथा का नही। विलास सामग्री में 'कालागुरु के गध धूम[१०] की भी चर्चा 'स्कद गुप्त' में हुई है। प्राचीन काल में 'कालागुरु' की धूप से केश ही सुगन्धित नही किए जाते वरन् स्त्रियाँ अपने वस्त्रो को भी इनसे सुवासित करती थी।[११]

---

(१) ऋतुसहार ६।३
(२) वही ६।६
(३) हर्षचरित
(४) कामसूत्र सूत्र ५।१२ पृ० ४३, ४५
(५) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० ७१
(६) कामसूत्र सूत्र० ७
(७) स्कद० ४।१०६
(८) ऋतु० २।२२, कुमारसभव ७।१४
(९) शाकुन्तल अ क ३
(१०) स्कद०
(११) लाइफ इन गुप्ता एज : साल्टोर : पृ० ४१४

उत्सव

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में उत्सवो का बडा महत्त्व था। सस्कृत वाड्मय मे उत्सव सम्बन्धी जितने भी उल्लेख हुए हे, उनसे ज्ञात होता है कि आज के भारतीय समाज मे प्राचीन उत्सवो का एक फीका सा अवशिष्ट स्वरूप रह गया है। तब ऐसा न था। लोग उत्साह तथा आनद के रस मे डुबकियाँ लेते हुए अपने उत्सवो को मनाया करते थे। शिशुओ से लेकर वृद्ध तक उन उत्सवो के रग मे आचूड रग जाया करते थे।

प्रसाद ने साधारणतया नागरिको के मनोविनोद के लिए समय-समय पर किए जाने वाले उत्सवो की सभा को समाज[1] कहा है। ऋतु सबधी उत्सव प्राचीन भारत की अपनी विशेषता रहे है और होली, दीपावली इत्यादि के रूप में आज भी प्रचलित है। प्रसाद ने 'वसंतोत्सव'[2] तथा 'मदनोत्सव'[3] के उल्लेख किए है। उक्त उत्सवो से केवल वसन्तोत्सव के स्वरूप की थोडी सी अस्पष्ट झाँकी प्रसाद ने अवश्य दी है। अन्य उत्सवो का नामोल्लेख मात्र कर दिया है। अन्य साधारण उत्सवो मे से 'वैवाहिक महोत्सव'[4] 'विजयोत्सव'[5] तथा 'युवराज्याभिषेकोत्सव'[6] जैसे उत्सवो का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है। किन्तु इनके सम्बन्ध मे इन नाटको से अधिक नही जाना जा सकता।

प्रसाद के नाटको से केवल इतना ज्ञात होता है कि कभी कभी 'सरस्वती मदिर' मे समाज' होते थे। इन समाजो के सम्बन्ध मे वात्स्यायन लिखते हे, 'ये समाज प्रत्येक

समाज

पक्ष अथवा मास मे निश्चित तिथि को सरस्वती के मन्दिर में हुआ करते थे।'[7] जिस प्रकार आधुनिक काल मे सगीत और नृत्य मडलियाँ या अन्य कलाकार नगरो के केन्द्र स्थान अथवा 'टाउन हाल' इत्यादि मे जनता मे अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में 'सरस्वती मदिर' मे विद्या की देवी के चरणो मे इस प्रकार के प्रदर्शन हुआ करते थे। गणों का यह कर्त्तव्य होता था कि वे आगन्तुको के स्वागत सत्कार का उचित प्रबध करें। इस प्रकार के उत्सवो का सम्बन्ध केवल सरस्वती पूजन से ही नही था,वरन् अन्य देवी

---

(१) चन्द्र० १।७३
(२) वही १।६३
(३) राज्यश्री १।१६
(४) अजात० ३।१३५ ; चन्द्र० ३।१५५
(५) चन्द्र० ४।२००, २०१ , ध्रुव० २।३८
(६) अजात० १।२६
(७) 'पक्षस्य मासस्य व प्रज्ञाते हनि सरस्वत्या भवने नियुक्ताना नित्य समाज'

देवताओ के सम्मान मे भी इस तरह के उत्सवो का आयोजन किया जाता था। नियमित रूप से जो समाज होते थे उनमे नागरिक तथा सरस्वती पूजन के लिए नियुक्त नर्तक वादक इत्यादि भी भाग लेते थे।[1]

राजकुमारी कल्याणी समाज के सम्बध मे जानने के लिए उत्सुक हैं। सभव है प्रसाद इससे यह प्रकट करना चाहते हो कि प्राचीन काल मे सरस्वती मदिर मे होने वाले समाजो मे स्त्रियाँ भी अत्यत अभिरुचि रखती थी। कल्याणी का नीला को भेजना इस ओर थोडा सा सकेत अवश्य करता है। कामसूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे नायक के आकर्षण और प्रेम की सफलता समाजो और गोष्ठियो में उसकी सफलता पर निर्भर रहती थी।[2] इससे यह स्वाभाविक जान पडता है कि चाहे स्त्रियाँ उक्त समाजो मे स्वतन्त्र रूप से भाग नही भी लेती हो परन्तु उनके लिए विशेषकर कुमारियो के लिए उन समाजो का आकर्षण प्रबल होना होगा। 'गोष्ठी कलाप्रिया चैति नायिक गुणाः'[3] इन शब्दो मे वात्स्यायन यह स्पष्ट कर देते है कि नायिका 'गोष्ठी' मे तो भाग लेती ही थी चाहे 'समाज' मे अनिवार्य रूप से न लेती हो। कामसूत्र मे यह भी ज्ञात होता है कि 'सरस्वती मदिर' अथवा अन्य मदिरो मे होने वाले समाजो के उत्सवो के साथ ही कभी कभी उन देवी देवताओ की यात्राएँ भी निकाली जाती थी। सभव है कि उन यात्राओ मे स्त्री-पुरुष दोनो भाग लेते हो क्योकि देवता सबधी यात्रा अथवा उद्यान क्रीडा के अवसरो पर नायक अपनी प्रियतमाओ से मिल सकते थे।[4] अतः 'सरस्वती मदिर' के 'समाज' के सबध में राजकुमारी का उत्सुकता प्रकट करना अत्यन्त स्वाभाविक है।

---

(१) 'कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषा दद्युः।
द्वितीये हनि तैभ्य. पूजा नियत लभेरन्।
ततो यथाश्रद्धमेषा दर्शनमुत्सर्गो वा।
व्यसनोत्सवेषु चैषा परस्परस्यैककार्यता।
आगन्तूना च कृतसमवायाना पूजनमभ्युपपत्तिश्चैति गणधर्म्यः।
एतेन त त देवता विशेषमुद्दिश्य सभावित स्थितयोविविध घटा व्याख्याताः।'

कामसूत्र सूत्र २८,३३

(२) 'ए नागरक वाज एक्सपैक्टेड टु बी लिबरल इन स्पैन्डिग ओन गोस्ठीज ऐंड हिज सक्सैस इन कोर्टशिप एंड लव डिपैन्डेड इन नो स्मौल मेजर ओन हिज पावर टु शाइन इन दि स्पोर्टस ऐंड फैस्टिविटीज इक्लूडिग दि गोस्ठीज ऐंड समाज।'

स्टडीज इन कामसूत्र : चकलदर : पृ० १६७

(३) कामसूत्र सूत्र १३

(४) 'सातु (समागमः) (देवताभिगमने यात्रायामुद्यानक्रीडाया जलावतरणे विवाहे यज्ञव्यसनोत्सवेषु अग्न्युत्पाते चौरविभ्रमे जनपदस्य चक्रारोहणे, प्रेक्षाव्यापारेषु तेषु च कार्येष्विति, बाभ्रवीया) कामसूत्र-सूत्र ४१

चन्द्रगुप्त नाटक मे प्रसाद ने 'वसतोत्सव' का जो स्वरूप रखा है वह इस प्रकार है "कुसुमपुर के नागरिक मगध सम्राट के विलास-कानन मे वसतोसव मनाते थे। उक्त उत्सव में राजा भी भाग लिया करता था और उत्सव के बीच राजा अपने को उन लोगो का सहचर मात्र समझता था। कुन्जो मे चपक और मदिरा कलश रखे होते थे और सभी नागरिक नशे में उन्मत्त हो जाते थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ तक अपने को न सभाल पाती थी। उनकी आँखो मे काम का सुकुमार सकेत और अनुराग की लाली ही प्रमोद के प्रधान लक्षण समझे जाते थे। उत्सव के साथ सगीत और 'देवयानी' जैसे प्रसिद्ध आख्यानो पर अभिनय होते थे। वसतोत्सव की रानी जैसे उल्लेखो से यह भी ज्ञात होता है कि किसी कला कुशल और सुन्दर सुवासिनी' जैसी स्त्रियो में से किसी को उक्त उत्सव में रानी का पद दिया जाता था और उसकी आज्ञा सबको शिरोधार्य होती थी। इस प्रकार आमोद-प्रमोद मे उत्सव सम्पूर्ण होता था।"[1]

वसंतोत्सव

सस्कृत वाड्मय के आधार पर आचार्य द्विवेदी वसन्त के कई उल्लेख मानते हैं। इनमें सुवसतक, और मदनोत्सव का वर्णन सबसे अधिक आता है। सुवसतक और मदनोत्सव को उन्होने अलग-अलग उत्सव नही माना है। वसतोत्सव के ही अन्तर्गत मदनोत्सव, सुवसतक, बकुल और अशोक के वृक्षो के पास विहार, शाल्मली मूल खेलन, इत्यादि कई उत्सव आ जाते थे जिनमे वह मदनोत्सव प्रधान होता था।[2] 'राज्यश्री' में प्रसाद ने मदनोत्सव का उल्लेख किया है। परन्तु किसी प्रकार के विवरण के अभाव मे इस सबध मे उनके स्वय के दृष्टिकोण का अनुमान नही किया जा सकता। 'रत्नावली' में मदनोत्सव का विवरण इस प्रकार मिलता है" दोपहर के बाद सारा नगर मदनोत्सव के दिन पुरवासियो की करतल ध्वनि, मधुर सगीत और मृदग के मधुर घोष मे मुखरित हो उठता था। नगर के लोग, पौरजन मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सबसे ऊपर वाली चन्द्रशाला मे बैठकर नगरवासियो के आमोद-प्रमोद को देखा करता था। नगर की कामिनियाँ मधुपान करके ऐसी मतवाली हो जाती थी कि सामने जो कोई पुरुष पड जाता उस पर पिचकारी (शृगक) के जल की बौछार करने लगती थी। बडे-बडे रास्तो के चौराहे 'मदन' नामक बाजे के गम्भीर घोष और 'चर्चरी' की ध्वनि से शब्दायन हो उठते थे। ढेर का ढेर, सुगधित अबीर दशो दिशाओ में इतना उडता रहता था कि दिशाएँ रगीन हो उठती थी। जब नगरवासियो का आमोद पूरे चढाव पर आ जाता तो नगरी के सारे राजपथ केशर मिश्रित अबीर मे इस प्रकार भर उठते थे मानो उषा की छाया पड रही हो। लोगो के शरीर पर शोभायमान अलकार और सिर पर पहिने हुए अशोक के लाल फूल इस लाल-पीले सौंदर्य को और भी बढा देते थे। ऐसा जान पडता था कि कि नगरो के सभी लोग सुनहरे रग में डुबो दिए गए हो।"[3] प्रसाद के 'वसतोत्सव' के वर्णन करने पर समानता केवल इतनी ही है कि दोनो में मधुपान से मतवाली नगर कामनियो की चर्चा है। भवभूति के 'मालती माधव'[4] से मदन महोत्सव का जो विवरण प्राप्त होता है वह प्रसाद के वसतोत्सव के

---

(१) चन्द्र० १।६३,६४,६५,६६,६७ (२) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० ११०

(३) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० १०० (४) मालतीमाधव (भवभूति) अक १

विवरण से यत्किंचित् मिलता है । प्रसाद का 'विलास कानन' भवभूति का 'मदनोद्यान' है । दोनो में नगर के स्त्री-पुरुष उत्सव मनाने के लिए एकत्र हुए हैं । और दोनो में ही नृत्य गीत का उल्लेख है और कोई समानता इन दोनो विवरणो में नही है । मदनोत्सव कदर्प पूजा के निमित्त होता है । पर प्रसाद में इस कदर्प पूजा की चर्चा भी नही हुई है । भवभूति में फूल चुनने, माला बनाने और अबीर कुंकुम से क्रीडा करने का उल्लेख है, पर प्रसाद में नही । प्रसाद ने 'अभिनय' और 'कुन्जो' में मदिरापान का उल्लेख किया है, जो भवभूति में नही मिलता ।

वसन्त में उत्सवो का एक क्रम सा चलता रहता था और सुवसतक के दिन कामदेव की पहली पूजा होती थी । 'उस युग की विलासिनियाँ कठ में कुवलय की माला और कानो मे दुष्प्राप्य आम्रमजरी धारण करके ग्राम को जगमग कर देती थी ।'[1] वसतोत्सव के अवसर पर ही नाटक भी खेले जाते थे । कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र'[2] और श्रीहर्ष की 'रत्नावली'[3] दोनो वसतोत्सव पर ही खेले गऐ थे । इसी आधार पर प्रसाद ने सभवत. वसतोत्सव के अवसर पर 'कच देवयानी' के अभिनय का सकेत किया है । जातक ग्रथो में 'कार्तिक उत्सव' की अत्यत चर्चा हुई है । उसमें पुरुष और स्त्रियाँ केशर से रगे हुए रेशमी दुकूल धारण कर नृत्य किया करते थे ।[4] प्रसाद ने इस प्रकार के सामूहिक नृत्य एव उत्सव समायोजन का स्वरूप ही अपने नाटक के वसतोत्सव मे ग्रहण किया प्रतीत होता है ।

इस प्रकार प्रसाद का वसतोत्सव बहुत कुछ अ शो मे उनकी निजी कल्पना है । और एक विलासी राजा का आयोजन मात्र प्रतीत होता है । वसतोत्सव का उल्लास भी इसमें नही मिलता ।

'वसतोत्सव की रानी'[5] का विवरण प्रसाद ने सभव है बौद्ध ग्रथो से लिया है । उक्त ग्रथो में कलाविद जनपद कल्याणी के सम्मान की यत्र तत्र चर्चा हुई है ।[6] वैशाली की जनपद कल्याणी अम्बपाली के सम्मान को देखते हुए[7] 'सुवासिनी' को 'वसतोत्सव की रानी' कहना अनुचित नही प्रतीत होता । प्रसाद ने ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अपनी कहानी 'सालवती' में भी किया है ।

(१) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० १११
(२) 'अभिहितोस्यि विद्वत्परिषदा कालिदास ग्रथित वस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्यिन्वसतोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति' ।
मालविका० अक १ पृ० १
(३) रत्नावली : श्रीहर्ष : अक १ पृ० १
(४) जातक २।१२१ ; २।१४७ ; २।११८
(५) चन्द्र०
(६) जातक २।१८२
(७) दीर्घनिकाय २।३ पृ० १२७

'अजातशत्रु' के विवाहोत्सव में नागरिक घूम-घूम कर नगर मे आलोकमालाओ का आनन्द लेते हुए बताए गए गए है। इससे अधिक विवाहोत्सव के सम्बन्ध मे प्रसाद के नाटको से कुछ भी ज्ञान नही होता। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि आलोकमाला का प्रचीन विवाहोत्सव मे कोई विशेष महत्त्व नही प्रतीत होता। कालिदास ने पार्वती के विवाह[1] का और बाण ने राज्यश्री के विवाह[2] का इतना विस्तृत विवरण दिया है पर आलोकमाला का कही उल्लेख नही। इसके अतिरिक्त नृत्य गीत जो प्राचीन विवाहोत्सव की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती थी, उसका उपर्युक्त विवाहोत्सव में नाम भी नही। विवाहोत्सव के अन्य विवरणो को छोडकर केवल आलोकमाला को महत्त्व देने मे प्रसाद 'अपने युग से प्रभावित हुए प्रतीत होते ह।'

वैवाहिक महोत्सव

विजयोत्सव का उल्लेख दो स्थानो पर हुआ है। एक तो चन्द्रगुप्त मौर्य की दक्षिण विजय के उपलक्ष्य मे,[3] और दूसरे ध्रुवस्वामिनी नाटक में शकराज की विजय के उपलक्ष्य मे।[4] प्रथम तो मनाया ही नही गया था। अत. उसका कोई विवरण सभव नही था। दूसरे मे सोने की झाँझ वाली नाच[5] तथा 'प्यालियाँ भर-भर कर पीने का[6] उल्लेखमात्र है। प्राचीन भारत मे विजयोत्सव का स्वरूप जातको से लेकर कालिदास के ग्रथो तक में मिलता है। कालिदास के रघुवश के अनुसार 'जब राम लका को जीतकर अयोध्या लौटे तो उनके स्वागत के लिए अयोध्या बदनवारो से सुसज्जित की गई थी। वहाँ के श्वेत प्रासादो के झरोखो से पौर वनिताएँ खीलें बरसा रही थी। और नगर तुरही आदि बाजो के घोष से मुखर हो रहा था।'[7] प्राचीन काल के इस विजयोत्सव में हर्ष और उल्लास का कलात्मक स्वरूप दिखलाई पडता है। 'सोने की झाँझ वाली नाच' तथा प्याले भर-भर कर पीने पिलाने' में मुगल कालीन भारत की छाया स्पष्ट दीख पडती है।

विजयोत्सव

यौवराज्याभिषेक को भी प्रसाद ने उत्सव कहा है पर उत्सव के स्वरूप का पता उनके नाटको से नही चल पाता। जातको में अभिषेकोत्सव का सुन्दर स्वरूप मिलता है।[8]

---

(१) कुमारसभव
(२) हर्षचरित
(३) चन्द्र० ४।२००
(४) ध्रुव० २।३८
(५) वही २।३८
(६) वही २।३९
(७) रघुवश १४।१०
(८) महापिंगल जातक २।९ पृ० २४०

——*

क्रीड़ा विनोद

अपने नाटको मे प्रसाद ने प्राचीन काल के क्रीडा विनोदो की एक झाँकी देने का प्रयास किया है, परन्तु विवरण किसी एक का भी विस्तार मे नही मिलता।

मृगया का उल्लेख प्रायः सभी नाटको म मिलता है। मृगया और क्षत्रियकुमारो[1] का अन्योन्याश्रय सबध जान पडता है। छोटे छोटे राजकुमार भी शिकारी सेवको के साथ जाते थे। अजातशत्रु मे मृगया सिखाने वाले शिकारी का 'लुब्धक'[2] नाम सार्थक जान पडता है।

मृगया

पाणिनी ने मृगया को 'लुब्ध योग' कहा है[3] और कौटिल्य ने 'लुब्धक व्यजना'[4]। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुतल में चिड़िया पकडने वालो के अर्थ में 'शकुनि लुब्ध' के शब्द का प्रयोग किया है[5]। ग्रहवर्मा सगीत और नृत्य की अपेक्षा 'मृगया' को क्षत्रियो के लिए उपयुक्त विनोद बतलाता है[6]। 'व्यसनाधिकारिक' प्रकरण मे कौटिल्य अन्य व्यसनो के साथ साथ मृगया को भी राजाओ का एक व्यसन मानते हैं, परन्तु द्यूत सगीत, नृत्य और सुरापान की अपेक्षा इसे अच्छा समझते है। इसी प्रसग मे उन्होने मृगया के अनेक लाभ गिनाये है[7]।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका मे मेगास्थनीज कृत चन्द्रगुप्त की अहेर यात्रा का वर्णन इस प्रकार किया है "मृगया खेलने के समय कुजर पर सवारी निकलती। उस समय चन्द्रगुप्त स्त्रीगण से घिरा रहता था, जो धनुष बाण आदि लिये उसके शरीर की रक्षा करती थी। उस समय राजमार्ग डोरी से घिरा रहता था और कोई उसके भीतर नही जाने पाता था"[8]। नाटक मे चन्द्रगुप्त की अहेर यात्रा का प्रसग कही नही आया, किन्तु नन्द की अहेर यात्रा का उल्लेख मौर्य काल की इसी प्रसिद्व अहेर यात्रा की ओर सकेत करता है। प्रायः राजा लोग मृगया प्रसग में पकडे हुए हिंस्त्र पशुओ के शावको को पकड पालतू बना लेते थे और उनसे शिकार मे सहायता लेते थे। चन्द्रगुप्त नाटक मे इस प्रकार के एक 'अहेरी चीते'[9] का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी पिंजडे में बन्द चित्रक (चीता) भी राजकुमारो के मनोविनोद का साधन बनता था। उनके पिंजडो मे कभी-कभी मृगशावक को छोड दिया जाता

---

(१) अजातशत्रु २,७०

(२) वही १।२४

(३) इन्डिया ऐज नोन टु पाणिनि : वासुदेवशरण अग्रवाल : पृ० १६०

(४) अर्थशास्त्र १३।३।५२ : उदयवीर शास्त्री पृ० ५६५

(५) अभिज्ञान शाकुतल पृ० ५६

(६) राज्यश्री १।१५ (७) अर्थशास्त्र ८।३।५०

(८) चन्द्रगुप्त : भूमिका : पृ० ४२ (९) चन्द्रगुप्त १।७४

था और राजकुमार इस क्रूर खेल का आनन्द लेते थे[१]। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राजदर्बारियों के मनोविनोद के साधनों में राजसभा के बाहर राजा के विशाल प्रासाद के एक पार्श्व में अन्य वस्तुओं का विवरण देते हुए सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्त्र जन्तुओं के पिंजडों का उल्लेख किया है[२]। शुक्राचार्य कहते हैं कि मृगया में गुण तो इतने ही हैं पर हिंसा दोष उनमें कहीं अधिक है[३]। बौद्ध धर्म के प्रभाव से अजातशत्रु में भी मृगया के इस हिंसा दोष की ओर संकेत किया गया है। मृगशावक को पकडते ही लुब्धक तक को मृगी की करुणाभरी दृष्टि विचलित कर देती है[४]। वासवी मृगया को आवश्यक मानते हुए भी चित्रक और मृगशावक की क्रूर क्रीडा के द्वारा अजातशत्रु को निर्दयता सिखाने का विरोध करती है[५]।

वनविहार

प्रसाद के नाटकों में मनोविनोद का दूसरा साधन 'वनविहार' है। काशी के संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा जाने के कारण मन बहलाने के निमित्त श्यामा और शैलेंद्र श्रावस्ती के एक उपवन में चले जाते हैं[६]। वहाँ 'संगीत के साथ सौन्दर्य और सुरा' ने शैलेंद्र को अभिभूत कर लिया है[७]। इस प्रकार के मनोविनोद को प्रसाद ने 'वनविहार' ही कहा है[८]। वनविहार के उपयुक्त उद्यान केवल राजकीय ही नहीं होते थे सामूहिक और सार्वजनिक भी होते थे जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ बेरोक टोक आ सकती थी। राजकुमारी कल्याणी अपनी सखियों के साथ जिस उद्यान में जाती है वहाँ 'श्वेत शिलाएँ हैं, अशोक की मनोहर छाया है और सुन्दर माधवी लता फैल रही है। ऐसी हरी भरी लताएँ महाराज के उद्यान में भी नहीं हैं'[९]। चन्द्रगुप्त नाटक में तो प्रसाद ने रंग संकेत द्वारा 'मगध सम्राट के विलास कानन में विलासी युवक और युवतियों के विहार का स्पष्ट उल्लेख किया है'[१०]। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रसाद का 'वनविहार' वात्स्यायन की 'उद्यान यात्रा' का समानार्थक है। कामसूत्र के अनुसार, "ये उपवन नगर के बाहर होते थे। प्रातःकाल ही सजे सजाए नागरिकों की टोली घोडों पर चढकर गणिकाओं और भृत्यों को साथ लेकर नगर से चल पडती थी। वहीं इधर-उधर भ्रमण करने, भोजन का प्रबंध करने, मुर्गे, बटेर अथवा मेढ़े को लडाने, अथवा अन्य रुचिकर खेल खेलने में उनका सारा दिन व्यतीत हो जाता था"[११]। इन यात्राओं में संभवतः स्त्रियाँ भी अपनी-अपनी टोलियों में जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार ये उद्यान यात्राएँ अपने प्रेमियों से मिलने और प्रेम प्रदर्शित करने के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान करती थी[१२]। इनका रूप बहुत कुछ आधुनिक 'पिकनिक पार्टी' से मिलता जुलता है। प्रसाद

---

(१) अजात० १।२३ (२) प्राचीन भारत का कला विलास पृ० ११५
(३) शुक्रनीति १।३३ (४) अजात० १।२३
(५) वही १।२४ (६) वही २।६६
(७) वही २।६७ (८) वही २।६८
(९) चन्द्र० १।७३ (१०) वही १।६३
(११) स्टडीज इन दि कामसूत्र : हाराणचन्द्र : पृ० १६८
(१२) वही पृ० १६९

के वनविहारो मे सम्मिलित और स्वतन्त्र टोलियो का उल्लेख हुआ है।[1] साथ ही प्रेमी युगल के साथ मिलन, सगीत, सुरापान, गणिका की भी चर्चा यथास्थान हुई है।[2]

एक विचित्र प्रकार के मनोविनोद के साधन का उल्लेख ध्रुवस्वामिनी में हुआ है। विकृत वेशभूषा तथा उनके हाव भाव आदि से सदा ही हास्य के आलबन होते आये ह। पर ऐसा प्रतीत होता है कि विकलाग भी लोगो के हास्य के आलबन हुआ करते थे। रामगुप्त के अन्त.पुर मे कुबडे, बौने और हिजडे मनोरजन के उद्देश्य से रखे गये थे।[3] वे अपनी कुरूपता और व्यगात्मक एव विनोदात्मक उक्तियो से लोगो का मन बहलाते थे। रामगुप्त के 'ठठाकर हँसने'[4] और 'ताली पीटकर हसने'[5] से इस बात की पुष्टि होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्राचीन काल में कुबडे, बौने, नपुसक, गूँगे और बहरे आदमियो को राजाओ और दरबारियो के मनोरजन का साधन सिद्ध किया है।[6] 'मालविकाग्नि' में एक कुबडा अन्तःपुर का सेवक है[7] और 'हर्षचरित' मे भी राज्यश्री गूगे, कुबडे और बहरे सेवको से घिरी हुई दिखाई गई है।[8] इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से अन्त.पुर की रक्षा और मनोरजन दोनो उद्देश्यो से विकलाग और आकर्षणहीन पुरुष काम मे लाए जाते रहे है। ऐसा प्राय संसार के सभी देशो के इतिहास बतलाते हैं।

कुबडे, बौने और हिजड़े

चन्द्रगुप्त नाटक मे 'स्वाग' भरने का उल्लेख प्रसाद ने किया है।[9] सिंहरण और अलका नट और नटी बनते हैं, चन्द्रगुप्त सपेरा बनता है और चाणक्य ब्रह्मचारी और वे सब पर्वतेश्वर की सेना के सामने अपना यह स्वाग दिखाते हैं। स्वाग भरने की यह क्रीडा अत्यन्त प्राचीन काल से रही होगी। प्रो॰ पत ने स्वाग को आहार्य अभिनय किसी की वेश-भूषा के अनुकरण के अतर्गत माना है।[10] गाँवो मे आज भी होली आदि के अवसरो पर 'स्वाग' के रूप में नाट्यकला का यह पूर्व रूप वर्तमान है। इस कथन मे 'गाँवो मे' शब्द यह बतलाता है कि 'स्वाग' जनसाधारण के मनोरजन का साधन था। उपर्युक्त उदाहरण में भी चाणक्य आदि साधारण सैनिको के मनोरजन के लिए 'स्वाग' रखते हैं। वात्स्यायन ने स्वाग भरना एक कला माना है और इसको 'छलित योग' कहा है।[11] वेश, वाणी आदि के परिवर्तन से दूसरो को छलना, या अनेक रूप धारण करना ही 'छलित योग' है। किन्तु उक्त प्रसग मे 'स्वाग रखने' का प्रधान उद्देश्य गुप्तचर बनकर कार्य साधन है, सैनिको का मनोरजन तो गौण है।

स्वांग

---

(१) चन्द्र० १।६३ (२) अजात० ३।१३६
(३) ध्रुवस्वामिनी १।२० (४) वही १। २
(५) वही १।२२ (६) प्राचीन भारत मे कला विलास पृ० ११५
(७) मालविकाग्नि कालिदास : पृ० ५।८६
(८) हर्षचरित : बाण : अष्टम उच्छ्वास पृ० २४२
(९) चन्द्र० २।११७
(१०) भारतीय नाट्य-शास्त्र और रगमच पृ० ३
(११) प्राचीन भारत में कला विलास पृ० १६५

ऊपर सिंहरण और अलका के नट नटी का स्वाग भरने की चर्चा हमने की है। यहाँ नट नटी का प्रयोग भरत के अनुसार अभिनेता और अभिनेत्री रूप मे न होकर रस्सी और तलवार पर नाचते हुए शारीरिक वैचित्र्य के खेल दिखाकर लोगो को रिझाने वालो से है। इन्हे आज भी 'नट' ही कहा जाता है। प्रसाद ने सपेरे का वेश धारण किये हुए चन्द्रगुप्त के लिये भी 'नट' शब्द का प्रयोग किया है।[1] अर्थशास्त्र के विनयाधिकारिक प्रकरण में नटो के खेलो का उल्लेख हुआ है। यहाँ 'नट' के लिये कुशीलव शब्द का प्रयोग हुआ है। नटो के खेल में हथियार चलाना, आग, विष आदि के खेल खेलना, भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे बजाना, आदि था। उनके खेलो से घोडे, रथ, हाथी तथा नाना प्रकार के अलकार भी काम में आते थे।[2]

नट नटी

ऊपर चन्द्रगुप्त के सपेरा बनने की चर्चा हुई है। वह सैनिको के पास जाकर सपेरो की सी चेष्टा करता है और पिटारी से साँप खोलकर सैनिको से नाग दर्शन की प्रार्थना करता है। ये सपेरे कुटिल विषधरो को भी मत्रौषधि के भाले से वश में कर लिया करते थे।[3] आज भी भारत के गावो और नगरो मे सपेरे घूमते-फिरते बीन बजाते हुए लोगो का मनोरजन करते दीख पडते है। निश्चय ही मनोरजन का यह स्वरूप अत्यन्त प्राचीन रहा होगा। इसीलिए मुद्राराक्षस मे विशाखदत्त ने भी सापो की पिटारी लेकर सा ो के खेल दिखाने वाले जीर्ण विष नामक सपेरे का उल्लेख किया है।[4] तक्षशिला विद्यापीठ के शिक्षाक्रम में अन्य कौशलो के साथ साँप को वश में करने की विद्या और जादू के खेल का भी नाम आया है।[5]

संपेरा

अभी-अभी हमने तक्षशिला में जादू के खेल या इन्द्रजाल का उल्लेख किया है। चन्द्रगुप्त नाटक में इस प्रकार जादू के खेल या इन्द्रजाल की चर्चा हुई है।[6] चन्द्रगुप्त ऐंद्रजालिक का वेश धारण करता है। इन्द्रजालियो का वेश लोगो का ध्यान आकर्षित करने के लिए साधारण वेश से विकृत, कुछ अटपटा सा रहता होगा और अपने अद्भुत खेलो से जनता का मनोरजन करते होगे। प्रसाद ने इस प्रकार के खेलो की विस्तृत जानकारी नही दी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'दत्तात्रेय तत्र' और 'इन्द्रजाल तत्र सग्रह' के आधार पर इन्द्रजाल के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है।[7] मनुष्य को पशु या पक्षी बना देना, हिंस्त्र जन्तुओ को स्तभित एव निश्चेष्ट करना, आग बाध देना, आग लगने का भ्रम पैदा करना, मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण आदि करना, ये सब इन्द्रजाल के अतर्गत आते ह। आज की भाषा में हम इन सब आश्चर्यजनक कृत्यो को 'जादू' कह सकते हैं।

जादू के खेल या इन्द्रजाल

---

(१) चन्द्र० २।१२०

(२) कुशीलवा : शस्त्राग्निरसक्रीडा नर्मयेयु :। आतोद्यानि चैषामन्तस्तिष्ठेयुरश्वरथ द्विपालकाराश्च। अर्थशास्त्र १।२१।३३,३४ : टीका उदयवीर शास्त्री पृ० ८६

(३) चन्द्र० २।११६

(४) मुद्राराक्षस . विशाखदत्त : अक २

(५) इण्डियन ऐज्यूकेशन इन ऐंशिएण्ट ऐण्ड लेटर टाइम्स : के : पृ० १४२

(६) चद्र० १।१२७ व १३१

(७) प्राचीन भारत में कला-विलास पृ० १३३

भारतवर्ष के इन्द्रजाल की अद्भुत आश्चर्यजनक लीला की सारे ससार मे प्रसिद्धि थी और इन इन्द्रजालियो को राजदरबारो मे उच्चस्थान प्राप्त था। 'रत्नावरी' से ज्ञात होता है कि इन्द्र और शवर इस विद्या के आचार्य हैं। राजाओ के मनोरजन के सबध मे शुक्राचार्य ने भी इन्द्रजालियो का उल्लेख किया है।[१]

प्रसाद के केवल दो नाटको में विदूषक आया है। अजातशत्रु मे वसतक[२] और स्कंदगुप्त में मुद्गल।[३] दोनो स्थलो पर विदूषक का उद्देश्य राजाओ का मनोरजन करना है।

विदूषक और हंसोड़

सस्कृति के प्राचीन नाटको में बीच बीच में हसाने के लिए विदूषको का प्रयोग हुआ है। विदूषक राजा का मित्र और सलाहकारी होने के साथ-साथ अपनी वेश-भूषा, क्रिया-कलाप, भाषा आदि से राजा का मनोरजन करता था। दुष्यन्त का विदूषक उसका मित्र, सलाहकार और सहायक भी है।[४] कामसूत्र मे भी नागरिक के मित्र के रूप मे विदूषक की भी गणना की गई है।[५] स्कदगुप्त नाटक में विदूषक मुद्गल के अतिरिक्त एक और विदेशी हसोड़ 'धातुसेन' आया है। इस प्रकार के व्यक्तियो को बोलने की स्वच्छन्दता थी।[६]

मनोरजन का एक और साधन है नर्तकियाँ। प्रसाद के प्रायः सभी नाटको मे समय-समय पर नृत्य की योजना की गई है। मनोरजन के लिए राजमदिरो[७] में, शिविर मे[८],

नर्तकी

विजयसमारोहो[९] मे तथा अन्य उपयुक्त स्थलो में नर्तकियो के नृत्यो की योजना की गई है। स्कदगुप्त मे 'पारसीक नर्तकियाँ' बुलाई गई है।[१०] सभवतः सौंदर्य अथवा कला-कुशलता के कारण उनका विशेष मान रहा हो। पारसीक दासियो को क्रय करके भारत लाने की प्रथा का उल्लेख 'पेरिप्लस आफ एरीथ्रियन्स'[११] (एक शती ईस्वी) में मिलता है। गुप्तकालीन एव उससे भी पूर्व के बौद्ध साहित्य के अनुसार भी राजकुमार गोतम के मनोविनोद के लिए पारसी या पारसीही दासियाँ नियुक्त की गई थी।[१२] मनोरजन के लिए नर्तकियो का उल्लेख प्रायः सभी प्राचीन ग्रथो में हुआ है। कालिदास ने रघुवश मे नर्तकियो को विलासिनी के रूप में उपस्थित किया है।[१३]

---

(१) शुक्रनीति १ म २६

(२) अजात० (३) स्कद० (४) अभिज्ञान शाकुतलम्

(५) 'भोजनान्तर शुकसारिका प्रलापन व्यापारा : लावक कुक्कुट मेष युद्धानि तास्ताश्च कला-क्रीडा पीठमर्द विट विदुषकायत्ता व्यापारा, दिवाशयाच' कामसूत्र : वात्स्यायन सूत्र २१

(६) स्कंद० १।१६

(७) अजा० १।४३ (८) स्कद० ४।११३

(९) ध्रुव० २।३८,३६ (१०) स्कद० १।१८

(११) प्राचीन भारतीय वेशभूषा : मोतीचन्द : पृ० १४१

(१२) वही पृ० १४१ (१३) रघुवश १९।१४,१५,१६

गणिका का उल्लेख एकमात्र अजातशत्रु में हुआ है। मागन्धी ने स्वय अपने को 'निर्लज्ज गणिका' कहा है।[१] प्रसाद ने इनके तीन नाम रखे है। मागधी, श्यामा और

गणिका और वेश्या

आम्रपाली। मागधी के रूप मे वह उदयन की रानी थी। रूपवती होने के कारण ही उदयन का तीसरा विवाह इस दरिद्र कन्या से हुआ था। श्यामा के रूप मे उसके सौंदर्य की प्रशसा सुनकर समुद्रगुप्त उसके पास उसके रूप की ज्वाला मे पतग बनने को जाता है।[२] वह सुन्दरियो की महारानी है और महारानियो की तरह ही रहती भी है।[३] यहाँ गणिका के सौन्दर्य और वैभव दोनो की ओर सकेत है। बडे बडे राजपुरुष और श्रेष्ठी श्यामा के चरण छूकर अपने को धन्य समझते हैं, धन की कमी नही, मान का कुछ ठिकाना नही।[४] दण्डनायक तक उसकी आज्ञा मानना अपना कर्त्तव्य समझता है।[५] वह सगीत में निपुण है,[६] उसका कठ सुरीला है।[७] रग सकेत में 'गान और नृत्य' लिखकर प्रसाद ने गणिका की नृत्य निपुणता की ओर भी निर्देश किया है।[८] श्यामा मे दो उल्लेखनीय विशेषताएँ है। वह शिष्टाचार परायणा है और यह शिष्टता उसके समस्त वार्तालाप मे अभिव्यक्त होती है।[९] दूसरे वह वेश बदलने की क्रिया में विशेष निपुण है।[१०] मगध के 'गुप्त प्रणिधि' समुद्रदत्त का वेश बदलकर इस प्रकार काया पलट कर देती है कि काशी का दण्डनायक उसे पहचान ही नही पाता और शैलेन्द्र के स्थान पर उसे शूली पर चढा देता है।

ऊपर प्रसाद के नाटक के आधार पर हमने गणिका का जो चित्र खीचा है वह भारत की शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त गणिका के स्वरूप से मिलता जुलता है। प्राचीन भारत में गणिका का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। कामसूत्र से ज्ञात होता है कि सभी वेश्याओं को गणिका की उपाधि से विभूषित नही किया जाता था। जो वेश्याएँ सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होने के साथ साथ चौसठ कलाओ में पारगत, विदुषी एव शील रूप गुणान्वित होती थी उन्ही को 'गणिका' की 'उपाधि' प्रदान की जाती थी और राजा एव गुणीजनो के द्वारा उसका सदा सम्मान किया जाता था और वह सबके लिये सुरुचि और आदर्श की वस्तु बन जाती थी।[११] गणिका सबको अपनी कला आदि

---

(१) अजात० ३।१५६ (२) अजात० २।७७

(३) अजात० २।७८ (४) अजात० २।७१,७२.

(५) वही २।७८ (६) वही २।७८

(७) वही २।७९ (८) वही २।७९

(९) वही २।७९ (१०) वही २।८१

(११) आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शील रूप गुणान्विता। लभते गणिका शब्द स्थान च जनससदि। पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च सस्तुता।
प्रार्थनीयाऽभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते। कामसूत्र सू० २०।२१
पूजिता गणिकास्यैनन्दिनी को न पूजयेत्। कामसूत्र सू० ५२

से आनन्दित करती थी इसलिए गणसघो मे उसका अत्यन्त मान था।[१] चारूदत्त के रथ में गणिका वसतसेना बैठी हुई है यह जानकर राजकर्मचारी सम्मान से उस रथ को बेरोक टोक जाने देते है।[२] चारूदत्त ऐसा महान् व्यक्ति भी अपनी स्नेहमयी पत्नी के प्रति आदर और प्रेम होते हुए भी गणिका वसतसेना से परिणय की आकाक्षा करता है।[३] इसमे उस काल में गणिका की सम्माननीय स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। राजा शुद्धोधन सिद्धार्थ के लिए शास्त्रविधि को जानने वाली कुशल गणिका के समान वधू की कामना करते हैं।[४] कथासरित्सागर की मदनमाला[५] और देवदत्ता[६] के विवरणो से भी उनकी तत्कालीन उच्च सामाजिक स्थिति का पता चलता है। बौद्ध ग्रथो मे गणिका को 'नगर शोभिनी' कहा है। पद्मावती ऐसी ही एक 'नगर शोभिनी' थी जिसको एक यक्ष उज्जयिनी से राजगृह की शोभा बढाने के लिए लाया था।[७] 'दीघनिकाय'[८] के विवरण से भी लिच्छवि गणतत्र की गणिका अम्बपाली के वैभव, ऐश्वर्य एव आदर-सम्मान का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। वह बडे ठाठ-बाट के साथ भगवान बुद्ध को निमन्त्रित करने जाती है। उसके पास इतना विशाल ऐश्वय है कि वह भगवान को सघ सहित निमत्रण दे सकती है और किसी भी मूल्य पर समस्त लिच्छवि गणतत्र के प्रभुत्व के बदले भी पर इस 'महान भात' को छोडने को तैयार नही। भगवान को निमत्रण देने का और लिच्छवि युवको के रथो के 'धुरो से धुरा' टकराने वाली इस गणिका की आदरणीय स्थिति के सम्बन्ध मे सन्देह का स्थान नही रह जाता। भरत के अनुसार जहाँ तक गणिका के 'रूप, गुण, शील, यौवन, माधुर्यशक्ति सपन्नो और 'चतुष्षष्ठि कलान्विता' होने का प्रश्न है वह कामसूत्र से मिलता जुलता है। पर भरत उसके प्रियवादित्व, विनय और शिष्टाचार को विशेष महत्त्व देते हैं।[९]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में गणिका की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का जैसा चित्र उपलब्ध होता है प्रसाद ने उसका बहुत अशो में वैसा ही चित्र उपस्थित किया है। वह 'रूप गुण, शीला, यौवन, माधुर्य सम्पन्ना' है। वह वैभवशालिनी है। वह सगीत, नृत्य, आहार्य (वेशपरिवर्तन) आदि कलाओ में निपुण है, वह अत्यत मधुरभाषिणी एव विनयशील है। और बडे बडे राजपुरुष और श्रेष्ठी उसका सम्मान करते हैं। उचित शिष्टाचार एक ओर तो कला का अग है और दूसरी ओर स्वभाव का। गणिका में दोनो अपेक्षित है और प्रसाद के सकेत दोनो ओर स्पष्ट हैं। उक्त गणिका में

---

(१) 'पूजिता गणिकासघैर्नन्दिनी को न पूजयेत्' कामसूत्र सू० ५२
(२) मृच्छकटिक
(३) चारूदत्त ३।६३
(४) 'शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव' ललितविस्तर १२।१३६
(५) कथासरित्सागर ३८
(६) वही २४
(७) डिक्शनरी औफ पाली प्रोपर नेम्स पृ० २८५,८६
(८) दीघनिकाय १२७
(९) नाट्य-शास्त्र : भरत : २५।६०,६२

बुद्धि की स्थिरता और भाषण की मधुरता दोनो उपलब्ध है। समुद्रदत्त के आते ही अपने प्रिय शैलेन्द्र के स्थान पर उसको भेज देने का योजना-कौशल कितनी शीघ्रता से उसके मस्तिष्क में कौंध जाता है।[1] परन्तु गणिका के शास्त्रज्ञान के सम्बन्ध में प्रसाद मौन है।

इतना सब होते हुए भी प्रसाद की कतिपय उक्तियो से ऐसा प्रतीत होता है कि वे गणिका की उच्च एव सम्माननीय स्थिति को पूर्णतया नही निभा पाये है। डाकू शैलेन्द्र तक श्यामा जैसी गणिकाओ को डाकुओ से भी भयानक समझता है।[2] और उसके लिए पामरी,[3] नागिन[4] जैसे शब्दो का प्रयोग करता है। श्यामा अपने को स्वय 'वार विलासिनी'[5] कहती है। यहाँ पर यह नही कहा जा सकता कि प्रसाद के सामने प्राचीन गणिका का कोई निश्चित रूप नही होगा। अजातशत्रु की भूमिका में वे लिखते है 'इस मागधी की और बौद्धो के साहित्य मे वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को हमने कल्पना द्वारा एक में मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अन्तिम काल मे पवित्र की गई'[6] इस कथन मे 'वेश्या' और 'पतिता' दोनो शब्द प्रसाद के अपने है। बौद्ध साहित्य में अम्बपाली के लिए कही भी अपमानजनक शब्दो का प्रयोग नही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'श्यामा' का चित्रण करते समय प्रसाद के ध्यान मे कनवेर जातक की नायिका श्यामा वेश्या रही होगी। यह श्यामा डाकू के रूप मे अवतरित बोधिसत्व से प्रेम करने लगती है और उसको बचाने के लिए अपने एक नवयुवक प्रेमी को सहस्त्र मुद्राएँ देकर दण्डनायक के पास भेज देती है और वह शूली पर चढा दिया जाता है। उसके इस विश्वासघात के कारण बोधिसत्व विरक्त होकर उसे सदा के लिये त्यागकर चले जाते है।[7] दोनो कथानको की एकता यह सिद्ध करती है कि गणिका के आदर्श चित्रण की अपेक्षा प्रसाद का ध्यान कथानक की ओर विशेष रहा है। वास्तव मे प्रसाद की सुवासिनी का स्वरूप बहुत कुछ आदर्श गणिका से मिलता जुलता है। यो तो वह राज मन्त्री शकटार की कन्या होने मे अभिजात कुल की कन्या है और प्रसाद ने कही भी उसके लिये गणिका शब्द का प्रयोग नही किया। पर जिस रूप मे वह नाटक मे चित्रित है वह गणिका का ही रूप है कुल कन्या का नही। जिस जीवन में वह रही है उसे वह 'मलिनता का कीचड कहती है' जहाँ से उसके पिता ने कमल की तरह पवित्र मानकर उसका उद्धार किया है।[8] परतु वह वेश्या भी नही है वह स्वय अपने को 'रूपाजीवा मानने को तैयार नही।[9] किन्तु नाटक में उसके लिये 'सुन्दरियो की, रानी[10] 'अभिनेत्री,[11] 'वसन्तोत्सव की रानी,'[12] 'अभिनय-शाला की रानी,'[13] 'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम,'[14] 'महाराज से वेतन पाने वाली'[15] आदि शब्दों

---

(१) अजात० २।७८ (२) वही २।७२
(३) वही २।८७ (४) वही २।६६
(५) वही २।७२ (६) वही, भूमिका, पृ० २० (७) कनवेर जातक
(८) चद्र० ४।१६७,१६८ (१२) चद्र० १।६६
(९) वही ४।१६७ (१३) वही १।६७
(१०) वही १।६४ (१४) वही १।७२
(११) वही १।६५ (१५) वही ३।१७०

का प्रयोग और नद एव राक्षस के साथ उत्सव मे सुरापान, तथा नृत्यगीत उसका गणिका होना सिद्ध करते है। चाणक्य ने उसे वेश्या'[1] अवश्य कहा है, पर व्यग्य होने के कारण उस कथन को विशेष महत्त्व नही दिया जा सकता।

जैसे पहले कहा जा चुका है कि गणिका मे सामान्य वेश्या से कुछ विशिष्टता होती थी। किन्तु गणराज्यो की समाप्ति के उपरात इतिहास की दृष्टि से भी गणिका के पूर्व सम्मान मे कमी आ गई। बौद्ध-काल में गणिका का जो सम्मान था वह कौटिल्य तक आते-आते क्षीण हो गया। इसीलिए अर्थशास्त्र मे गणिका और साधारण वेश्या मे बहुत कम अन्तर रह गया है। गणिका राजाज्ञा से रूप का व्यापार भी करती थी।[2] परतु रूपाजीवा के स्वतत्र उल्लेख से जान पड़ता है कि गणिका और वेश्या मे कुछ न कुछ अन्तर फिर भी रह गया है। गणिका राजा की आज्ञा विशेष से ही रूप का व्यवसाय कर सकती थी और रूपाजीवा से उसका मूल्य भी अधिक होता था।[3] श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी गणिका और वेश्या के इस अतर को विशेष महत्त्व नही देते और इनकी सामाजिक मर्यादा का निर्धारण करने के लिए नाटक काव्य और कामशास्त्र के ग्रथो की अपेक्षा स्मृति-ग्रन्थो की साक्षी को कही अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय मानते है।[4] परतु यह कथन अधिक समीचीन नही प्रतीत होता। एक तो नाटककाव्य और कामशास्त्र के ग्रथ समाज की यथार्थ रुचि के परिचायक होते हैं और दूसरे स्मृतिग्रथो के समान ये ग्रथ नियम और विधान से बँधे हुए नही होते। इनमें तत्कालीन सामाजिक मनोविज्ञान का चित्रण मिलता है। मनुस्मृति मे गणिका के साथ ही गणान्न को भी हेय बनाया गया है।[5] पर स्मृति का विधान तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति का यथार्थ परिचय नही देता क्योकि बौद्ध-काल मे और उसके पश्चात् भी कई शतियो तक गणराज्यो का बहुत सम्मान रहा है। बौद्ध और जैन ग्रन्थो में गणिकाओ की मर्यादा के प्रचुर सकेत मिलते हैं। पर उस काल मे भी गणिका के अतिरिक्त सामान्य वेश्याओ का समाज मे ऊचा स्थान नही था। मनुस्मृति में गणिका के अतिरिक्त वेश्या का अलग से उल्लेख हुआ है और उसको इतना हेय समझा है कि उसकी साक्षी तक को वे प्रामाणिक नही मानते।[6] अर्थशास्त्र मे नटो के लिए[7] 'जायाजीव' 'रूपाजीव' आदि के शब्दो के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि ये अपनी पत्नियो के रूप का व्यापार करते थे।

श्यामा को गणिका मानकर भी प्रसाद उसके प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण नही रख सके हैं। गणिका के उच्च आदर्शों के साथ-साथ वेश्या की क्षुद्रताएँ भी उसमे आगई हैं। श्यामा अपने को स्वय 'वार विलासिनी' कहती है और अपने 'निर्लज्ज आमोद'[7] का उल्लेख करती है। अन्यत्र भी प्रसाद ने वेश्या की सामाजिक हीनता का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है और उसे 'कामुक की वासना पूर्ण करने वाली'[8] और 'वारवनिता'[9] कहा है। वेश्या का सपर्क कीर्ति से वचित करने वाला समझा गया है।[10]

---

(१) चन्द्रगुप्त १।७१

(२) 'राजाज्ञया पुरुषमनभिगच्छन्ती गणिका शिफा सहस्रं लभेत्' अर्थशास्त्र २।२७।३१

(३) 'रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः' अर्थशास्त्र २।२७।४०

(४) प्रा० भा० का कला विलास पृ० ६३

(५) 'गणान्नं गणिकान्नंच विदुषा च जुगुप्सितम्' मनुस्मृति ४।६ (६) मनुस्मृति ८।६५

(७) अजात० ३।१३६ (८) राज्यश्री ३।५० (९) अजात० २।८० (१०) राज्यश्री ३।५२

द्वन्द्व युद्ध

एक ओर गौतम बुद्ध, दूसरी ओर हर्ष, ये दोनो प्रसाद के नाटको की दो ऐतिहासिक सीमाएँ हैं। प्रसाद के प्रायः सभी नाटको से ऐसा ज्ञात होता है कि इस सुदूर ऐतिहासिक काल में भारतवर्ष में द्वन्द्व युद्ध की प्रथा प्रचलित थी। द्वन्द्व युद्ध का साधारण अर्थ है, दो व्यक्तियो मे युद्ध। किन्तु पाश्चात्य ससार के मध्य युग मे इस प्रकार के युद्ध एक स्वतत्र प्रथा के रूप में निश्चित नियमो के अनुसार लडे जाते रहे है। प्रश्न यह है कि किन्ही दो व्यक्तियो मे लडे गए युद्ध को ही प्रसाद 'द्वन्द्व युद्ध' कहते ह अथवा द्वन्द्व युद्ध को उन्होने विशेष अर्थ मे लिया है। और यदि प्रसाद ने इसका विशिष्ट अथ लिया है तो फिर यह प्रश्न होता है, क्या इस तरह के द्वन्द्व युद्ध भारत में उपर्युक्त काल में अथवा इससे पहिले प्रचलित थे ?

इन नाटको मे द्वन्द्व युद्ध सम्बन्धी उल्लेख जहाँ कही भी हुए ह उनसे निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :

१. द्वन्द्व युद्ध का आह्वान किया जाता था, अर्थात् एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को युद्ध के लिए निमन्त्रित करता था और उसके स्वीकार करने पर यह युद्ध लडा जाता था।[1]

२. यह कोई आवश्यक नही था कि द्वन्द्व युद्ध तुरन्त ही लडा जाय। उसके लिए कालान्तर में भी कोई समय व स्थान निश्चित किया जा सकता था।[2]

३. इन द्वन्द्व युद्धो कारण प्रायः आत्म-सम्मान अथवा प्रतिष्ठा की भावना पर आघात प्रतीत होता है, चाहे वह किसी प्रेयसी के कारण हो, अथवा अपनी पुत्री या माता के सम्मान की रक्षा के लिये। वाजिरा[3], कार्नेलिया[4] और अलका[5] के निमित्त जिन द्वन्द्व युद्धो का आह्वान हुआ है, वे प्रथम कोटि के द्वन्द्व युद्ध है। गाधारराज द्वारा अलका के निमित्त आभीक को दी गई चुनौती[6] और अपनी माता की रक्षा के लिए स्कदगुप्त द्वारा भटार्क से लडा गया द्वन्द्व[7] दूसरी कोटि के द्वन्द्व युद्ध हैं। राक्षस और चाणक्य मे यदि

---

(१) चन्द्रगुप्त को फिलिप्स द्वारा दिया गया द्वन्द्व का आह्वान : चद्र०

(२) वही		(३) अजात०	३।११६
(४) चद्र०	३।१६१	(५) चद्र०	२।१३६
(६) चंद्र०	१।९५	(७) स्कद०	१।६६

राक्षस के कथानुकूल सुवासिनी के लिए सघर्ष होता[१] तो यह भी प्रथम प्रकार का द्वन्द्व कहा जाता।

४. दो विरोधी राष्ट्रो के सैनिक अधिकारियो मे यदि द्वन्द्व युद्ध होता है, तो उसका राष्ट्रो से कोई सम्बन्ध नही समझा जाता था। यह उनकी व्यक्तिगत बात मानी जाती थी। चन्द्रगुप्त मालव क्षुद्रको की सेना का महाबलाधिकृत है और फिलिप्स भारत मे सिकन्दर का क्षत्रप। फिलिप्स के स्वय के एक कथन के अनुसार इन दोनो का द्वन्द्व युद्ध व्यक्तिगत है, राष्ट्रो के सधि विग्रह से उसका कोई सबध नही।[२]

५. द्वन्द्व युद्ध समान शस्त्रो से लडे जाते थे। प्रसाद के नाटको में केवल दो ही द्वन्द्व युद्ध लडे गए हैं। प्रथम में 'खड्ग परीक्षा'[३] का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरे मे भी यह स्पष्ट सकेत[४] मिल जाता है कि दोनो स्थलो पर प्रतिद्वन्द्वी तलवारो से ही लडे थे।

४ द्वन्द्व युद्ध सुरक्षित रगशालाओ मे भी लडे जाते थे। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध प्रमुख यवन और आर्यगण की उपस्थिति में रगशाला में हुआ था। सिंहरण उस रगशाला की रक्षा मे नियुक्त था।[५] अन्यथा स्कद व भटार्क के द्वन्द्व की तरह वह कही भी लडा जा सकता था।

उपर्युक्त बातो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसाद ने 'द्वन्द्व' को साधारण युद्ध के अर्थ मे न लेकर एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। देखना यह है कि प्राचीन भारत में क्या इस विशिष्ट अर्थ मे द्वन्द्व युद्ध लडे जाते थे ? महाभारत[६] में भीम और दुर्योधन के द्वन्द्व युद्ध का उल्लेख मिलता है। इस युद्ध के कुछ नियम थे। सरस्वती के तट पर यह युद्ध गदाओ से लडा गया था। दोनो पक्षो के योद्धा इसके दर्शक थे और निर्णायक थे बलराम जिन्होने इन दोनो को गदा युद्ध की शिक्षा दी थी। कटि प्रदेश से नीचे गदा का आघात करना अधर्म युद्ध समझा जाता था। भीम ने इस नियम का उल्लघन किया था और इसके लिए उसकी भर्त्सना की गई थी। इस द्वन्द्व के प्रारम्भ में ही यह शर्त करली गई थी कि द्वन्द्व युद्ध के परिणाम पर ही महाभारत युद्ध की जय पराजय का निर्णय हो जायगा। द्वन्द्व युद्ध का यह स्वरूप बहुत कुछ यूनान और रोम के इतिहास में आए हुए हैक्टर और एचिलस, एनियस और टर्नस, होरेटी और क्यूरेटी के द्वन्द्व युद्धो के स्वरूप से मिलता है। दो राष्ट्रो के परस्पर सघर्ष मे सामूहिक जनसहार को रोकने के लिए प्राय: इस प्रकार के व्यक्ति युद्ध (सिंगिल कौम्बैट्स) लडे जाते थे। फिरदौसी के 'शाहनामा' मे सोहराब और

---

(१) चंद्र० २।१४८
(२) चद्र० ३।१६१
(३) वही ३।१८२
(४) 'भटार्क दो एक हाथ चलाकर घायल होकर गिर पडता है' स्कंद० २।६६
(५) चद्र० ३।१८२
(६) महाभारत : शल्य पर्व : अध्याय ३१

रुस्तम के बीच जिस द्वन्द्व का चित्रण हुआ है, उनका उद्देश्य भी दो सेनाओ के सघर्ष को बचाकर जय पराजय का निर्णय सेनानायको पर छोड देना है। महाभारत, यूनान और रोम के द्वन्द्वो में यही भावना रही है। द्वन्द्व युद्व का एक और स्वरूप प्राचीन 'मल्ल युद्धो' में मिलता है। श्रीमद्भागवत[1] में श्रीकृष्ण को रगशाला में कस के मल्लो ने ललकारा। कृष्ण ने उनसे 'मल्ल युद्ध' किया और उसमे मल्लो का सहार कर उन्होने विजय प्राप्त की। वस्तुत. ये मल्ल युद्व क्रीडा विनोद की वस्तु है और शारीरिक शक्ति परीक्षा ही इनका उद्देश्य है।

प्रसाद के नाटको में वर्णित द्वन्द्व युद्व न तो राष्ट्रीय युद्ध ही कहे जा सकते है और न मल्ल युद्व ही। वे वैयक्तिक युद्ध हैं जो आत्म-सम्मान और प्रणय को लेकर लडे गए है। साथ ही ये द्वन्द्व सामाजिक प्रथा के रूप में आये प्रतीत होते हैं और उनका जन्म सैनिको एव मल्ल क्रीडको के बीच न होकर सामान्य समाज मे हुआ है।। चद्रगुप्त और फिलिप्स का युद्ध दो सैनिको का द्वन्द्व न होकर दो प्रणयियो का द्वन्द्व है। विलसन के अनुसार इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध किसी भी प्राचीन सभ्यता के इतिहास मे नही पाये जाते।[2] फलतः प्रसाद के इन द्वन्द्व युद्धो का स्वरूप हमें मध्यकालीन पाश्चात्य सभ्यता मे ही ढूँढना होगा।

'इ साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'[3] में लिखा है 'द्वन्द्व युद्ध (ड्यूएल) दो व्यक्तियो के उस युद्ध को कहते हैं जो वैयक्तिक वैमनस्य अथवा आत्म-सम्मान के प्रश्न का निर्णय करने के लिये घातक शस्त्रो द्वारा किसी नियत प्रथा के अनुसार लडा गया, और जिसके लिए स्थान और समय पहिले ही निश्चित कर लिया जाय।

इस आधुनिक अर्थ में द्वन्द्व युद्ध प्राचीन ससार में कही भी नही लडे जाते थे। इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध की चर्चा १६११ ई० में प्रकाशित कोरियेटस के 'क्रूडिटीज' ग्रथ में पहले पहल हुई है। इस द्वन्द्व का पूर्व रूप 'ट्यूटेनिक' जाति के न्याययुद्धो (जुडीशियल कौम्बैट्स) मे पाया जाता है। मानवीय न्याय से असतुष्ट होने पर ईश्वरीय न्याय की आकाक्षा से दो व्यक्ति युद्ध के देवता को साक्षी कर युद्ध करते थे और यह मान लिया जाता था कि न्याय विजयी की ओर है।[4] किन्तु यह भी आधुनिक द्वन्द्व युद्ध का सही स्वरूप नही है।

इस द्वन्द्व युद्ध का दूसरा रूप आत्म-सम्मान के द्वन्द्वों में (ड्यूऐल्स आफ औनर) में पाया जाता है, जिसका विकास १६वी शती या उससे कुछ पूर्व फ्रास में हुआ था।[5] इस

---

(१) श्रीमदभागवत १०।४४

(२) 'दि ड्यूएल प्रौपर इज नौट फाउ ड इन ऐनी औफ दि ऐंशिएट सिविलिजेशन्स'
इ साइक्लोपीडिया औफ सोशल साइसेज : विलसन : वौल्यूम ५ पृ० २६६

(३) 'ए प्रिऐरेंञ्ज्ड इनकाउटर बिटवीन टु परसस विद डैडली वैपन इन ऐकौर्डेन्स रूल्स, विद दि औबजेक्ट औफ एवोइडिंग ए परसनल क्वैरल और औफ डिसाइडिंग ए पौइट औफ औनर।' इ साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका वौल्यूम ७, पृ० ७११

(४) जर्मेनिम :टेसीटस: इं० ब्रिटानिका वौल्यूम ७, पृ० ७११

(५) इ० ब्रिटानिका, वौल्यूम ७।७११

प्रकार के द्वन्द्व युद्ध कही भी और कभी भी लडे जा सकते थे। इस का कारण वैमनस्य न होकर आत्म-सम्मान पर चोट होता था। 'किसी प्रकार का कटु व्यंग, कोई भ्रांति अथवा प्रेयसी के रिबन' के रंग या उसके पत्र के संबंध मे पूछा गया कोई अवांछित प्रश्न, ये इस प्रकार के युद्ध के लिए पर्याप्त कारण होते थे।'[1] द्वन्द्व युद्ध के इस आधुनिक स्वरूप को समझने पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के द्वन्द्वो का कारण वैमनस्य न होकर आत्म सम्मान की भावना और प्रणय रहे हैं। अजातशत्रु और दीर्घकारायण के द्वन्द्व का प्रसंग प्रणय से संबंधित है, और चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व का भी यही कारण है। कालांतर मे फ्रांस और इंग्लैंड में जो द्वन्द्व युद्ध लडे गए उनमें प्रतिद्वन्द्वी के प्राण न लेकर उसे घायल मात्र कर देना (कभी-कभी केवल खरोंच मात्र लगा देना) पर्याप्त समझा जाता था। पर प्रसाद ने जिन द्वन्द्वो की आयोजना की है उनमें से एक मे तो प्रतिद्वन्द्वी के प्राण ले लिए जाते है, किन्तु दूसरे मे उसे घायल मात्र कर दिया गया है।

इतिहास बतालाता है कि फ्रांस के राजा 'बारहवें लुई 'तथा फ्रांसिस प्रथम' के शासन काल मे द्वन्द्व युद्ध बडी धूम धाम से लडे जाते थे। इस प्रकार के द्वन्द्वो के कुछ निश्चित नियम होते थे। इन युद्धो के दर्शको में स्वयं सम्राट् उनके दरबारी और सभ्रांत नागरिक हुआ करते थे। और ये युद्ध सुसज्जित और रक्षित रंगशालाओ मे लडे जाते थे।[2] द्वन्द्व वास्तव मे दो व्यक्तियो में हुआ करता था, किन्तु प्रत्येक के साथ एक या उसे अधिक सहकारी (सेकिन्ड्स) भी होते थे।[3] प्रसाद ने १८ वी शती मे फ्रांस से प्रचलित उक्त प्रथा का संबंध भारतीय और यूनानी 'वीर युद्धो' से जोडने का प्रयास किया है। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध इसी प्रकार का एक वैध द्वन्द्व युद्ध है जो एक विशाल रंगशाला में आर्यों और यूनानियो के प्रमुख वीरो के समक्ष लडा गया था। युद्ध की घटना के बीच एकाएक फिलिप्स के सहकारी यूडेमस का उल्लेख हमारा ध्यान उपर्युक्त प्रकार के सहकारी (सेकिंड्स) की ओर आकृष्ट करता है।

कुछ भी हो इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध भारतीय इतिहास के किसी भी काल मे नही लडे गए। अतः इन्हे ऐतिहासिक और अभारतीय कहने में हमें संकोच नही होता।

---

(१) 'दे फौट बाइ नाइट ऐंड डे, बाइ मूनलाइट एंड बाइ टौर्च लाइट, इन दि पब्लिक स्ट्रीट्स ऐंड स्क्वायर्स, ए हेस्टी वर्ड, ए मिसकन्सीव्ड जैस्चर, ए क्वैश्चन ऐबाउट दि कलर औफ ए रिबैंड और ऐन इब्रोइडर्ड लैटर वर दि कौमनेस्ट प्रिटैक्स्टस फौर ए ड्यूऐल, इ० ब्रिटानिका वो० ७, पृ० ११

(२) 'अन्डर लुई ट्वैल्वथ ऐंड फ्रांसिस फर्स्ट वी फाइंड दि बिगिनिंग्ज औफ ट्रिब्यूनल्स औफ औनर। दि लास्ट इंस्टैंस औफ ए ड्यूऐल औथोराइज्ड बाइ दि मैजिस्ट्रेट्स ऐंड कन्डक्टेड ऐकौर्डिंग टु दि फोर्म्स औफ लो वाज दि फेमस वन बिटवीन फ्रेंको दि 'विवोने दि ला शेतेनरे ऐंड गाइ शेबो दि जारनेक। दि ड्यूएल वाज फौट औन जोलाय टेन, फिफ्टीन फोर्टी सेवन इन दि कोर्टयार्ड औफ दि शेटो दि सेंत जर्मे ऐन ले, इन दि प्रजेंस औफ दि किंग ऐंड ए लार्ज ऐसेम्बली औफ कोर्टियर्स'। इ० ब्रिटानिका, वौल्यूम ७, पृ० ७११

(३) इ० औफ सोलश साइसेज : विलसम डी० वालिस : वौल्यूम ५, पृ० २६६

शिक्षा और कला

प्रसाद के नाटको से प्राचीन इतिहास और संस्कृति के साथ साथ प्राचीन भारत की शिक्षा के वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान होता है। प्राचीन भारत मे शिक्षा किस प्रकार होती थी, उसका स्वरूप क्या था, क्या क्या विषय पढाये जाते थे और गुरु शिष्य का परस्पर संबंध किस प्रकार का होता था इन सब का विवरण हमको मुख्यतः चन्द्रगुप्त नाटक मे मिलता है। यद्यपि शिक्षा संबंधी कुछ न कुछ जानकारी उनके प्राय. सभी ऐतिहासिक नाटको से मिलती है।

चन्द्रगुप्त नाटक का प्रारंभ ही तक्षशिला के गुरुकुल मे हुआ है। तक्षशिला गुरुकुल विश्व-प्रसिद्ध था और दूर-दूर के छात्र यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। सिंहरण मालव था और चाणक्य और चन्द्रगुप्त मागध।[1] भिन्न-भिन्न प्रदेशो के होते हुए भी छात्रो को अपने गुरुकुल की शिक्षा का समान रूप से गर्व होता है। सिंहरण को शिक्षा का गर्व है।[2] और वररुचि अपने ही गुरुकुल के स्नातक की परीक्षा करना गुरुकुल का अपमान समझता है।[3] गुरुकुल की शिक्षा का इतना महत्त्व होता था कि वहाँ शिक्षा पाये हुए छात्र अपने अपने विषयो में निष्णात मान लिये जाते थे। गुरुकुल राजाज्ञा से परे होते थे। गुरुकुल के अधिकारी आचार्य की आज्ञा वहाँ सर्वोपरि मानी जाती थी।[4]

गुरुकुलो की परंपरा भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। पाणिनी के कुछ सूत्रो मे भी गुरुकुल का उल्लेख मिलता है।[5] जातको मे तो इस संबंध मे प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है।[6] उनसे ज्ञात होता है कि भारत मे गुरुकुलो और पाठशालाओ का जाल सा बिछा था। बनारस, राजगृह मिथिला, उज्जैन, कोशल, मध्यप्रदेश, शिविराज्य, कुरु, उत्तरी राज्य इत्यादि विभिन्न प्रदेशो, राज्यो और जनपदो के अनेक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। इन विद्यालयो मे प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये तक्षशिला जाया करते थे[7]। तक्षशिला भारतवर्ष की उच्चशिक्षा का केन्द्र था। यहाँ अनेक शास्त्रो और विद्याओ में पारंगत, अपने अपने विषयो मे विशेषज्ञ और विश्व-विख्यात विद्वान आचार्य होते थे। वस्तुत. इन अध्यापको की कीर्ति के कारण ही तक्षशिला की प्रसिद्धि थी और उनकी कीर्ति सुनकर देश के कोने-कोने से प्रत्येक जाति और वर्ग के

---

(१) चन्द्र० १।५६ (२) वही १।५७
(३) वही १।७७ (४) वही १ ५७
(५) पाणिनि २।१।४१ भाष्य १।३६१
(६) जातक ४।३६६, ६।३४७, ४।३६२, १।३५६, ३।११५, ३।३६६, ५।१७७
(७) तक्षशिला वाज ए सीट नौट औफ ऐलिमेंट्री, बट 'हायर ऐजूकेशन'

छात्र अपनी शिक्षा को पूर्ण करने के लिए तक्षशिला आया करते थे[१]। जातक मे एक ऐसे आचार्य का उल्लेख है जिनमे शिक्षा प्राप्त करने के लिए सारे भारत के ब्राह्मण और छत्रिय आया करते थे[२]। चाणक्य भी तक्षशिला गुरुकुल के आचार्य हे[३] और दाण्ड्यायन उन्हे सब विद्याओ का आचाय कहता है[४]। ऐसे ही आचार्य तक्षशिला के महत्त्व को बढाते होगे और उनके महत्त्व से उस राज्य का महत्त्व बढता होगा। चाणक्य को उस गुरुकुल में अध्यापन का गौरव है, और उसने मगध का सिर ऊंचा किया है[५]। गुरुकुल मे वहाँ के अधिकारी आचाय की आज्ञा सर्वोपरि होती थी[६] और चाहे किसी वर्ग का हो प्रत्येक छात्र के साथ समान व्यवहार किया जाता था। भावी गाधार नरेश और निस्सहाय छात्र दोनो के प्रति तक्षशिला मे समान व्यवहार किया गया हे। तक्षशिला मे चाडालो के अतिरिक्त अन्य सभा जातियो के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। अधिकतर विद्यार्थी ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे। परन्तु वणिजपुत्र, दर्जी और कभी-कभी मछुवे तक वहाँ शिक्षा पाते थे[७]।

गुरुकुल के अधिकारी

प्रसाद ने गुरुकुल के केवल दो अधिकारियो का उल्लेख किया है एक कुलपति और दूसरे आचार्य। चन्द्रगुप्त के 'गुरुदेव' चाणक्य तक्षशिला के एक आचार्य थे। कुलपति ने उन्हे गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने की आज्ञा दे दी थी, फिर भी भावी स्नातको को अर्थशास्त्र पढाने के लिए वे रुक गये। इससे स्पष्ट है कि 'कुलपति' ही समस्त गुरुकुल का प्रधान अधिकारी होता था। भगवत शरण उपाध्याय ने भी शिक्षा सस्था के प्रधान अधिकारी को कुलपति कहा है। पाणिनी ने तीन प्रकार के शिक्षक बतलाए हैं, आचार्य, प्रवक्ता और श्रौत्रिय। इनमे आचार्य की पदमर्यादा सबसे ऊँची थी,[६] दाण्ड्यायन के शब्दो मे चाणक्य 'सब विद्याओ के आचार्य थे'।

परन्तु तक्षशिला वशिष्ठ,[१०] कण्व[११] आदि ऋषियो के प्राचीन गुरुकुलो की अपेक्षा विशाल विश्वविद्यालयो के अधिक समीप जान पडता है। उसको हम जातको मे वर्णित

---

(१) 'इट इज दि प्रेजेंस ऑफ स्कालर्स ऑफ सच ऐक्नौलेज्ड औथोरिटी एण्ड वाइड स्प्रैड रैप्यूटेशन दैट मेड तक्षशिला दि इन्टैलैक्च्युअल कैपिटल ऑफ दि इण्डियन कौंटिनेंट फ्रौम दि डिफरैंट एण्ड डिस्टेंट पार्टस् ऑफ व्हिच देयर वाज ए स्टैडी मूवमेंट ऑफ क्वालिफाइड स्टूडेंट्स ड्रौन फ्रौम ऑल क्लासेज एण्ड रैंक ऑफ सोसायटी टुवर्डस तक्षशिला टु कम्प्लीट दि ऐज्यूकेशन दे हैड इन स्कूल्स ऑफ देयर नैटिव प्लेस'। ऐंशिऐंट इण्डियन ऐज्यूकेशन : मुखर्जी : पृ० ४७८

(२) जातक ३।१५८ (३) चन्द्र० १।७८

(४) चन्द्र० १।१०५ (५ वही १।७८ (६) चन्द्र० १।५७

(७) ऐंशिएंट इण्डियन ऐज्यूकेशन : मुखर्जी : पृ० ४८१।४८२

(८) इन्डिया इन कालिदास : उपाध्याय : पृ० २७८

(९) इण्डिया ऐज नौन टु पाणिनि : अग्रवाल :

(१०) रघुवश १।९५ (११) शाकुतल १।२१,३२,८४

'महाशाला' या स्नातकशाला के समकक्ष रख सकते है[१]। प्राचीन गुरुकुलो की परपरा मे दाण्डयायन का आश्रम लिया जा सकता है। वहाँ उनका कोई रहस्य नही, निभृत मन्दिर नही और वहाँ 'प्रत्येक क्षण स्वागत है'। यह जातको मे वर्णित 'आरण्यक' के समकक्ष है[२]। इसी आश्रम मे सिल्यूकस की कन्या भारतीय दर्शन और सगीत की शिक्षा पाती है[३]। कालिदास ने वशिष्ठाश्रम[४] का जो विवरण दिया है वह बहुत कुछ दाण्ड्यायन के आश्रम से मिलता जुलता है।

प्रसाद के नाटको में पठन-पाठन के जिन विषयो के नाम आये हैं वे है अर्थशास्त्र[५], दण्डनीति[६], राजनीति,[७] व्याकरण[८], युद्धनीति[९] और धर्मशास्त्र।[१०] इन शास्त्रो का अध्ययन अध्यापन तक्षिशला मे अवश्य होना होगा। अर्थशास्त्र का अध्ययन तो

अध्ययन के विषय

आचार्य चाणक्य कुलपति की आज्ञा से स्वय कराते थे। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त पाणिनी व्याकरण) और दण्डनीति का उल्लेख भी चाणक्य ने स्वय किया है। चन्द्रगुप्त युद्धनीति सीखने के लिए तक्षशिला भेजा गया था। उशना और कणिक के राजनीतिशास्त्र का और तर्कशास्त्र का नामोल्लेख मात्र हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार विद्याएँ चार है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दडनीति[११]। मनु के अनुसार त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये तीन ही विद्याएँ हे और वे आन्वीक्षिकी को त्रयी का ही एक रूप मानते हैं[१२]। वृहस्पति मतानुयायी वार्ता और दण्डनीति को ही विद्याएँ मानते है[१३] और शुक्र के अनुयायी केवल मात्र दण्डनीति को ही विद्या मानकर विद्याओ को उसके ही अन्तर्गत मान लेते है[१४]। कौटिल्य के अनुसार विद्या का लक्षण है धर्म और अर्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध कराना। इस लक्षण के अनुसार विद्याएँ चार हैं। जिस विद्या से धर्म और अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है उसे 'त्रयी' कहते है जिससे अर्थ या अनर्थ का बोध हो उसे 'वार्ता' और जिसमें न्याय और अन्याय का विवेचन हो उसे 'दण्डनीति' कहते है। जो विद्या तर्क के द्वारा इन सब विद्याओ के महत्त्व का स्पष्टीकरण कर बुद्धि को स्थिर करती है और बुद्धिवाणी और क्रिया में निपुणता लाती है उसे 'आन्वीक्षिकी' कहते ह[१५]।

---

(१) कल्चरल लाइफ इन दि बुद्धिष्ट जातक्स . डा० बी० सी० लो० : जर्नल औफ इण्डियन हिस्ट्री, दिसम्बर १९५४

(२) कल्चरल लाइफ इन दि बुद्धिष्ट जातक्स : डा० बी० सी० लो० : जर्नल औफ इण्डियन हिस्ट्री दिसम्बर १९५४

(३) चन्द्र० २।११२ (४) रघुवश १

(५) चन्द्र १।५९ ८८ (६) वही १।८८

(७) वही ४।२२५, स्कद १।३६ (८) वही ४।२२५

(९) वही १।८८,८९ ; ४।२२५ (१०) वही १।८०

(११) ध्रुव० ३।५२ : अजात ३।१३० (१२) अर्थशास्त्र १।२।१,२,३

(१३) अर्थशास्त्र १।२,८,९,१० (१४) वही (१५) अर्थशास्त्र १।२,८,१२

कौटिल्य की चार विद्याओं मे से दण्डनीति का तो प्रसाद ने स्पष्ट नाम से ही उल्लेख किया है और इसमे अर्थशास्त्र, राजनीति तथा युद्धनीति का समावेश किया जा सकता है। शेष में त्रयी विद्या के अन्दर धर्मशास्त्र, वार्ता के अन्तर्गत व्याकरण और आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत तर्कशास्त्र का उल्लेख किया गया है।

मनु ने चार वेद, छः वेद के अग, मीमासा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ये १४ विद्याएँ बतलाई है। शुक्राचार्य ने 'त्रयी के अन्तर्गत इन्ही १४ विद्याओ को गिना दिया है'[1]। प्रसाद के नाटको मे जिन विषयो की चर्चा हुई है वे सब इन्ही विद्याओ के अन्तर्गत आजाती हैं। उनमें यथास्थान वेद[2], सामवेद,[3] उपनिषद्[4] रामायण[5] गीता[6], वेदान्त[7] और दर्शन[8] का नामोल्लेख हुआ है। उपवेदो मे से धनुर्वद के अन्तर्गत बाणविद्या[9] की चर्चा हुई है। आयुर्वेद के विशेषज्ञो के रूप में धन्वन्तरी[10] और अग्निवेश[11] का नाम आया है और अस्त्रविद्या[12] की ओर भी सकेत मिलता है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे बृहस्पति[13] और शुक्राचार्य[14] के नीतिशास्त्रो, और 'चन्द्रगुप्त' में उशना[15] और कणिक[16] के राजनीति शास्त्रो का उल्लेख हुआ है। इन भारतीय विद्याओ के अतिरिक्त यूनान के दार्शनिक सुकरात[17] और डायास्थनीज[18] के तर्क एव अरस्तू की राजनीति की ओर भी निर्देश हुआ है। चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के युद्ध को एक ही काल मे विकसित दो विभिन्न राष्ट्रो की विभिन्न विचारधाराओ की टक्कर बताकर चाणक्य और अरस्तू के राजनीतिक विचारो के सघर्ष की ओर भी सकेत किया गया है।[19]

कलाओ का उल्लेख स्वतत्र रूप से वात्स्यायन ने किया है उनके अनुसार चौसठ शिल्प कलाएँ और चौसठ ही पाचालिका कलाएँ होती थी। ललित कलाएं' पाचालिका कलाओ के अतर्गत आती है।[20] प्रसाद के नाटको मे सगीत और नृत्य का उल्लेख कई स्थलो पर हुआ है। प्राचीन रागो में नागेश्वरा[21] भैरव[22] और आनन्द भैरवी[23] का तथा नृत्यो मे ताडव[24] का नाम आया है। इसके अतिरिक्त अभिनय[25] का भी उल्लेख हुआ है।

---

(१) शुक्रनीति १ म।५४
(२) स्कद०, ४।१२४
(३) वही ३।९९
(४) वही ४।१२२
(५) चन्द्र० ४।२२५
(६) स्कद० १।४०
(७) ध्रुव० ३।५१
(८) चन्द्र० २।१०७
(९) अजात० २।७५
(१०) अजात० १।५०,५१
(११) वही १।५०
(१२) वही २।७५
(१३) ध्रुव० १।२५
(१४) वही १।२५
(१५) चन्द्र० ४।२२५
(१६) वही ४।२२५
(१७) चन्द्र० ४।२२५
(१८) चन्द्र० ४।२२६
(१९) चन्द्र० ३।१६१
(२०) स्टडीज इन काम सूत्र ' हारानचन्द्र चकलदर : पृ० १८६
(२१) स्कद० ।५४
(२२) वही ।४६
(२३) वही
(२४) वही ।४६
(२५) वही १।२६, चन्द्र० १।६४,६५

तक्षशिला मे उच्चशिक्षा प्राप्ति में साधारणतया आठ वर्ष लग जाते थे, और सोलह सत्रह वर्ष से पचीस वर्ष तक विद्यार्थी वहाँ अध्ययन करते थे।[1] किन्तु 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त को वहाँ केवल पाँच वर्ष लगे थे।[2] यह नही कहा जा सकता कि प्रसाद ने पाँच वर्ष का अनुमान किस आधार पर लगाया है। चन्द्रगुप्त केवल युद्धनीति की शिक्षा के लिये गया था, इतने से भी इसका समर्थन नही किया जा सकता कि पाँच वर्ष का काल उच्च शिक्षा के लिये पर्याप्त होता था।[3] तक्षशिला मे तो विशिष्ट शिक्षा प्राप्ति के लिये ही विद्यार्थी जाते थे, अतः उसका पाठ्यक्रम भी नियत समय में ही पूरा होता होगा। तक्षशिला से पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुकने वाले विद्यार्थियो को स्नातक कहा जाता और उसके प्रति राजा से लेकर साधारण प्रजा तक सम्मान प्रदर्शित करते थे। स्नातक को निमन्त्रण देना गौरव की बात समझी जाती थी। नन्द जैसे व्यक्ति भी स्नातक का स्वागत करना नही भूलते थे। स्नातक के प्रति आदर-भावना का परिचय मनुस्मृति में इस प्रकार दिया गया है। उन सबके एकत्र होने पर स्नातक और राजा दो ही हो तो स्नातक राजा से मान प्राप्ति का अधिकारी है।[4]

विद्यार्थी

जातको से पता चलता है कि तक्षशिला गुरुकुल में प्रवेश के समय एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्राएँ शुल्क के रूप मे ली जाती थी।[5] 'मिलिन्द पण्ह' मे यह भी ज्ञात होता है कि यदि कोई विद्यार्थी शुल्क न दे सके तो उसे गुरु सेवा करके शुल्क चुकाना पड़ता था।[6] अधिकाश विद्यार्थी इसी वर्ग के होते थे, जो दिन में गुरु सेवा कर रात को शिक्षा प्राप्त करते थे।[7] ऐसे एक गुरुकुल का उल्लेख जातको में मिलता है जिसमें पाँच सो ब्राह्मण शिष्य शिक्षा पाते थे और ये गुरु सेवा के रूप में अन्य कार्यों के साथ जगल से लकडियाँ एकत्र करके लाते थे। कभी-कभी कोई विद्यार्थी अपना सम्पूर्ण समय अध्ययन में लगाता था। वह न शुल्क दे सकता था और न गुरु के लिए कोई विशेष कार्य ही करता था। ऐसे छात्र शिक्षा समाप्त करने पर गुरु की अभिलिषित वस्तु गुरु दक्षिणा के रूप में चुका देते थे। बनारस में एक ऐसे विद्यार्थी का उल्लेख हुआ है, जिसने भिक्षा प्राप्त कर गुरु दक्षिणा चुकाई थी।[8] योग्य और अनुभवी विद्यार्थी को उसी गुरुकुल में अध्यापन कार्य मिल जाया करता था और कभी-कभी गुरु-दक्षिणा चुकाने का एक यह भी उपाय माना जाता था।[9] प्रसाद के नाटको में शुल्क का उल्लेख कही नही है। किन्तु चाणक्य जैसे अकिंचन ने एक वर्ष तक गुरुकुल के भावी स्नातको को अर्थशास्त्र का पाठ पढाकर गुरु दक्षिणा चुकाई थी।[10] प्रसाद के अनुसार गुरुकुलो को स्नातको की छात्रवृत्ति के रूप में राजकोष से भी धन दिया जाता था। राजकोष से कभी-कभी कोई छात्रवृत्तियाँ एक साथ दी जाती थी।[11] दो प्रकार की छात्रवृत्तियो

गुरु दक्षिणा

(१) इडियन ऐज्युकेशन इन ऐंशिएन्ट एण्ड लेटर टाइम्स : के : पृ० १४२
(२) चन्द्र० १।७५ (३) वही १।१७४
(४) वही १।७६ (५) मनुस्मृति २।४५।१३९
(६) जातक १।२७२, ४।५० (७) मिलिन्द पण्ह ६ : मुखर्जी : पृ० ४७९
(८) ऐंशिएट इडियन ऐज्यूकेशन : मुखर्जी : पृ० ४७९ (९) वही पृ० ४८४
(१०) चन्द्र० १।५६ (११) चन्द्र० १।७६,७७

का मुकर्जी ने उल्लेख किया है। एक तो वे छात्रवृत्तियाँ होती थी जो राजकुमारो के साथ जाने वाले राजकर्मचारियो के पुत्रो को मिला करती थी, दूसरे जो उदीयमान छात्रो को राज्य स्वतन्त्र रूप से देता था। प्रसाद ने कई स्नातको का उल्लेख कर छात्रवृत्तियो की चर्चा की है।[1] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ छात्रवृत्तियाँ चन्द्रगुप्त ऐसे सेनापति के पुत्रो को दी जाती होगी और कुछ अन्य साधारण प्रतिभाशाली स्नातको को।

नाटको में गुरु के लिए गुरु[2], गुरुदेव[3], आचार्य[4], शिक्षक[5] और आर्य[6] शब्द आये हैं। इनमे आर्य शब्द किसी भी पूज्य या सम्माननीय व्यक्ति के लिए आ सकता है,

गुरु शिष्य सम्बन्ध

इसालिए 'आर्य समुद्रगुप्त[7], आर्य चन्द्रगुप्त[8], आर्य पर्णदत्त[9] जैसे सबोधन प्राय: नाटको मे देखने में आते है। गुरु शिष्य को सबोधन करते हुए सौम्य[10], शिष्य[11] और वत्स[12] का प्रयोग करता है। मनु के अनुसार भी अभिवादन करने हुए शिष्य को गुरु 'आयुष्मान भव सौम्य'[13] इन शब्दो मे आशीर्वाद देता है, शिष्य के लिए गुरु की आज्ञा अनुल्लघनीय है और वह उनकी आज्ञा से ही गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर सकता है।[14] मनु ने भी गुरु की आज्ञा पाकर ही सुलक्षणा और सवर्णा भार्या से विवाह करने का विधान किया है।[15] चाणक्य ने इस बात का उल्लेख किया है कि कुलपति ने उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है। राजा तक को गुरु की मर्यादा की रक्षा करनी पडती है।[16]

प्रसाद के अनुसार गुरु का स्थान माता-पिता के समकक्ष ही है, उनसे अधिक नही। चन्द्रगुप्त गुरु की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भी गुरु के द्वारा अपने माता-पिता के अपमान का विरोध करता है।[17] वैसे, प्रसाद ने माता-पिता को भी पुत्र की शिक्षा के लिये उत्तरदायी बतलाया है, विशेषतः युवराज को राज्य सचालन की शिक्षा देना तो महाराज का ही कर्त्तव्य है।[18] कालिदास के अनुसार अज को अस्त्र शिक्षा रघु ने स्वय ही दी थी।[19]

---

(१) "वी रीड ऑफ सन्स ऑफ दि रोयल चैंप्लैन्स ऑफ दि कोर्ट ऑफ बनारस ऐड राजग्रह ऐकम्पनीइग देयर रैस्पैक्टिव प्रिसेज टु तक्षशिला फौर देयर ऐज्यूकेशन, कैसेज, हाउऐवर, आर नौट वाटिंग ऑफ स्टूडैन्ट्स बीइग सेंट ऑन देयर ऑन ऐकाउट फौर हायर स्टडीज टु तक्षशिला ऐट स्टेट एक्सपेस। दस वी रीड ऑफ ए ब्राह्मन बौय ऑफ बनारस बीइग सेंट बाई दि किंग एट हिज एक्सपेंस टु तक्षशिला फौर दि पर्पज ऑफ स्पेशलाइजेशन इन दि साइस ऑफ आर्चरी।"

ऐंशिएट इडियन ऐज्यूकेशन : मुखर्जी : पृ० ४८०

(२) चन्द्र० १।१०० (३) वही ३।१८, ४।१९६ (४) वही १।५५

(५) वही १।१०० (६) वही १।५५ (७) स्कद० १।१५

(८) वही १।६ (९) वही १।६ (१०) चन्द्र० १।५५

(११) वही १।६० (१२) चन्द्र० १।६०

(१३) मनु० २।४३।१२५ (१४) चन्द्र० १।५६

(१५) 'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्' मनु० ३।८३।४

(१६) चन्द्र० ४।२१०

(१७) वही ४।२१० (१८) अजात० १।५१ (१९) 'अशिक्षितास्त्र पितुरेव' रघुवश ३।३१

प्रसाद के नाटको के अनुसार प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का पूर्ण विकास दीख पडता है, छलना अपने को अजात को शिक्षा देने की पूर्ण अधिकारिणी समझती है।[1] उसकी ही देखरेख मे परिषद् का काम चलता है,[2] अत. वह अवश्य ही सुशिक्षिता रही होगी। कार्नेलिया 'दाण्ड्यायन' के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढने जाती है भारतीय सगीत सीखती है।[3] वह 'सुकरात के तर्क' पर विवाद करती है,[4] उशना और 'कणिक की राजनीति'[5] और रामायण[6] भी पढती है, कोमा आचार्य मिहिरदेव की शिक्षा में पली है।[7] उक्त सब उल्लेख इस ओर सकेत करते है कि स्त्री शिक्षा की पूरी स्वतन्त्रता थी। इसके अतिरिक्त ललित कलाओ में तो प्रायः सभी स्त्रियाँ निष्णात् प्रतीत होती हैं। देवसेना सगीत में दक्ष है[8] मालविका को नृत्य कला का ज्ञान है,[9] सुवासिनी अभिनय शाला की रानी है,[10] पद्मावती वीणा बजाना जानती है।[11] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद के विचार से स्त्रियो को राजनीति से लेकर ललित कलाओ तक का ज्ञान दिया जाता था। राजकुमारी कल्याणी पर्वतेश्वर की सहायता के लिये पचनद के युद्ध में भाग लेती है,[12] अलका धनुष बाण लेकर मालव दुर्ग की रक्षा करती है।[13] मालविका रणक्षेत्र मे घायलो की चिकित्सा और भोजन की व्यवस्था करती है।[14] इस प्रकार प्रसाद ने प्राचीन काल मे कई क्षेत्रो में स्त्री शिक्षा की सभावना को स्वीकार किया है।

स्त्री शिक्षा

कामसूत्र के आधार पर प्राचीन भारत मे स्त्री शिक्षा के सबध मे चकलदर[15] लिखते हैं कि साधारण स्त्रियाँ भी प्रेम पत्र लिख और पढ सकती थी, सामान्य स्त्रियाँ न उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी और न शस्त्र ग्रहण ही। परन्तु राजकुमारियाँ तथा सभ्रान्त कुल की कन्याएँ युद्ध में भी भाग लेती थी। गणिकाएँ शास्त्रो में पारगत होती थी कामसूत्र मे स्त्रियो के लिये जिन चौसठ कलाओ का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है, वह सामान्य प्राथमिक ज्ञान से कही ऊँचा होता था। जिस शिल्पकला के ज्ञान की सहायता से प्रेषित भर्तृका को अपना जीवन-यापन करना पडता होगा, वह निश्चय ही उच्च कोटि का ज्ञान होता होगा। शुद्धोदन सिद्धार्थ के लिये अनक शास्त्रो में निपुण वधू चाहते है। मायादेवी के लिये 'बहुश्रुताया. पडिताया' और 'कला विचक्षणा' आदि विशेषण भी प्राचीन काल म उच्च शिक्षा के साक्षी ह। मुकर्जी की मान्यता है कि वैदिक काल से ही स्त्री शिक्षा का प्रचार चला आरहा है।[16] गुरुकुलो तक में छात्राएँ अध्ययन के लिये आती थी।[17] चाणक्य के अर्थशास्त्र म भी युद्धक्षेत्र में सैनिको को उत्तेजित करने, उनके खान पान की व्यवस्था करने तथा आहतो की चिकित्सा करने के लिए स्त्रियो को विशेष रूप से शिक्षित करने का आदेश दिया गया है।[18] सिकन्दर से लडे गये युद्धो में स्त्रियो ने भी यत्र-तत्र भाग लिया था।[19]

---

(१) अजा० १।२७ (२) वही २।६७ (३) चन्द्र० २।११२ (४) वही ४।२२५
(५) चन्द्र० ४।३२५ (६) वही ४।२२५ (७) ध्रुव० २।४१
(८) स्कद० १।४६ (९) चन्द्र० ३।१७२ (१०) वही १।६७
(११) अजात० (१२) चन्द्र० २।११७,११८ (१३) वही २।१५०
(१४) चन्द्र २।१४० (१५) स्टडीज इन कामसूत्र : चकलदर : पृ १८० १८१
(१६) हिन्दू सभ्यता : राधाकुमुद : पृ ११३ (१७) इडिया ऐज नोन टु पाणिनि : वासुदेवशरण अग्रवाल :
(१८) अर्थशास्त्र १०।३।६२
(१९) दि सिविलिजेशन इन एँशिएट इडिया : लुई रेनू : पृष्ठ ७१

संगीत, कला और साहित्य

प्रसाद ने सगीत, कला और साहित्य सम्बन्धी उल्लेख प्राय: सभी नाटको मे किये है। सगीत में केवल कुछ रागो के नाम, कुछ गायन की परिपाटी और कुछ विशेष वाद्य-यन्त्रो के उल्लेख भर हुए हैं। इन सभी उल्लेखो को सामने रखने पर भी सगीत और नृत्य की किसी विशेष प्राचीन पद्धति या परम्परा का चित्र प्रसाद नही खीच सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने नाटको में संगीत और नृत्य के साधारण दृश्यो का सृजन करने मात्र के उद्देश्य से प्रसाद ने सगीत और नृत्य की योजना की है। नृत्य से सम्बन्ध रखने वाले जैसे उल्लेख मालविका के नृत्य के वर्णन में कालिदास ने किये है[1], अथवा नृत्य-गति इत्यादि के सौन्दर्य को जिस प्रकार बाणभट्ट ने अपने हर्ष-चरित में उतारा है,[2] वैसा प्रसाद नही कर सके है। उसका कारण सभवतः प्रसाद की वह दृष्टि थी जो काशी के वातावरण में सगीत और नृत्य को वेश्याओ अथवा नर्तकियो के माध्यम से देखा करती थी। इसलिए प्रसाद के नाटको में अधिकतर नर्तकियाँ किसी भी अवसर पर मशीन की तरह आकर नृत्य और सगीत प्रस्तुत करती हैं। कला और चित्रकारी इत्यादि का तो प्रसाद ने उल्लेख ही नही किया है। यद्यपि प्राचीन भारत के अन्तःपुरो मे सम्राटो तक का मनोरजन इसके माध्यम से होता जा रहा है। कालिदास के शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र में चित्रशाला और चित्रकला के उल्लेख हुए है।[3] गुप्त काल मे समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उसको काव्य कला और सगीत मे निपुण बतलाती है।[4] प्रसाद के इन नाटको में मातृगुप्ताचार्य जैसे कवियो के होते हुए भी काव्य-क्रीडा इत्यादि का उल्लेख नही हुआ है, पर उनमें भी अभिनय के विशेष चित्रण की ओर ध्यान न देकर सकेत मात्र कर दिया गया है। फलतः कोई सजीव वातावरण उभरता नहीं जान पडता।

संगीत

कार्नेलिया दाण्ड्यायन के आश्रम मे भारतीय सगीत सीखती है[5] और फिलिप्स का कथन है कि उसने भारतीय सगीत पर पूरा अधिकार कर लिया।[6] इससे भारतीय सगीत की विशिष्ट शैली की ओर सकेत किया गया जान पडता है। किन्तु उक्त स्थलो पर यह स्पष्ट नही है कि प्रसाद भारतीय सगीत के स्वरूप का कैसा चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। देवसेना ने रुद्र के जिस भैरव सगीत की चर्चा की है[7] उसका वर्तमान भैरव राग से कोई सबन्ध नही है। यहाँ भैरव सगीत

---

(१) माल० २।२४ (२) हर्षचरित ४।१३१ (३) शाकुन्तल ६।१८

(४) ०० ०० ०० निशित-विदग्धमति गान्धर्व ललितैर्व्रीडित-त्रिदशपतिगुरु-तुम्बुरुनारदादेर्विद्वज्जनापजीव्यानेक—काव्यक्रियाभिः ००० ००० ००

——समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति: सलैक्ट इस्क्रिप्शस सरकार

(५) चन्द्र २।१०७ (६) वही २।१०७ (७) स्कद० १।४६

एक रूपक के अर्थ मे आता है और इस प्रसग में प्रसाद ने देवसेना के शब्दो में सगीत के तीन अग गीत, नृत्य और वाद्य का एक साथ विवरण दे दिया है— रुद्र का शृ गीनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रा का वाद्य इसमे भैरव सगीत की सृष्टि होती है।'[१] राजाओ और नागरिको के मनोविनोदो के साधनो मे गीतवाद्य और नृत्य का उल्लेख अर्थशास्त्र[२] और जातको[३] मे भी हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे सगीत का प्रचुर प्रचार रहा होगा तथा सगीत के अन्तर्गत 'गीत वाद्य तथा नृत्य' तीनो आ जाते होगे। प्रसाद ने भैरव सगीत का उल्लेख केवल युद्ध और विनाश की ध्वनि देने के लिये किया है, सगीत की किसी विशेष पद्धति को सूचित करने के लिये नही। अन्यत्र देवसेना ने वागेश्वरी की करुण कोमल तान का भी नाम लिया है। वागेश्वरी अथवा वागेश्री अवश्य एक प्राचीन और प्रसिद्ध राग है। इसमे गधार और निषाद कोमल आते है। आरोह में रिषभ और पचम अल्पप्रमाण मे लिये जाते है। इस मे वादी मध्यम होता है और सवादी षडज। इसकी प्रकृति गम्भीर है तथा शृ गार और शान्त रस इसमें खुलते हैं। प्रसाद ने पुरुष को आकर्षन करने के उद्देश्य से शृ गार में ही इस राग का निर्देश किया है।[४] वागेश्वरी के गाने का समय रात्रि है।[५]

शास्त्रीय सगीत के आधुनिक आचार्यों की मुद्राओ पर भी प्रसाद ने एक व्यग किया है। यह तो कहा नही जा सकता कि जिस प्रकार कई आधुनिक सगीतज्ञ[६] हाथ को ऊँचे नीचे हिलाकर मुँह बना कर एक भाव प्रकट करते है और फिर सिर को इस जोर से हिला देते है जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई हो[७] ठीक उसी प्रकार सुदूर अतीत के गायक भी करते होगे। परन्तु स्पष्ट है कि उक्त व्यग भारतीय सगीत के कतिपय गायनाचार्यों पर किया गया है जो गाते हुए मुँह बिगाडते है और उछलकूद करते है। वस्तुतः प्राचीन सगीताचार्यों ने इस प्रकार मुद्रा दोष को सगीत में सदा वर्ज्य माना है क्योकि यह सगीत के रस मे विघातक होता है। 'प्राचीन काल के संगीत का प्रयोग दर्शको की मनोरजनी वृत्ति की तृप्ति के लिये होता आ रहा है'। किन्तु प्रसाद ने अपने नाटको मे जो गीत दिये है वे किसी 'विशेष' उद्देश्य से नही। इनका प्रवेश एक तो काव्य-प्रवृत्तिवश है, दूसरे अनुकरण मात्र और तीसरे निरुद्देश्य और जान बूझकर हुआ है।[८] श्यामा के 'बहुत छिपाया उफन पडा'[९] और 'निर्जन गोधूली प्रान्तर में'[१०], बिम्बसार का 'चल वसन्त-बाला अ चल से'[११], अलका का 'प्रथम यौवन मदिरा से मत्त[१२] और' बिखरी किरण अलका व्याकुल हो[१३], कल्याणी का 'सुधा सीकर से नहला दो'[१४], मालविका का 'ओ मेरी जीवन की स्मृति'[१५], मदाकिनी का 'यह कसक अरे आँसू सहजा'[१६], कोमा का 'यौवन तेरी चंचल छाया', मातृगुप्त का 'ससृति

(१) स्कद० १ ५४
(२) अर्थशास्त्र अधि० २।अध्याय २७।श्लोक ४१ पृ० २८४
(३) जातक० ३।४० (४) स्कद० २।५४
(५) प्राथमिक सगीत—शकर गणेश व्यास पृ० ३३ (६) स्कद० २।५४
(७) 'स्कदगुप्त' प्रो० पन्त का लेख 'महाराना मैगजीन' पृ० ३
(८) अजात० २।७३ (९) वही २।६६ (१०) वही ३।१४१
(११) चन्द्र० २।१३४ (१२) वही २।१४२ (१३) वही ४।१६४
(१४) वही ४।२०८ (१५) ध्रुव० १।१६ (१६) ध्रुव० २।३५

के वे सुन्दरतम क्षण'[१] देवसेना का 'घने प्रेम तरु तेल'[२], और विजया का 'अगरु, धूम की श्याम लहरियाँ'[३]—ये सब गीत केवल काव्य-प्रवृत्तिवश लिखे गये हैं। 'अनुकरण मात्र' से पन्त जी का क्या अभिप्राय है, यह नही कहा जा सकता। प्रसाद के नाटको मे यत्र तत्र ऐसे गीत पर्याप्त है, जिनमे 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनी' के गीत और लयो का अनुकरण है। यदि यही अर्थ स्वीकार किया जाय तो वासवी का 'बच्चे बच्चो से खेले'[४], गौतम का 'गोधूली के राग पटल मे'[५], और चचल चन्द्र सूर्य है चचल'[६], उदयन का 'हमारे वक्ष म बनकर'[७], पद्मावती का 'हमारा प्रेमनिधि'[८], श्यामा का तुम्हारी मोहनी छवि'[९], और 'अमृत हो जायगा विष'[१०], पुरुष और स्त्रियो का द्विगान 'हमारे निबलो के बल'[११] और स्कदगुप्त का 'बजा दे वेणु मनमोहन'[१२]—ये इसी कोटि में आते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमे कई गीतो की तर्ज ही थियेट्रिकल है, और स्कदगुप्त जैसे चरित्र भी गा उठते ह। इस प्रकार के गीत 'ऐतिहासिक वातावरण' की सृष्टि मे सबसे बडा व्याघात उपस्थित करते हैं। तीसरे प्रकार के गीतो में नर्तकियो के गीत लिये जा सकते ह जिन्हे गीत की दृष्टि से तो निरुद्देश्य ही मानना पडेगा।

प्रायः प्रसाद के सभी नाटको में कुछ पात्र गाने वाले होते ही है, परन्तु उनका सम्बन्ध सगीत के शास्त्रीय ज्ञान से न होकर अपने भावावेग की अभिव्यक्ति से ही जान पडता है। श्यामा, कार्नेलिया और देवसेना ही पात्र हैं जिनका सम्बन्ध सगीत के शास्त्रीय पक्ष से जोडा जा सकता है। श्यामा गणिका है, अत. उसके सगीत में निष्णात होने पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता। कार्नेलिया भारतीय सगीत का पाठ पढ रही है, और देवसेना को तो 'गाने का रोग है'। 'सगीत-ससार'[१३] में सगीत के तीन अग गान, वाद्य और नृत्य[१४] की ओर भी प्रसाद ने सकेत किया है। शास्त्रीय सगीत से सम्बन्ध रखने वाले 'आलाप'[१५] 'मूर्च्छना'[१६], 'मीड'[१७] जैसे शब्दो का प्रयोग भी प्रसाद ने किया है।

विकटघोष अपने आपको 'गायक' बतलाता है।[१८] नरेन्द्र उससे कहता है—"तुम गायक नही हो, तुम्हारे मुख पर तो कला की एक भी रेखा नही है।"[१९] यहाँ गायक और उनकी कला की एक विशेषता की ओर सकेत है। गायक का साधारण अर्थ गाने वाला है, परन्तु कौटिल्य ने गायक को मनोरंजन करने के उद्देश्य से अपनी कला दिखलाने वाले नट-नर्तक इत्यादि के साथ ही रखा है।[२०] इनको 'स्त्री व्यवहारिणा' कहकर वे अत्यन्त निम्न श्रेणी म

---

(१) स्कद० १।२३ (२) वही २।५५ (३) वही ५।१४३
(४) अजात० १।२६ (५) वही १।३० (६) वही १।४२
(७) वही १।४५ (८) अजात० १।५६ (९) वही २।८१
(१०) वही २।६८ (११) स्कद० १।४२ (१२) वही ४।१२८
(१३) अजात० २।७८ (१४) वही २।७९
(१५) चन्द्र० १।६४ (१६) वही १।६४
(१७) अजात० १।६० (१८) राज्यश्री ३।५२ (१९) वही ३।५३
(२०) 'एतेन नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलिव प्लवक सौभिक चारणाना'
——अर्थशास्त्र २।२७।३८

रखते है। प्रसाद ने भी 'राज्यश्री' मे विकटघोष और सुरमा के ठीक इसी स्वरूप का चित्रण किया है। स्पष्ट है कि यहाँ गायक शब्द का प्रयोग पूर्णतया कौटल्दीय अर्थ म किया गया है।

प्रसाद के नाटको मे वीणा की ही अधिकतर चर्चा हुई है। उदयन की वीणा का नाम 'हस्तिस्कंध' था और वह वीणा बजाने में प्रवीण था। यह वीणा उदयन को बाल्यकाल मे एक ऋषि से प्राप्त हुई थी। इसके द्वारा उदयन हाथियो को वश में कर लिया करता था। कथा-सरित्सागर मे इसका उल्लेख मिलता है।[1]

वाद्य यन्त्र

पद्मावती के स्वामी (उदयन) उससे असन्तुष्ट हैं। ऐसे समय मे वह अपने को भुलाने के लिये वीणा बजाना चाहती है। पर कई बार प्रयास करने पर भी सफल नही होती। बार बार वीणा उठाती है और रख देती है।[2] प्रसाद का यह चित्रण परम्परागत है। विरहिणी नायिका को अपने मन-बहलाव के लिये वीणा बजाते हुए और वहाँ असफल होते हुए अनेक कवियो ने चित्रित किया है। मेघदूत की विरहिणी यक्षिणी की मुद्रा का चित्रण कालिदास ने बहुत सुन्दर किया है। वहाँ भी वह बार बार वीणा बजाने का प्रयास करती है परन्तु उससे वह मूर्च्छना भी नही निकल पाती जिसका उसे पूर्ण अभ्यास है।[3] देवसेना भी वीणा के स्वर मे स्वर मिलाकर गाने में अभ्यस्त है।[4] 'अजातशत्रु' से यह भी ज्ञात होता है कि वीणा के स्वरो के द्वारा वैतालिक राजदरबार में सम्राट के आगमन की सूचना भी दिया करते थे।[5] कालिदास के नाटको के आधार पर केवल इतना ही पता चलता है कि वैतालिक सम्राटो को समय की सूचना दिया करते थे, जिससे भिन्न-भिन्न कालो में करणीय कर्त्तव्य समय पर कर सकें। सम्भव है वे वीणा बजाकर भी यह सूचना देते हो[6], अन्यथा 'जयकार' से ही यह सूचना दी जाती थी।[7]

वीणा प्राचीन भारत का अत्यन्त प्रिय वाद्य-यन्त्र रहा है। भरहुत और साँची की मूर्तिकला मे वीणा का बहुत अंकन हुआ है। जातकों में भी 'वीणादीनि तूरियानी'[8] जैसे वाक्यो में वीणा को अन्य वाद्य-यन्त्रो के समूह में प्रथम स्थान दिया गया है। पाणिनि के सूत्रो में भी वीणा के प्रचुर उल्लेख उपलब्ध होते है।[9] वीणा का प्राचीन काल के नागरिक के जीवन मे अत्यन्त गहरा सम्बन्ध था। वात्स्यायन के नागरिक के वासगृह में 'नागदन्तावसक्ता वीणा' की उपस्थिति आवश्यक थी।[10] चकलदर तो वीणा को भारत का राष्ट्रीय वाद्य मानते हैं।[11] सम्राट समुद्रगुप्त को वीणा-वादन का इतना अनुराग था कि उसकी मुद्राओ में भी उसे वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया है।

---

(१) कथासरित्सागर बुक २। परिच्छेद ९

(२) अजात० १।५८

(३) मेघदूत—उत्तरमेघ।२६

(४) स्कद० १।४६

(५) अजात० ३।१२७

(६) इंडिया इन कालिदास—(उपाध्याय) पृ० १३५

(७) मालविकाग्निमित्र ५।६३३

(८) जातक ।४०

(९) अष्टाध्यायी ३।३।६५

(१०) कामसूत्र-सूत्र ५ १३

(११) 'नेशनल इन्स्ट्रूमेंट आफ म्यूजिक इन एंशिएंट इंडिया'
—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १५५

अन्य वाद्य यन्त्रों में तूर्य[1] तथा शृंगी[2] का उल्लेख हुआ है। तूर्य का उपयोग सेना को एकत्रित करने तथा दुर्ग द्वार बन्द होने की सूचना देने के लिये हुआ है, संगीत के लिये नहीं। किन्तु प्राचीन काल में ये दोनों संगीत में भी प्रयुक्त होते थे। पाणिनि में 'तूर्य' का प्रयोग 'वाद्य-वृन्द' (बैंड) के लिये हुआ है।[3] परन्तु कालिदास में तूर्य मुँह से फूंका जाने वाला वाद्य है,[4] जिसे आजकल सींगी कहा जाता है।

एक स्थान पर प्रसाद ने 'सोने की झांझ'[5] का उल्लेख भी किया है। शंकर ने 'वंश्यादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्। चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रालोद्यनामकम्' में कांस्य-ताल का उल्लेख किया है।[6] कांस्य ताल ही झांझ है। किन्तु प्रसाद की 'सोने वाली झांझ' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

नृत्य के शास्त्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसाद ने कोई उल्लेख नहीं किया है, हाँ नृत्य को कला अवश्य कहा है।[7] कामसूत्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में नृत्यकला का स्थान महत्त्वपूर्ण था। संगीत में वस्तुतः गीत और वाद्य के साथ नृत्य का होना अनिवार्य है।[8]

नृत्य

नृत्य के विभिन्न प्रकारों में 'ताण्डव' का एक चलता सा उल्लेख प्रसाद ने किया है। ताण्डव और लास्य, नृत्य के ये दो स्वरूप अत्यन्त प्राचीन हैं। भरत के नाट्य शास्त्र से ज्ञात होता है कि 'त्रिपुरदाह' नाटक देखने पर शिवजी ने तण्डु की सहायता से भरत को नृत्य की अनेक मुद्राएँ सिखाईं। नृत्य पौरुषेय एवं उद्धत था।[9] शृंगारादि रसों के लिये पार्वती की अभिलाषा के पीछे 'लास्य' भी नाट्य प्रयोगों में सम्मिलित किया गया।[10]

नृत्य सम्बन्धी अन्य जितने भी उल्लेख प्रसाद ने किये हैं, वे सब नर्तकियों से सम्बन्ध रखते हैं। उनसे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रसाद प्राचीन भारत में भी नृत्य का सम्बन्ध अधिकतर रूपाजीवाओं से ही जोड़ना चाहते हैं। आधुनिक काल तक आते-आते नृत्यकला के साथ वेश्याओं का ही मुख्यतः सम्बन्ध रह गया था। यह सत्य है कि प्राचीन भारत में भी व्यवसाय के रूप में नृत्य करने वाली नर्तकियाँ होती थीं। वे व्याह शादियों तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर बुलाई जाती थीं। बाण के उल्लेखों से

---

(१) ध्रुव० २।४० (२) स्कंद० १।४६

(३) इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि — (अग्रवाल) पृ० १६८

(४) रघुवंश ३।१९

(५) ध्रुव० २।३८

(६) हर्षचरित (शंकर टीका) ४।१३१

(७) चन्द्र ३।१७२

(८) कामसूत्र—सूत्र ३१

(९) स्मृति मृत्त संध्याकालेषु नृत्यता मयापीद।
एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रो नाम भविष्यति।। इत्यादि
—नाट्य-शास्त्र ४।१३-१६

तण्डिनापि ततः सम्यग्गानभाण्ड समन्वितः
नृत्य प्रयोग (सृष्टो य) स ताण्डव इति स्मृतः।
—नाट्य-शास्त्र ४।२५७-५८

(१०) भारतीय नाट्य शास्त्र और रंग-मंच (पंत) पृ० २२

———

भी इसकी पुष्टि होती है। परन्तु प्रसाद ने अपने नाटकों मे सभी स्थलों पर नर्तकियों द्वारा नृत्य की आयोजना की है। किन्तु नृत्य कला सम्बन्धी इतने उल्लेख करने पर भी वे प्राचीन भारत की नृत्यकला के गौरवपूर्ण स्वरूप का चित्रण नहीं कर सके हैं। यह उन पर स्पष्ट ही आधुनिक प्रभाव है।

अभिनय

प्रसाद ने अभिनय का उल्लेख वसन्तोत्सव के प्रसग मे किया है। 'उक्त अवसर पर कच और देवयानी की कथा का अभिनय किया गया है।' कुछ 'मूक अभिनय' हुआ और सुवासिनी ने 'भाव-सहित गान' गाया। सुवासिनी का कौशल ऐसा था कि उसका अभिनय अभिनय न रह कर वास्तविक घटना सा प्रतीत होने लगा।[१]

अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। कच और देवयानी की भूमिका क्रमश राक्षस और सुवासिनी ने ली है। इसमे आहार्य अभिनय की ओर सकेत होता है। सुवासिनी मान का मूक अभिनय करती है। यहाँ आंगिक और सात्विक दोनों प्रकार के अभिनयों की ओर स्पष्ट अथवा अस्पष्ट सकेत है। केवल आंगिक से वह अभिनय 'वास्तविक घटना, जैसी देखने में आवे वैसी हो' होना सभव नही था सवाद के रूप में वाचिक अभिनय का यहाँ उल्लेख नही किन्तु 'आर्य राक्षस का अभिनयपूर्ण गान' म वाचिक अभिनय की ओर भी सकेत कर दिया गया है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद अभिनय का कलात्मक स्वरूप चित्रण करने मे सफल हुए है। यहाँ तो 'कच देवयानी' के अभिनय के नाम पर दो स्वतन्त्र कविताओं का 'भावपूर्ण गान' मात्र है जिसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध ही नही। 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका मालविका भी नाटक मे गीत के साथ भावपूर्ण अभिनय करती है। यहाँ भी किसी कथा की चर्चा नहीं। नाटककार ने इसे 'छलिक अभिनय' कहा है।[२] यदि कच और देवयानी की कथा का उल्लेख नही होता अथवा इन गीतो का कच और देवयानी की कथा से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध होता तो हम इसे भी भाव नाट्य की कोटि मे रख सकते।

प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि ऐसे अभिनय उत्सवों के अवसर पर प्रेक्षागृहों या नाट्यशालाओं मे प्रदर्शित किये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के नृत्य-गीत प्रधान-अभिनय नाटको के अधिक समीप न होकर नृत्य कला के ही अधिक समीप थे। 'भारत-नाट्य' मे गीत और नृत्य का जो स्वरूप सामने आता है वह इस प्रकार के अभिनय के अधिक समीप है। कालिदास का मालविका का अभिनय ठीक इसी प्रकार का है। प्रसाद की सुवासिनी के अभिनय में न नृत्य ही है और न अभिनय ही।

---

(१) चन्द्र १।६४-६५

(२) अगैरन्तर्निहित वचनै. सूचित सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्व रसेषु
शाखायोनिमृ्दुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्तौ
भावोभाव नुदति विषयादरागबन्धः स एव
—मालविका० २।२८

साहित्य सम्बन्धी उल्लेख प्रसाद ने बहुत कम किये हैं। मातृगुप्त के द्वारा कविता सम्बन्धी जो विचार प्रकट किये गये हैं वे प्राचीन सस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्त्व के नही है। मुद्गल मातृगुप्त से कहता है—"युवराज भट्टारक के पास तुम्हे रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी, है स्वीकार।"[1] तथा तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिये समय की आवश्यकता है। बडे लोगो की एक दृढ धारणा होती है कि अभी टकराने दो। ऐसे बहुत आया जाया करते है।'[2] इन वाक्यो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कवि राज्याश्रय प्राप्त करने का लालायित रहते थे, किन्तु राज्याश्रय प्राप्त करना आसान कार्य न था। राजदरबार मे कवियो को आश्रय मिलता था, इसके कई प्रमाण मिलते हैं। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति से जान पडता है कि वह सुकवियो को आश्रय देता था और उनका सम्मान करता था।[3] कल्हण ने 'राजतरगिणी' मे लिखा है कि मातृगुप्त नामक कवि राज्याश्रय पाने की आशा मे शीत और भूख सहता हुआ उज्जयिनी के सम्राट हर्ष विक्रमादित्य के दरबार के चक्कर काटता था और उसे सर्वदा उपेक्षा ही मिलती रही[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्कदगुप्त' में राज्याश्रय पाने के लिये टक्कर खाते हुए मातृगुप्त का चित्र प्रसाद ने उक्त घटना से ही लिया है।

साहित्य

कार्नेलिया की उक्ति 'आह सखी ! तुम तो कवि हो'[5] यद्यपि लाक्षणिक अर्थ में कही गई प्रतीत होती है, तथापि इतिहास इस बात का साथी है कि प्राचीन काल मे स्त्रियाँ भी काव्य-कला मे अधिकार रखती थी, विशेषत अभिनय द्वारा आजीविका प्राप्त करने वाली सुवासिनी सदृश स्त्रियाँ। ललित-विस्तर मे कहा है– 'शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव।'[6] इस प्रकार सर्व शास्त्रो में प्रवीण स्त्रियाँ काव्य कला से अपरिचित रही होगी, यह नही माना जा सकता।

काव्य-रचना इत्यादि के सम्बध मे उल्लेख नही हैं, परतु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रचीन काल मे कालिदास और विक्रमादित्य जैसे कवि और अनेक आश्रयदाताओ के साथ जिस प्रकार के वातावरण का दिग्दर्शन प्राचीन काव्य-ग्र थो मे उपलब्ध होता है, अथवा इतिहास से जिस प्रकार के वातावरण का ज्ञान होता है, वैसा प्रसाद अपने नाटको में नही ला पाये हैं। कालिदास के काव्य तथा प्रसाद द्वारा वर्णित मातृगुप्त के गीतो मे न तो वातावरण की दृष्टि से समानता है और न काव्य कला की दृष्टि से ही। इस सम्बन्ध मे प्रसाद प्राचीन वातावरण की रक्षा नही कर पाये है।

---

(१) स्कन्द १।२२ (२) स्कद० १।२२

(३) सत्काव्यश्री विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा।
विद्वल्लोके विनाशि स्फुट बहु-कविता कीर्ति-राज्य भुनक्ति।
—इलाहाबाद पिलर स्टोन इ स्क्रिप्शन।

(४) शीतेनोद्धूषितस्य मापशिमिव चिन्तार्णवे मज्जतः।
शातान्ति स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकठस्य मे।
निद्रा क्काप्यवमानितेव दयिता सत्यज्य दूरगता।
सत्पात्र प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥
——राजतरगिणी-तृतीय तरग

(५) चद्र० ४।१३१ (६) ललित विस्तर १२।१३६

१५—राज्यशासन और रणनीति

(क)—राजनीति और शासन-प्रबंध

राजनीतिक घटनाओं की प्रचुरता के कारण प्रसाद के नाटकों में प्राचीन वातावरण की सृष्टि के लिए शासक वर्ग के लिए विविध प्रकार के संबोधन तथा उनके शासन-प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले कई विशेषार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है। शासक वर्ग में से राजा, रानी तथा राजकुमारों इत्यादि के लिये जिन सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है वे ऐतिहासिक पात्रों के क्रमानुसार इस प्रकार हैं:

राजा और उसके विविध संबोधन

बिम्बसार के लिये :—राजा, महाराज, राजन्, सम्राट्, मगध नरेश तथा राजाधिराज।

उदयन के लिये :—राजा, महाराज, पृथ्वीनाथ, सम्राट्, तथा कौशाम्बी-नरेश।

प्रसेनजित् के लिये :—राजा, महाराज, सम्राट्, राजाधिराज, पृथ्वीनाथ, राजन्, तथा कौशल-नरेश।

अजातशत्रु के लिये:—सम्राट्, राजन् तथा मगध-राज।

नन्द के लिये :—सम्राट्, राजा, महाराज।

तक्षशिलाधीश के लिये :—महाराज, गान्धार नरेश, एवं तक्षशिलाधीश।

पर्वतेश्वर के लिये :—महाराज, पंचनद नरेश, राजन् तथा भूपाल।

सिकन्दर और सिल्यूकस के लिये :—सम्राट्, यवन सम्राट्।

चन्द्रगुप्त के लिये :—सम्राट्।

रामगुप्त के लिये :—राजाधिराज, राजा, भट्टारक, परमभट्टारक, महाराज तथा सम्राट्।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये :—राजाधिराज।

कुमारगुप्त के लिये :—परमभट्टारक महाराजाधिराज, अश्वमेध-पराक्रम, महेन्द्रादित्य तथा महामान्य परमेश्वर परमभट्टारक।

स्कंदगुप्त के लिये :—परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज।

पुरगुप्त के लिये :—परमभट्टारक, राजाधिराज, प्रकाशादित्य।

विश्ववर्मा तथा बन्धुवर्मा के लिये :—महाराज तथा नरेश।

शकराज के लिये :—शकराज, महाराज तथा राजा।

देवगुप्त के लिये :—मालव नरेश, महाराज, राजा, मालवेश्वर तथा मालवेश।

ग्रहवर्मा के लिये :—महाराज तथा राजा।

नरेन्द्रगुप्त के लिये :—गौडेश्वर।

मगध के हर्षकालीन शासकों के लिये :—परमभट्टारक।

चालुक्य के लिये :—दक्षिणापथेश्वर।

हर्ष के लिये :—सम्राट्, उत्तरापथेश्वर, राजा, राजाधिराज तथा महाराज।

उक्त सबोधनो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास सम्मत गुप्तकालीन उपाधियो के अतिरिक्त, अन्य सम्बोधन केवल राजा के पर्यायवाची है। परन्तु अजातशत्रु की भूमिका मे प्रसाद अजातशत्रु का "उत्तरीय भारत मे इतिहास काल का प्रथम सम्राट्[1] कहकर सम्राट् शब्द को एक विशेष अर्थ मे ग्रहण करते से प्रतीत होते है। चन्द्रगुप्त नाटक में पर्वतेश्वर का यह वाक्य--" मैं विश्वस्त हृदय से कहता है कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट होने के उपयुक्त है"[2] अजातशत्रु वाले अर्थ विशेष की पुष्टि करता है। प्रसाद ने राजा, महाराज, नरेश जैसे सम्बोधनो का प्रयोग प्रायः सभी शासको व सामन्तो के लिये किया है। परन्तु सम्राट् के अधिकारी तो बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित् और अपने अभिषेक के बाद अजातशत्रु, नन्द, सिकन्दर, सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त सिल्यूकस, चन्द्रगुप्त मौर्य, रामगुप्त, कुमारगुप्त, कुमारगुप्त की मृत्यु के ठीक बाद पुरगुप्त और स्कदगुप्त तथा हर्ष ही हुए है।

ऋग्वेद के सातवें मडल के बयालीसवें सूत्र मे सम्राट् और स्वराट् दोनो का उल्लेख मिलता है।[3] जो भलीभाति अभिषेक करके राजा बनाया गया हो, उसे सम्राट् कहते है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् का अधिकारी मूर्धाभिषिक्त, एकछत्र तथा परम शक्तिशाली शासक ही होता होगा। इन्द्र को भारतवर्ष का प्रथम सम्राट् स्वीकार करते हुए भी[5] प्रसाद के सम्मुख सम्राट् का यही अर्थ रहा होगा, क्योकि वेदो मे इन्द्र परम शक्तिशाल और परमैश्वर्य युक्त देवता है। सभव है कालान्तर मे भी सम्राट् का यही अर्थ रहा हो, यद्यपि शुक्रनीति मे सम्राट् से भी ऊपर विराट् तथा सार्वभौम की कल्पना मिलती है। उसमे सामन्त से लेकर सावभौम तक का अन्तर इस प्रकार है—"तीन लाख कार्षापण कर प्राप्त करने वाले शासक को सामन्त, तीन लाख से दस लाख की आय प्राप्त करने वाले को माडलिक, दस से बीस लाख तक की आय वाले राजा, बीस से पचास लाख तक की आय वाले को महाराज, पचास से एक करोड तक की आय वाले को स्वराट्, एक करोड से दस करोड तक की आय वाले को सम्राट्, दस से पचास कोटि पर्यन्त आय वाले को विराट् और पचास कोटि से अधिक आय वाले को सार्वभौम कहा जाता है। उसके वश में सप्तद्वीपा पृथ्वी सदा सर्वदा रहती है।"[6]

शुक्रनीति में राजा, महाराज तथा सम्राट शब्दो का जो सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसको देखते हुए यह कहना पडता है कि प्रसाद ने इन शब्दो का प्रयोग करने में निश्चित् शास्त्र सम्मत आधार नही अपनाया है। मौर्य, गुप्त तथा वर्धन समस्त भारत के न सही भारत-वर्ष के विशाल भू-भाग के छत्रपति थे और उनके अतुल ऐश्वर्य का साक्षी इतिहास है। अतः इनके लिये सम्राट् शब्द के प्रयोग मे औचित्य का समर्थन किसी प्रकार किया भी जा

(१) अजातशत्रु (भूमिका) पृ० २० (२) चन्द्र० ३।१५७
(३) ऋगवेद म०७।अ० ५। सू० ८२ (४) "सम्यक् राजत इति सम्राट्–भाष्य, पृष्ठ २०२
(५) नागरी प्रचारिणी पत्रिका—प्रसाद का लेख 'भारत का प्रथम सम्राट् इन्द्र"
(६) शुक्रनीति १८२–८६

सकता है। किन्तु इनकी तुलना मे बिम्बसार और प्रसेनजित छोटे छोटे प्रदेशो के स्वामी रहे है। अत इनके लिये सम्राट् की उपाधि उचित नही प्रतीत होती। अजातशत्रु ने बिम्बसार के छोटे से राज्य मे अगदेश और लिच्छवि गणतत्र को मिला लिया था। पर क्या इतने से ही उसे "इतिहास काल का प्रथम सम्राट्[1]" मान लेना ठीक होगा—यह विचारणीय है।

सम्राट् सम्बोधन के लिए चाहे प्रसाद ने किसी आधार की कल्पना भी करली हो, पर अन्य सम्बोधनो के सम्बन्ध में तो इतना भी किया गया है—ऐसा प्रतीत नही होता। हाँ, गुप्तकालीन मालव-शासको के लिये महाराज[2] सबोधन ऐतिहासिक है, और मन्दसौर के कुमारगुप्त के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है।[3]

अर्थशास्त्र मे राजा के लिये सर्वत्र महाराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुप्तकाल मे महाराजाधिराज तथा परमभट्टारक[4] की उपाधियों का प्रचार था। गुप्तकाल के घटोत्कचगुप्त अथवा श्रीगुप्त अपने आपको महाराज[5] लिखते है। सामन्त मातृविष्णु की उपाधि भी महाराज ही है[6] और सम्राट् कुमारगुप्त भी कभी कभी अपने को केवल महाराज लिखते है।[7] इससे उक्त उपाधियो के अनिश्चित प्रयोगो की झलक मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे पूर्व दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर के राजाओ को क्रमश सम्राट् भोज, स्वराज तथा विराट की उपाधियां दी गई है।[8] वैदिक काल मे ही इन उपाधियो के स्वरूपो मे अन्तर होता गया और छोटे बडे सभी शासको के नाम के आगे समय समय पर ये उपाधियाँ जुडती चली गई। यहा तक कि गुप्तकाल मे वल्लभी के धारसेन चतुर्थ जैसे साधारण शासक ने गुप्त सम्राटो की तरह महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर तथा चक्रवर्ती उपाधियाँ धारण की थी।[9] फलत प्रसाद के नाटको मे इन शब्दो के प्रयोग मे यह अव्यवस्था अस्वाभाविक नही कही जा सकती—चाहे इनके औचित्य का समर्थन न किया जा सके। जहाँ तक इतिहास सम्मत उपाधियो का प्रश्न है प्रसाद ने उनका प्रयोग सही सही किया है। उदाहरणतः कुमारगुप्त, स्कदगुप्त, तथा पुरुगुप्त के लिए क्रमश महेन्द्रादित्य, विक्रमादित्य और प्रकाशादित्य उपाधियाँ इतिहास सम्मत ही है। राजा, महाराज, देव इत्यादि उपाधियो का प्रशस्तियो से अधिक कोई महत्व नही और साधारण मे साधारण राजा के चारण अपने आश्रयदाता को बडे बडे नामो एव बडी बडी उपाधियो से सबोधित करते रहे ह, ऐसा इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

---

(१) अजात० (भूमिका) पृ० २० (२) स्कद० १।१३

(३) सलेक्ट इन्स्क्रिप्शस (सरकार) न० २१—कुमारगुप्त प्रथम और बधुवर्मा मालव का मन्दसौर का शिलालेख।

(४) "जो सर्वाधिक और सबसे ऊपर श्रद्धा का अधिकारी हो"
—कौर्पस इस्क्रिप्शनम इडिकारम (फ्ली) ३(१) पृ० १०,१७, ३(३) पृ० २५

(५) वही (१३) पृ० ५४

(६) वही (१६) पृ० ८६ (७) वही (११) पृ० ४७

(८) दी सिविलिजेशन औफ इडिया—पृ० ६१ (९) फ्ली III (३९) पृ० १८३

इतिहासकार "रेनू" के अनुसार "विनय-पिटक" में राजा "देव" कहलाया गया है।[1] कुशान शासकों ने तो अपने आपको "देव पुत्र" तक कहा है। कालिदास[2] ने राजा के लिए "देव" संबोधन का प्रयोग किया है। तदनुकूल ही प्रसाद के नाटकों में भी राजा के लिये उक्त संबोधन बहुत अधिक मिलता है। शक क्षत्रपों की ऐतिहासिक उपाधि क्षत्रप, महाक्षत्रप, देवपुत्र, शाही एवं शाहानुशाही है[3], महाराज की उपाधि भी उनके सिक्कों में मिलती है।[4] हर्षचरित में देवगुप्त को मालवराज तथा नरेन्द्रगुप्त को गौडाधिपति कहा गया है। पर ग्रहवर्मा के लिए उसमें किसी उपाधि का उल्लेख नहीं है। हर्ष के लिए "हर्षचरित" में मुद्राओं में और उसके ताम्रपत्रों में भी महाराजाधिराज की उपाधि प्राप्त होती है। अत इनके संबंध में प्रसाद के नाटकों में आई हुई उपाधियाँ इतिहास के अनुकूल हैं।

प्रसाद ने रानी के लिए अधिक उपाधियों का उल्लेख नहीं किया है। प्रधान रानी को वे महादेवी तथा साम्राज्ञी कहते हैं और सामान्यतः रानी को राजरानी, राजमहिषी महिषी।

रानी। तथा भारतीय राजनीति में रानी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह राजा के साथ ही अभिषिक्त की जाती थी। पाणिनि प्रधान रानी को "महिषी" लिखते हैं, तथा अन्य रानियों को प्रजावती।[5] कौटिल्य महिषी तथा कुमार-मातृ का उल्लेख करते हैं।[6] जातक ग्रंथों में भी प्रधान रानी के लिये "अग्ग-महिषी" तथा अन्य रानियों के लिये "पजावती" (स-प्रजावती[7]) शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'साम्राज्ञी' प्राचीन उपाधि है और उसका संबंध सम्राट् और साम्राज्य से स्पष्ट है। प्रधान रानी के लिये "महादेवी" का प्रयोग गुप्तकाल में ही विशेष रूप से प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। गुप्तकालीन शिलालेखों में महादेवी, कुमारदेवी, महादेवी अनन्तदेवी तथा महादेवी ध्रुवदेवी के नामों का उल्लेख हुआ है। परन्तु प्रसाद ने बौद्ध काल, मौर्यकाल तथा अन्य सभी कालों में "महादेवी" संबोधन ही रखा है, यद्यपि पाणिनि जातक तथा कौटिल्य की साक्षी के अनुसार अग्ग महिषी अथवा महिषी संबोधन ही उचित प्रतीत होते हैं।

प्रसाद ने शासन प्रबन्ध तथा अन्य विषयों में भी रानियों को काफी अधिकार प्रदान किये हैं। सम्मान की दृष्टि से महादेवी का स्थान सबसे ऊंचा प्रतीत होता है, और यह स्वाभाविक ही है। राजनीति में राजमाता की स्थिति का एक विशेष महत्व है। "मैं राजमाता

---

(१) दी सिविलिजेशन ऑफ इंडिया —पृ० ९० (२) शाकुन्तल—अंक ५।६६–६६
(३) समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।
(४) रैप्सन, भगवानलाल तथा बिडुल्फ के लेख—जे. आर ए एस. १८९० पृ० ६३९
१८९९ पृ० ३५७
(५) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० ४०४–५
(६) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
(७) जातक २।१३२

हू । अजात को शिक्षा देने का अधिकार मेरा है'[१] छलना की उक्त गर्वोक्ति से ज्ञात होता है कि राजमाता को ही राजकुमार की शिक्षा इत्यादि के सबन्ध मे पूरा अधिकार रहता था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि महादेवी ही राजमाता हो यह आवश्यक नही क्योकि महादेवी वासवी थी और छलना राजमाता । जैसा ऊपर बताया गया है "महिषी" राजा के साथ ही अभिषिक्त की जाती थी और उसी को राजा के साथ सिहासन मे बैठने का अधिकार भी दिया जाता था । यही कारण है कि उसकी पूर्ण उपाधि पट्ट-महिषी अथवा पट्ट-महादेवी थी । पट्ट का सबन्ध शासन से था । सभवत साम्राज्ञी के मस्तक पर एक विशेष पट्ट भी महादेवी पद को सूचित करने के लिये बाँधा जाता था । इतिहास से ज्ञात होता है कि प्रसाद के नाटको के किसी भी काल मे रानी स्वतन्त्र रूप से शासन करने की अधिकारिणी नही समझी गई । क्योकि दण्डनीति के आचार्यो तथा अन्य विचारको के मत से स्त्रियो म अपनी प्राकृतिक सीमाओ के कारण अच्छे शासक बनने की क्षमता नही होती ।[२] परन्तु इस नियम के कुछ उपवाद भी मिलते है । चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि रानी कुमारदेवी के साथ सम्मिलित रूप से शासन किया था ।[३] वाकाटक रानी प्रभावती गुप्त ने अपने पुत्र दिवाकरसेन तथा प्रवरसेन द्वितीय के वयस्क होने तक लगभग बीस वर्ष तक शासन किया था ।[४] इन अपवादो के ही आधार पर ही सभवत, प्रसाद के नाटको मे छलना और अनन्तदेवी दोनो ने अपने पुत्रो के लिये शासन सूत्र सभाला है । छलना एक बार परिषद की मंत्री के रूप म[५] दूसरी बार अजातशत्रु के बन्दी होने पर मगध की शासिका के रूप मे राज्य की देखभाल करती है,[६] और अनन्तदेवी पुरगुप्त के निर्वीर्य और विलासी होने के कारण स्वय उसके अधिकार अपने हाथ म ले लेती है ।[७] ये दोनो वस्तुत महादेवी नही है, पर विशेष परिस्थितियो मे प्रसाद ने इनको महादेवी कहला दिया है । महादेवी वासवी के बिम्बसार के साथ बन्दीगृह मे होने के कारण देवदत्त छलना "कोम,हारानी" सबोधन करता है ।[८] और भटार्क एव सैनिक अनन्तदेवी को महादेवी स्वीकार करते है ।[९]

अपने राजमन्दिर की सीमा मे प्रसाद की महादेवी एकच्छत्र स्वामिनी है और वहाँ स्वय सम्राट का भी अधिकार नही । वासवदत्ता का कथन,—'आपको मेरे इस राजमन्दिर की सीमा के भीतर, इस तरह हत्या करने का अधिकार नही है । मैं इसका विचार करूगी "[१०] महादेवी के उस अधिकार की ओर स्पष्ट सकेत करता है । "कादम्बरी" मे चित्ररथ, मदिरा को महादेवी की उपाधि प्रदान करने के साथ साथ स्वर्ण सिहासन प्रदान

(१) अजात० १।२७
(२) मझम निकाय २।६५-६६, अर्थशास्त्र ४।३
(३) लाइफ इन गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० २३२
(४) वही (साल्टोर) पृ० २३२
(५) अजात० २।६७ (६) वही ३।१११
(७) स्कन्द० ३।६३-६४
(८) अजात० २।६७ (९) स्कद ३।६४ (१०) अजात० १।६०

करता है जिसमे छत्र चवर और दण्ड तीनो सयुक्त है। इसके अतिरिक्त उसे समस्त अन्तःपुर पर एकच्छत्र अधिकार भी प्रदान किया जाता है।[१] इस प्रकार बाण के अनुसार भी महादेवी का अन्तःपुर पर निर्बाध अधिकार स्थापित किया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों से स्पष्ट है कि राज्यशक्ति पिता से पुत्र के हाथो मे आती थी।[२] राजकुमारो को शिक्षा दीक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था।[३] उनको योग्य शासक बनाना राजा का कर्त्तव्य होता था।[४] राजकुमारो की विशेष शिक्षा के लिये पॉच वर्ष तक तक्षशिला जैसे विद्यापीठो मे अध्ययन करना पडता था।[५] बचपन मे राजकुमार की शिक्षा दीक्षा का अधिकार राजमाता को होता था।[६] साधारणतया 'नीति सिद्धान्त के आधार पर ज्येष्ठपुत्र'' का ही राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार मिलता था,[७] यद्यपि गुप्तकुल मे उत्तराधिकार का यह नियम कुछ ''अव्यवस्थित' हो चला था। सम्राट उत्तराधिकार की व्यवस्था कर लिया करते थे और गुप्त कला के अधिकारी और प्रजा वर्ग उस व्यवस्था का सम्मान करता था। यह राजा की इच्छा पर था कि वह अपने अमर्यादित और नीच पुत्र को ''त्याज्य पुत्र'' घोषित कर उसे युवराज पद से वंचित करदे। यदि वह विवाह ही न करे अथवा पुत्रहीन रहे तो उसके उपरान्त छोटे भाई को शासनाधिकार मिल सकता था।

राजकुमार और युवराज।

वानप्रस्थाश्रम ले लेने से पूर्व राजा परिषद का आह्वान करके पुत्र का यौवराज्याभिषेक कर देता था। युवराज मंत्रि परिषद की सहायता से राज्य का कार्य चलाता था। सभवत. युवराज के विवाह के सबध मे राजा की स्वीकृति आवश्यक होती थी।[८] अपराध करने पर युवराज भी दण्ड-व्यवस्था से ऊपर नही समझा जाता था।

प्रसाद ने उत्तराधिकारी कुमार के लिये युवराज तथा अन्य स्थिति मे केवल राजकुमार शब्द का प्रयोग किया है।[९] स्मृति तथा जातक ग्रन्थो से इस बात का प्रमाण मिलता है कि राजा के उपरात उसका पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होता था।[१०] शतपथ ब्राह्मण से भी पैतृक राज्याधिकार सबधी उल्लेख ढूढे जा सकते है।[११] और रामायण, महाभारत काल के सभी उल्लेख इस परम्परा का समर्थन करते हैं। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक कथानक, इस सबध मे ऐतिहासिक सत्य को मानकर ही चले हैं।

जातक ग्रथो मे राजकुमारो की शिक्षा सबधी प्रचुर उल्लेख उपलब्ध है। उनके लिये ''उग्गहितसिप्पो[१२]'' तथा ''सब्बासिप्पेसु निप्फत्तिं पत्वा[१३]' जसे प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि वे सब शिल्पो मे निष्णात होते थे। शिक्षा के सबध मे विचार करते हुए

(१) कादम्बरी बाण) पृ० १४० (कादेल-शासन)
(२) अजात० १।५१,५३ (३) वही १।५३
(४) वही १।५३ (५) चन्द्र १।७५
(६) अजात० १।२७ (७) ध्रुव० १।१७
(८) स्कद० १।१२ (९) वही १।१५, १।३६, १।३७
(१०) जातक ४।३० (११) शतपथ ब्राह्मण ९–९।३।१
(१२) सिवि जातक—४९९ (१३) अलम्बुस जातक—५२३

बताया जा चुका है कि विशिष्ट शिक्षा प्राप्ति के लिये तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध गुरुकुलो में अध्ययन करना होता था। कौटिल्य की यात्रा भी है कि राजकुमार को, 'समर्थ, विद्वान और विनय से युक्त होना चाहिये।[1]' पति एव सम्राट् की उपस्थिति में भी राजमाता को ही राजकुमार की शिक्षा दीक्षा का अधिकार होता था या नही, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित सूचना इतिहास से नही दी जा सकती। पति की मृत्यु के समय राजकुमार के अल्प-वस्क होने की स्थिति में जो महादेवी राजमाता के रूप मे शासन करने की क्षमता रखती थी, वह अवश्य ही युवराज की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध भी करती होगी, परन्तु अन्य स्थितियो मे भी ऐसा ही होता था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। कालिदास के अनुसार तो पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व पिता पर ही होता था।[2]

रामायण से ज्ञात होता है कि दशरथ ने राम को युवराज पद देने का निर्णय केवल ज्येष्ठ होने के नाते ही नही किया था बल्कि पौर-जनपद की इच्छा और प्रार्थना पर ही उन्हे युवराज घोषित किया गया[3], राम की योग्यता ही इस चुनाव का कारण थी।[4] गुप्त काल मे पिता द्वारा युवराज के चुनाव मे भी योग्यता ही कसौटी थी। जातको के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र तथा युवराज का "उपराजा" की तथा दूसरे पुत्र को "सेनापति" की उपाधि दी जाती थी। राजा के उपरान्त उपराजा, राजा बना दिया जाता था और सेनापति उपराजा बन जाता था।[5] पाणिनि के अनुसार भी राजा महिषी (प्रसाद-महादेवी) के पुत्र को युवराज घोषित करता था। पाणिनि उसे 'आर्यकुमार' की उपाधि से अभिहित करते हैं।[6] कौटिल्य भी "अत्यन्नापद ऐश्वर्य ज्येष्ठ भागि तु पूज्यते" की आज्ञा देते है।[7] कालिदास के अनुसार तो राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज होता था।[8]

जातको के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र के राजा बनने के उपरात कनिष्ठ पुत्र को उपराजा की उपाधि दिये जाने से भाई के युवराज बनाये जा सकने की सभावना स्पष्ट है। शुक्रनीति की "स्व कनिष्ठ पितृव्य वानुजवाग्रज सभवम" यह युक्ति भी अनुज को युवराज बनाने का समर्थन करती है।[9] 'स्कदगुप्त" नाटक में स्कदगुप्त का शासन करना इतिहास सम्मत है। राज्यवर्द्धन की मृत्यु होने पर हर्ष का सिंहासनासीन होना भी ऐतिहासिक घटना है।

प्रसाद ने गुप्तकाल के "अव्यवस्थित उत्तराधिकार विनय" का भी उल्लेख किया है, और स्कदगुप्त तथा पुरगुप्त एव चन्द्रगुप्त व रामगुप्त के उत्तराधिकार सम्बन्धी सघर्ष

---

(१) अर्थशास्त्र १।१७।२८

(२) अशिक्षितास्त्र पितुरवे"—रघुवश ३।३१ (३) हिन्दू पौलिटी २८० पृ०

"अहोऽस्मि परम प्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठ प्रिय पुत्र यौवराज्यस्थमिच्छथ।"—रामायण ३।२

(४) वही पृ० २८१ (५) जातक ४।३०

(६) इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि – पृ० ४०५ (७) अर्थशास्त्र १।१८।५४

(८) रघुवश ३।३५ (९) शुक्रनीति २।१७।१८

इसके प्रमाण स्वरूप रखे गये हे। पिता द्वारा उत्तराधिकार के निर्णय सम्बधी कई उल्लेख शिला लेखो मे आये हैं कुछ उद्धरण इस प्रकार है . —

"श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो ॥"[1]

"आर्यो हीतपगुहय भाव पिशुनैरुत्कर्णितैर् रोमभि :
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज म्लानाननोद्वीपित :
स्नेह व्यालुठितेन वाष्प" गुरुणा तत्वोक्षिणा चक्षुषा,
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखला पाह्येवमुर्वीमिति ।"[2]

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो से स्पष्ट है कि किस प्रकार युवराज पद के लिये योग्य राजकुमार का ही चुनाव किया जाता था। इसमें ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ का प्रश्न सभवतः स्वतः ही नही उठता होगा। इसी आधार पर इतिहासकारो ने रामगुप्त की समस्या को हल करने का प्रयास किया है। और प्रसाद ने भी इसी परम्परा एव प्रवृति को गुप्तकाल मे स्थान दिया है। इसी को उन्होने 'अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' कहा है।

उक्त उद्धरण मे "सभ्येपूच्छ्वसितेषु" से ज्ञात होता हे कि उक्त चुनाव सभा मे होता था एव सभ्यो को (जिसके अन्तर्गत मत्री एव अन्य प्रमुख नागरिक भी होते थे) गुप्त सम्राट् की घोषणा शिरोधार्य ही होती होगी। सभव है कि राम के चुनाव की तरह गुप्तकालीन युवराज के चुनाव में मन्त्रियो एव अन्य प्रमुख व्यक्तियो अथवा जनपदो का भी हाथ रहता हो।

जायसवाल से ज्ञात होता है कि पौर-जानपदो की आज्ञा यौवराज्याभिषेक के लिए आवश्यक थी।[3] इस तरह का कोई स्पष्ट उल्लेख करने पर भी प्रसाद ने अजातशत्रु के यौवराज्याभिषेक के सबध मे "परिषद् का आह्वान" अवश्य करवाया है। इतिहास से ज्ञात होता है कि परिषद् युवराज के पद के लिए स्वीकृति देने से लेकर यौवराज्याभिषेक के उत्सव तक का काय करती थी।

यौवराज्याभिषेक के समारोह की विधि के सबन्ध मे प्रसाद मौन हैं। कालिदास ने यौवराज्याभिषेक का विवरण दिया हे।[4] उपाध्याय के अनुसार उक्त अभिषेक के उपरान्त प्रभुसत्ता अशतः युवराज को प्राप्त हो जाती थी।[5] पर प्रसाद के नाटको मे यह प्रभुसत्ता युवराज को अशत मिलने के स्थान पर या तो अजातशत्रु की तरह पूर्णतः प्राप्त हो गई है[6] या पुरगुप्त की तरह बिल्कुल ही नही प्राप्त हुई।[7] बौद्ध जातको के अनुसार अजातशत्रु ने बिंबसार को बन्दी कर राज्य ले लिया था। पर "अजातशत्रु" नाटक में अजात का युवराज पद देते ही बिम्बसार ने स्वय सम्पूर्ण प्रभुसत्ता उसे सौंप दी। "स्कन्दगुप्त" नाटक म

---

(१) सैलेक्ट इस्क्रिप्शस (सरकार) न० २८ (स्कन्द का भिटारी का लेख)।
(२) वही (सरकार) न० २५४ (समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति)।
(३) हिन्दू पौलिटी २।३०
(४) विक्रमोर्वशीय १३६–१३८, रघुवश ३।३५
(५) इडिया इन कालिदस पृ० ९१
(६) अजात० २।६२–६३ (७) स्कद० ५।१५२

पुरगुप्त को युवराज बनाना "भावी साम्राज्य की नीति की घोषणा" मात्र है। अत प्रभुसत्ता के स्थानान्तरण का प्रश्न ही नही उठता।

शुक्रनीति "सरक्षयेद्राजपुत्रान" की आज्ञा द्वारा राजपुत्रो की उचित रक्षा की ओर सकेत मात्र करती है।[1] कालिदास में भी युवराज के साथ उसको सहायता एव सेवा के लिए सूत-पुत्र, म त्रिपुत्र एव सामन्तपुत्रों के रहने का उल्लेख मिलता है।[2] राज्यवर्द्धन और हर्ष के साथ रहने के लिए अनुचर के रूप में मालवराजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त नियुक्त किये गये थे।[3] "अजातशत्रु-नाटक मे सेनापति दीर्घकारायण का युवराज विरुद्धक से—' राजकुमार आप अकेले क्यो हैं ?,'' यह प्रश्न उक्त सदभ के प्रकाश मे स्पष्ट हो जाता है। प्रसाद ने "अजातशत्रु" नाटक में प्रसेनजित के मुख से युवराज विरुद्धक के लिए कहलवाया है—"क्या भेडिये की तरह भयानक ऐसी दुराचारी सन्तान अपने माता पिता का ही 'बध नही करेगी।"[4] इसी प्रकार की एक उक्ति "स्कदगुप्त" नाटक मे भी कहलाई गई है—"राजपुत्र भेडिये है। इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।"[5] और यहाँ इसे कौटिल्य की उक्ति बतलाया गया है इसमे सन्देह नही कि कौटिल्य और शुक्र दोनो ही राजा को राजपुत्रो से सजग रहने की सलाह देते ह—विशेषत जब पुत्र को पिता से "विराग" हो,[6] अथवा राजा अपने योग्य पुत्रो को छोडकर इतर की यत्न से रक्षा करे।[7] यही नही भारद्वाज का उल्लेख कर कौटिल्य ने राजपुत्रो को "जनक भक्षा." और "कर्कटक सधर्माण भी कहा है[8]। शुक्र भी उन्हे 'सिंहशावा इव" कहते ह।[9] परन्तु राजपुत्रो की तुलना भेडिये से इन दोनो में से किसी ने भी नही की है। अत. इस प्रकार की उक्ति को एक तो कौटिल्य की उक्ति बतलाना ही भ्रमपूर्ण है, और यदि भारद्वाज और शुक्र के कथन के अनुरूप ही इस उक्ति को किसी प्रकार कौटिल्य की मान भी ले तो प्रसेनजित की उक्ति को भी कौटिल्य के कथन के समकक्ष रखना पडेगा और ऐसा करने में ऐतिहासिक प्रमाद हो जाने की आशका है।

---

(१) शुक्रनीति २।१७ (२) रघुवश ५।६५–७५, ३।२८, ३।३८
(३) हर्ष चरित ४।१३७ (४) अजात० १।५२
(५) स्कद० १।१८ (६) अर्थशास्त्र १।१७।४३
(७) शुक्रनीति २।१७–१८ (८) अर्थशास्त्र १।१७।६
(९) शुक्रनीति २।१६

राज्याभिषेक

प्रसाद के नाटको में राज्याभिषेक सम्बन्धी विवरण केवल एक दो ही स्थलो पर प्राप्त होता है। 'चन्द्रगुप्त' में नन्द के वध के उपरान्त चाणक्य राक्षस से कहता है 'सिंहासन शून्य नही रह सकता। अमात्य राक्षस सम्राट का अभिषेक कीजिए', राक्षस चन्द्रगुप्त का हाथ पकड कर सिंहासन पर बैठाता है' और सम्राट की जयजयकार के उपरान्त चाणक्य चन्द्रगुप्त को उपदेश देता है "स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यो को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वही तक दी जा सकती है, जहाँ तक दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधा न पडे। यही राष्ट्रीय नियमो का मूल है। वत्स चन्द्रगुप्त स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वय देख लिया है। अब मन्त्रिपरिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण में लगो।"[1] स्कदगुप्त का अभिषेक उज्जयनी की राज-सभा मे होता है। "गोविन्दगुप्त और बधुवर्मा हाथ पकडकर स्कदगुप्त को सिंहासन पर बैठाते है। भीम छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है, गरुणध्वज लेकर बधुवर्मा खडे होते है। देवकी राजतिलक करती है। गोविन्दगुप्त खड्ग का उपहार देते है। चक्र गरुडाकित राजदण्ड देता है।' 'परमभट्टारक महाराजाधिराज स्कदगुप्त की जय' बोली जाती है। इसके उपरान्त भरी सभा मे सब के सम्मुख और गोविन्दगुप्त को सबोधन कर स्कन्दगुप्त आकाक्षा प्रकट करता है 'आर्य इस गुरुतर उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकू और आर्यराष्ट्र की रक्षा मे सर्वस्व अर्पण कर सकूँ ' .... और अपने कर्त्तव्य से, स्वदेश सेवा से कभी विचलित न होऊँ।"[2]

भारत में राज्याभिषेक का प्रचलन वैदिक काल से चला आ रहा है। वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थो और पुराणो में राज्याभिषेक सम्बन्धी पर्याप्त विवरण मिलते है। वैदिक और ब्राह्मण कालो मे राज्याभिषेक का स्वरूप इस प्रकार था राज्याभिषेक का प्रधान कृत्य ऐन्द्रमहाभिषेक कहलाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐन्द्रमहाभिषेक के पूर्व क्षत्रिय को श्रद्धापूर्वक शपथ लेनी पडती थी "यदि मैं तुम से द्रोह करूँ तो मेरे सारे पुन्य, मेरा धर्म, मेरी आयु और मेरी प्रजाएँ सबसे मैं वचित कर दिया जाऊँ।[3]" तब वह ऐन्द्रमहाभिषेक के

---

(१) चन्द्र० ३।१९२

(२) स्कद० २।७६

(१) 'एतेनेद्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वा अभिषिंचेत स ब्रूयात् सह श्रद्धया याच रात्रीमजायेह याच, प्रेतास्यि तदुभयमन्तेरेणेष्टापूर्त्त' ये लोक सुकृतमायुः प्रजा वृ जीथा मादि ते द्रुह्येयमिति'

ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

लिए एक सोने के थाल पर खड़ा होता था और पुरोहित पवित्र मन्त्रोच्चार के साथ नौ अथवा सौ छिद्रों वाले अन्य सुवर्ण पात्र द्वारा समस्त तीर्थों, समुद्रों एवं नदियों के पावन जल से उसका अभिषेक करता था। अभिषेक के उपरान्त जब वह तीन पग चलकर काष्ठ सिंहासन (आसदी) पर आरूढ़ होता तब पुरोहित उससे कहता 'तुमको यह राज्य दिया गया है। तू इसका संचालक और नियामक है। तू ध्रुव है और (इस राज्य का) धारण करने वाला है। तुमको यह राज्य) कृषि के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए और पोषण के लिए दिया गया है।[1] इसके पश्चात् अभिषिक्त सम्राट राजा नगर यात्रा करता। वहाँ से लौटने पर उसकी पीठ पर राजदण्ड से आघात किया जाता, जिसका अभिप्राय यह होता था कि राजा भी दण्ड से बाहर नहीं है। अन्त में पुरोहित राजा को 'समृद्धिवर्द्धक' पवित्र खड्ग देता था।[2] वैदिक काल से चले आते हुए इस अभिषेक का स्वरूप थोड़े से परिवर्तनों के साथ छत्रपति शिवाजी के समय तक चलता रहा।[3] वस्तुतः भारतीय प्रथा में मूर्धाभिषिक्त सम्राट के राज्याभिषेक को विशेष महत्त्व दिया गया है। राजतिलक अथवा राज्यारोहण को नहीं, अभिषेक में घण्टों के द्वारा सिंचन आवश्यक है। अग्निपुराण में राज्याभिषेक का विस्तृत विवरण है। उसके अनुसार चार विभिन्न वर्णों के अमात्य घण्टों में राजा को स्नान कराते थे।[4] परन्तु प्रसाद के नाटकों में उक्त दोनों अवसरों पर 'अभिषेक' का उल्लेख होते हुए भी अभिषेक संस्कार का पता तक नहीं। अभिषेक करने वाले चार अमात्यों में से एक ब्राह्मण होता था।[5] चाणक्य, चन्द्रगुप्त का अभिषेक करने के लिए राक्षस को आदेश देता है। राक्षस अमात्य भी है और ब्राह्मण भी। ('यद्यपि प्रसाद ने उसे विचारों में ब्राह्मण द्रोही और बौद्ध चित्रित किया है तथापि स्वयं राक्षस के अनुसार वह बौद्ध धर्म को उसकी दार्शनिक सीमा तक ही स्वीकार करता है।[6]) अतः यहाँ कहा जा सकता है कि ब्राह्मण अमात्य को ही अभिषेक का आदेश देना शास्त्रानुमोदित है। (भले ही अभिषेक किया न गया हो) किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि घटना क्रम के अनुसार ही राक्षस को उपयुक्त आदेश दिया गया है, किसी शास्त्रीय परम्परा का ध्यान में रखकर नहीं। 'स्कंदगुप्त' में अभिषेक का आदेश भी नहीं है, वहाँ राजमाता देवकी स्कंद का 'राजतिलक' करती है।[7] वस्तुतः राज्याभिषेक या राजतिलक पारिवारिक कार्य नहीं राष्ट्रीय कार्य था। राजतिलक यदि किया भी जाता था तो राजपुरोहित द्वारा ही। राजपूत युग में

---

(१) 'इयं ते राट। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा' यजुर्वेद ९।२२

अ इयं ते राट यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

शतपथ० ५।२, १,५

(२) हिन्दू पौलिटी 'जायसवाल' २।३७

(३) हिन्दू पौलिटी २।५१

(४) अग्निपुराण २२, २१८ अ १८ देखिए हिन्दू सभ्यता। मुखर्जी पृ० १०३

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य केवल तीन अभिषेक करते थे'

(५) चद्र० १।७१ (६) स्कद० २।७६

राजपुरोहित ही राजतिलक करता था। 'बाण' के अनुसार चन्द्रापीड के यौवराज्याभिषेक के समय रानी विलासवती ने शुभ्रचदन से युवराज का अनुलेपन किया है।[१] इस पर अनुलेपन को 'तिलक' का स्वरूप मानना युक्तिसंगत नही प्रतीत होता। चन्द्रगुप्त और स्कदगुप्त को 'हाथ पकड कर' सिंहासन पर बैठाने मे राज्यारोहण का सकेत मिलता है[२] पर यह प्रथा भी इस रूप मे प्राचीन नही कही जा सकती। अभिषेक के प्रसग मे इस प्रकार की प्रथा का कही भी उल्लेख नही मिलता। प्राचीन काल मे राजा स्वय ही 'आसदी' में आरोहण करता था। केवल 'विक्रमोर्वशीय' में युवराज आयु को 'भद्रपीठ' में बैठाने का उल्लेख अवश्य मिलता है।[३] पर यह उल्लेख यौवराज्याभिषेक का है।

भारतीय परम्परा के अनुसार 'प्रतीज्ञा' अभिषेक के पूर्व करनी होती थी। प्रसाद के नाटको में प्रतिज्ञा का कही उल्लेख नही है। किन्तु स्कदगुप्त मे प्रतिज्ञा का स्वरूप अवश्य मिलता है और वह भी अभिषेक के पश्चात्। स्कदगुप्त अपने अभिषेक के उपरान्त गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन करने और आर्य राष्ट्र की रक्षा मे सर्वस्व अर्पण करने आदि की कामना करता है। यह 'कामना' ही ऐतरेय ब्राह्मण की 'शपथ' के समकक्ष रखी जा सकती है, जिसे कालान्तर मे 'प्रतिज्ञा' कहा जाने लगा था।[४] किन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उक्त 'कामना की योजना करते समय उनके मानस मे 'ऐतरेय ब्राह्मण' की शपथ रही होगी। सम्भव है कि स्कदगुप्त की चारित्रिक विशेषता ही उसकी 'कामना' का कारण हो। चद्रगुप्त नाटक में इस प्रकार की 'प्रतिज्ञा' तो नही है किन्तु चाणक्य ने चद्रगुप्त को आर्यावर्त के कल्याण मे प्रवृत्त होने का जो आशा दी है वह 'शतपथ ब्राह्मण' के 'क्षेत्राय,' 'पोषाय' के अत्यन्त समीप है। किन्तु यह ध्यान मे रखने की बात है कि यहाँ चाणक्य का कथन 'प्रजातन्त्र' के आधुनिक सिद्धान्तो का पोषण करता प्रतीत होता है। 'स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यो को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वही तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधा न पडे ठीक इसी बात को रूसो ने इस प्रकार कहा था 'सब व्यक्ति जन्म से स्वतन्त्र उत्पन्न होते है किन्तु सर्वत्र बन्धन मे रहते है।'[५] व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक स्वतन्त्रता की चर्चा आधुनिक प्रजातन्त्र मे 'अधिकार और कर्त्तव्य' के सिद्धान्तो के पूर्णतया अनुकूल है।[६] नाटक के घटना क्रम को देखते हुए तो चाणक्य की यह उक्ति उचित प्रतीत होती है। किन्तु यह न तो एक विशाल साम्राज्य की नीति के पोषक चाणक्य के लिए और न भारत के एकच्छत्र सम्राट चद्रगुप्त के लिए ही शोभनीय है। अतः हम यह कह सकते है कि यहाँ भी अभिषेक की 'प्रतिज्ञा' का स्वरूप नही मिलता।

---

(१) कादम्बरी 'बाण' (२) चद्र० ३।१६२, स्कद० २।७६

(३) विक्रमोर्वशीयम 'कालिदास'

(४) हिन्दू पौलिटी 'जायसवाल' पृ० २।४४

(५) 'मैन इज बौर्न फ्री बट इज एव्रीव्हैर इन चेन्स'

(६) 'सिविल लिबर्टी ऐंड इन्डिवीज्युल राइटस'।

राजकीय वैभव के प्रदर्शन एव अभिषेक के लिए 'छत्र चमर'[१] इत्यादि का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रथो के अतिरिक्त अग्निपुराण[२] जातकग्रथ,[३] अर्थशास्त्र[४] एव हर्षचरित[५] मे भी हुआ है। गुप्तकाल मे, आगे चलकर हर्षकाल मे और उससे भी राजपूत काल मे छत्र और चवर राजकीय चिन्ह माने जाते रहे है। 'हर्षचरित' मे तो यह भी ज्ञात होता है कि अधीनता स्वीकार कर लेने वाले राजा हर्ष की 'चामर सेवा' स्वीकार करने मे अपना गौरव समझते थे। स्कन्दगुप्त नाटक मे भी स्कदगुप्त के अधीनस्थ मालवाधिपति बधुवर्मा इत्यादि सम्राट के अभिषेक के अवसर पर चामरादि सेवा करते है।

राजा को 'दण्डधर' भी कहा गया है। क्योकि वह चारो वर्णों और आश्रम के लोगो का शासन दण्ड से ही करता है।[६] पर राज्याभिषेक के समय यह राजदण्ड चक्रपालित जैसे साधारण पदाधिकारी द्वारा राजा को दिलाया जाता होगा, यह बात अधिक विश्व-सनीय नही। राज्याभिषेक के उपरान्त बदियो को मुक्त करने की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है।[७] प्रसाद का स्कदगुप्त राजदण्ड धारण करने के पश्चात् तुरन्त ही न्यायाधिकरण मे दण्डशक्ति का उपयोग करता करता है। वस्तुत. बदियो का मुक्त करना इसी का सूचक भी है। यह राजा के दण्ड धारण करने की प्रथम हृदयग्राही सूचना है। नाटक मे देवकी स्कद से अनुरोध करती है 'वत्स आज तुम्हारे अभिषेक मे एक बूँद रक्त भी न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मगल कामना है कि तुम्हारा शासन क्षमा के सकेत पर चला करे।[८] स्कद सभी बदियो को क्षमा कर देता है।

'परिषद्' के प्रकरण मे इस बात पर विचार किया गया है कि भारतवर्ष मे एकतत्र शासन भी प्रजातन्त्रात्मक था। सम्राट के निधन के उपरान्त सिंहासन उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था। किन्तु उसका अर्थ यह नही था कि सिंहासन एक क्षण के लिए भी खाली न रहता हो। अशौच की स्थिति मे कोई भी सिंहासनासीन नही हो सकता था। इस बीच शासन कार्य पौर जानपदो की सम्मत्ति से परिषद् ही चलाया करती थी। गुप्तकाल में उत्तराधिकार के नियमो मे कुछ परिवर्तन आ गया था। उत्तराधिकारी की योग्यता ही उसके अधिकार का निर्णय करती थी। किन्तु यहाँ भी नवीन सम्राट के सिंहासनासीन होने तक राज्य के द्वादश प्रधान एव 'परिषद ही शासन का कार्य भार चलाते थे। अत' 'चद्रगुप्त' मे सिंहासन शून्य नही रह सकता'[९] चाणक्य का यह कथन निश्चय ही प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल नही है।

---

(१) अजात० ३।१२६, स्कद० २।६७
(२) 'गीत वाद्यादि निर्घोषैश्चचामर व्यजनादिभि अग्निपुराण २२।२८१।२७
(३) पचगुरुक जातक २।१३५ पृ० ८० निदान कथा 'जातक' वौल्युम १ पृ० ६९
(४) 'तेषा बाह्यचार चत्र भृगार व्यजन पादुकासन यान बाहनोपग्रहिण.' अर्थशास्त्र ३।१२।६
(५) सेवाचामरारणिवषियद्भिः' हर्षचरित उच्छ्वास २ पृ० ६०
(६) 'चतुर्वर्णाश्रमो लोके राजा दण्डेन चालितः' अर्थशास्त्र १ ४।१६
(७) 'बन्धनागारे च बालवृद्धव्याधितानाथाना च जातनक्षत्रपोर्णामासीषु विसर्ग.। पुन्सशीला समयानुबद्धा वा दोप निष्क्रय दद्यु :' अर्थशास्त्र २।३६।४७,४८
(८) स्कद० २।८३ (९) चन्द्र० ३।१६२

परिषद्

'राज्यश्री' के अतिरिक्त प्रसाद के अन्य सभी नाटकों में परिषद् की चर्चा हुई है और उसे मन्त्रिपरिषद्,[1] राज्यपरिषद्[2] अथवा परिषद्[3] के नाम से अभिहित किया गया है। 'अजातशत्रु' में ऐसी परिषद् का उल्लेख है जिसका संगठन पहले से ही हो गया है।[4] अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस परिषद् में कितने सदस्य थे और किस प्रकार इसका निर्णय हुआ था। 'चन्द्रगुप्त' में परिषद् का चुनाव जनतान्त्रिक ढंग से हुआ है। नन्द की मृत्यु के उपरान्त नागरिक जन चन्द्रगुप्त, चाणक्य, राक्षस, वररुचि और शकटार की सम्मिलित परिषद् की घोषणा करते हैं।[5] इससे यह प्रतीत होता है कि यह परिषद् केवल अमात्यों की परिषद् नहीं है। राक्षस और वररुचि तो नन्द के अमात्य थे ही, शकटार भी पहले अमात्य रह चुका था। किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य का नन्द के शासन कार्य में कोई स्थान नहीं था। अतः ये दोनों साधारण नागरिक मात्र थे। इस परिषद् में सदस्यों की संख्या केवल पाँच है। 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी को लेकर उठे हुए रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के विवाद का निर्णय करने के लिए परिषद् का आह्वान किया जाता है।[6] इस परिषद् के सदस्यों की संख्या के बारे में प्रसाद मौन हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि यह परिषद् गुप्तकुल के विधान के अनुकूल थी और इसके सदस्यों में कुलवृद्ध और सामान्त भी थे। कुमारगुप्त की परिषद्[7] के विस्तृत स्वरूप की जानकारी प्रसाद ने नहीं दी है। इस परिषद् की बैठक किसी महत्वपूर्ण समस्या के सुलझाने के लिए नहीं हो रही है। कुछ व्यंग-विनोद के पश्चात कुमारामात्य पृथ्वीसेन युद्ध संबन्धी कुछ सूचना मात्र सम्राट को देते हैं। इस परिषद् में सम्राट के अतिरिक्त केवल चार व्यक्ति हैं, जिनमें धातुसेन विदेशी है और मुद्गल विदूषक है। अतः इनको परिषद् का सदस्य न मानना ही ठीक है। केवल साम्राज्य के महाबलाधिकृत भटार्क एवं कुमारामात्य सन्धिविग्रहक पृथ्वी से ही इसके सदस्य हैं।[8]

नाटकों में परिषद्

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रसाद के नाटकों में 'परिषद्' के दो स्वरूप मिलते हैं।

(१) केवल मन्त्रियों एवं प्रधान राजकर्मचारियों की परिषद्।

(२) मन्त्रियों के अतिरिक्त नागरिकों और कुलवृद्धों के प्रतिनिधियों की परिषद्।

---

(१) अजात० १।३१: चन्द्र० ३।१६२ (२) अजात० १।५२
(३) वही १।३२, चन्द्र० ४।२००, स्कंद० १।१५, ध्रुव० ३।५६
(४) अजात० १।३१ (५) चन्द्र० ३।१६१
(६) ध्रुव० ३।५६ (७) स्कंद० १।१५ (८) स्कंद० १।१५,१६

अजातशत्रु और कुमारगुप्त की परिषदें कुछ कुछ प्रथम प्रकार की है। इस प्रकार की परिषद् का कार्य राजा को मन्त्रणा देना है। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की परिषदें दूसरे कोटि की है अर्थात् जन परिषदें है। प्रसाद के अनुसार इनका कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। राज्य सक्रांति के अवसरो पर शासन चलाने से लेकर राज परिवर्तन तक के सभी निर्णयो का अधिकार इसी परिषद् को दिया गया है।

बौद्ध ग्रन्थो में राज्य के छः प्रधान पुरुषो को 'राजकत्तारो' कहकर अभिहित किया गया है,[1] इन्ही राजकर्त्ताओ को ब्राह्मण ग्रन्थो मे 'रत्निन्' कहा गया है, जिनको अपने अनुकूल करना राजा के लिए आवश्यक कहा गया है।[2] 'परिषद् का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में नही है। वहाँ केवल 'सभा'[3] और 'समिति' है।[4] इन दोनो का शासन कार्य में इतना महत्व था कि प्रजापति' भी इनके बिना अपना कार्य नही कर सकते थे।[5] पाणिनि ने 'परिषद् बलो राजा' कहकर राजा और परिषद् के चिरसहयोग की ओर सकेत किया है।[6] 'महासोलव जातक' मे 'अमाच्च परिषद्' का भी उल्लेख मिलता है जो राजा के साथ राज काय मे सहयोग देती है।[7] कौटिल्य के अनुसार (१) मन्त्रवर (राजा के अन्तरग मन्त्री) (२) अन्य विभागो के मन्त्री (३) विभागहीन मन्त्री और (४) अन्य व्यक्ति ये परिषद् के सदस्य होते थे।[8] अथशास्त्र मे एक ओर तो 'इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणा सहस्त्र। तच्चक्षु. तस्मादिम द्वि अक्ष सहस्राक्षमाहु '[9] कहकर मन्त्रिपरिषद् की विशालता की ओर सकेत किया गया है। दूसरी ओर 'यथासामर्थ्यमिति कौटिल्य.'[10] कहकर उसकी सीमा भी बाध दी गई है। महाभारत मे मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो की सख्या ३२ बतलाई गई है।[11] किन्तु शुक्र ने यह सख्या २०[12] और बृहस्पति ने १६ मानी है।[13] शुक्र के अनुसार परिषद् मे तीन प्रकार के सभासद होते हे।

इतिहास में परिषद्

१—सभ्य। २—अधिकारी एव। ३—प्रकृति।[14]

जायसवाल गोविन्दराज के आधार पर कौटिल्य मन्त्रीपरिषद् या मन्त्री परिषद् के सभापति को 'सभ्य' तथा अधिकरण अथवा विभागो के प्रधानो को 'अधिकारी' अथवा मन्त्री' मानते हैं। 'प्रकृति' का अथ वे प्रजा के प्रतिनिधि अर्थात् पोर और जनपद के प्रधान लेते हैं।[15] रामायण मे प्रजा के प्रतिनिधि तथा मन्त्री सम्मिलित रूप से 'अग्रणाहा सभा' में

---

(१) महागोविन्द सुत्तन्त ३२, दीर्घनिकाय २।२३३
(२) शतपथ ब्राह्मण ५।३।१।६ (३) वही ३।३।५।१४, अथर्ववेद ७।१२
(४) अथर्ववेद ७।१२ (५) छान्दोग्य उपनिषद ८।१४।१
(६) इडिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) ('परिषद्') (७) जातक १।२६४
(८) हिन्दू पौलिटी : जायसवाल . २।१३० (९) अर्थशास्त्र कौटिल्य १।१५।६०
(१०) वही : कौटिल्य : १।१५।५६ (११) हिन्दू पौलिटी: जायसवाल : २।१३०
(१२) अर्थशास्त्र . कौटिल्य : १।१५।११ (१३) वही १।१५।११
(१४) शुक्रनीति २।३ (१५) हिन्दू पौलिटी जायसवाल : २।१३१

बैठकर 'आत्यधिक'। (विशेष महत्वपूर्ण) प्रश्नो पर विचार करते है : 'मन्त्रिपरिषद्'[1] अथवा 'अमात्य परिषद्'[2] का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। साल्टोर का विचार है कि गुप्तकाल मे 'परिषद्' का व्यवहार मन्त्रियो की समिति के लिए होता था और 'सभा' का प्रयोग मन्त्रियो तथा सामन्तो इत्यादि की विशाल सम्मिलित समिति के अर्थ मे किया जाता था।[3] : वैदिक काल मे इसके ठीक विपरीत 'सभा' छोटी और समिति बडी है ('हिन्दू सभ्यता' मुकर्जी पृ० १०८) । इस अर्थ के अनुसार 'स्कदगुप्त' की परिषद् को मन्त्रि परिषद् और ध्रुवस्वामिनी' की परिषद् को सभा कहा जा सकता है।

इस प्रसग मे अनायास दो प्रश्न उठते है। एक तो यह कि प्रसाद ने 'अजातशत्रु' में 'महामान्य परिषद् के सभ्य'[4] शब्द का प्रयोग किया, क्या ठीक उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ मे ऊपर शुक्र और कौटिल्य ने किया है। दूसरे यह कि परिषद् में मन्त्रियो के अतिरिक्त अन्य नागरिको का क्या स्थान होता था। अजातशत्रु कहता है 'परिषद् के सभ्यो को बुला लाओ।[5] दोवारिक सूचना देता है कि 'महामान्य परिषद् के सभ्यगण आए है'।[6] इन दोनो स्थलो पर 'सभ्य' शब्द का प्रयोग 'सदस्य' के अर्थ मे हुआ है। उशना और कौटिल्य के अनुसार 'सभापति' के अर्थ मे नही। परन्तु समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे लिखा है कि जब चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को युवराज पद के लिए चुना तो सभ्य उच्छ्वसित हो गए'।[7] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में 'सभ्य' शब्द का अर्थ 'परिषद् के सदस्य' था। सभव है इसी अर्थ को ध्यान मे रखकर 'अजातशत्रु' मे 'सभ्य' का प्रयोग किया गया हो।

परिषद् मे मन्त्रियो के अतिरिक्त अन्य नागरिक सदस्यो का प्रश्न केवल 'चन्द्रगुप्त' एव 'ध्रुवस्वामिनी'की परिषद् के सम्बन्ध में ही उठता है। और हम यह पहिले ही बतला चुके है कि परिषद् में मत्री के अतिरिक्त 'प्रकृति' (शुक्र के अनुसार) और 'अन्य व्यक्ति' (कौटिल्य के अनुसार) भी होते थे । प्रसाद ने कही भी परिषद् के सदस्यो की सख्या नही बतलाई है। केवल 'चन्द्रगुप्त' मे स्पष्टत' पाँच सदस्यो की परिषद् की घोषणा की गई है। पाँच की निश्चित सख्या का अनुमोदन मनु, बृहस्पति, शुक्र और कौटिल्य कोई भी नही करता। किन्तु यह परिषद् नन्द की हत्या के उपरान्त सहसा चुनी गई है और उस समय नन्द की सभा में एकत्र सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति इसमें आ गए हैं। अत. स्थिति की यह विवशता देखते हुए 'यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः' के आधार पर इसका भी अनुमोदन किया जा सकता है।

---

(१) मालविका (२) विक्रमोर्वशीयम् ५।१६

(३) लाइफ इन दि गुप्ता ऐज पृ० २४३

(४) अजात० २।६४ (५) अजात१ २।६३ (६) वही २।६४

(७) आर्या हीत्युपगुह्य भाव पिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य कुलज म्लानाननोद्वीक्षितः
सलेक्ट इस्क्रिप्शस : सरकार. पृ० २५४

प्रसाद के नाटको से ज्ञात होता है कि मन्त्रि परिषद' अथवा 'परिषद' राजा या राजकुमार को शासन कार्य चलाने में सहायता करती थी।[१] यदि युद्ध इत्यादि में जाने पर राजा अथवा राजकुमार कोई, भी उपस्थिति न हो तो परिषद स्वय राज्यभार अपने सिर पर ले लेती थी।[२] राष्ट्रीय सकट अथवा ऐसे ही युद्ध विग्रह सम्बन्धी विषयो पर नीति निर्धारित करने का अन्तिम अधिकार परिषद को ही था।[३] प्रत्येक महत्वपूर्ण काय से पूर्व परिषद की सम्मति आवश्यक होती थी। राजा ऐसे अवसरो पर स्वय परिषद का आह्वान करता था।[४] परिषद की बिना आज्ञा के यौवराज्याभिषेक भी सभव न था।[५] राजा की मृत्यु होते ही परिषद की आयोजना आवश्यक होती थी। और यही सर्व सम्मति मे नवीन राजा को चुनकर राज सिंहासन पर बैठने का अधिकार देती थी।[६] राजा एक मत्री की सम्मति को भले ही ठुकरा दे[७], किन्तु परिषद की आज्ञा के बिना वह एक भी महत्वपूर्ण काय नही कर सकता था। 'अजातशत्रु' से यह भी ज्ञात होता है कि कभी कभी परिषद स्वेच्छा से अपना समस्त अधिकार राजा, को अथवा किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता था।[८] परिषद का सबसे महत्वपूरा कार्य राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकना था। चाणक्य के एक वाक्य से ही इसकी पुष्टि हो जाती है 'स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वय देख लिया है अब मन्त्रि परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावत के कल्याण मे लगो[९] राज्याधिकार सबधी प्रश्नो में परिषद का निर्णय ही सर्वमान्य प्रतीत होता है, और गुप्तकाल मे भी परिषद की उक्त शक्ति का दिग्दर्शन कराने का प्रयास प्रसाद ने किया है। 'विधान के अनुकूल' परिषद ही इसकी अन्तिम निर्णायिका होती थी। परिषद का विचार राजा, अमात्य, अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति को मानना पडता था। यहाँ तक कि शासक पर लगाये गए आरोपो को सुनने का अधिकार भी परिषद को ही था। और दोषी समझने पर परिषद सम्राट् को राजसिंहासन से हटा भी सकती थी।[१०] प्राचीन भारत मे परिषद का जो औसत स्वरूप मिलता है, उसके आधार पर प्रसाद द्वारा चित्रित स्वरूप की तुलना आवश्यक है। जायसवाल कहते है कि 'हिन्दू विधान के अनुसार राजा बिना मन्त्रि परिषद की आज्ञा तथा सहयोग के कोई भी कार्य करने मे असमर्थ हैं।[११] प्राचीन स्मृतिकारो के विचार इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। मनु राजा को स्वेच्छा से शासन करने की आज्ञा नही देते। उनकी आज्ञा है कि वह सामान्य विषयो के सम्बन्ध में नित्य परिषद से मत्रणा करे।[१२] याज्ञवल्क्य ते:

परिषद का कार्य

---

(१) अजात० १।३१

(२) वही २।६६

(३) वही २।६६ स्कद० १।१८

(४) वही १।३२

(५) वही १।३२

(६) चन्द्र० ३।१६१

(७) अजात० १।५३

(८) वही २।६६

(९) चन्द्र० ३।१६२

(१०) ध्रुवस्वामिनी ३।६०,६१

(११) हिन्दू पौलिटी २।११६

(१२) ते सार्धं चिंतयेनित्य सामान सधिविग्रह्य।
स्थान समुदय गुप्ति लब्धप्रशमनानि च। मनुस्मृति ७।५६

है। 'सार्धं चिंतयेद्राज्य' के द्वारा परिषद की सम्मति से ही राज्य काय करने का विधान करते हैं।[1] कात्यायन के अनुसार 'राजा स्वेच्छा से एव न्यायकर्ता मन्त्री, पुरोहित इत्यादि से परामर्श किये बिना न्याय भी नहीं कर सकता।[2]' कौटिल्य महत्वपूर्ण कार्यों मे आत्यायिक कार्य) मन्त्रियो तथा मन्त्रिपरिषद के बहुमत को मानने की आज्ञा देते है।[3] शुक्रनीति की आज्ञा है कि 'मन्त्र विद्याओ में निपुण एव मन्त्रवित होते हुए भी राजा मन्त्रियो से परामर्श किए बिना एक भी काम न करे।[4]'

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परिषद का प्रधान कार्य शासक की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण करना होता था। शुक्र ने स्पष्ट ही कह दिया है कि राजा के उच्छृंखल होने पर राज्य का विनाश हो जाता है।[5] 'चन्द्रगुप्त' मे नन्द वध उसकी स्वेच्छाचारिता के कारण हुआ है। और इसीलिए चाणक्य चन्द्रगुप्त को मन्त्रि परिषद की सम्मति से ही प्रजा का कल्याण करने का आदेश देता है। परिषद का दूसरा कार्य है आत्यधिक कार्यों मे राजा को सम्मति देना। 'अजातशत्रु' की परिषद काशी प्रान्त के विप्लव, प्रसेनजित से युद्ध और बिंबसार पर सैनिक नियन्त्रण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों पर परामर्श देती है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे भी परिषद का रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के विरोध मे अपना निर्णय देती है। परिषद का तीसरा कार्य राजा की अनुपस्थिति या मृत्यु में शासन का कार्य भार सभालना होता था अजातशत्रु जब प्रसेनजित से युद्ध करने के लिए चला जाता है तब छलना की देखरेख मे परिषद ही सारा शासन चलाती है, 'रघुवश[6]' 'शाकुन्तलम्[7]' तथा 'विक्रमोर्वशीय[8]' से ज्ञात होता है कि राजा के बाहर चले जाने पर मन्त्री ही शासन का काय चलाया करते थे। नन्द की मृत्यु के उपरात तुरन्त ही परिषद का आह्वान किया जाता है। और तत्काल ही परिषद चन्द्रगुप्त को सम्राट घोषित करती है। इसमे परिषद के एक और काय की ओर ध्यान जाता है और वह है राजा का चुनाव। रघुवश के अनुसार राजा की मृत्यु होने पर मन्त्रियो का यह कर्तव्य होता था कि युवराज के शासन ग्रहण करने तक राज्य में उपद्रव अथवा विद्रोह न हो।[9] जातको से भी

---

(१) याज्ञवल्क्य १।३११

(२) सप्राड्विवाक . सामात्य : सब्राह्मण पुरोहित
ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः कात्यायन : हिंदू पोलिटी मे : २।११७

(३) आत्यायिकके कार्यं मन्त्रियो मन्त्रिपरिषद च आहूयब्रयात
तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकर वा ब्रयस्ततकुर्यात : अर्थशास्त्र १।१५

(४) सर्वविद्या सकुशलो नृपोह्यपि सुमन्त्रवित्।
मन्त्रिभिस्तु बिना मन्त्र नेकोर्थं चिंतयेत्क्वाचित। शुक्रनीति २।२

(५) प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्न प्रकृतिरेव च। शुक्रनीति २।४

(६) रघुवश
(७) शाकुन्तल०
(८) विक्रमो०
(९) रघुवश

इसी प्रकार की एक घटना का विवरण मिलता है।[1] अर्थशास्त्र के 'योगवृत्त प्रकरण' में लिखा है कि राजा की मृत्यु होने पर अमात्य सब महामात्रों (पौर जानपद के प्रतिनिधियों) को बुलाकर उनसे कहता था कि अब इस राजा हीन साम्राज्य के आप ही शासक है[2], अत: आप बतलाइये कि हमें क्या करना चाहिए। तब उनके आदेश से राजा का चुनाव होता था[6]। परिषद् द्वारा राजा के चुनाव की उपर्युक्त प्रथा केवल मौर्य और गुप्त कालों में ही नहीं थी। सातवीं शती में राजपद के लिए हर्ष का चुनाव भी 'मन्त्रिपरिषद्' में ही हुआ था। हुआनच्वांग ने लिखा है 'प्रभाकरवर्धन एवं राज्यवर्धन की मृत्यु के उपरान्त राज्य के शासक-विहीन होने पर परमयशस्वी महामान्य प्रधानामात्य भण्डि ने मन्त्रि परिषद् से कहा 'आज राष्ट्र के भाग्य का निर्णय करना है। कुमार राज्यवर्धन की मृत्यु हो चुकी है और उनका भाई हर्षवर्धन मानवोचित गुणों से पूर्ण और हृदय होने के साथ कर्त्तव्यपरायण और आज्ञाकारी भी है। अत: प्रजा उसका विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि राज्याधिकार हर्षवर्धन को सौंपा जाय। इस सम्बन्ध में प्रत्येक अपना स्वतन्त्र विचार उपस्थित करें। इस पर सभी मन्त्रियों ने उसके गुणों को स्वीकार करते हुए इस प्रस्ताव का समर्थन किया। तब महामात्य और अन्य अधिकारियों ने राजकुमार से निवेदन किया कि प्रजा की इस अभिलाषा की पूर्ति कर राज्यशासन कर यशस्वी बनें।[3] प्रसाद के नाटकों से ज्ञात होता है कि युवराज पद की घोषणा के लिए और यौवराज्याभिषेक एवं राज्याभिषेक के पूर्व भी परिषद् की सम्मति लेने के लिए उसका आह्वान किया जाता था। विक्रमोर्वशीय नाटक में भी पुरु अमात्य परिषद को ही राजकुमार आयु के राज्याभिषेक की सूचना देते हैं।[4]

जायसवाल के अनुसार 'पौर जानपद' सम्मिलित रूप में युवराज की नियुक्ति करते थे।[5] वे उत्तराधिकार के सम्बन्ध में राजा की घोषणा का विरोध कर सकते थे, अयोग्य उत्तराधिकारी को युवराज पद से वंचित कर सकते थे और अभिषेक में प्रमुख भाग लेते थे।[6] वस्तुत: इन अवसरों पर पौर जानपद का प्रतिनिधित्व पौर वृद्ध ही किया करते थे।[7] प्रसाद ने पौर जानपद का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु उनका उल्लेख न करते हुए भी उनके समस्त अधिकार परिषद् या मन्त्रि परिषद् को दे दिए हैं। जायसवाल के ही उल्लेखों से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल, मौर्यकाल तथा गुप्तकाल सभी में पौर जानपद की शक्ति पर्याप्त थी। 'पौर

---

(१) अलीन चित्त जातक २।१।१५६

(२) 'महामात्रासन्निपात्य ब्रूयात' ध्वजमात्रो अर्थं भवन्त एव स्वामिनि. कथं वा क्रियतामिति'।

अर्थशास्त्र

(३) बुद्धिस्ट रेकार्डस ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड. ऐस० बील : १।२१०,११ और हुआनच्वांग्स ट्रेवलस इन इण्डिया : वाटर्स : १।३४३

(४) विक्रमोर्वशीयम् ५।१७६

(५) हिन्दू पौलिटी . जायसवाल : २।८०

(६) वही : जायसवाल ' २।८२

(७) 'पौरेर्वृद्धपुरस्सरै : वही : जायसवाल

वर्ग' के महत्व का उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख में भी हुआ है।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने के कारण परिषद के पीछे पौर जानपद की शक्ति रहती थी।[2] फलतः शासक तथा परिषद् के बीच किसी प्रकार का संघर्ष होने पर परिषद् की विजय निश्चित होती थी, क्योंकि वह वस्तुतः पौर जानपद की विजय होती थी। ऊपर पौर वृद्धों की चर्चा हम कर आए हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में महामात्य शिखरस्वामी उत्तराधिकार सबन्धी निर्णय के लिए 'कुल वृद्धों एवं सामन्तों'[3] को बुलाता है। परिषद् के सबन्धी में कुल वृद्धों' का उल्लेख तुरन्त ही पौरवृद्धपुरस्सरे.' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।[4] पौरजानपद की इस शक्ति का परिचय साहित्य में भी मिलता है। 'मृच्छकटिक' में तत्कालीन शासक 'पालक' को उनकी आज्ञा से सिंहासनाच्युत कर दिया जाता है और उनका विश्वास प्राप्त कर लेने के कारण उसी के भाई को शासन का अधिकार मिला है।[5] महावंश'[6] तथा 'दशकुमार चरित'[7] से भी इस अधिकार की पुष्टि होती है। सम्भवतः पौर जानपद एवं परिषद् की इसी शक्ति के कारण सम्राट तथा अन्य व्यक्ति उनके सदस्यों के लिए अत्यन्त विनम्र शब्दों का व्यवहार करते थे। 'अजातशत्रु' में उनके लिए 'महामान्यपरिषद के सभ्यगण' का प्रयोग हुआ है, और अपनी वक्तृताओं में अजात और देवदत्त दोनों ही उनके प्रति अ य विनम्र वाणी में बोलते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी उनके लिए 'भवन्' सर्वनाम एवं 'भवद्भि (सगतों', जैसे प्रयोग इस बात की पुष्टि करते हैं।[8]

प्रसाद ने 'परिषद् गृह'[9] का भी उल्लेख किया है। जातकों में एवं बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार के परिषद् गृहों की चर्चा हुई है।[10] कौटिल्य ने मन्त्रणा के लिए इस प्रकार के परिषद् गृह का विधान किया है जो एकान्त होने के साथ साथ चारों ओर से इस प्रकार आवृत होना चाहिए ताकि बातचीत का एक शब्द भी बाहर न सुनाई दे।[11]

'चन्द्रगुप्त' नाटक में एक और महत्वपूर्ण परिषद् की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। वह है मालवों की परिषद्। मालव और क्षुद्रकों के गण राज्यों की परिषद् के स्वरूप और उसकी विचार विमर्श करने की पद्धति पर भी यहाँ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उक्त परिषद् सिकन्दर के आक्रमण पर विचार करने के

मालवों की परिषद्

लिए बुलाई गई है। सर्वप्रथम परिषद् का एक सदस्य देवदत्त परिषद् के सम्मुख यह 'विज्ञप्ति' उपस्थित करता है कि यवन युद्ध के लिए जो संधि मालव क्षुद्रकों से हुई है, उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि दोनों गणों की एक

---

(१) यो लालयामास च पौरवर्गान् श्लोक २२ सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स न २५ पृ० २९९,३००
(२) 'दि जानपद इविडेन्टली सपोर्टेड दि मिनिस्टर्स' हिन्दू पोलिटी पृ० २१४६
(३) ध्रुवस्वामिनी ३।५६ (४) महाभारत (उद्योगपर्व) अ १४३।२२,२३
(५) मृच्छकटिक (शूद्रक) (६) महावंश ३।५६
(७) दशकुमार अध्याय ३ (८) हिन्दू पोलिटी २।९०,९२
(९) चन्द्र ४।२००,२०१ (१०) हिन्दू सभ्यता (राधाकुमुद मुखर्जी) पृ० २१३
(११) अर्थशास्त्र (कौटिल्य) १।१५।३३,

सम्मिलित सेना बनाई जाए और उसके सेनापति क्षुद्रकों के मनोनीत सेनापति मगध चन्द्रगुप्त ही हो। उन्ही की आज्ञा से सैन्य सचालन हो'।[१] परिषद् का अन्य सदस्य नागदत्त इस 'विज्ञप्ति' का विरोध करता है "मगध एक साम्राज्य है। लिच्छवि और वृजि गणतन्त्र को कुचलने वाले मगध का निवासी हमारी सेना का सचालन करे, यह अन्याय है। मैं इसका विरोध करता हूँ।"[२] इसके उपरान्त परिषद् द्वारा अधिकार प्राप्त बलाधिकृत सिंहरण की प्रार्थना पर गणमुख्य 'उत्तरापथ के विशिष्ट राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य के गभीर राजनीतिक विचार' सुनने के लिए उन्हे व्यास पीठ पर आने का आदेश देता है।[३] चाणक्य नाना तर्कों के द्वारा देवबल की 'विज्ञप्ति' को अनुमोदित करता है।[४] नागदत्त फिर भी इसका विरोध करता है किन्तु अन्त में चाणक्य के तर्क को स्वीकार कर लेता है।[५] अन्त मे गणमुख्य घोषणा करता है, अस्तु महाबलाधिकृत पद के लिए चन्द्रगुप्त को ही वरण करने की आज्ञा परिषद् देती है'।[६] इस प्रधान कार्य के अतिरिक्त एक और भी अवान्तर कार्य परिषद् की स्वीकृति के लिए उपस्थित किया गया है। आन्नपान और भैषज्य सेवा करने वाली स्त्रियो ने मालविका को अपना प्रधान बनाने की अनुमति मागी पर परिषद् ने इसकी अनुमति देदी। इतिहास मे क्षुद्रक मालवो के गण-तन्त्रो का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने गणपाठ मे क्षुद्रक और मालवो की सयुक्त सेना के लिए 'क्षुद्रक मालवी' का प्रयोग किया है।[७] ग्रीक इतिहासकारो से ज्ञात होता है कि मालवो (मल्लोई) और क्षुद्रको (ओक्सीड्रेकाए) के गणराज्यो (रिपब्लिक ट्राइब्ज)ने मिलकर सिकन्दर का सामना किया।[८] किन्तु इन उल्लेखो से यह ज्ञात नही होता कि उक्त गणतन्त्रो की शासन प्रणाली क्या थी। जायसवाल का अनुमान है कि बौद्ध सघो की पद्धति मे राजनीतिक सघ पद्धति का अनुकरण किया गया था। अत जिस प्रकार बौद्ध सघो मे विचार विनिमय किया जाता था उसी प्रकार इन गण राज्यो मे भी किया जाता होगा।[९]

बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि अधिवेशन सथागार या उद्यान मे होते थे। अधिवेशन मे वे सभी सदस्य उपस्थित रहते थे, जिन्हे उपस्थित रहने का अधिकार था। निश्चित आसनो को निर्धारित एव सूचित करने के लिये एक 'आसनप्रज्ञापक'[१०] नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। अधिवेशन के समय उपस्थिति की कम से कम सख्या का विचार था।[११] सघ का अध्यक्ष विनयधर' कहलाता था।[१२] सघ की कार्य प्रणाली इस प्रकार होती थी।

(१) कर्त्तव्यता (किच्चयता) पहले इस बात पर विचार होता था कि सघ के कर्त्तव्य कर्मों का पालन किस प्रकार किया जाय।

---

(१) चन्द्र० २।१३८ (२) वही २।१३८
(३) वही २।१३८ (४) वही २।१३९
(५) वही २।१३९ (६) वही २।१४० ७) पाणिनि ४।२।४५
(८) (९) हिन्दू पौलिटी (जायसवाल) पृ० १०३ (१०) चुल्लवग्ग १२।२,७
(११) महावग्ग १।३१।२ (१२) महावग्ग ५।१३।१२

(२) करणीयता फिर इस बात पर विचार होता था कि उसे और क्या क्या काम करने चाहिये।

(३) अवलोकन कम तदनन्तर ऐसे विषयो पर निर्णय लिया जाता था जिनके लिए कार्य प्रारम्भ होने पर भी नियमानुसार आज्ञा लेना आवश्यक होता था। और

(४) ज्ञप्ति : एवद्दि अन्त मे 'ज्ञप्ति' अर्थात् प्रस्ताव पर विचार होता था। सघ मे विचार विनिमय ज्ञप्ति कर्म से इस प्रकार प्रारम्भ होते थे 'भत' सघ मेरी बात सुने। 'ज्ञप्ति' इस प्रकार है। इसके उपरात ज्ञप्ति को 'प्रतिज्ञा' के रूप मे सघ के निर्णय के लिए रखा जाता। ज्ञप्ति के अनन्तर सघ से प्रश्न पूछा जाता था कि क्या वह ज्ञप्ति से सहमत है। 'भदन्त भिक्षुओ मे से सहमत हो, वे मौन रहे और जो कोई उसके पक्ष मे न हो, वह भाषण करे (भाषेत) इस प्रकार उस ज्ञप्ति की तीन बार पुनरावृत्ति की जाती और यदि तीनो बार सघ इसे मौन रहकर स्वीकार कर लेता तो ज्ञप्ति को सघ का आदेश मिल जाता था। किन्तु सदस्य ज्ञप्तियो को मौन या तूष्णीभाव से ही सदा ग्रहण न करते थे प्राय वादविवाद भी उठ खडा होता था। सदस्यो मे मण्डन कलह और विवाद उठ खडा होता था।[१] अर्थहीन भाषण दिये जाते और एक भी बात का अभिप्राय स्पष्ट नही होता था।[२] ऐसी दशा मे समझौते के कई उपाय थे।

(१) वर्गिल या दलीय बैठ के दोनो विरोधी पक्षो के नेता आपस मे बैठकर जो निर्णय करते वह सघ को मान्य हो जाता।

(२) किसी बडे सघ से निर्णय की प्रार्थना की जाती।

(३) उब्बाहिका सभा (उद्वाहिका) विवाद ग्रस्त विषय सारे सघ से हटाकर चुने हुए और योग्य सदस्यो की समिति (उब्बाहिका सभा) को अर्पित कर दिया जाता।

(४) बहुमत इस पद्धति को 'येभ्युयस्सिकोन' (यद् भूयसिका क्रिया जो बहुत कहे वैसी ही क्रिया करना) कहा जाता था। 'शाक्य सघ की सभा को' कौशलराज विडूडभ के लिये नगर के द्वार खोलकर उसकी आधीनता स्वीकार की जाय या नही, इस प्रकार के जीवन मरण के प्रश्न भी बहुमत से तय करना पडा था।' 'मत के लिए 'छद' शब्द का प्रयोग होता था। मतदान 'शलाका ग्रहण' से होता था। शलाकाएँ लकडी की बनी होती थी। प्रत्येक सदस्य से कहा जाता था कि वह उस रग

---

[१] हिन्दू सभ्यता : मुखर्जी : पृ० २०६

[२] चुलवग्ग ४।८।६

को शलाका को चुने जो उसके मत के अनुरूप हो, और यह निर्देश रहता था कि वह इसे किसी को दिखाये नही[1] ।

अब इस सघ पद्धति से 'चन्द्रगुप्त' मे वर्णित मालवो की युद्ध परिषद की पद्धति मे तुलना करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ।

(१) प्रसाद ने परिषद मे विचार विनिमय का प्रारम्भ देवबल द्वारा उपस्थित 'ज्ञप्ति' से तो किया है किन्तु प्रस्ताव के लिए 'ज्ञप्ति' शब्द न लिखकर 'विज्ञप्ति' लिख दिया है । 'ज्ञप्ति' शब्द अर्थ विशेष का सूचक है । अतः 'विज्ञप्ति' का प्रयोग अनुचित ही नही अर्थहीन भी है ।

(२) 'ज्ञप्ति' के उपरान्त सघ से मौन रहकर स्वीकार करने अथवा भाषण देकर विरोध करने की प्रथना का यहा उल्लेख नही किया गया है ।

(३) यहाँ परिषद मे चाणक्य भी उपस्थित है । वह परिषद का सदस्य नही है । अतः सामान्यतया उसे वहाँ उपस्थित रहने का अधिकार नही हो सकता और परिषद में भाषण देकर निर्णय को प्रभावित करने का तो बिलकुल ही नही ।

(४) यहा भी एक सदस्य नागदत्त 'ज्ञप्ति' का विरोध कर करता है ।

(५) अन्त में नागदत्त विरोध से हाथ खींच लेता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ज्ञप्ति' को सर्वसम्मति से मान लिया गया है । गणमुख्य यही घोषणा करता भी है । किन्तु ज्ञप्ति एक ही बार कही गई है । नियमानुसार तीन बार नही ।

(६) परिषद का प्रधान 'गणमुख्य' है विनयधर' नही । किन्तु नाटक में 'धर्म सघ' की बैठक नही 'गण परिषद' की बैठक है । अतः 'गणमुख्य' का प्रधान होना उचित ही है ।

प्रसाद ने न तो 'प पक' का उल्लेख किया है और न 'शलाका ग्रहण' और छद' का । इससे सन्देह नही कि नाटक मे उक्त दृश्य की योजना करते समय प्रसाद के सम्मुख 'सघ पद्धति' का स्वरूप अवश्य रहा होगा किन्तु नाटक के लिए अनावश्यक मानकर अथवा दृश्य के विस्तार के डर से प्रसाद उक्त स्वरूप को स्पष्ट नही किया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रसाद इस दृश्य के द्वारा पाठक या दर्शक के मन मे तत्कालीन संस्कृति का जो स्वरूप चित्रित करना चाहते थे वह अधूरा ही रह गया है ।

---

(१) चुलवग्ग, महावग्ग . देखिये हिन्दू पौलिटी : जायसवाल १०३,११
हिन्दू सभ्यता ।

करता है। उसके ही कारण भटार्क को पुष्यमित्रो के युद्ध मे सेनापति की पदवी नही मिली।[१] उसी ने भटार्क के महाबलाधिकृत बनाए जाने का भी विरोध किया था।[२] महाप्रतिहार भी उसी की आज्ञा से भटार्क पर आक्रमण नही करता और 'चरम प्रतिकार' करने के लिए तैयार हो जाता है।[३] इन सबसे प्रतीत होता है कि कुमारामात्य पृथ्वीसेन के अधिकार प्रधानमत्री से किसी प्रकार कम न रहे होगे। 'राज्यश्री' मे मत्री एक ही है और उसके समकक्ष किसी अन्य पद का उल्लेख नही। अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटको मे ये सब नाम प्रधानमत्री के लिए ही आए है। मनु प्रधानमत्री या अमात्य को समस्त दडो का धारण करने वाला मानते है और राजा को आज्ञा देते है कि वह पूर्णतया उस पर निर्भर रहे, इसलिए वे उसका विद्वान ब्राह्मण होना आवश्यक मानते है।[४]

कौटिल्य एव शुक्र उसके लिए केवल 'मत्री' शब्द का प्रयोग करते है।[५] जातको में उसे अधिकतर 'अमाच्च' (अमात्य) कहा गया है।[६] 'दिव्यदान' में रामगुप्त अमात्य है।[७] मुद्राराक्षस' मे प्रधानमन्त्री के लिए 'अमात्य' शब्द आया है।[८] यद्यपि राक्षस के एक स्वगत कथन मे मत्री' शब्द भी अमात्य का ही अर्थ देता है।[९] यह ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त ग्रथो मे प्रसाद द्वारा प्रयुक्त 'महामत्री' या 'महामात्या' का प्रयोग कही भी नही मिलता। परन्तु गुप्तकालीन अभिलेखो में 'महा' विशेषण का प्रचुर प्रयोग मिलता है। अत 'महाप्रतिहार', 'महा दण्डनायक' और 'महासधि विग्रहक' के समान ही प्रसाद ने 'महामात्य' या 'महामत्री' शब्द भी बना लिए हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। फिर भी बौद्ध-काल में और मौर्य काल म भी इस प्रकार के शब्द खटक ही जाते हैं यह भी सम्भव है कि मनुस्मृति के 'मुख्यामात्य' (७।५८) के आधार पर इसका निर्माण हुआ हो। कालिदास ने मत्री, अमात्य और सचिव इनको समानार्थक माना है।[१०] गुप्तकाल मे प्रधानमन्त्री के लिए सभवत. 'राजामात्य' शब्द का प्रयोग किया जाता था।[११] यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता। ऊपर हम 'अमात्यवर्ग की चर्चा कर आए है। कौटिल्य ने भी कई 'अमात्यो' का उल्लेख किया है, जिनमें सबसे प्रधान अमात्य को 'मत्री' कहा है।[१२]

गुप्तकाल में 'कुमारामात्य' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्रचलित जान पडता है। कमदण्डा

---

(१) स्कद० १।२८ (२) वही १।२८
(३) वही १।३७ (४) मनुस्मृति ७।६५
(५) अर्थशास्त्र १।६।१, १।८।३३ व शुक्रनीति २।१६८,७३
(६) जातक १।१५, ३।३। २७६
(७) दिव्यावान (८) मुद्राराक्षस अक के ७ पृ० १०१. के० एच० ध्रुव:
(९) वही ७ १०० (१०) इण्डिया इन कालिदास. उपाध्याय' पृ० १२७
(११) लाइफ इन दि गुप्ता एज: साल्टार: पृ० २५१
(१२) अर्थशास्त्र १।६।१, १।८।३३

के शिलालेख मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मत्री शिखर स्वामी एव कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीसेनक को कुमारामात्य कहा गया है।[१] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे हरिषेण के पहले तीन विशेषण प्रयुक्त हुए ह।[२] १—संधि विग्रहक २—कुमारामात्य और ३—महादण्डनायक। किन्तु इन सब उल्लेखो से यह ज्ञात नही हो पाता कि वस्तुत' कुमारामात्य का पद क्या था। स्कदगुप्त के बिहार वाले शिलालेख मे कुमारामात्य का उल्लेख हुआ है। उक्त लेख मे वह सर्वोच्च अधिकारी नही है। उसके पूर्व 'उपरिक' पदाधिकारी का नाम आया है[३] जीवतगुप्त द्वितीय के 'देव वरणाक' लेख मे भी कुमारामात्य से पूर्व 'उपरिक' का उल्लेख हुआ है।[४] 'कुमारामात्य' एक जिले का शासक जान पडता है।[५] उक्त उल्लेखो से ज्ञात होता है कि कुमारामात्य की नियुक्ति 'उपरिक महाराज' करता था। उपरिक की स्थिति प्रान्तीय राज्यपाल की सी होती थी और उसका स्थान सम्राट के ठीक बाद मे ही आता था।[६] इस सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद होते हुए भी यदि उपरिक को इस प्रान्तीय राज्यपाल मान लिया जाय तो कुमारामात्य को जिले का शासक माना जा सकता है। डा० सहल ने अपने एक लेख मे 'कुमारामात्य' को 'प्रान्तीय गवर्नर की सलाह देने वाला मत्री' माना है।[७] उपर्युक्त तर्क के आधार पर यह अर्थ अधिक अनुपयुक्त नही है। परन्तु उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करने मे तीन आपत्तिया हैं।

कुमारामात्य

१—कुमारामात्य पृथ्वीसेन यदि जिले का शासक था तो यह समझ मे नही आता कि प्रसाद ने उसे सम्राट केवल कुमारगुप्त की मन्त्रिपरिषद् मे मत्रणा का अधिकार किस आधार पर दिया है।

२—यह समझ में नही आता कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे सधिविग्रहक और महादण्डनायक जैसा महत्वपूर्ण एव उच्च राजकीय पदाधिकारी हरिषेण कुमारामात्य जैसे साधारण पद से क्यो भूषित किया गया है।

३—प्रसाद के नाटक मे केवल एक ही कुमारामात्य नही है। उसमे महासधिविग्रहक पृथ्वीसेन के साथ साथ महाबलाधिकृत वीरसेन एव[८] काश्मीर के शासक मातृगुप्त[९] भी

---

(१) दि हिस्ट्री आफ नौर्थ ईस्टन इण्डिया : बसाक : पृ० ५०।५२

(२) 'महादडनायक ध्रुवभूति पुत्रस्य सधिविग्रहिक कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहित सुखायास्तु'

सैलेक्ट इस्क्रिपशन्स . सरकार पृ० २५४

(३) सैलेक्ट इस्क्रिपशन्स : सरकार . न० २१

(४) कौर्पस इस्क्रिपशन्स इडिकारम : फ्लीट : ३।४६ पृ० २१८

(५) इपीग्राफिका इंडिका १५, न० ७ पृ० ११४

(६) वही १५, न० ७ पृ० ११४

(७) विवेचन :—कन्हैयालाल सहल : पृ० १६३

(८) स्कद० १।१०

(९) स्कद० ४।११६

'कुमारामात्य' है। अतः यह प्रश्न उठता है कि ये विभिन्न पदाधिकारी जिले के शासक किस प्रकार माने जा सकते हैं।

डा० सहरा के ग्रंथ से उपर्युक्त एक भी आपत्ति का निराकरण नहीं हो पाता। कुमारामात्य को डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इससे भिन्न एक नवीन अर्थ दिया है। उनका कथन है कि, 'अमात्य शब्द राजनीतिक क्षेत्र की एक विशेष पदवी का नाम न था।' गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त कुमारामात्य पद के अर्थ पर विचार करने से इस अमात्य शब्द का अर्थ समझ में आ सकता है। अमात्य का एक अर्थ सखा या साथी भी था। परमभट्टारक सम्राट के साथ सखाभाव या बराबरी का पद किसी का भी नहीं हो सकता था। कुमार राज्यवर्द्धन के लिए कुमारगुप्त और माधवगुप्त सखा नियुक्त किए गये थे। ज्ञात होता है कि बहुत पहले से कुमारों के बराबर सम्मान के भागी उनके सखाओं की नियुक्ति होने लगी थी। पीछे चलकर वही गौरवपूर्ण पद कुमारामात्य के रूप में नियमित किया गया। कुमारामात्य पदवी मन्त्रिपरिषद् के मन्त्री, सेनापति आदि शासन के उच्चतम अधिकारियों को प्रदान की जाती थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ लेख में हरिषेण के नाम के पहले तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। • •• 'इनमें से महादण्डनायक सैनिक पद (मिलिट्री रेंक) का द्योतक था। संधिविग्रहक शासनतन्त्र के अधिकार पद (आफिस) का सूचक था और कुमारामात्य व्यक्तिगत सम्मानित पदवी (टाइटिल) का वाचक था'।[1]

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि 'कुमारामात्य' शासनाधिकार सूचक शब्द न होकर व्यक्तिगत सम्मान सूचित करने वाली पदवी है। दूसरे यह कि गुप्तशासन में यह पदवी मन्त्रियों से लेकर विषयपति तक के लिए सुरक्षित थी।[2] प्रसाद की नाटकों में प्रयुक्त 'कुमारामात्य' शब्द का डा० अग्रवाल द्वारा निर्धारित अर्थ से पूर्ण साम्य है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद ने उक्त शब्द को गुप्तकालीन अर्थ में पूर्ण ऐतिहासिकता का आश्रय लिया है।

'स्कंदगुप्त' में महादण्डनायक का उल्लेख मात्र हुआ है।[3] उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि प्रसाद उसे किस कोटि का पद मानते हैं। इसी नाटक में अन्यत्र 'नदीग्राम के दण्डनायक' का भी उल्लेख हुआ है।[4] वह काश्मीर के कुमारामात्य के आधीन सुरक्षा अधिकारी है। 'अजातशत्रु' में 'दण्डनायक' शब्द 'काशी के दण्डनायक' के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] जिसके कर्त्तव्यों का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है।

महादण्ड नायक दण्डनायक

(१) वह काशी राज्य का प्रधान है।

(२) काशी का राजस्व भी वही ग्रहण करता है, क्योंकि प्रजा के कर न देने पर अजातशत्रु काशी के दण्डनायक को ही दोषी ठहराता है।[6]

(१) हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन : अग्रवाल, पृ० ११२
(२) 'कोटिवर्षविषये तन्नियुक्त कुमारामात्य' देखिए 'दामोदरपुर ताम्रपत्र'
(३) स्कंद० १।३६
(४) वही ४।११६
(५) अजात० २।६२
(६) वही २।६५

(३) काशी के न्याय एव सुरक्षा अधिकारी भी पौलिस औथोरिटी) उसी के पास प्रतीत होते ह। क्योकि वह श्यामा का प्रेमी होने के कारण उसकी इच्छा पर शैलेन्द्र जैसे डाकू को शूली से मुक्त कर देता है।[१]

(४) वह (दण्डनायक) इतना प्रभावशाली है कि कोशल का सेनापति भी उसकी प्रसन्नता की कामना करता है।[२]

महादण्डनायक का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे हुआ है।[३] जीवितगुप्त द्वितीय के देव वरणाक लेख में भी महादण्डनायक का नाम आया है।[४] साल्टोर के मत से सभवतः महादण्डनायक सेना एव न्यायविभाग दोनो का अधिकारी होता था।[५] दण्डनायक उसका अधीनस्थ अधिकारी होता था। उक्त अर्थ से प्रसाद के अर्थ मे पर्याप्त अन्तर पड जाता है। काशी के दण्डनायक के पास सेना और न्याय का अधिकार तो है ही, इसके अतिरिक्त उसके पास सुरक्षा और राजस्व सम्बन्धी अधिकार भी है। साथ ही वह एक राज्य का प्रधान भी है। अतः उसकी शक्ति को देखते हुए उसे महादण्डनायक लिखना समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ 'दण्डनायक' शब्द के प्रयोग का आधार 'करणवैर जातक' होने से प्रसाद का ध्यान अर्थ भिन्नता की ओर नही जा सका है।[६]

नदिग्राम के दण्डनायक को सुरक्षाधिकार सौपकर प्रसाद पुनः मूल अर्थ से भटक गए ह। काशी और नदीग्राम दोनो के दण्डनायको की पदमर्यादा भी भिन्न भिन्न है। काशी एक राज्य है और नदीग्राम काश्मीर राज्य का सम्भवत. एक ग्राम मात्र है। काशी क दण्डनायक से सामन्त तक सतर्क है और नदीग्राम के दण्डनायक का साधारण शातिरक्षक सैनिक से अधिक महत्व नही। उसका काम चोर का पता लगाना अन्यथा दण्ड भोगना ह।

दौवारिक

प्रसाद के नाटको मे 'दौवारिक' का नाम कई स्थलो पर आया है। प्रसेनजित की राजसभा मे दौवारिक मगध से जीवक के आने की सूचना देता है, और आज्ञा मिलने पर उसे लिवा लाता है।[७] 'अजातशत्रु' मे सम्राट अजातशत्रु को आर्य देवदत्त के आने[८] और 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य को मालविका के आने की सूचना[९] दौवारिक ही देता है। इसी प्रकार 'स्कदगुप्त' मे अनन्तदेवी को चर के आने की सूचना देकर उसे लिवा लाने का कार्य भी वही करता है।[१०] इन सभी स्थलो पर दौवारिक का अर्थ द्वारपाल ही है। प्राचीन काल मे पुरुष और स्त्री द्वारपालो के लिए क्रमश. 'दौवारिक' और 'दौवारिकी' का प्रयोग पाया जाता है।[११]

---

(१) वही २।७८ (२) अजात० २।६९
(३) 'सैलैक्ट इ स्क्रिपशनस (सरकार) पृ० २५४
(४) सी आइ आइ (फलीट) ३ १ पृ० १६,१७
(५) लाइफ इन दि गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० ८६४
(६) करणवेर जातक ४।२।३१८ (७) अजात० १।५३
(८) वही २।६१ (९) चन्द्र० ४।२०२
(१०) स्कद० ३।९२ (११) रघुवंश ६।५८

'मुद्राराक्षस' मे करभक राक्षस से मिलने आता है तो द्वार पर किसी को न पाकर पुकार उठता है 'को अत्र दौवारिकाणाम् ।'[अ] उसी मे राक्षस को करभक के आने की सूचना भी दौवारिक ही देता है ।[१] प्रसाद के नाटको मे चार स्थलो पर दौवारिक के विभिन्न सम्बोधन इस प्रकार है 'महाराज की जय हो,' 'जय हो देव,' 'जय हो आर्य' और 'जय हो' । इन सम्मान सूचक शब्दो मे 'मुद्राराक्षस' के 'जयतु जयतु' की छाया स्पष्ट दीख पडती है ।[२] 'रघुवश' दौवारिक के लिए 'द्वारस्थ'[३] और इसी द्वार रक्षिका के लिए 'दौवारिकी'[४] शब्द का प्रयोग हुआ है । साल्टोर[५] और ध्रुव[६] महोदय दौवारिक का अग्रजी पर्याय 'डोर कीपर' मानते है । 'अर्थशास्त्र' मे सम्राट के निजी भृत्यो मे 'दौवारिक' का उल्लेख भी किया गया है ।[७]

'प्रतिहार' का प्रयोग केवल चन्द्रगुप्त नाटक मे एक ही स्थल पर हुआ है । नन्द प्रतिहार को विद्रोही नागरिको को बन्दी करने और राजसिंहासन को बचाने के लिए उनसे युद्ध करने का आदेश देता है ।[८] 'चन्द्रगुप्त मे ही नद की आज्ञा से 'प्रतिहारी' चाणक्य को शिखा पकडकर घसीटता है ।[९] 'ध्रुवस्वामिनी' म प्रतिहारी महाराज को खोजती हुई ध्रुवस्वामिनी के आवास मे आती है ।[१०] 'राज्यश्री' मे महादेवी को मन्त्री का आगमन सूचित करने क लिए 'प्रतिहारी' का प्रवेश होता है ।[११] 'प्रतिहार' शब्द के रूप से ही सिद्ध होता है कि प्रतिहार पुरुष ही होना था । 'प्रतिहारी' का प्रयोग अवश्य विचारणीय है । शब्द कोष के अनुसार प्रतिहारी का अर्थ मुख्यत: 'द्वारपालिका' होता है और सामान्यत: 'द्वारपाल मात्र' के लिए भी उसका प्रयोग हुआ है ।[१२] सस्कृत के नाटको मे प्रतिहारी प्राय: सर्वत्र ही स्त्री है । मुद्राराक्षस' में प्रतिहारी 'विजया' और शोणोत्तरा' है, और उनका काम किसी के आगमन की सूचना देना और पथप्रदर्शन करना है ।[१३] 'प्रतिमा' नाटक मे प्रतिहारी का नाम विजया' है और वह राजा की आज्ञा और सदेश को ले जाने का कार्य करती है ।[१४] अभिज्ञान शाकुतल' मे प्रतिहारी

प्रतिहार
प्रतिहारी

(अ) मुद्राराक्षस अक ४ पृ० ५०
(१) मुद्राराक्षस अक ४ पृ० ५० (२) वही ४।५१
(३) रघुवश ६।४८ (४) वही ६।५९
(५) मुद्राराक्षस 'ध्रुव' अग्रजी अनुवाद
(६) लाइफ इन गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० २५४
(७) अर्थशास्त्र १।१२।८ (८) चन्द्र० ३।१७९
(९) वही १।८१ (१०) ध्रुव० १।१५
(११) राज्यश्री १।२२
(१२) 'प्रतिहार (१) ए फीमेल डोरकीपर (२) ए डोरकीपर इन जनरल प्रैक्टिकल संस्कृत इगलिस डिक्शनरी (वामन शिवराय आप्टे) पृ० ६५५
(१३) मुद्राराक्षस अक ५, अक ३ (१४) 'प्रतिमा नाटक' 'भास' अक ६ पृ० ७३

'वेत्रवती' राजा दुष्यन्त का पथ-प्रदर्शन करती है, आगतुको के आगमन की सूचना देती है, और बाहर से मन्त्रियो के सन्देश एव अन्तःपुर से राजा की आज्ञा वहन करती है।[१] 'अमरकोष' में तो प्रतिहारी शब्द स्पष्ट ही स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त हुआ है।[२] इन उदाहरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रतिहार पुरुष होता था और प्रतिहारी स्त्री होती थी। उनका काय द्वार पर खडा रहना अन्त.पुर मे या राजप्रासाद मे ही अन्यत्र आगतुको का सन्देश पहुँचाना, वहाँ से राजा का आदेश बाहर ले जाना और राजप्रासाद मे राजा एव अभ्यागन का पथ प्रदशन करना होता था। इस निष्कष के आधार पर पहले तो राज सभा में नद के प्रतिहार की उपस्थिति ही अवाछनीय है, फिर उसको विद्रोही नागरिको को बन्दी करने एव राजसिंहासन की रक्षा के लिए युद्ध करने की आज्ञा का तो किसी प्रकार भी समथन नही किया जा सकना। यह आज्ञा किसी सैनिक अधिकारी के लिए अधिक उपयुक्त होती। अब रही प्रतिहारी। 'चन्द्रगुप्त' मे प्रतिहारी पुरुष है। 'राज्यश्री'-मे वह पुरुष है अथवा स्त्री यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अन्यत्र वह स्पष्ट ही स्त्री है। नद का प्रतिहारी राजसभा मे उपस्थित है और वह चाणक्य जैसे पुरुष की शिखा पकडकर घसीटने का पौरुषेय काय करता है। चाहे पुरुष हो या स्त्री प्रतिहारी के इस प्रकार के कार्य का भी कही प्रमाण उपलब्ध नही होता। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' मे प्रतिहारी को उसके उपयुक्त काय ही सौंपे गए ह।

इसी प्रसग मे दौवारिक का ले लेना भी समीचीन होगा। जहाँ तक दौवारिक दौवारिको और प्रतिहार प्रतिहारी के व्युत्पत्यर्थ का प्रश्न है, वहाँ तक ये पर्याय ही प्रतीत होते है। दौवारिक (की, 'द्वार' शब्द से व्युत्पन्न है और कालिदास ने इसके लिए 'द्वारस्थ' शब्द का प्रयोग भी किया है। उधर प्रतिहार शब्द भी द्वार का पर्याय है।[३] परन्तु व्यवहारतः दोनो के अर्थों मे स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है। दौवारिक सम्भवतः प्रधान द्वारो का रक्षक होता होगा।[४] और उसका काय आगतुक के आगमन की सूचना मात्र भेजना होता होगा। उसे अन्तःपुर तक जाने का अधिकार भी सभवतः नही रहता होगा जिससे भीतर जाने वाले सदेश उसे प्रतिहारी के द्वारा ही भिजवाने पडते होगे। प्रतिहारी या प्रतिहार प्रासाद के भीतरी कक्ष एव अन्त.पुर के द्वार मे उपस्थित रहकर निर्दिष्ट कार्य करते होगे। सभी सस्कृत नाटको में प्रतिहारी स्त्री की उपस्थिति हमारे उक्त अनुमान की पुष्टि करती है। (मुद्राराक्षस) में विजया प्रतिहारी) मलयकेतु का सन्देश लेकर राक्षस के प्रासाद तक जाती है और उसको लेकर मलयकेतु के प्रासाद में आती है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि गोपनीय कार्यों के लिए वह मुख्यद्वार के बाहर भी आ जा सकती होगी, जबकि दौवारिक को अन्त पुर मे जाने का प्रतिबन्ध रहता होगा।

---

(१) शाकुन्तल कालिदास ग्रथावली' अक ५,६ पृ० ८५,८६

(२) अमरकोष ३।३।१७९ द्वारि द्वाःस्थे प्रतीहार प्रतीहार्यप्यनन्तरे'

(३) 'स्त्रीद्वारद्वार प्रतिहार' अमरकोष २।२।१६

(४) मुद्राराक्षस अक ४ . रग सकेत . 'मत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रात'

अकेले 'स्कदगुप्त' मे 'महाप्रतिहार' शब्द का प्रयोग पाया जाता है ।[१] उसके अनुसार वह अन्त पुर का प्रधान अधिकारी है, और वहाँ 'सम्राट का भी उतना अधिकार नही होता जितना महाप्रतिहार का'[२] इस शब्द का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' अथवा संस्कृत के नाटको में नही मिलता । निश्चय ही यह अन्य 'महा' पदयुक्त उपाधियो के समान गुप्तकाल की ही विशेष उपाधि है । जीवितगुप्त द्वितीय के लेखो मे इसका उल्लेख हुआ है[३], पर इसके कार्य का कोई विवरण नही मिलता । प्रसाद गुप्तकाल में महाप्रतिहार की पद मर्यादा कुमारामात्य और महासधिविग्रहक के समक्ष मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहार दौवारिक एव अन्य सभी परिचारक उसके आधीन होते होगे और अन्तःपुर की मर्यादा की रक्षा के लिए वहाँ उनका इतना अधिकार होना होगा कि सम्राट् स्वय भी उसकी आज्ञा के बिना अन्त पुर मे प्रवेश नही कर सकते होगे । कम से कम प्रसाद की यही मान्यता है और महाप्रतिहार के अन्त पुर सरक्षको[४] का उल्लेख इस बात का समर्थन करता है । सालटोर 'महाप्रतिहार' और 'कचुकी' दोनो को एक मानते है ।[५] संस्कृत नाटको के अनुसार एक सर्वगुण सम्पन्न, सर्व कार्यकुशल, सत्य सम्पन्न, काम दोष विवर्जित वृद्ध ब्राह्मण ही कचुकी होता था । अन्त पुर के समस्त अधिकारो का प्रतीक दड उसके महत्त्वपूर्ण पद का निर्देश करता था ।[६] जहा तक अन्त पुर की मर्यादा की रक्षा का प्रश्न है वहाँ तक सालटोर का कथन उचित सा जान पडता है । स्वय साल्टोर ने अन्यत्र महादडनायक एव महासधिविग्रहक की श्रेणी में महाप्रतिहार को भी रखा है । परन्तु संस्कृत नाटको में कचुकी की पर्याप्त मर्यादा होते हुए भी उसे उपर्युक्त सम्मान नही मिला था । अतः कचुकी को महाप्रतिहार के समकक्ष रखने मे साल्टोर ने स्वय अपना विरोध किया है । 'चन्द्रगुप्त' नाटक में केवल एक बार 'कचुकी' का प्रवेश चन्द्रगुप्त को शयन के समय की सूचना देने के लिए हुआ है ।[७] यहा केवल इतनी सी बात के लिए एक नए पात्र का प्रवेश कराकर प्रसाद ने कचुकी की स्थिति और मर्यादा को और भी स्पष्ट कर दिया है । डॉ० वासुदेवशरण लिखते हैं कि 'प्रतिहारो के ऊपर महाप्रतिहार और उनका भी मुखिया उस काल मे दौवारिक कहलाता था' ।[८] महाप्रतिहार को प्रतिहारो का मुखिया मानने में तो कोई आपत्ति नही हो सकती । किन्तु दौवारिक को महाप्रतिहार के भी ऊपर किस प्रकार माना है यह चिन्त्य है । हम पहले कह चुके हैं कि प्रतिहारी या प्रतिहार दौवारिक से अधिक विश्वसनीय अथवा पद मर्यादा म अधिक होता था । यदि महाप्रतिहार को कचुकी के समकक्ष भी माने तो भी वह दौवारिक के ऊपर ही

---

(१) स्कद० १।३५
(२) वही १। ५
(३) सी आइ आइ (फ्लीट) ३।४६ पृ० २१६
(४) स्कद० १।३५
(५) लाइफ इन दि गुप्त एज पृ० २५१
(६) 'नागानन्द' अनुक्रमणिका 'अ' २०१ शाकुन्तल ५।८०
(७) लाइफ इन दि गुप्ता एज पृ० २५१ (८) चन्द्र० ४।२०७

होता होगा। 'प्रतिमा' नाटक से 'काञ्चुकीय' सभी द्वारो में स्थित 'दौवारिको' और 'प्रतिहारो' को सावधान रहने का आदेश देता है।[1] निश्चय ही वहाँ वह इन सबका मुखिया है। अत. महाप्रतिहार को मन्त्रियो की कोटि मे रखना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यही प्रसाद ने किया भी है।

पुरोहित

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक मे 'पुरोहित' उपद्रवो के बाद शांति कर्म के लिए स्वस्त्ययन करने आता है।[2] मदाकिनी उसे सम्मानसूचक 'आर्य' कहकर अभिहित करती है।[3] गुप्तसाम्राज्य के अमात्य को पुरोहित केवल 'शिखर' सबोधन करता है।[4] ये दोनो बाते पुरोहित की महत्त्वपूर्ण स्थिति की सूचक है। वह 'धर्मशास्त्र का मुख' माना गया है[5], धर्म के सम्बन्ध मे उसका निर्णय समस्त गुप्तकालीन परिषद् को मान्य है।

पाणिनि 'पुरोहितादिगण' में राजा और सेनापति को भी सम्मिलित करते है और वे इस प्रकार पुरोहित के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके लिए वेद और दडनीति दोनो मे पारंगत होना आवश्यक मानते है।[6] अर्थशास्त्र मे 'पुरोहित' का पद महत्त्वपूर्ण है। ऋत्विक, आचार्य, मत्री, सेनापति, युवराज, राजमाता एव राजमहिषी के साथ ही उसका स्थान है। एव उसे भी इनके समान ही प्रतिवर्ष ४८००० पण वेतन देने का विधान है।[7] 'शुक्रनीति' को डा० अग्रवाल गुप्तशासन का कौटिल्य अर्थशास्त्र मानते है। इसमे पुरोहित के सम्बन्ध मे निम्न उल्लेख महत्त्वपूर्ण है :

'पुरोधा. प्रथम श्रेष्ठ सर्वभ्योराजराष्ट्रभृत्'[8]

प्रसाद ने पुरोहित की चर्चा गुप्तकाल मे ही की है। अत. उनके पुरोहित मे भी शुक्रनीति के पुरोहित का गौरव होना ही चाहिए था। कालिदास के रघुवश से भी इसकी पुष्टि होती है कि धार्मिक कार्यों के सपादन मे पुरोहित का प्रथम स्थान था।[9] पुरोहित को 'धर्मशास्त्र का मुख' कहने में प्रसाद का यही अभिप्राय जान पड़ता है। स्वस्त्ययन एव धर्म सम्बन्धी निर्णय में प्रसाद ने इसी कारण उसको सर्वोच्च स्थान दिया है।

---

(१) प्रतिमा नाटक : भास : अक २ पृ० २४
(२) ध्रुव० ३।५०   (३) वही ३।५२
(४) वही ३।६१   (५) वही ३।६१
(६) इडिया ऐज नोन टु पाणिनि : अग्रवाल, देखिए 'पुरोहित'
(७) अर्थशास्त्र – ५।३।४
(८) शुक्रनीति २।७४
(९) रघुवश १७।१३

न्याय एवं न्यायाधिकरण

प्रसाद के नाटकों मे राजा को सर्वत्र प्रथम न्यायाधीश के रूप में चित्रित किया गया है। कोशल मे श्रावस्ती की राज सभा में प्रसेनजित पिता के रूप मे नही न्यायाधीश के रूप मे अपने पुत्र विरुद्धक और राजमहिषी शक्तिमती के विरुद्ध न्याय व्यवस्था देता है।[1] मगध की राजसभा मे नन्द शकटार, वररुचि, मौर्य, चाणक्य और चन्द्रगुप्त की माँ का न्याय कर उनको दडित करता है।[2] चन्द्रगुप्त अपने पिता का न्याय करता है[3], स्कन्दगुप्त उज्जयिनी में अभिषिक्त होते ही बदियो का न्याय करता है।[4] धर्म शास्त्रो मे तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे दुष्ट दमन पूर्वक शांति से प्रजा पालन के निमित्त राजा के लिये दड धारण करने की आवश्यकता बताई गई है। शुक्र के अनुसार दडनीति ही राजा के समस्त उपक्रमो को पूर्ण करने वाली है और दड ही समस्त धर्मो का उत्तम शरण है[5] मनु भी प्रजा की रक्षा के लिये दड धारण आवश्यक समझते हे।[6] इसी बात को ध्यान मे रखते हुए प्रसाद ने स्थान-स्थान पर राजा के लिये न्याय एव दड के महत्व का प्रतिपादन किया है। चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहता है 'सम्राट न्याय करना तो राजा का कर्तव्य है'।[7] चन्द्रगुप्त स्वय भी अपने पिता के अपराध को क्षमा न कर न्याय करना चाहता है।[8] गौतम बिबसार से कहते हैं 'विरक्तो' का भी राजदर्शन की आवश्यकता इसलिये हो जाती है कि न्याय का पक्ष विजयी हो'।[9]

न्याय

उक्त उक्तियो से पता चलता है कि राजा सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में होता था और उसका निर्णय अतिम निर्णय होता था, किन्तु स्कदगुप्त नाटक मे काश्मीर के एक न्यायाधिकरण का भी उल्लेख है जहाँ न्यायकर्त्ता एक कुमारामात्य है राजा नही।[10] इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि राजा मे प्रजा के लिये न्यायव्यवस्था सुलभ करने को 'न्यायाधिकरण' होते थे और उनमें राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश होते थे जिन्हे कुमारामात्य कहा जाता था। राजा अथवा कुमारामात्य को न्याय पथ मे प्रवृत्त करने के लिये राजदड होता था। राज व्यवस्था करने वाला यह राजदड धर्मशास्त्र और परपरा के आधार पर होता था। अर्थशास्त्र के धर्म स्थीय प्रकरण में लिखा है कि, 'शास्त्र के आधार पर ही निर्णय देना

---

(१) अजात० १।६२
(२) चन्द्र०
(३) वही ४।२४६
(४) स्कद० २।८३
(५) शुक्रनीति ४।४८
(६) मनुस्मृति
(७) चन्द्र० ४।२४६
(८) वही ४।२४६
(९) अजात०
(१०) स्कद ४।११६

चाहिये, उसके विरोध मे दिया गया न्याय धर्म युक्त न्याय नही कहा जा सकता।[1] प्रसाद ने भी धर्माधिकारी[2] तथा पुरोहित[3] को दड व्यववस्था देते हुए प्रदर्शित किया है और उनकी व्यवस्था मान्य समझी गई है। प्रसेनजित् अपने पुत्र के दड की व्यवस्था स्वय न कर धर्माधिकारी से व्यवस्था मागता है। किन्तु वह राष्ट्र का द्रोही है, "क्यो धर्माधिकारी उसका क्या दड है।" पुरोहित धर्मशास्त्र के अनुसार ध्रुवस्वामिनी को सम्राट रामगुप्त के विरुद्ध विवाह मोक्ष का अधिकार दे देता है और समस्त परिषद् उस निर्णय को सम्मान पूर्ण स्वीकार कर लेती है। कौशल के राजदड ने उससे पूर्व युवराज को पदच्युत नही किया अतः परम्परा का विरोध होने के कारण कोशल का आमात्य प्रसेनजित् के न्याय को न्याय नही मानता। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा के काल का विभाजन कर एक विशेष विभाग न्याय व्यवस्था के लिये निश्चित होता था, जिसमे वह न्यायाधिकरणो से आये हुए अभियोगो का अंतिम निर्णय करता था।[4] इस प्रकार वह राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायाधीश भी था। मेगस्थनीज से ज्ञात होता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त स्वय अभियोग सुनकर दड विधान करते थे और न्यायाधिकरणो मे आये हुए निर्णयो के सम्बन्ध में भी अपना निर्णय देते थे।[5] अभिज्ञान शाकुतल से यह ज्ञात होता है कि राजा नित्य ही एक विशिष्ट समय पर न्यायासन पर बैठकर न्याय व्यवस्था किया करता था।[6]

अर्थशास्त्र के अनुसार न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य है, जो राजा प्रजा की रक्षा नही कर सकता उसका दड धारण करना व्यर्थ है।[7] और 'केवल राजदड ही लोक और परलोक मे रक्षा करता है।[8] इसलिये राजा का पुत्र और शत्रु का निष्पक्ष न्याय करना चाहिये। विरुद्धक अपने पिता से न्याय चाहता है। प्रसेनजित कहता है कि मैं यहाँ पिता नही राजा हूँ। इसी प्रकार सम्राट चन्द्रगुप्त अपने पुत्र की हत्या का प्रयत्न करने वाले पिता का न्याय करना चाहता है। इन उदाहरणो मे क्षमा से न्याय को महत्व दिया गया है। परन्तु अन्यत्र प्रसाद ने क्षमा को इतना महत्व दे दिया है कि धर्मशास्त्र और दडनीति दोनो उसके प्रभाव से शिथिल हो गये है। धर्माधिकारी विरुद्धक का राजद्रोह के

---

(१) सस्थया धर्मशास्त्रयेण शास्त्र वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्यते धर्मेणार्थं निनिर्णयेत् १
शास्त्र विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित।
न्यायस्तत्र प्रमाण स्यात्तत्र पाठो ही नश्यति २
अर्थशास्त्र . कौटिल्य : ३।१।५६ ५७

(२) अजात० ३।१२९ (३) ध्रुव० (४) अर्थशास्त्र

(५) ऐशिएट इण्डिया : मैक्डिल : पृ०
बौद्ध कालीन भारत : पृ०

(६) अभिज्ञान शाकुतल : कालिदास : अक ५ : ६

(७) 'राज्ञः स्वधमः स्वर्गीय प्रजा धर्मेण रक्षितुः अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादडमतोऽन्यथा'।
अर्थशास्त्र : ३।१।५३

(८) 'दडो हि केवलो लोक परं चैम च रक्षति' अर्थशास्त्र ३।१।५५

लिये प्राण दंड की व्यवस्था देता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप मे मल्लिका एव अप्रत्यक्ष रूप से बुद्ध से प्रभावित प्रसेनजित् कहता है 'धर्माधिकारी' पिता का हृदय कितना सदय होता है कि नियम उसे क्रूर नही बना सकता। "मेरा पुत्र मुझ मे क्षमा भिक्षा चाहता है धर्मशास्त्र के उस पक्ष को उलट दो मैं एक बार अवश्य क्षमा कर दूँगा। उसे न करने से मै पिता नही रह सकता मैं जीवित नही रह सकता'[1] इसी प्रकार स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय देव देवकी देवी कहती है 'वत्स आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक मे एक बूँद भी रक्त न गिरे तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन दंड क्षमा के संकेत पर चला करे'।[2] इन दोनो उदाहरणो मे क्षमा को दंड व्यवस्था से ऊपर रख दिया गया है। पहले उदाहरण मे तो क्षमा स्पष्ट ही बुद्ध के व्यक्तित्व एव बौद्ध दर्शन से प्रभावित होने के कारण है किन्तु दूसरे उदाहरण में इस 'क्षमा' का समर्थन शुक्रनीति के आधार पर किया जा सकता है जहाँ दडनीति मे भी क्षमा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।[3]

प्रसाद के केवल दो नाटको मे 'न्यायाधिकरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक चन्द्रगुप्त मे और दूसरे स्कन्दगुप्त मे, चन्द्रगुप्त मे केवल एक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग

न्याधिकरण

भाववाचक अर्थ मे केवल 'एक व्यक्ति (सम्राट) मे केन्द्रित न्यायसस्था की ओर सकेत करता है। अन्यत्र यह न्याय सस्थान का अर्थ घोषित करता है।[4] स्कन्दगुप्त मे भी इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है,[5] न्यायकर्त्ता सभी स्थलो मे राजा ही है काश्मीर के न्यायाधिकरण में मातृगुप्त न्यायाधीश है। वह भी वहा का शासक ही है पर यहाँ उसे 'कुमारामात्य' कहकर सम्बोधन किया गया है[6]। प्रसाद द्वारा चित्रित न्यायाधिकरण के चार अंग है

१ न्याय कर्त्ता राजा या कुमारामात्य

२ अभियोक्ता . सिल्यूकस चाणक्य और कमला

३. अभियुक्त . अलका, मौर्य, सेनापति, राक्षस, भटार्क, शर्वनाग और विजया. और

४ राजकर्मचारी : दडनायक मृच्छकटिक नाटक मे न्यायालय और न्यायविधान की चर्चा अत्यन्त विस्तृत रूप से हुई है।[7] वहा न्यायकर्त्ता राजा से भिन्न है और 'अधिकरणिक' कहा गया है। अभियोक्ता और अभियुक्त क्रमश अर्थी, प्रत्यर्थी है। राजकर्मचारियो मे श्रेष्ठी, कायस्थ, नगर रक्षाधिकारी, शकार और शोधनक को गिनाया जा सकता है। जातको से यह ज्ञात होता है कि राजा स्वय न्यायकर्ता होता था।[8] अर्थशास्त्र में न्यायिकरण

---

(१) अजात० ३।१५६ (२) स्कद० २।८५

(३) 'क्षमायायस्तु पुण्य स्यात्तात्कि दड निपातनात्।
स्वप्रजादडनाच्छ्रेयः कथं राज्ञो भविष्यति। शुक्रनीति ४।५२

(४) चन्द्र० (५) स्कद०

(६) स्कद०

(७) मृच्छकटिक . शूद्रक . अक ९ पृ० ३७०।४२३ . गोडबोले . अनु० राइडर पृ० १३३।५२

(८) जातक भौ० ५।१२५ पृ० देखिये रघुवश १।१७

के स्थान पर 'धर्मस्थीय' और न्यायाधीश के 'धर्मस्थ' शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] वैशाली की मुद्राओं में 'वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण' का उल्लेख मिलता है।[2] गुप्तकालीन लेखों एवं मुद्राओं में 'श्री परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य अधिकरण' प्रयोग पाया जाता है। यहाँ अधिकरण का अर्थ न्यायालय है।[3]

प्रसाद के अनुसार मातृगुप्त काश्मीर के शासक नियुक्त किये गये थे और राजतरंगिणी भी इसका समर्थन करती है। इतिहास मातृगुप्त की किसी उपाधि से परिचित नहीं। प्रसाद ने उसे कुमारामात्य की उपाधि दी है और वह भी केवल एक बार जब वह काश्मीर के 'अधिकरण' में न्याय करने बैठा है। सम्भवतः प्रसाद ने गुप्तकालीन लेखों एवं मुद्राओं में अंकित 'कुमारामात्य अधिकरण' से प्रभावित होकर ऐसा किया हो।

दंड व्यवस्था

'अजातशत्रु' से ज्ञात होता है कि राजद्रोह के लिये मृत्युदंड दिया जाता था। प्रसाद इस दंड को शास्त्र सम्मत भी स्वीकार करते हैं।[4] जातकों में राजद्रोही को सूली पर चढ़ाने के कई प्रमाण मिलते हैं।[5] 'चन्द्रगुप्त' के अनुसार नन्द की व्यवस्था में राजद्रोह का दंड आजन्म कारावास है[6] और अधिकूप एवं देश से भी निष्कासन का दंड नन्द ने दिया है।[7] पर्वतेश्वर चाणक्य को सीमा से बाहर निकल जाने की आज्ञा देता है।[8] यही नहीं कि नंद राजद्रोहियों को हाथी से कुचलवाने की धमकी भी देता है।[9] मागध की जनता शकटार के निरीह बालकों की हत्या के बदले नन्द के बध की मांग करती है।[10] अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य की कामना, अन्तःपुर में अव्यवस्था, शत्रुओं को उभारना, सेना को राजा से कुपित करा देना, आदि राजद्रोह सम्बन्धी अपराधों के लिये स्पष्ट मृत्युदंड की आज्ञा दी गई है। इसका कारण परन्तु ब्राह्मण को अधिकूप में डालने का विधान है[11], इसका कारण यह है कि मनु के अनुसार ब्राह्मण अवध्य है और बड़े से बड़े अपराध पर भी उसको केवल निष्कासन दंड दिया जा सकता है।[12] वध (हत्या) के लिये वध का विधान भी अर्थशास्त्र सम्मत है।[13] स्कन्दगुप्त के अनुसार गुप्त साम्राज्य के विधान में कर प्रजा की रक्षा के लिये लिया जाता था। यदि उसकी रक्षा कोई अधिकारी नहीं कर सकता तो उसकी भृत्ति में काटकर पीड़ित को धन दिया जाता था और यदि वह धन अधिक होता तो राजकोष उसे देता और उक्त अधिकारी को उसका फल भोगना पड़ता।[14] गुप्तकालीन दंड व्यवस्था का उक्त विवरण अक्षरशः फाह्यान के भारत भ्रमण से लिया गया है।[15]

---

(१) अर्थशास्त्र ३।१

(२) इपिग्राफिक इण्डिका पृ० ५६ : मूल : पृ० ५५

(३) संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी आप्टे पृ० ४७

(४) अजात ३।१२६ (५) जातक (६) चन्द्र० (७) चन्द्र०

(८) चन्द्र० (९) वही (१०) वही

(११) अर्थशास्त्र : कौटिल्य : ४।११।१७ (१२) मनुस्मृति

(१३) 'वध वध' अर्थशास्त्र ४।१८।१,८ (१४) स्कन्द०

(१५) ट्रैवल्स आफ फाहियान।

रणनीति

युद्ध और संधियों के द्वारा अपने राज्य का विस्तार करना प्रसाद के सभी नाटकों के नायकों की महत्त्वकांक्षा रही है। अजातशत्रु की माँ की इच्छा उसे भरत खण्ड का सम्राट् देखने की है।[1] चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है[2] और इसीलिए चाणक्य का उसे आदेश मिलता है कि महत्त्वकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। स्कंदगुप्त अवश्य राज्य के प्रति उदासीन प्रतीत होता है, परन्तु चक्रपालित और पर्णदत्त बार बार उसे सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करने को उत्तेजित करते रहते हैं।[4] रामगुप्त स्वयं दिग्विजय करने के उद्देश्य से निकलता है[5] और ध्रुव के चरणों में उत्तरापथ के समस्त सम्राट् नतशिर हैं।[6] इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र ऐसे वाक्यों की कमी नहीं है कि जिनमें युद्ध के महत्त्व का प्रदर्शन हुआ है। वैसे भी प्रसाद के कथानक भारत के इतिहास के उन कालों का समेटे चलते हैं जिनमें वीरता को भी एक सुन्दर कला माना जाता था[7] और वीरों में विजय लिप्सा का होना स्वाभाविक माना जाता था। दिग्विजय, अश्वमेध और चक्रवर्ती जैसे अत्यन्त प्राचीन शब्द भी सम्राटों के राज्य विस्तार की भावना को प्रदर्शित करते हैं। भारतीय परम्परा में सम्राटों का आदर्श ही अश्वमेध था[8] और वे "सागरपर्यन्ता मही" का विजय करना अपना धर्म समझते थे।

साम्राज्य लिप्सा और युद्ध।

भारतीय रणनीति की उल्लेखनीय विशेषता है उसके "धर्मयुद्ध"। यहाँ युद्ध का अर्थ हत्या नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध के समय भी किसान सैनिक शिविर के समीप निःशंक होकर रह सकें, ऐसी व्यवस्था आवश्यक है।[10] यूनानी इतिहासकारों को युद्ध के समीप ही कृषकों को निर्भय हल चलाते देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ था, और उन्होंने इसकी बड़ी प्रशंसा की थी।[11] यही नहीं दक्षिण के एक लेख के अनुसार युद्ध के पूर्व विरोधी दल नेता ग्रामों पर आक्रमण न

धर्मयुद्ध

---

(१) अजात० २।१०७
(२) चन्द्र० ३।१५०
(३) वही ५।१६६
(४) स्कन्द० २।५२
(५) ध्रुव० ११७
(६) शुक्रनीति १।३२
(७) चन्द्र० २।१२५
(८) महाभारत १२।८।२५
(९) शुक्रनीति १।६६
(१०) दि सिविलिजेशन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया —लुई रेनू—पृ० १२३
(११) वही १२३

करने का निश्चिय कर लेते थे।[1] प्रसाद के नाटको मे इस प्रकार के धर्म युद्धो के सकेत मिलते है—'वे हमी लोगो के युद्ध है। जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है।[2]" और हम लोग युद्ध करना जानते है—द्वेष नही।[3] कौटिल्य ने तीन प्रकार के विजयी राजा बतलाये है—"धर्मविजयी", 'लोभविजयी" और "असुरविजय"। धर्मविजयी विजित के आत्म समर्पण से ही सतुष्ट हो जाती है।[4] प्रसाद के अनुसार धर्मविजयी के उदाहरण है—चन्द्रगुप्त मौर्य और स्कदगुप्त विक्रमादित्य। चन्द्रगुप्त सिकन्दर के घायल होने पर सिकन्दर की हत्या नही करता और उसे जाने देता है।[5] स्कदगुप्त, खिंखिल को परास्त करने पर भी उसे भारत की सीमा के उस पार जाने का आदेश देकर छोड़ देता है।[6] लोभ-विजयी के उदाहरण है—हूण, जिन्हे जयमाला "अर्थलोलुप शृगाल" कहती है। 'राज्यश्री" का देवगुप्त असुरविजयी का उदाहरण है जो एक तो ग्रहवर्मा के प्राण लेने का षडयन्त्र करता है, दूसरे कान्यकुब्ज के सिंहासन का अपहरण करता है और तीसरे राज्यश्री को भी अपनी कामनाओ का साधन बनाना चाहता है। धर्म युद्ध मे विजित राजा की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी होते हुए भी उसकी रानियो पर विजेता राजा का कोई अधिकार नही होता था। युद्ध बदियो को वह पुत्रवत् समझता था। 'ध्रुव स्वामिनी" नाटक मे शकराज को पराजित करने के उपरात चन्द्रगुप्त अपने को शकराज के समस्त अधिकारो का स्वामी अवश्य समझता है[9], किन्तु वह कोमा इत्यादि के साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार नही करता। किन्तु युद्ध मे बन्दी "निरीह शको का सहार[10]" कर रामगुप्त ने धर्मयुद्ध के नियम की अवहेलना की थी जिसके परिणाम स्वरूप उसे अपने ही सामन्तो का कोप भाजन होना पडा था।

धर्मयुद्ध मे प्राण देने के महत्व का गुण गान अत्यन्त प्राचीन काल से किया जा रहा है। "अप्सरायें सम्मुख युद्ध मे मरने वाले को पतिरूप मे वरण करने के लिए दौडती हुई आती है . और उसे सूर्य लोक प्राप्त होता है।[11] "धर्मयुद्ध मे मरने पर स्वर्ग और जीतने पर पृथ्वी भोग प्राप्त होगा[12]"—गीता के इस वाक्य ने तो न जाने कितने वीरो को मातृभूमि के लिए अपना बलिदान करने को प्रेरित किया। प्रसाद के नाटको मे भी इस भावना को प्रश्रय मिला है। अलका आम्भीक को मर मिटने का आदेश इसलिए देती है कि—"स्वर्ग की अप्सरायें विजयमाला लेकर खडी होगी, सूर्यमडल मार्ग बनेगा

(१) दि सिविलिजेशन इन ऐंशिन्ट इण्डिया (लुई रेनू) पृष्ठ १२३
(२) चन्द्र २।१४५
(३) वही ३।१६५
(४) अर्थ १२।१।११-१३
(५) चन्द्र० २।१५१
(६) स्कद० ५।१५२
(७) स्कन्द० १।२४
(८) पौलिटिकल थौट इन दि पुराणाज—(जगदीशलाल शास्त्री) पृ० २५
(९) ध्रुव० ३।५६
(१०) ध्रुव० ३।५६
(११) शुक्रनीति ४।४८, ४।८३-४४
(१२) गीता २।३७

और उज्जवल आलोक से मण्डित होकर गान्धार राजकुल अमर हो जायगा।[१]" बन्धुवर्मा अपने वीरो को हूणो से लडने के लिये यह कहकर उत्साहित करता है कि— उनकी विश्वविजयिनी वीर गाता सुर-सुन्दरियो की वीणा के साथ मन्द ध्वनि से नन्दन मे गूँज उठेगी।[२]"

प्रसाद न अपने नाटको मे सेना के लिए "वाहिनी"[३] तथा "सेना"[४] दोनो का प्रयोग किया है। परन्तु सेना शब्द दो विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। मुख्यत: यह शब्द सम्पूर्ण सेना का अर्थ देता ज्ञात होता है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के बलो का समावेश हो जाता है। परन्तु एक स्थल पर वह एक टुकडी का अर्थ देता जान पडता है।[५] कौटिल्य और उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने "सैन्य" (सेना) शब्द को सम्पूर्ण बल के अर्थ मे लिया है, टुकडी के अर्थ मे नही।[६] हाँ, गजसेना, अश्व सेना इत्यादि मे सविशेषण सेना का प्रयोग सेना के एक अग विशेष के लिए हुआ है। प्रसाद के नाटको में "चतुरगिणी" का प्रयोग न होते हुए भी गजसेना[७], अश्वसेना[८], रथी[९] और पदाति, सेना के इन चारो अगो का उल्लेख हुआ है। 'पदाति" शब्द का प्रयोग तो प्रसाद मे नही मिलता किन्तु वहा कही भी "सैनिक" शब्द का प्रयोग बिना किसी विशेषण के हुआ है वहा वह पदाति सैनिक का अर्थ देता है। चतुरगिणी सेना में पदाति सैनिको की सख्या सबसे अधिक होती थी, इसका समर्थन शुक्रनीति से भी होता है।[१०] ध्यान देने की बात यह है कि सेना के इन अगो की चर्चा केवल "चन्द्रगुप्त" और "राज्यश्री" नाटको के सम्बन्ध में ही हुई है। इतिहास से ज्ञात होता है कि नन्द की सेना मे २००००० पदाति सैनिक, ८००० रथ ८०००० घुडसवार ८९९ सैनिक तथा ६००० हाथी थे[११]। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में ६०००० पदाति सैनिक, २००००० पदाति सैनिक, ३०००० घुडसवार और १००० हाथी थे[१२], एव हर्ष की सेना मे आरम्भ मे ५००० पदाति सैनिक, २००० घुडसवार एव ५००० हाथी थे।

चतुरगिणी सेना के अतिरिक्त जलसेना या "नौ-बल" का भी प्रसाद ने उल्लेख किया है।[१४] उक्त उल्लेख केवल सिकन्दर के बेडे और मालवो की जल-सेना के ही सबन्ध में हुआ है। प्लूटार्क ने सिकन्दर की जल-सेना के साथ मालवो के नौ-बल के युद्ध का विवरण दिया है।[१५] कौटिलीय अर्थशास्त्र के नावाध्यक्ष प्रकरण से ज्ञात होता है कि व्यापार-कार्य से लेकर युद्ध तक प्राय: सभी कार्यों मे नौकाए काम में लाई जाती थी।[१६] साहित्य और इतिहास

---

(१) चन्द्र० ३।२२० (२) स्कद० २।१०१
(३) स्कद० १।४५, चन्द्र० १।७८ (४) अजात० २।८७, राज्यश्री १।१९
(५) चन्द्र० १।७१, (६) अर्थशास्त्र ९।२।६
(७) चन्द्र० २।१२२, राज्यश्री ३।५८ (८) वही २।१२२, वही ३।५८
(९) वही २।१२२ (१०) पादात स्वगम धान्येद्रथाश्वगजगभिया"—शुक्रनीति
(११) प्लूटार्क ऐज ट्रासलेटेड बाइ मेक्क्रिडल इन इन्वेजन' पृ० ३१०
(१२) प्लिनी ऐज कोटेड बाइ शास्त्री इन 'एज आफ नन्दाज ऐंड मोर्याज पृ० १८८
(१३) रेकर्ड्स आफ हुआनचाग (बीस) १।५ (१४) चन्द्र० २।१३९
(१५) लाइव्ज (प्लूटार्क) पृ ११२'लाईफ आफ ऐलेक्जेंडर' (१६) अर्थशास्त्र २।२८।२१

दानो से इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हे कि मौर्य काल के पश्चात् भी नो सेना का प्रयोग किया जाता था। रघु ने अपने दिग्विजय मे नौबल के कारण अजेय समझे जाने वाले बग देश को भी जीत लिया था।[७] अजन्ता की बारहवे नम्बर की गुफा के चित्र मे लम्बे-लम्बे भाले लिए हुए पाच छः सैनिक एक नाव मे नदी पार करते हुए दिखाए गये है।[८] आश्चर्य है कि 'चन्द्रगुप्त-नाटक' के अतिरिक्त गुप्तकाल के किसी भी नाटक मे प्रसाद ने "नो सेना" की चर्चा नही की है—यद्यपि 'स्कदगुप्त' नाटक मे इसके पर्याप्त अवसर थे।

युद्ध के लिए विशेष रूप से काम में लाई जाने वाली नोकाओ को प्रसाद ने 'हिंस्रिका' कहा है।[९] "हिंस्रिका" शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने भी ठीक इसी अर्थ मे किया है।[१०] स्पष्ट है कि प्रसाद ने मालवो की हिंस्रिकाओ के वर्णन मे कौटिल्य को आधार माना है।

शुक्र और कौटिल्य ने 'मौल सेना' 'भृत्य सेना' आदि के रूप में सैनिको के कुछ भेदो का वर्णन किया है। पर प्रसाद के नाटको मे इन सबकी तो चर्चा नही, किन्तु 'शान्ति रक्षको'[११] एव शरीर रक्षको'[१२] की चर्चा अवश्य हे। शान्ति रक्षक सैनिको को हम आधुनिक

सैनिक। पुलिस का पूर्व रूप मान सकते हे और शरीर रक्षक सैनिक तो अर्थ शास्त्र मे 'अगरक्षक' ही है जो सम्राट या किसी प्रमुख अधिकारी की रक्षा के लिए नियुक्त किये जाते थे।

शुक्रनीति के अनुसार जिन आयुधो का प्रयोग फेककर किया जाता है उन्हे अस्त्र कहते है और अस्त्र से भिन्न शस्त्र कहलाते है।[१] बाण और चक्र अस्त्र है तथा खड्ग और

शस्त्राशस्त्र परशु शस्त्र। किन्तु प्रसाद ने अस्त्र और शस्त्र का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया है। यही नही उन्होने ढाल तक को अस्त्रो मे गिना दिया है।[२]

अस्त्रो मे 'धनुष' और 'बाण' का प्रयोग का उल्लेख 'अजातशत्रु' और 'चद्रगुप्त' मे मिलता है। 'अजातशत्रु' मे प्रसाद ने मल्लो के विरुद्ध बन्धुल की अद्भुत बाण विद्या का

अस्त्र उल्लेख किया है।[३] यह विवरण अक्षरश जातकग्रथो मे उद्धृत है। फलतः धनुर्विद्या का कौशल बुद्ध-काल मे अत्यन्त प्रचलित रहा होगा। तक्षशिला मे धनुर्विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी।[४] चद्रगुप्त मौर्य के काल तक भी मनुष्य बाण अत्यन्त महत्वपूर्ण अस्त्र समझे जाते थे। ग्रीक इतिहासकारो के अनुसार भारतीय धनुर्धर बडे धनुष काम मे लाते थे। धनुष की कोटि को पृथ्वी पर रखकर पैर से दबा दिया जाता था, तब प्रत्यचा चढाई जाती थी। इन धनुषो द्वारा छोडे गये बाण अचूक होते थे और मोटे से मोटे कवचो को भी पार कर जाते थे।[५] धनुष बाणो का

---

(७) रघुवश ४।३६

(८) पेन्टिग्ज इन दि बुद्धिस्ट केव टेम्पल्स ऑफ अजन्ता (ग्रिफिल्स) केव न०.१७।१२

(९) चन्द्र० १।१४३। (१०) बौद्धकालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० ९०

(१) शुक्रनीति ४।२४-२५ (२) स्कद० १।९ (३) अजात० २।७५

(४) देखिये 'शिक्षा और कला' वाला परिच्छेद

(५) इडिका (ऐरियन) चैप्टर १६

व्यवहार बहुत पीछे तक होता रहा है। परन्तु प्रसाद ने गुप्तकालीन तथा परवर्ती नाटकों में इसका उल्लेख नहीं किया है।

शस्त्र

शस्त्रों में खड्ग, छुरी, कटार और भाले का उल्लेख हुआ है। खड्ग अत्यन्त प्राचीन शस्त्र है और तक्षशिला में असिसंचालन की शिक्षा भी दी जाती थी।[1] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में खड्ग तीन प्रकार के बतलाए हैं[2] प्रसाद ने अधिकांश स्थलों पर खड्ग के लिए तलवार का प्रयोग किया है। उसके साथ ही 'म्यान'[3] शब्द का प्रयोग भी किया गया है। परन्तु तलवार और म्यान शब्द ग्यारहवीं शती के पश्चात् ही भारत में आये। अतः प्रसाद के नाटकों में इन शब्दों का प्रयोग ऐतिहासिक दूषण कहा जा सकता है। प्रसाद ने 'छुरी'[4] शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है। निश्चय ही यह "छुरी" कौटिल्य की "क्षुरिका" है और प्रसाद के नाटकों के वातावरण में "क्षुरिका" अधिक उपयुक्त बैठती है। कौटिल्य के "क्षुरिका" के साथ साथ "क्षुरकल्प" (क्षुर के समान) शस्त्रों का वर्णन किया है, और उनमें परशु कुठार, पट्टिश, खनित्र आदि को गिनाया है। छुरी के समान सीधी धार होने के कारण इनको यह नाम दिया गया है।[5] प्रसाद ने "कटार"[6] का भी प्रयोग कुछ स्थलों पर किया है, परन्तु यह शब्द प्राचीन नहीं प्रतीत होता, यद्यपि "भाला" भारत का अत्यन्त प्राचीन शस्त्र रहा है तथापि प्रसाद ने इसका उल्लेख केवल ग्रीकों के संबंध में ही किया है।[7] कौटिल्य ने भाले के लिए 'कुन्त"[8] शब्द का और कालिदास ने "भल्ला'[9] का उल्लेख किया है। यूनानी तो युद्ध में भाले का प्रयोग करते ही थे।

उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त प्रसाद ने दुर्ग ध्वंस करने के यंत्रों का भी उल्लेख किया है।[10] ये यंत्र शुक्रनीति के अस्त्रों की श्रेणी में आते हैं शस्त्रों में नहीं। अर्थशास्त्र में दस ऐसे यंत्रों का उल्लेख है जो धरती में गाढ़ दिए जाते थे। इसमें 'सर्वतोभद्र" और "जामदग्न्य' दुर्ग ध्वंस के लिए बहुत उपयुक्त बतलाए गए हैं, क्योंकि ये चारों ओर घूम-घूम कर गोली की मार करते थे तथा बीच के छेद से बड़े-बड़े गोले फेंकते थे।[11] प्रसाद ने कौटिल्य के समान अस्त्र और शस्त्र दोनों के लिए "आयुध" शब्द का प्रयोग भी किया है।[12]

पताका

राजचिन्ह और सैनिक चिन्हों के रूप में पताकाओं का उल्लेख बहुत प्राचीन है। रामायण और महाभारत काल में भी ध्वजा पताकाओं का उपयोग मिलता है। कालिदास ने रघुवंश में सेना की ध्वजाओं का उल्लेख करते हुए "मत्स्यध्वज" "पत्ररथेंद्रकेतो" जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।[13] युद्धों के अवसर पर किसी विशेष चिन्ह से उपलक्षित ध्वजाओं का स्वपक्ष और

---

(१) देखिए शिक्षा और कला (२) निस्त्रिंश, मंडलाग्र तथा असियष्टि—अर्थशास्त्र २।१८।१३
(३) स्कंद० १।३४ (४) स्कंद १।३६, ध्रुव १।२६
(५) अर्थशास्त्र २।१८।१५ (६) ध्रुव० २।४८ (७) चन्द्र० २।११०
(८) अर्थशास्त्र २।१८।८ (९) रघुवंश ४।६३, ७।५८; ९।६६
(१०) चन्द्र० २।१४९ (११) अर्थशास्त्र २।१७।६
(१२) चन्द्र० २।१४९ कौटिल्य "आयुधागाराध्यक्ष प्रकरण"
(१३) रघुवंश ३।५६, ६, ४५, ७ ४०।१८।३०

परपक्ष दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व होता था। अपनी ध्वजा को ऊंचा फहराकर अपने पक्ष के योद्धाओं का उत्साह बढाया जाता था, और शत्रुपक्ष को हतोत्साह करने के लिए सबसे पहले उनकी ध्वजा का बाण का लक्ष्य बनाया जाता था।[1] ये पताकाएँ राजकीय भी होती थी और व्यक्तिगत भी।[2] "अजातशत्रु" में 'कौशल की विजयिनी पताका'[3] "चन्द्रगुप्त" में "पौरव पर्वतेश्वर की पताका"[4] तथा "मगध की पताका"[5] का उल्लेख है पर उनके ऐतिहासिक स्वरूप का कोई विवरण नही मिलता। परन्तु गुप्त शासको के 'गरुडध्वज" का उल्लेख 'स्कंदगुप्त" में कई बार हुआ है।[6] गरुडध्वज गुप्त साम्राज्य की पताका है और पर्णदत्त जैसे वीर सेनानी गरुडध्वज को आगे कर सेना का संचालन किया करते थे। पुरगुप्त "गुप्त साम्राज्य की पताका" गरुडध्वज को वक्षु के मैदान मे फहराना चाहता था। युद्ध मे पताका आगे आगे चलती थी और इसकी रक्षा के लिए पृथक् सेना नियुक्त की जाती थी सैनिक पताका के सम्मान की सुरक्षा के लिए अपने प्राणो तक का उत्सर्ग कर देता था, और साम्राज्य के ध्वज की छाया मे मर मिटने की कामना क्षत्रिय का परम धर्म समझा जाता था। गुप्त शासको के शिलालेखो और उनकी मुद्राओं मे इस बात की पुष्टि होती है कि 'गरुड ध्वज" उनका "राज्य चिन्ह" था और उनके शासन काल मे इस ध्वजा का अत्यन्त सम्मान था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनो की मुद्राओ मे इन दोनो को स्वयं ध्वजा लिए हुए चित्रित किया गया है।[7]

रण-वाद्य

प्रसाद के नाटको मे प्रायः सभी युद्धो मे रणवाद्यो के बजने का उल्लेख हुआ है। परन्तु अधिकतर स्थलो मे 'रण-वाद्य'[8] मात्र लिखकर वे मौन हो गए है। वे वाद्य क्या होते थे, किस प्रकार के होते थे, इस विषय मे उन्होने कुछ नही लिखा। कुछ ही स्थलो मे स्वतन्त्र रूप मे कुछ रण वाद्यो का उल्लेख हुआ है, जिनके द्वारा प्रसाद ने प्राचीन युद्ध परिपाटी की झलक दे दी है। प्रसाद ने युद्ध के प्रारम्भ होने से ठीक पूर्व "भारतीय और यवन रणवाद्य" का

(१) दि स्टेंडर्ड ऑफ ए ग्रेट नाइट इज वैल स्पोकन ऑफ ऐज दि अपहोल्डर ऑफ दि होल आर्मी .... दि फ्लेग पोल वाज ऑफन दि फर्स्ट ऑब्जैक्टिव पोइंट ऑफ दि फोज ऐरोज। व्हेन दि सिम्बल फौल्स, दि होल पार्टी फौल्स इन्टु डिस्मे एंड डिसआर्डर—हौप्किंस इन जे ए ओ ऐस, १३ पृ० २४३
(२) दे (फ्लैग्ज) आर नौट, हाउएवर नेशनल बट इंडिविज्युअल —वही पृ० २४३
(३) अजात० १।५४
(४) चन्द्र० १।६६
(५) चन्द्र० २।१२१
(६) स्कंद० १।६, ३।६२, ३।१०३, ३।६५
(७) समुद्रगुप्त की ध्वजवाली स्वर्ण मुद्रा चन्द्रगुप्त द्वितीय की धनुधर वाली मुद्रा —कैटैलोग ऑफ इंडियन कौइंज इन ब्रिटिश म्यूजियम —(ऐलेन)
(८) चन्द्र० ४।२३६–२३८

बजना सूचित किया जाता है।[1] भारतीय युद्धो मे रणवाद्यो का प्रयाग अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत मे युद्ध के पूर्व बजाए जाने वाले अनेको रणवाद्यो का उल्लेख हुआ है।[2] कालान्तर मे कालिदास के युग मे भी सेना के प्रयाण तथा युद्ध दोनो अवसरो पर रण वाद्यो के बजाये जाने का उल्लेख मिलता है।[3] प्रसाद के नाटको मे निम्न रण वाद्यो का उल्लेख हुआ है— शख,[4] तुरही,[5] रण-भेरी[6] तथा तूर्य।[7] तूर्य और तुरही म नाथक ह। ध्रुवस्वामिनी सामन्तकुमारो को सकेत देने के लिए तूर्य नाद करता है।[8] तथा स्कदगुप्त मे नायक सैनिको को इकट्ठा करने के लिए तुरही बजाता है,[9] निश्चय ही प्रसाद के ध्यान मे कौटिल्य का अर्थशास्त्र रहा होगा जिसके अनुसार सेनापति रण के लिए प्रस्तुत व्यूहबद्ध सेना को विशेष प्रकार के तुरही नाद आदि से सचेत करता था।[10] रण भेरी महाभारत काल मे राजपूत काल तक के युद्धो मे बराबर उपयोग मे लाई जाती रही है।

शखो का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत मे युद्ध क पूर्व बजाये जाने वाले अन्यान्य वाद्यो के साथ "शखो" का उल्लेख हुआ है।[11] सभवत शखनाद युद्ध के प्रारम्भ का प्रथम सकेत होता था। महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ का सूचना भीष्मपितामह ने ही सर्वप्रथम शख फूककर दी थी।[12] कालिदास ने भी रण-वाद्यो मे शख को स्थान दिया है।[13] शख युद्ध के प्रारम्भ तथा अन्त दानो मे बजाया जाता था, पर अन्त मे केवल विजेता ही बजाता था।[14] प्रसाद ने स्पष्टत शख का रणवाद्य नही लिखा है केवल चक्रपालित की युद्ध सबधी उक्ति से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते ह कि वे "शख" को रण-वाद्य मानते है।[15]

प्रसाद ने अपने नाटको मे स्थान स्थान पर युद्ध मे स्त्रियो का प्रत्यक्ष सबन्ध जोडा है। अजातशत्रु' के अतिरिक्त अन्य सभी नाटको मे स्त्रियाँ युद्ध क्षेत्र मे विभिन्न काय करती हुइ प्रदर्शित की गई ह। प्राचीन सस्कृत वाङ्मय तथा अन्य ऐतिहासिक आधार प्रसाद के उक्त मत की पुष्टि करते ज्ञात होते ह।

युद्ध मे स्त्रियाँ।

प्रसाद द्वारा चित्रित प्राचीन भारतीय समाज की स्त्रियाँ युद्ध मे "अन्नपान और भैषज्य सेवा" का सबसे महत्वपूर्ण कार्य करती हे।[16] प्रसाद क उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियो का दल एक नियमित सेवा विभाग की भाँति युद्ध क्षेत्र मे सेनापति के अाधीन काय करता होगा। 'अन्नपान और भैषज्य सेवा" करने वाली स्त्रियाँ मालविका को अपना प्रधान चुनती है और मालवो की युद्ध-परिषद् के गणमुख्य उनके इस निर्णय का स्वीकृति

(१)	चन्द्र०	३।१६४	(२)	महाभारत	७ १०५
(३)	रघुवश		(४)	स्कद०	२।५२
(५)	वही	३।१०७	(६)	चन्द्र०	२।१२८
(७)	ध्रुव०	२।४८	(८)	वही	२।४८
(९)	स्कद०	३।१०७	(१०)	अर्थशास्त्र	१०।१४.
(११)	गीता	१।१३	(१२)	वही	१।१२
(१३)	रघु०	७।६३--६४	(१४)	वही	७।६३
(१५)	स्कद०	२।५२	(१६)	चन्द्र०	२।१४०

दते है।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि वह दल स्वतन्त्र न होकर सेना का एक अग होता था। मालविका चन्द्रगुप्त को सूचना देती है कि वह—'स्कधावार के पृष्ठ भाग मे अपने साधन रखती है तथा एक क्षुद्र भाण्डार उसके उपवन मे भी रहेगा।'[2] चन्द्रगुप्त विचार करने के उपरान्त[3] ही उसे इसकी अनुमति देता है। चन्द्रगुप्त मालव-क्षुद्रको की सम्मिलित सेना का महाबलाधिकृत[4] है और उसकी आज्ञा सैनिक नियमणो से सबन्ध रखने वाले प्रश्नो पर आवश्यक है। प्रसाद के नाटको के अनुसार युद्ध काल मे आहतो की सेवा का समस्त प्रबन्ध ये स्त्रियाँ ही किया करती थी।[5] हर्ष के काल मे भी स्त्रियाँ युद्धभूमि मे हताहतो की सेवा इत्यादि का प्रबन्ध करती रही होगी जैसा "राज्यश्री" से ध्वनित होता है।[6]

उक्त विचारो के लिए प्रसाद कौटिल्य के ऋणी है। सेना के प्रयाण के स्वरूप और प्रकार का उल्लेख करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि स्कधावार के पृष्ठभाग मे चिकित्सको एव चिकित्सा सबन्धी शस्त्र और औषधियो के साथ साथ पुरुषो को अन्नपान आदि पहुँचाने तथा उनकी सेवा करने के लिए स्त्रियाँ भी होनी चाहिए।[7]

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि स्कधावार के पृष्ठ-भाग मे ही मालविका अपने साधन रखती है। अन्नपान भैषज्य से सबन्धित होने के कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ये स्त्रियाँ उक्त कार्यो मे विशेष रूप से शिक्षित एव दक्ष होती होगी।

प्रसाद ने शिविर और स्कधावार दोनो मे स्त्रियो की उपस्थिति चित्रित की है। आम्भीक के शिविर के सबन्ध मे "अन्तःपुर की महिलाओ"[8] का उल्लेख हुआ है। 'आगामी युद्ध से दूर रहने के लिये शिविर की सब स्त्रियाँ स्कधावार मे साम्राज्ञी के साथ जा रही है।[9] कार्नेलिया स्कधावार मे न जाकर अपने पिता के साथ यही (शिविर मे) रहने का निश्चय[10] करती है।

अर्थशास्त्र के अनुसार स्कधावार के पीछे आधे भाग मे अन्तःपुर और उसके पीछे ही उसकी रक्षक सेना होनी चाहिए।[11] इससे यह स्पष्ट है कि स्कधावार मे युद्ध स्थल के समीप या कुछ दूर पर ही राजाओ के अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी रहा करती थी। बाण की साक्षी के अनुसार सेना के अभियान मे एक शिविर के उठाते समय सोये हुए प्रेमियो को जगाती हुई "ग्रामचेटी" का उल्लेख हुआ है।[12] इससे भी उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त सिकन्दर की विजयो के विवरणो से स्पष्ट है कि भारत मे भी उसके साथ स्कधावारो मे विजित राज्यो की स्त्रियाँ रही है।[13] प्लूटार्क ने लिखा है कि फारस मे दारा की पत्नी व कन्याओ के अतिरिक्त कई ग्रीक स्त्रियाँ तक उसके सेनानिवेश मे थी।[14]

---

(१) वही २।१४० (२) वही २।१४४ (३) वही १।१४४
(४) चन्द्र० २।१४० (५) वही १।१४६
(६) राज्यश्री ३।५७ (७) अर्थशास्त्र १०।३।६२ पृ० ४७८ (सम्राणिक)
(८) चन्द्र० २।११४ (९) वही २।१०८
(१०) वही २।१०८ (११) अर्थशास्त्र १०।१।३ पृ० ४५७
(१२) हर्षचरित ग्रामकिन्या' (अ, ४, पृ० १३७, प० ५ मूल)
(१३) लाईव्ज प्लूटार्क (लाईफ ऑफ एलग्जेंडर) (१४) वही

प्रसाद ने कई स्थलो पर स्त्रियो का योद्धाओ की रण के लिए प्रेरित करते हुए प्रदर्शित किया है । जयमाला के उत्साहवर्द्धक वाक्य[1] एक आदर्श भारतीय नारी के सामान्य उद्गार है । अलका अर्थ पताका लिये हुए तक्षशिला के नागरिको का युद्ध के लिए उत्तेजित करती है ।[2] मन्दाकिनी शकराज के विरुद्ध जाते हुए सामन्तकुमारो के आगे उत्साहवर्द्धक गीत गाती हुई चलती है । ये दोनो उदाहरण कौटिल्य के पूर्ण उद्धृत विशेषण "पुरुषाणामुद्धर्षणीया." की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते है ।

प्रसाद ने युद्ध मे सक्रिय रूप से भाग लेती हुई स्त्रियो का भी चित्रण किया है । कल्याणी का पुरुष वेश मे गान्धार युद्ध मे मगध की एक सेना का सेनापतित्व प्रसाद की कल्पना मात्र है ।[3] किन्तु उन दिनो स्त्रियो को भी युद्ध सबन्धी शिक्षा दी जाती थी । इसका समर्थन ग्रीक इतिहासकारो ने किया है । कठ जाति की नारियो ने ग्रीक सैनिका मे सचमुच प्रेलयकर युद्ध किया था ।[4] अलका ने मालव दुर्ग के परकोटे मे बाण वर्षा कर सिकन्दर के कई सैनिको को मार गिराया था और उसी युद्ध मे सिकन्दर भी घायल हो गया था ।[5] इसका आधार भी ग्रीक इतिहासकारो का उल्लेख ही प्रतीत होता है ।

युद्ध के पूर्व सेना के निवास स्थान के लिए प्रसाद ने स्कन्धावार[6] शिविर,[7] सेना-निवेश[8] तथा छावनी[9] का प्रयोग किया है । युद्धभूमि के समीप ही सेना के आवास के अर्थ मे स्कधावार तथा शिविर दोनो का प्रयोग प्राचीन है ।[10] अर्थशास्त्र के साग्रामिक अधिकरण का पहिला अध्याय ही "स्कधावार निवेश" का है । फलत सेना-निवेश की साक्षी भी उपलब्ध है । छावनी शब्द अवश्य आधुनिक है और सभवतः मुसलमानो के आक्रमण के उपरान्त ही इसका प्रयोग भारत मे होने लगा होगा । स्कन्धावार तथा शिविर शब्दो के प्रयोग से प्रसाद विशेष स्पष्ट नही है । 'आगामी युद्धो से दूर रहने के लिये शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार मे साम्राज्ञी के साथ जा रही है[11]'—इस कथन मे शिविर और स्कन्धावार दो विभिन्न अर्थो का बोध करा रहे है, परन्तु—"चन्द्रगुप्त को सिन्धु के उस पार जाना होगा—यवन स्कन्धावार पर आक्रमण करने'[12] तथा "जब चन्द्रगुप्त की सेना सिन्धु के उस पार पहुच जाय, तब तुम्हे ग्रीको के प्रधान शिविर की ओर उस आक्रमण को प्रेरित करना होगा[13]'

शिविर, स्कधावार

---

(१) स्कद० १।४८ (२) चन्द्र० ४।२१७
(३) चन्द्र० २।११७
(४) दि सिविलिजेशन आफ ऐशिएट इण्डिया (लुई रेनू) पृ० ७१
(५) चन्द्र० २।१५०
(६) चन्द्र० ४।२३५, राज्यश्री २।३५
(७) वही ४।२३५, ध्रुव० १।२८
(८) वही ४।२३६ राज्यश्री ३।५६ (९) राज्यश्री ३।५६
(१०) दि सिविलिजेशन आफ ऐशिएट इण्डिया (लुई रेनू) पृ० १४३
(११) चन्द्र० २।१०८ (१२) चन्द्र ४।२३५ (१३) वही ४।२३५

चाणक्य के एक ही प्रसग मे कहे हुए इन दो वाक्यो मे शिविर और स्कधावार एक ही अर्थ का बोध कराते ह । 'शिविर आपका समीप है[१]" म शिविर शब्द तम्बू के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । 'वहा बडे बडे शिवर पडे दिखाई दे रहे है[२]" से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयुक्त वाक्यो मे प्रसाद ने स्कधावार शब्द का कौटिलीय अर्थ मे तथा शिविर का साधारण तम्बू के अर्थ मे प्रयोग किया है । परन्तु सभी स्थलो पर प्रसाद इस अन्तर को नही निभा सके है । 'गुल्म का शिविर[३]" जैसे प्रयोगो म यह अन्तर स्पष्ट है, परन्तु 'ग्रीको का शिवर[४]" "शक शिविर[५]" इत्यादि प्रयोगो मे 'शिवर' और स्कधावार' मे कोई अन्तर नही किया गया है । सेना-निवेश का प्रयोग भी छावनी या स्कधावार के अर्थ मे ही किया गया प्रतीत होता है । ऊपर "यवन स्कधावार" और "ग्रीको के प्रधान शिविर" का उल्लेख हो चुका है । "यवन सम्राट सिन्धु के इस पार अपने सेना निवेश मे आप ह, मेरे बन्दी नही"[६]—इस वाक्य मे सेनानिवेश का प्रयोग उसी अर्थ मे हुआ है । एक अन्य वाक्य मे युद्ध भूमि के समीप तथा उससे दूर विभिन्न स्थलो पर बने हुए कई सेनानिवेशो की ओर सकेत किया गया है ।[७]

अर्थशास्त्र मे स्कधावार के निर्माण की विधि विस्तृत रूप से की गई है ।[८] प्रसाद के नाटको से प्रतीत होता है कि स्कधावार मे अलग अलग गुल्मो के लिये भिन्न भिन्न शिविर होते थे[९] । सम्भवत. प्रधान शिवर से प्रसाद का अभिप्राय राजा के शिविर से था । स्कदगुप्त मे उज्जयिनी के गुप्त स्कधावार के अन्दर की गई मत्रणाओ इत्यादि से प्रतीत होता है कि स्कधावार मे मत्रणा, आवास, इत्यादि के लिये विभिन्न स्थान होते होगे । प्रसाद ने प्राय. सभी स्कधावारो मे ग्रीक अथवा भारतीय स्त्रियो को चित्रित किया है । अतः स्कधावार एक ऐसा सुदृढ स्थान समझा जाता होगा जिसम अन्त.पुर की महिलाएँ भी सुरक्षित रह सकती होगी । ये स्त्रियाँ दासियाँ अथवा पुरुषो को उत्साहित करने वाली मात्र नही है, वरन् साम्राज्ञी, सेनापति की पुत्री, राजपुत्रिया (अलका) इत्यादि है । स्कधावार के पृष्ठ भाग मे अन्नपान और भेषज्य विभाग का उल्लेख पहले हो चुका है ।

स्कधावार प्रयाण के सम्बन्ध मे कौटिल्य लिखते है—"आगे आगे नायक । मध्य मे कलत्र व स्वामी । पार्श्व मे अश्व सेना । चक्रान्त में हाथी .... फिर मित्र-बल । तदुपरान्त कलत्र का स्थान । अन्त मे सेनापति का स्थान" ।[१०] इसमे दो बाते स्पष्ट ह—एक, स्कधावार के मध्य में राजा तथा इसके अन्तःपुर की स्थिति, दूसरे उसका "आसार" नाम ।

(१) राज्यश्री ४।२३३ (२) वही ३।५८
(३) चन्द्र० २।११८ (४) वही २।१२०
(५) ध्रुव० १।२८ (६) चन्द्र० ४।२३६
(७) वही ४।२३६ (८) अर्थशास्त्र १०।१ सग्रामिक प्रकरण
(९) चन्द्र० २।११८
(१०) "पुरस्तान्नायकः । मध्ये कलत्र स्वामी च । पार्श्वयोरश्वा-बाहूत्सार चक्रान्तेषु हस्तिनः । प्रसारवृद्धिर्वा सर्वत. । वनाजीवः प्रसार. । स्वदेशादन्वायतिर्वीवधिः । मित्रबलमासार. । कलत्रस्थानमपसारः पश्चात् सेनापति पर्यायान्निविशेत ।

प्रसाद ने "अगसार" का नामोल्लेख नही किया है पर अन्तःपुर की स्थिति स्पष्ट कर दी है। इसमे सन्देह नही कि इन शब्दो के प्रयोग मे प्रसाद ने अर्थशास्त्र का ही आधार लिया है, पर कही कही इनके निश्चित अर्थ का निर्वाह वे नही कर पाये है।

दूत और चूर

दूत

कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख बतलाया है और विस्तार से उसके कर्त्तव्यो का उल्लेख किया है, जिनमे राजकीय सन्देश बहन, सधि का पालन कराना, प्रताप का प्रकाशन, राजा के लिए मित्रो का सग्रह करना, शत्रु के मित्रो मे फूट डालना आदि मुख्य है।[१] प्रसाद के नाटको में आए हुए दूत इनमें से बहुत से कार्य करते हुए पाए जाते है। सिकन्दर का दूत मालवो के सधि-विग्राहक सिंहरण के पास, और शकराज का दूत रामगुप्त के पास "युद्ध या मैत्री" का सन्देश लेकर जाता है।[२] मालवेश बन्धुवर्मा का दूत मालव की रक्षा के लिये स्कदगुप्त से सैन्य सहायता मागने वाला है।[३] मालव और मगध साम्राज्य मे पहले एक सधि हुई थी। यहाँ दूत का उद्देश्य उसी "सधि की रक्षा" के लिए प्रयत्न करना है। सिंगिल का जो दूत अनन्तदेवी के पास उपहार लेकर आता है, यह दूत के तीन काय करता हुआ देखा जाता है। एक तो यह मगध की गुप्त-परिषद् और हूणो के बीच की गई "गुप्त सधि का पालन करना चाहता है, दूसरा वह अवसर आने पर अपने "प्रताप को प्रकट करने" की धमकी भी देता है, जिसके भय से भटार्क उसे यह आश्वासन देता है कि वह ठीक अवसर पर स्कदगुप्त को धोखा देकर हूणो की सहायता देगा। इस प्रकार वह "सुहृदभेद" का कार्यसाधन करने मे भी समर्थ हुआ है।[४] सिल्यूकस का दूत साइर्बाटयस चन्द्रगुप्त के पास "युद्ध और मैत्री का सन्देश" लेकर आता है, और इसके लिए सिल्यूकस का "प्रताप प्रकाशित करना" नही भूलता।[५] कौटिल्य ने जहा एक ओर दूत के लिए आदेश दिया है कि प्राणवध की आशका होते हुए भी उसे अपने स्वामी का सदेश स्पष्टता और निर्भीकता से कहना चाहिए।[६] वहाँ राजा के लिए भी स्पष्ट विधान किया है कि शस्त्र उठाने पर भी दूत अवध्य होता है।[७] शकराज का गुप्त सम्राट् के पास महादेवी ध्रुवस्वामिनी की माग जैसी अपमानजनक शर्त लेकर जाता है और स्पष्ट कह देता है कि—"उन्हे दो मे से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दे अन्यथा मेरे सधि के नियमो को स्वीकार करे"। इतने कटु सन्देश को केवल इसलिए सुनना पडा कि दूत अवध्य होता है।[८] यह अवध्यता स्वभावत. दूत की सुरक्षा की ओर भी सकेत करती है। सिंहरण यवन दूत की रक्षा के लिए ही रक्षको को उसे सीमा तक पहुचाने की आज्ञा देता है।[९] परन्तु कटु एव अपमानजनक सन्देश सुनकर क्रोध पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है, और ऐसे अवसरो पर कभी कभी दूत के लिए "वध" या "बधन" की भी आशका हो सकती है।

---

(३) चन्द्र० स्कद० १।१७ (४) वही ३।६२ (५) चन्द्र० ४।२३३

(६ शासन च यथोक्त ब्रूयात्। प्राणाबाधेऽपि दृष्टे।—अर्थशास्त्र १।१६।११-१८

(७) तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्त वक्तारस्तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः।
—अर्थशास्त्र १।१६।१७

(८) ध्रुव० १।३५ (९) चन्द्र० २।१४४

ऐसे अवसर पर चाणक्य स्पष्ट कह देते है कि यदि ऐसी आशका हो तो विराजित होते ही तत्काल निकल भागने की चेष्टा करनी चाहिये ।[१] खिंगिल अपमानजनक सन्देश लेकर गया था—अतः शकराज को उसके बन्दी होने की शका होने लगती है ।[२] । एक स्थल पर प्रसाद के नाटको मे दूत विवाह का सन्देश लेकर भी जाते है ।[३] राजाओ के विवाह सम्बन्ध के लिए दूत सप्रेषण की परम्परा का उल्लेख सस्कृत साहित्य मे प्रायः मिलता है ।

चरो का उल्लेख प्रसाद के नाटको मे कई स्थलो पर हुआ है और उन्हे कही चर[४], कही गुप्त चर[५] तथा कही गुप्त अनुचर[६] कहा गया है । साधारणतया प्रसाद ने ऐसे व्यक्तियो को ही चर या गुप्तचर कहा है जो शत्रुपक्ष के रहस्यो का उद्घाटन करने, तथा गुप्त-सूचनाए देने का काम करते थे । शुक्रनीति मे गुप्तचरो के लिए 'गूढचार'[७] शब्द का प्रयोग हुआ है जिनका काम छद्म वेश में रहकर राजा की रक्षा करने से लेकर राजकर्मचारियो एव प्रजा के भेद मालूम करना था ।[७] अर्थशास्त्र मे इन्ही को गूढ पुरुष कहा गया है । ये गूढपुरुष छद्मवेश, सकेत-शब्द एव अन्य कई प्रकार से शत्रु-मित्र-प्रजा सभी के भेदो एव षडयन्त्रो का पता चलाकर राजा को सूचित करते थे । अपराधियो को पकडने से लेकर शत्रु राजा की सेना इत्यादि के भेद जानने तक का कार्य इन्ही को सौपा जाता था ।[८] कालिदास ने गुप्तचर के लिए चर, अपसर्प तथा प्रणिधि शब्दो का प्रयोग किया है[९] और विशाखदत्त ने केवल चर का ।[१०] कौटिल्य ने गुप्तचरो के दो भेद किए है—(१) सस्था और (२) सचार । जो एक स्थान पर ही सन्यासी या कापटिक वेश मे रहकर गुप्त-रहस्यो की खोज किया करते है उन्हे "सस्था" कहा गया है और जो सत्री आदि विभिन्न देशो मे इधर उधर घूमकर अपना कार्य किया करते है उन्हे "सचार" ।[११] प्रसाद ने इस तरह का कोई अन्तर नही किया है, तथापि उनके सभी गुप्तचर "सचार" ही कहे जा सकते है । इसी प्रसग मे प्रसाद का "गुप्त-प्रणिधि" शब्द द्रष्टव्य है । यह उच्चस्तर के कूट-चर के अर्थ मे आया हुआ प्रतीत होता है । प्रसाद ने दो स्थलो पर "गुप्त-प्रणिधि" शब्द का प्रयोग किया है और दोनो स्थलो पर इनका सबध महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो से जोडा गया है, साधारण गुप्तचरो से नही । "अजातशत्रु" मे राजा का मित्र तथा विश्वासपात्र समुद्रगुप्त काशी मे मगध का गुप्त-प्रणिधि बनाकर भेजा

चर

---

(१) शासनमनिष्टमुक्तस्त्वा बन्धनवधभयाद विसृष्टो व्यपगच्छेत् अन्यथा नियम्येत ।
—अर्थशास्त्र १।१६।४७ ४८

(२)	ध्रुव०	१।३५	(३) चन्द्र०	१।७६
(४)	चन्द्र०	३।१५३, १६६,	राज्यश्री	१।२६
(५)	चन्द्र०	१।८२, २।११३		
(६)	अजात०	२।६४	(७) शुक्रनीति	१।३६
(८)	अर्थशास्त्र	१।११।१—२—३—४		
(९)	रघुवश	१४।१३, ३१, १७।४८,	कुमारसभव	२।६,१७
(१०)	मुद्राराक्षस	अङ्क १		
(११)	अर्थशास्त्र	१।११।८-९		

गया है।[1] "चन्द्रगुप्त" में राक्षस चाणक्य जैसे विद्वान को तक्षशिला मे मगध का गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजना चाहता है।[2] इस तरह के असाधारण गुप्त-प्रणिधियो का सम्बन्ध न तो शुक्रनीति से जोडा जा सकता है और न अर्थशास्त्र से। अर्थशास्त्र मे "प्रणिधि" शब्द स्वतन्त्र पारिभाषिक अर्थ मे नही किन्तु दूत प्रणिधि[3] (दूत से सम्बन्ध रखने वाले कर्त्तव्या-कर्त्तव्य), राज प्रणिधि[4] (राजा के कर्त्तव्याकर्तव्य) निशान्त प्रणिधि[5] (रात्रि सुरक्षा से सबन्ध रखने वाले कर्तव्याकर्तव्य) जैसे शब्दो मे विशेष रूप से आया है, जहाँ प्रणिधि का न दूत अर्थ से सम्बन्ध है, न चर अर्थ से। कालिदास मे अवश्य "प्रणिधि" शब्द "गुप्त अभिकर्ता" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[6] इस अर्थ में प्रणिधि के साथ "गुप्त" विशेषण अनावश्यक है और यदि इसका अर्थ विशिष्ट दूत (स्पेशल इन्वौय या एमिसरी) लें तो ऐसा विशिष्ट दूत "गुप्त" होकर नही रह सकता। अत प्रसाद के इस प्रयोग का विशेष समर्थन नही किया जा सकता।

प्रसाद के सभी गुप्तचर सञ्चार वर्ग के है, अतः समय समय पर इनके देशान्तर करने की ओर भी उन्होने सकेत किया है। चाणक्य आदि पर्वतेश्वर के स्कन्धावार में नट, नटी, सपेरा और ब्रह्मचारी बनकर जाते है।[7] "चन्द्रगुप्त" इन्द्रजाली के वेश में यवन सेना मे प्रवेश करता है,[8] चाणक्य का चर क्षपणक वेश मे गीत गाता हुआ भीख मागता है और उस गीत के द्वारा ही बन्दी सिंहरण को सन्देश दे जाता है।[9] अर्थशास्त्र के "कटक-शोधन" प्रकरण में बतलाया है कि गुप्तचरो को विशेष परिस्थितियो मे किस प्रकार का वेश धारण करना चाहिए। ये गुप्तचर सिद्ध, तापस,सन्यासी, ऐन्द्रजालिक नट, भाण आदि का वेश धारण करते थे।[10] अर्थपूर्ण गीत गाते हुए क्षपणक और सपेरे के लिए प्रसाद सभवत "मुद्राराक्षस" के ऋणी है।

"चन्द्रगुप्त" नाटक मे स्त्री गुप्तचरो का भी उल्लेख हुआ है। मालविका नर्तकी के वेश में राक्षस का जाली पत्र और उसकी मुद्रा लेकर नन्द के पास जाती है।[11] सुवासिनी भी गुप्तचर बनकर सिल्यूकस की बदिनी हो जाती है और कार्नेलिया के पास रहने लगती है।[12] कौटिल्य लिखते हें,—'यदि द्वार पर भिक्षुकी वेश मे स्त्री-गुप्तचर को रोक लिया जाय तो वह शिल्पकारिका, नटी या दासी के रूप में सगीत, कवितापाठ, वाद्य या गूढ लेख के द्वारा अपना गुप्त

स्त्री गुप्तचर

(१)	अजात०	२।६६	(२)	चन्द्र०	१।८८
(३)	अर्थशास्त्र	१।१६।१	(४)	वही	१।१६।१
(५	वही	१।२०।५१	(६)	कुमार	२।६
(७)	चन्द्र०	२।११७	(८)	चन्द्र०	२।१२८
(९)	वही	२।१३२			
(१०)	अर्थशास्त्र	४।४।३			
(११)	चन्द्र०	३।१७२			
(१२)	चन्द्र०	४।२२२			

सन्देश सूचित कर दें।"[1] इसमे भी स्त्री-गुप्तचरो को उपयोग मे लाने की पुष्टि होती है। कौटिल्य इन्हे "गूढा (स्त्रिय)" कहते हैं।[2] शत्रु राजा को पराजित करने के लिए "परम रूप यौवनाभि (स्त्रीभि)"[3] का उपयोग भी किया जाता था।

अर्थशास्त्र के प्रमाणो के अनुसार दूत और चर दो स्वतन्त्र पद है और उनके कार्य भी एक दूसरे से भिन्न है। परन्तु असावधानी या किसी भी कारण से प्रसाद ने कई स्थानो पर इस अन्तर को भुलाकर एक ही व्यक्ति के लिये कही "चर" और कही "दूत" कह दिया है। स्कदगुप्त के पास आये हुए मालवेश के दूत के लिए वे "चर का प्रवेश" जैसा रग सकेत देते है।[4] नगरहार के हूण स्कधावार से भेज गए सेनापति सिंगिल के दूत का "चर" और "दूत" दोनो सज्ञाए एक साथ दी गई है।[5] "राज्यश्री" मे देवगुप्त के लिए उसके मन्त्री का युद्ध सम्बन्धी पत्र दूत लाता है,[6] यद्यपि यह कार्य चर का होना चाहिए था। स्थाण्वीश्वर में प्रभाकरवर्द्धन के निधन की सूचना भी देवगुप्त को दूत से ही मिलती है।[7] राज्यवर्द्धन को कान्यकुब्ज दुर्ग के भीतर की सैन्य सम्बन्धी गुप्त सूचना भी दूत ही देता है।[8] साधारण व्यवहार में प्राय. प्रत्येक सन्देशवाहक के लिए "दूत" शब्द का ही प्रयोग होता है। सभवत उक्त स्थलो पर इन शब्दो के पारिभाषिक अर्थ को भूल गये है।

---

(१) "भिक्षुकी प्रतिषेधे द्वा.स्थपरम्परा मातापितृव्यञ्जनाः शिल्पकारिका कुशीलवा दास्यो व गीत पाठ्य वाद्य-भाण्ड गूढलेख्य—सज्ञाभिर्वा चार निर्हारयेयु."
—अर्थशास्त्र १।१२।१५

(२) अर्थशास्त्र १२।५।७०

(३) अर्थशास्त्र १२।२।१८

(४) स्कद० १।१२

(५) स्कद० ३।६२–६३

(६) राज्यश्री १।१६

(७) राज्यश्री १।१४

(८) राज्यश्री २।३६

सैन्य योजना और युद्ध

सैन्य

प्रसाद ने सेना के लिये "सेना"[1] तथा "वाहिनी"[2] शब्दो का प्रयोग किया है और सेना की एक टुकडी के लिए "गुल्म"[3] का। सेना का साधारण अर्थ "सम्पूर्ण सैन्य शक्ति" है और "वाहिनी" शब्द का प्रयोग भी प्रसाद ने इसी अर्थ मे किया है। पारिभाषिक अर्थ के अनुसार एक वाहिनी मे ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोडे और ४०५ पदाति होते थे। यह आजकल की "बटालियन" के समकक्ष कही जा सकती है।[4] पर प्रसाद ने इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नही किया है।

डा० अग्रवाल के अनुसार प्राचीन काल मे सेना के सबसे छोटे भाग को "पत्ति" कहते थे जिसमे एक हाथी, एक रथ, तीन घोडे और पाच पदल होते थे। तीन "पत्ति" का एक "सेनामुख" और तीन "सेनामुख" का एक "गुल्म" होता था। इस प्रकार एक गुल्म मे नौ हाथी, नौ रथ, सत्ताईस घोडे और पैंतालसी पैदल हुआ करते थे।[5] प्रसाद ने राज्य विशेष की सैनिक टुकडियो को "गुल्म" कहा है, जैसे "मगध-गुल्म", 'पचनद-गुल्म", "क्षुद्रको के गुल्म" आदि। पर "गुल्म" का उपर्युक्त अर्थ मानने पर प्रसाद के उक्त प्रयोग असगत से प्रतीत होते है। क्या पर्वतेश्वर अथवा हर्ष की सहायता के लिए एक ही मगध-गुल्म अथवा पचनद गुल्म भेजना पर्याप्त माना जा सकता है? बहुवचन मे होने के कारण "क्षुद्रको के गुल्म" के सम्बन्ध मे यह आक्षेप नही किया जा सकता। प्रसाद के नाटको मे सेना के तीन अन्य प्रकारो का भी उल्लेख मिलता है—नासीर सेना,[6] रक्षित सेना[7] और रक्षक सेना।[8] इनका प्रयोग प्रसाद ने क्रमशः युद्ध मे सबसे आगे लडने वाली सेना (वान गार्ड), नासीर सेना की पूर्ति करने वाली सेना (रिलीफ) और राजा, सेनापति अन्तःपुर आदि की रक्षा करने वाली सेना (आर्म्ड गार्ड)—इन अर्थो मे किया है। इनके

---

(१) स्कद० ३।६४, १।६
(२) चन्द्र० १।७८
(३) चन्द्र० २।११८, राज्यश्री २।३४; चन्द्र० २।१४३
(४) हर्षचरित—एक सास्कृतिक अध्ययन—(अग्रवाल) पृ० १४०
(५) वही पृ० १४०
(६) स्कद० १।६, १।१२, चन्द्र० ४।२३५
(७) चन्द्र० २।११६
(८) स्कद० ३।६१

अतिरिक्त एक स्थान पर दुग-रक्षक-सेना[1] का भी प्रयोग हुआ है। इसका सामान्य अर्थ ही लिया जाना उचित है।

प्रसाद के नाटकों में सेना के निम्नलिखित अधिकारियों का उल्लेख हुआ है— महाबलाधिकृत, महासेनापति, बलाधिकृत, सेनापति, नायक और गौल्मिक। गुप्तकाल में सेनाविभाग के प्रधान अधिकारी की उपाधि "महाबलाधिकृत"[2] थी। सात्टोर के मत में गुप्तकाल की सेना में 'महासेनापति' ही सबसे प्रधान अधिकारी होता था और उसी की श्रेणी के एक अन्य अधिकारी को महाबलाधिकृत भी कहते थे।[3] परन्तु वे इन दोनों के सबन्ध को निर्धारित नहीं कर सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध सचालन के निमित्त समस्त सेना का सर्वोच्च अधिकारी तो "महासेनापति" होता था, किन्तु जो समस्त युद्ध विभाग का अधिकारी राजा के साथ युद्ध सम्बन्धी मन्त्रणा में भाग लेता था, यह महाबलाधिकृत होता था। महाबलाधिकृत को हम आधुनिक "रक्षा मन्त्री" के समकक्ष रख सकते हैं। सम्भवत गुप्त-काल में महासेनापति ही रक्षा मन्त्री भी होता हो अतः महाबलाधिकृत महासेनापति की एक अन्य उपाधि हो। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

सेनाधिकारी

महाबलाधिकृत।

महासेनापति।

"महाबलाधिकृत" शब्द वस्तुत उत्तर मौर्य-कालीन है, और 'अर्थशास्त्र' में इस पदाधिकारी का उल्लेख नहीं है। किन्तु गुप्तकाल में इसका प्रचुर उपयोग मिलता है। प्रसाद ने मौर्य-कालीन नाटक "चन्द्रगुप्त" में भी इसका प्रयोग किया है।[4] सिकन्दर की सेना से युद्ध करने मात्र के लिए चन्द्रगुप्त को मालव-क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का 'महाबलाधिकृत' निर्वाचित किया गया था। फिर भी उसे 'सेनापति' ही कहा गया है।[5] पहले तो यहाँ ऐतिहासिक दोष स्पष्ट है। दूसरे यहाँ महाबलाधिकृत को सेनापति का पर्याय मान लिया गया है। ऊपर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसके अनुसार भी यहाँ "महासेनापति" का प्रयोग ही समीचीन था। इस नाटक में महासेनापति का कहीं उल्लेख न होने से सेनापति को "महासेनापति" का समानार्थक भले ही मान लें, पर युद्ध विशेष के लिए नियुक्त सेनापति को 'महाबलाधिकृत' नहीं कहा जा सकता। "स्कन्दगुप्त" में भी महाबलाधिकृत का प्रयोग हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष के अनुसार नहीं हुआ है। कुमारगुप्त के काल में भटार्क महाबलाधिकृत है।[6] वह स्वयं कहीं भी युद्ध का नेतृत्व और सचालन करता नहीं दीख पड़ा

---

(१) राज्यश्री १।२८

(२) देखिये महाराज हस्तिन का ताम्रपत्र ५१०-११ ई०
—फ्लीट—सी० आइ० आइ० (२३) पृ० १०६

(३) लाइफ इन दि गुप्ता एज—(सात्टोर) पृ० २६४

(४) चन्द्र० २।१४०

(५) वही २।१४५

(६) स्कन्द० १।१७,

है अतः महासेनापति नही । जिस नवीन आर्य साम्राज्य की नींव स्कन्दगुप्त ने उज्जयनी म रखी थी उसके महाबलाधिकृत पहले गोविन्दगुप्त हुए और उनकी मृत्यु के उपरात बधुवर्मा ।[1] भटार्क के समान ही इनको भी "महासेनापति" नही कहा गया है, किन्तु हूण-युद्ध मे दोनो ने ही युद्ध का नेतृत्व किया था। अत यह मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि दोनो ने ही "महासेनापति" का कार्य भार भी सभाला था। किन्तु प्रसाद ने यहाँ भी महासेनापति का उल्लेख न कर अपनी मान्यता यही रखी है कि महाबलाधिकृत और महासेनापति समानार्थक शब्द है ।

महाबलाधिकृत और महासेनापति से एक स्तर नीचे ही बलाधिकृत और सेनापति आते है। बसरा की गुप्तकालीन मुद्राओ से ज्ञात होता है कि महाबलाधिकृत की आधीनता मे कई बलाधिकृत होते थे ।[2] अन्य गुप्तकालीन लेखो में भी सेना के विशेष अधिकारी के अर्थ मे "बलाधिकृति" का उल्लेख हुआ है ।[3] बलाधिकृत भी गुप्तकालीन उपाधि है। अत सिंहरण के लिए बलाधिकृति के प्रयोग का समर्थन नही किया जा सकता ।[4] "स्कन्दगुप्त" मे नासीर सेना का सचालन करने वाला पर्णदत्त बलाधिकृत है ।[5] और एक स्थल पर स्कन्दगुप्त उसे "सेनापति" कह कर सबोधन करता है ।[6] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बलाधिकृत और सेनापति मे क्या सम्बन्ध है। अपने पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर हम यहा भी इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि सेनापति और बलाधिकृत दोनो पृथक् पृथक् पद होते थे, यद्यपि आवश्यकता पडने पर बलाधिकृत सेनापति बनकर युद्ध-सचालन भी करते थे। कालिदास ने "सेना के प्रधान" के अर्थ मे ही "सेनापति" शब्द को ग्रहण किया है ।[7] परन्तु अर्थशास्त्र की साक्षी के अनुसार सेना का विभाजन कई टुकडियो (अग) मे किया जाता था । इस प्रकार के दस अगो के स्वामी को "पदिक" दस पदिको के स्वामी को "सेनापति" और दस सेनापतियो के स्वामी को "नायक" कहते थे ।[8] प्रसाद ने सेनापति का कौटलीय अर्थ न लेकर कालिदास के समान ही उसे सेना का प्रधान सचालक माना है। केवल एक ही स्थान पर "मगध गुल्म" के अधिकारी को उन्होंने सेनापति कहकर सबोधित

बलाधिकृति व सेनापति

---

(१) वही २।७६, ३।६८
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज (सालटोर) पृ० २६४
(३) शाहपुर स्टोन इमेज "इस्क्रिप्शन ऑफ आदित्यसेन ६७२-७३ ई०
— इपिग्राफिका इण्डिका (४३) पृ० २१०
(४) चन्द्रगुप्त २।१३८ (५) स्कद० १।४०
(६) स्कद० ११।१०
(७) दि इन्टायर आर्मी वज इन दि चार्ज आफ ए कमाडर इन-चीफ, सेनापति व्हन दि किंग और दि एयर ऐपरेण्ड लैड दि आर्मी इन पर्सन ही ऐग्ज्यूक्ट दि ऑफिस ऑफ दी फील्ड मार्शल ।"
—इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० १६५
(८) अर्थशास्त्र १०।६।४६-४७-४८

किया है।[१] "चन्द्रगुप्त" में जहाँ उपर्युक्त उल्लेख हुआ है, वहाँ वह वस्तुतः मगध गुल्म नहीं मगध से आई हुई स्वतन्त्र सेना है। जो पर्वतेश्वर की सहायता के लिए आई है। अत: यहाँ दोष "सेनापति" के प्रयोग में नहीं "गुल्म" के प्रयोग में है। परन्तु अगले ही वाक्य में उसे "मगध नायक" कह दिया गया है।[२] कौटिल्य के अनुसार दस सेनापतियों के ऊपर एक नायक होता है, और वही तूर्य-घोष, ध्वज पताका आदि द्वारा व्यूहबद्ध सेना का विशेष संकेत कर युद्ध आरम्भ करने की सूचना देता है।[३] यहाँ यह कहना कठिन है कि 'नायक' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है अथवा साधारण 'नेता' या 'सेनापति' के अर्थ में। परन्तु इतना तो निश्चित है कि 'सेनापति' का प्रयोग प्रसाद ने कहीं भी कौटलीय अर्थ में नहीं किया है। वहाँ वह 'नायक' से निम्नस्तर का माना गया है। बलाधिकृत पर्णदत्त गुहराना की नासीर सेना का सेनापति है और उसका चर उसे सूचना देता है कि नासीर सेना के नायक ने सहायता माँगी है।[४] किन्तु साथ ही "स्कन्दगुप्त" नाटक में ही "नायक" शर्वनाग पूरे एक गुल्म का संचालन करता है और उसका सहयोगी नायक को केवल महाबलाधिकृत के आधीन मानता है।[५] इन उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि प्रसाद के सामने 'नायक' का कोई पारिभाषिक स्वरूप नहीं है और वे सेनापति अथवा महाबलाधिकृत के आधीन सेना से एक अनिश्चित भाग के संचालक को ही नायक मान लेते हैं। यहाँ 'अनिश्चित' इसलिए कहा है कि प्रसाद ने 'गुल्म' के अधिपति को भी नायक कह दिया है, जिसके लिए अन्यत्र स्वयं उन्होंने 'गौल्मिक' शब्द का प्रयोग किया है[६], और यही उचित भी है।

नायक

प्रसाद ने सेना के अधिकारियों में "महासन्धिविग्रहक" और "महादण्डनायक" को भी गिनाया है। महाबलाधिकृत के समान ही प्रसाद ने इन्हें मन्त्रिपरिषद का सदस्य माना है। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में सन्धिविग्रहक हरिषेण का नाम है, और उसे महासन्धिविग्रहक, कुमारामात्य और महादण्डनायक कहा है।[७] सन्धिविग्रहक का कार्य युद्ध और सन्धि से सम्बन्ध रखता है। "हर्षचरित" के अनुसार सन्धिविग्रहक का एक और कार्य शासन की घोषणाओं का प्रसारण करना भी है।[८] मौर्य-काल में इस प्रकार के किसी भी अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु साल्टोर का मत है कि गुप्तकालीन "सन्धिविग्रहक" उपाधि कौटलीय "सन्धिविग्रह" अथवा "सन्धिविक्रम" का ही रूपान्तर है।[९] संभव है ऐसा ही हो, फिर भी "सन्धिविग्रहक" उपाधि मौर्यकालीन नहीं है। अतः प्रसाद का सिंहरण को "मालवों का सन्धि विग्रहक अमात्य" कहना एक ऐतिहासिक भूल है।[१०] "स्कन्दगुप्त" में पृथ्वीसेन सन्धि-

महासंधिविग्रहक

(१) चन्द्र० २।११७ (२) चन्द्र० २।११७
(३) अर्थशास्त्र १०।६।४८-४९ (४) स्कन्द० १।९
(५) स्कन्द० १।३९ (६) राज्यश्री २।३४
(७) समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति (८) हर्षचरित—(बाण) पृ० १८७
(९) लाइफ इन दि गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० २२९ (१०) चन्द्र० १।१४४

विग्रहक है और कुमारगुप्त और उसके वार्तालाप से ज्ञात होता है कि वह युद्ध और संधि सम्बन्धी कार्यों मे दक्ष है।[१] कुछ और विद्वानो के अनुसार संधिविग्रहक युद्ध और शान्ति का मंत्री है।[२] महादण्डनायक का सम्बन्ध सेना की अपेक्षा प्रशासन से अधिक है। अतः इसका विवरण आगे किया जायगा।

अवसर पड़ने पर कभी कभी स्वयं सम्राट भी साम्राज्य का सैनिक अधिकार लेकर सेनापति के रूप में युद्ध के लिए प्रस्तुत होते है। ऐसे प्रसंग प्रायः इन सभी नाटको मे आए हैं। बौद्ध-ग्रंथो में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते है। जातको से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित, अजातशत्रु, चंद्र-प्रद्योत और विरुद्धक इन सबने सेना का नेतृत्व करते हुए युद्ध के लिए प्रयाण किया। ग्रीक इतिहास से भी राजा पुरु के स्वयं युद्ध करने का समर्थन होता है। स्कंदगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओ के शिलालेखों मे भी गुप्त सम्राटो द्वारा स्वयं युद्ध संचालन के विवरण मिलते हैं। हर्ष स्वयं अपनी सेना लेकर उत्तरापथ में विजय करने लिए निकला था। परं यह आवश्यक नही होता था कि स्वयं सैन्य संचालन करते हुए भी सम्राट ही सेनापति हो। साधारणतया सेनापति सम्राट से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति होता था। कालिदास से भी उसकी पुष्टि होती है।[३]

सिल्यूकस से युद्ध के लिए प्रयाण करते समय चन्द्रगुप्त देश मे घोषणा करवा देता है कि "आर्यावर्त में शस्त्र ग्रहण करने मे जो समर्थ है, (सैनिक हैं) और जितनी सम्पत्ति है।[४] इस संकट कालीन घोषणा में "युद्ध विभाग" का उल्लेख हुआ है इसका विवरण प्रसाद ने चन्द्रगुप्त की भूमिका मे इस प्रकार दिया है—"सेना विभाग के प्रत्येक छः विभागो में पांच सदस्य रहते थे। प्रथम विभाग नौ सेना का था, दूसरा विभाग युद्ध सम्बन्धी भोजन वस्त्र, छकड़े, बाजा, सेवक और जानवरो के बारे का प्रबन्ध करता था। तीसरे वर्ग के आधीन पैदल सैनिक रहते थे। चौथा विभाग अश्वरोहियो का था। पांचवा युद्ध-रथ की देख भाल करता था। छटा महायुद्ध हाथियो का प्रबंध करता था।[५]" अर्थशास्त्र के अध्यक्ष के प्रचार अधिकरण में इन सबका स्वतंत्र रूप से उल्लेख हुआ है। स्मिथ ने भी मेगास्थनीज और कौटिल्य दोनो के आधार पर इन विभागो का इसी क्रम से वर्णन किया है।[६]

युद्ध विभाग

प्रसाद ने रण व्यूह का उल्लेख भी एक दो स्थालो पर किया है।[७] अर्थशास्त्र

---

(१) स्कंद० १।१७
(२) लादक इन दि गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० २३६
(३) इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० १६५
(४) चन्द्र० ४।२२६
(५) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ४५-४६
(६) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १३२
(७) चन्द्र० २।१३८-३६

के "साग्रामिक प्रकरण" मे विभिन्न प्रकार के युद्ध व्यूहो का उल्लेख मिलता है।

व्यूह और युद्ध। प्रसाद के युद्ध-वर्णनो मे व्यूह योजना का सकेत तो मिलता है, परन्तु व्यूह के कोई निश्चित स्वरूप स्पष्ट नही हो पाते। प्रसाद सेना को चारो ओर से घेरने,[१] पृष्ठ.भाग से आक्रमण करने[२] इत्यादि का वर्णन करते हैं। परन्तु ये वर्णन इतने पूर्ण नही है कि कौटिलीय व्यूहो से उनकी तुलना कर उनका विवेचन किया जा सके।

मंत्र युद्ध। अर्थशास्त्र मे "मन्त्र-युद्ध" अथवा 'कूट युद्ध" की महत्ता के सबन्ध मे कहा गया है कि —"एक हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो-धनुष्मता। प्राज्ञेन तुमतिः क्षिप्ता हन्याद्गर्भगतानपि,"[३] शुक्रनीति म भी ठीक इसी प्रकार के भाव प्रकट किये गये है।[४] अर्थशास्त्र के मत्रयुद्ध प्रकरण मे इसके निम्नलिखित प्रकारो का उल्लेख है—शत्रु के सेनापति को मिलाकर उसकी सेना को दुबल कर देना विभिन्न वेशो मे गूढ पुरुष भेजकर शत्रु सेना में आन्तक फैला देना अथवा अन्तर्विद्रोह करवा देना और उनके द्वारा ही शत्रु राजा एव उसके अमात्यो मे विग्रह और द्वेष उत्पन्न करवा देना, धन देकर शत्रु राज्य मे विद्रोह करवा देना, सबल होने से पूर्व ही दुर्बल राष्ट्र पर आक्रमण कर उसे विजय कर लेना आदि।[५] प्रसाद के नाटको मे कूटयुद्ध या मत्रयुद्ध प्रणाली की भी चर्चा यत्र तत्र हुई है। अजातशत्रु कौशल के सेनापति दीर्घकारायण के मिल जाने से दुर्बल हुई सेना पर आक्रमण करता है और शत्रु राजकुमार विरुद्धक से मैत्री कर लेता है,[६] चन्द्रगुप्त मगध का इन्द्रजाली बनकर यवन सना मे आन्तक फैला देता है और यवन सेना यह जानकर आगे बढ़ना अस्वीकार कर देती है कि शतद्रु के तट पर कई लाख दुर्धर्ष योद्धा उनकी प्रतीक्षा कर रहे है।[७] चाणक्य अपने चरो एव मालविका की सहायता से नन्द और अमात्य राक्षस में मनोमालिन्य उत्पन्न कराकर अपना काम निकाल लेता है और यह मगध मे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि स्वय मगध की प्रजा ही नन्द के विरुद्ध विद्रोह कर देती है, जिसके कारण वणिको के वेश मे मगध में एकत्र हुई चन्द्रगुप्त की सेना को विजय-प्राप्ति का सुयोग मिल जाता है।[८] 'स्कन्दगुप्त' में खिखिल दुर्गपतियो को धन देकर मगध साम्राज्य में धन विद्रोह कराने का प्रयास करता है;[९] और 'राज्यश्री' मे देवगुप्त की सेना प्रजाजनो के वेश में कान्यकुब्ज दुर्ग में प्रवेश कर उसे विजय कर लेती है।[१०] स्त्रीवेश मे चन्द्रगुप्त का शक-दुर्ग मे जाकर शकराज का वध करना भी कूट युद्ध है और इसका समर्थन इतिहास तथा साहित्य दोनो करते हैं। इस प्रकार के स्त्रीवेशधारी गूढ पुरुषो को कौटिल्य 'योगस्त्री' कहते हैं।[११] शिखरस्वामी ने कामन्दक नीति में इस प्रकार छल से भी शत्रु को जीतने का समर्थन किया है।

---

(१) वही ४।२३५ (२) वही ४।२४० (३) अर्थशास्त्र १०।६।५५
(४) शुक्रनीति ४।८० (५) अर्थशास्त्र १२।२ प्रकरण १६३ 'मत्रयुद्ध'
(६) अजात० २।१०८ (७) चन्द्र० २।१२८ (८) चन्द्र० ३।१७२ (९) स्कंद० ३।६२
(१०) राज्यश्री १।२८ (११) अर्थशास्त्र ११।१।५३

प्रसाद के नाटकों में जहाँ राजनीतिक संघर्ष हुए हैं, वहा उनके परिणाम-स्वरूप विरोधी सम्राटों में संधियाँ भी हुई हैं। प्रायः सभी प्रकार की संधियों में एक समानता दिखाई देती है और वह है कन्या सम्प्रदान अथवा विवाह संबन्ध। प्रसेनजित ने अपनी कन्या वाजिरा का विवाह कर अजातशत्रु से सन्धि की थी, यह एक ऐतिहासिक घटना है, और प्रसाद के नाटक 'अजातशत्रु' में इसकी चर्चा हुई है।[1] गांधारनरेश ने पर्वतेश्वर के साथ सन्धि की शर्तों में अपने पुत्र आम्भीक के लिये पर्वतेश्वर की कन्या की माग की थी।[2] पर्वतेश्वर से सिकन्दर की मैत्री होने पर सिकन्दर ने पर्वतेश्वर और आभीक में संधि करवा दी और आम्भीक का विवाह पर्वतेश्वर की कन्या से करवा दिया।[3] इस संधि को और दृढ करने के लिये आम्भीक ने अपनी बहिन अलका का विवाह पर्वतेश्वर से कराने का प्रयत्न किया था।[4] सिकन्दर ने मालवों के साथ जो संधि की उसमें सिकन्दर की ओर से आभीक ने ही अपनी बहिन अलका का विवाह सिंहरण से कर दिया।[5] सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की संधि में 'दो बालुका पूर्ण कगारों' के बीच एक निर्मल स्रोतस्विनी का होना आवश्यक माना है।[6] इसीलिए भारत की सीमा निपद पर्वतमाला तक बढा लेने के साथ सिल्यूकस की कन्या का चन्द्रगुप्त से विवाह हुआ था। ध्रुवस्वामिनी स्वयं आर्य समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा में उपहार स्वरूप गुप्त-कुल में आई थी।[7] 'स्कंदगुप्त' नाटक में युद्ध के उपरान्त न सही मालव और गुप्त साम्राज्य की मैत्री को पुष्ट करने के लिये देवसेना और स्कंदगुप्त के बीच विवाह संबन्ध की संभावना और बन्धुवर्मा की इच्छा का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है।[8] केवल दो युद्धों के उपरान्त इस तरह के सम्बन्ध नहीं हुए हैं। एक तो 'स्कंदगुप्त' में हूण-युद्ध के उपरान्त और दूसरे 'राज्यश्री' में देवगुप्त के आक्रमण के बाद। परन्तु दोनों युद्धों में संधियों के लिए कोई स्थान ही नहीं है। दोनों आततायियों में से एक को तो समूल नष्ट कर दिया गया है और दूसरे को पूर्णतया पराजित कर देश की सीमा से बाहर खदेड दिया गया है। यहाँ महत्वपूर्ण सम्राटों की पराजय और तत्पश्चात् की गई संधि जैसे प्रसंग है ही नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रसाद ने सभी संधियों में परिणय या कन्या सम्प्रदान को महत्व दिया है।

संधि।

उपर्युक्त जितनी भी संधियों का उल्लेख हुआ है उनमें से कई ऐतिहासिक घटनाएं है, फलतः उस काल में इस प्रकार की परम्परा संभाव्य मानी जायगी। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृति तथा नीति ग्रन्थों में भी संधि के उक्त प्रकार का उल्लेख हुआ है। शुक्राचार्य संधि के संबंध में लिखते हैं कि बलवान से संधि, संधि के लिये उपहार, और उपहार के साथ अथवा उसके अतिरिक्त शत्रु की सेवा, कन्यादान, धरती और धन का दान, ये दुर्बल तथा

---

(१) अजात० ३।१३४ (२) चन्द्र० १।६४
(३) वही २।१३२ (४) वही २।१३३
(५) वही ३।१५५ (६) चन्द्र० ४।२५०
(७) ध्रुव० १।२३ (८) स्कंद० ५।१४०

द्वारे हुए राजा के करणीय है।[1] अर्थशास्त्र[2] से भी इसकी पुष्टि होती है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में अन्य कई प्रकार की सन्धियों के अतिरिक्त 'कन्योपायनदान' का उल्लेख भी हुआ है। स्पष्ट है कि सन्धि की यह परम्परा गुप्तकाल में प्रचलित रही होगी। इतिहास के अनुसार बिम्बसार ने लिच्छवि कुमारी चेल्हणा के साथ तथा चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह सम्बन्ध किये थे। ये विवाह युद्ध-विजय की सन्धि के परिणाम न होकर केवल मैत्री वृद्धि के लिए की हुई राजनीतिक सन्धियों के स्वरूप हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में शिखरस्वामी कहता है—'राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिये राजा, रानी, कुमार और अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है।[3]' एक प्रकार से शिखरस्वामी के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए भी कौटिल्य[4] और शुक्र[5] अन्तिम स्थिति में विजित राजा को अपने आप की रक्षा करने की आज्ञा देते हैं, राज्य की नहीं।

कौटिल्य ने युद्ध के लिये अभियान से पूर्व दुर्गाग्रों तथा सीमान्त के द्वारों में अन्तपालों की स्थापना कर और सीमान्त वनों में भी रक्षकों को नियुक्त कर सब प्रकार सीमा के रक्षा करने का आदेश दिया है।[6] प्रसाद के नाटकों में स्थान स्थान पर सीमाप्रांत के महत्व का उल्लेख हुआ है। बर्बर लिच्छवियों के रक्त से पृथ्वी को लाल कर कोशल के सीमाप्रान्त में शांति स्थापित करने के उपलक्ष में मधुरा को विजय-चिन्ह मिलता है।[7] चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की सन्धि में हिन्दू पर्वतमाला को भारत की नैसर्गिक सीमा मानना भी उल्लेखनीय है।[8] 'स्कंदगुप्त' में उत्तरापथ की सीमा की रक्षा को अत्यन्त महत्व दिया गया है, और पहले गोविन्दगुप्त फिर स्कंदगुप्त उसकी रक्षा के लिये गये थे।[9] कान्यकुब्ज के सीमान्त की रक्षा को ग्रहवर्मा ने इतना अधिक महत्व दिया कि समस्त सेना के यहाँ चले जाने से दुर्ग अरक्षित हो गया और देवगुप्त से उसकी रक्षा न की जा सकी।[10] शुक्रनीति,[11] अर्थशास्त्र,[12] तथा अन्य ग्रंथों में भी दुर्गों के विभिन्न प्रकारों, उनकी प्रकारों (परकोटा), उनकी समुचित रक्षा तथा उनके गुप्त मार्गों का विवरण मिलता है। प्रसाद के नाटकों में भी स्थान स्थान पर दुर्ग, दुर्गपति,[13] परकोटा[14] तथा दुर्ग के भूगर्भ द्वारों[15] का उल्लेख मात्र हुआ है।

सीमाप्रान्त और दुर्ग

---

(१) शुक्रनीति ४।७१—७२—७३—७४ (२) अर्थशास्त्र १२।१।१६ (आबलीयस)
(३) ध्रुव १।२४ (४) यत्प्रसह्य हरेदन्यः तत्प्रयच्छेदुपायतः
रक्षेत्स्वदेह न धनं का ह्यनित्ये धने दया—अर्थशास्त्र १२।१।३७
(५) आत्मानगोपयेत्काले ह्लववभिश्रेषु बुद्धिमान् ।
बलिना सहयोद्धव्यमितिनास्ति निदर्शनम् । — शुक्र ४।७७
(६) अर्थशास्त्र २।१।६ ; ६।१।३४ (७) अजात० १।५४ (८) चन्द्र० ४।२४१
(९) स्कंद० ३।६६ ; २।७२ (१०) राज्यश्री १।२६ (११) शुक्र ४।५०।६३
(१२) अर्थशास्त्र २।३।७ (१३) स्कंद० ३।१२ (१४) चन्द्र० २।१४६ (१५) चन्द्र० २।१५१

पुस्तक सूची

१—प्रसाद के नाटक

(१) अजातशत्रु

(२) चन्द्रगुप्त

(३) ध्रुवस्वामिनी

(४) स्कंदगुप्त

(५) राज्यश्री

२—प्रसाद संबन्धी अन्य ग्रन्थ •

(१) हिन्दी का सामयिक साहित्य —विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(२) प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन —किशोरीलाल गुप्त

(३) प्रसाद और उनका साहित्य —विनोदशंकर व्यास

(४) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ शर्मा

(५) प्रसाद के नाटक— डॉ—रामरतन भटनागर

(६) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास —डा० दशरथ ओझा

(७) दिन-रात—विनोदशंकर

३—अंग्रेजी के साहित्यिक ग्रंथ

(१) पोर्ट्रेट्स इन मिनिएचर —लिटन स्ट्रैची

(२) शेक्सपीयर्स रोमन प्लेज- मैक्कैलम

(३) यूरोपियन थ्योरीज आफ ड्रामा —बारेट ऐच क्लार्क

(४) दि आर्ट आफ पोयट्री—होरेस

(५) आन पोयटिक्स—स्कैलिगर

(६) दि होल आर्ट आफ स्टेज —फ्रैंकोइज हैडेलिन

(७)

(८) गे् हैम्बर्गीश ड्रामाटर्जी —गोटहोल्ड एफैम लैंसिंग

(९) वर्ल्ड सेज एस्थेटिकल ऐण्ड फिलौसोफिकल—शिलर

(१०) पोयटिक्स

(११) शेक्सपियर ड्रामा—ऐलरटाइस निकल

एँटि —एरिस्टौटल

(१२) इंग्लिश हिस्ट्री ऐण्ड क्लासिकल —जे० विकटी—पौल स्टैंफर

(१३) हिस्ट्री आफ इंग्लि इन शेक्सपियर डब्ल्यू० मेरियट

(१४) लैंक्सचर्स इन एस्थेटिक्स इंग्लिश नौवल

(१५) ट्रैजेडीज आफ दि लार्ड —बेकर थामस —हीगल

(१६) सस्कृत ड्रामा—कीथ एज—

४—हिन्दी संस्कृत के साहित्यिक आइडर

(१) वैशाली की नगर वधू— चतुरसेन शास्त्री

(२) दशरूपक—धनंजय

(३) मेघदूत—कालिदास

(४) रघुवंश—कालिदास

(५) कुमारसंभव—कालिदास

(६) विक्रमोर्वशीय—कालिदास

(७) मालविकाग्निमित्र—कालिदास

(८) अभिज्ञान शाकुंतल—कालिदास

(९) कालिदास ग्रंथावली— सीताराम चतुर्वेदी

(१०) कादम्बरी—बाण

(११) मालतीमाधव भवभूति